श्री अखिल भारतीय सुधर्म जैन संस्कृति रक्षक संघ

साहित्य रत्नमाला का ४९ वा रत्न

तीर्थंकर चरित्र

भाग १

लेखक

रतनलाल डोशी

प्रकाशक

श्री अखिल भारतीय-सुधर्म जैन

संस्कृति रक्षक संघ, जोधपुर

शाखा - नेहरू गेट बाहर, ब्यावर (राज.)

द्रव्य सहायक

उदारमना जिनशासन प्रेमी सुश्रावक, जामनगर (सोराष्ट्र)

प्राप्ति स्थान

१ श्री अखिल भारतीय सुधर्म जैन सस्कृति रक्षक सघ, जाधपुर (राज)
२ शाखा-श्री अखिल भारतीय सुधर्म जैन सम्कृति रक्षक सघ ब्यावर
३ श्री जशयन्तभाई शाह एदुन बिल्डिग पहली धोबी तलाव नन पो चॉ नं २२१७, बम्बई-२
४ श्रीमान् भंवरलालजी बाठिया नं ९ पुलियान तोप हाईरोड़, मद्रास-१२
५ श्रीमान् हस्तीमलजी किशनलालजी जैन ६७ बालाजीपेठ जलगांव-१
६ श्री एच आर डोशी जा-३० यस्ती नारनौल अजमरी गेट दिल्ली-६ ✆ ३२३३५२१
७ श्री अशोकजा एस. छाजेड़ १२१ महावीर क्लॉथ मार्केट, अहमदाबाद-२२ ✆ ५४६१२३४
८ श्री सुधर्म सेवा समिति भगवान् महावीर मार्ग बुलडाणा
९ श्री श्रुतज्ञान स्वाध्याय समिति सागानेरी गेट, भीलवाड़ा
१० श्री सुधर्म जैन आराधना भवन २४ ग्रीन पार्क कॉलोनी साउथ तुकोगज इन्दौर (म. प्र)

मूल्य : ३५-००

छठी आवृत्ति
१९००

वीर सवत् २५२६
विक्रम सवत् २०५७
सितम्बर २०००

मुद्रक - स्वास्तिक ऑफसेट प्रेस भवन हाथी भाटा, अजमेर
✆ ४२३२९५, ४२७१३७

प्रथमावृत्ति का

प्राक् कथन

परमवन्दनीय तीर्थंकर भगवत ही धर्म की आदि के कर्त्ता है-"जिणपण्णत्त तत्त। जिन तीर्थंकर भगवत के धर्मशासन को शिरोधार्य कर के अनन्त जीव परमात्म पद प्राप्त क गये और वतमान म भी जिनके मार्ग का अनुसरण करके जो अपना उत्थान करत हैं, उ परमोपकारी भगवता के उत्थान का क्रम, पूर्वभवों का वर्णन एव तीर्थंकर भव का चरि जानना प्रत्येक उपासक के लिये आवश्यक है। सभी जिनोपासक जिनेश्वर भगवतों का चरि जानने की इच्छा रखते हैं परन्तु साधन उपलब्ध नहीं होने से विवश रहते हैं। इस अवसर्पिण काल में हुए तीर्थंकर भगवतो का व्यवस्थित चरित्र हमारे समाज में है ही नहीं। स्व सुश्रावक श्री बालचन्द्र जी श्रीश्रीमाल रतलाम निवासी ने दो भागो में तीर्थंकर चरित्र प्रकाशित किया था, परन्तु वह सक्षेप में था और धार्मिक परीक्षा बोर्ड के विद्यार्थियो के उपयोग की दृष्टि से लिखा गया था। वह सक्षिप्त चरित्र भी आज उपलब्ध नहीं है।

भगवान् ऋषभदेवजी, शातिनाथजी, अरिष्टनेमिजी पार्श्वनाथजी और महावीर स्वामी जी के जीवन चरित्र ता मिलते हैं और ढाल-चोपाई के रूप में भी मिल सकते हैं परन्तु समग रूप म-जैसा श्रीमद् हेमचन्द्राचार्य का "त्रिषष्ठिशलाका पुरुष चरित्र" है वैसा कोई ग्रन्थ नहीं था **। इस अभाव की पूर्ति का ही यह प्रयास है। इसका प्रारम्भ "सम्यग्-दर्शन" वर्ष १४ दिनाक ५ जनवरी सन् १९६३ के प्रथम अक से किया था, जो अभी चल ही रहा है। जिनेश्वरो की धर्म देशना का वर्णन सम्यग्-दर्शन वर्ष १२ के ५ जनवरी १९६१ अक से प्रारम्भ कर वर्ष १३ अक १८ दिनाक २०-६-६२ तक हुआ। इसका मुख्य आधार 'त्रिषाष्ठशलाका पुरुष चरित्र' है। हमने "चउप्पन्न महापुरिस चरियम्' आगमो के फुटकर उल्लेख और कहीं-कहीं ढाल-चोपाई का भी उपयोग किया है। भगवान् अरिष्टनेमि चरित्र लिखते समय तो आचार्य पूज्य श्री हस्तीमल जी म सा लिखित जैनधर्म का मौलिक इतिहास भी सम्मुख रहा है।

** गत वर्ष पूज्य श्री हस्तीमलजी म सा. लिखित "जैन धर्म का मौलिक इतिहास" जयपुर से प्रकाशित हुआ है।

आगमों में भगवान् ऋषभदेवजी का जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति सूत्र में, भगवान् मल्लिनाथ जी का ज्ञाताधर्म कथा सूत्र में, भगवान् अरिष्टनेमि जी का उत्तराध्ययन सूत्र में और भगवान् महावीर स्वामी जी का आचारांग सूत्र में संक्षेप में कुछ उल्लेख है।

हमारे इस चरित्र का मुख्य आधार 'त्रिषष्ठिशलाका पुरुष चरित्र' है परन्तु इसके कई विधानों में, आगमिक विधानों से भेद दिखाई दिया है। अपना वश चलते हमने आगमिक विधानों को ही स्थान दिया है परन्तु कई स्थानों पर उपयोग नहीं लगने के कारण आगम-विरुद्ध विधान भी हो गए होंगे-हुए ही होंगे। इसलिए मैं अपने इस चरित्र को पूर्ण रूप से प्रामाणिक बतलाने का साहस नहीं कर सकता। पूर्ण रूप से प्रामाणिक तो आगम ही हैं। आगमों से जिन ग्रंथों का मतभेद रहे, उन ग्रंथों को पूर्ण रूप से प्रामाणिक कैसे माना जाय ?

ग्रंथकार ने तीसरे 'मघवा' और चौथे 'सनत्कुमार' चक्रवर्ती को वैमानिक देवलोक में उत्पन्न होना लिखा है, जब कि आगमाधार से हमने मोक्षगामी माना है। ग्रन्थकार ने प्रथम जिनेश्वर की पुत्री सुन्दरीजी को ब्राह्मीजी के साथ दीक्षित होना नहीं मान कर हजारों वर्ष पश्चात् दीक्षित होना माना है (पृष्ठ ८०)।

(२) ग्रन्थकार ने भगवान् आदि जिनेश्वर के समवसरण में साधु-साध्वियों की उपस्थिति का उल्लेख किया है (पृष्ठ ६५) किन्तु उस समय कोई साधु-साध्वी थे ही नहीं।

(३) चक्रवर्ती और वासुदेव अपने समय के सर्वोत्तम नरेश होते हैं। तीर्थंकरों को छोड़ कर अन्य कोई भी मनुष्य उनसे अधिक बलवान् नहीं हो सकता किन्तु प्रथम चक्रवर्ती सम्राट का अपने लघु बन्धु बाहुबली से पराजित होना बतलाया है (पृष्ठ ९३-९७)।

(४) सगर चक्रवर्ती के साठ हजार पुत्रों के सामूहिक मरण का वृत्तान्त ग्रन्थकार ने दिया यह हमें विश्वस्त नहीं लगता (पृष्ठ १४१ पादटिप्पण)।

(५) त्रिपृष्ठ वासुदेव की उत्पत्ति महान् अलौकिक संयोग से बताई है (पृष्ठ २१०-२१५)।

भगवान् मल्लिनाथ के चरित्र में ज्ञाता सूत्र और त्रि. श. पु. चरित्र के मन्तव्यों में बहुत अन्तर है। ज्ञाता सूत्र में भगवान् का 'जयंत' नामक अनुत्तर विमान से च्यव कर आना लिखा है, तब ग्रंथकार 'वैजयंत' बतला रहे हैं। सूत्र में कुंभराजा और छहों राजाओं के परस्पर युद्ध होने का स्पष्ट उल्लेख है किन्तु ग्रन्थ में मात्र नगर घेरने का ही लिखा है। सूत्र में दीक्षा-तिथि पौष शु० ११ लिखी है तब ग्रन्थकार मार्गशीर्ष शु० ११ बतलाते हैं। सूत्रकार उसी दिन केवलज्ञान होना बतलाते हैं और ग्रन्थकार भी यही बतलाते हैं परन्तु आवश्यक भाष्य गा० २५१ में एक दिन उपरान्त केवलज्ञान होना लिखा है। सूत्र में निर्वाण तिथि चैत्र शु० ४ लिखा है परन्तु ग्रन्थकार फाल्गुन शु० १२ बतला रहे हैं। परिवार की संख्या में भी अन्तर है।

इस प्रकार क अन्तर अन्य तीर्थंकरा के चरित्र मे भी हो सकते हैं। इसलिए इस ग्रथ की वे ही बात प्रामाणिक मानी जाय जा आगमिक विधाना से अविपरीत हो।

हमने एक अभाव की पूति का प्रयास किया है। इसमे हमस कई भूलें हुई भी होगी। अकेले काम किया है और सशोधन करने वाला भी कोई अनुभवी विद्वान् नहीं मिल सका। इसलिए इसमें कई भूले रही होगी। इतना होते हुए भी एक वस्तु प्रस्तुत हुई है, जिस पर आगे कोई महानुभाव परिश्रम कर के सशाधित सस्करण तैयार कर समाज के सामने प्रस्तुत कर सके।

इस ग्रन्थ मे १९ तीर्थंकर भगवतो, ८ चक्रवर्तियो और ७ वासुदेवो बलदेवो और प्रतिवासुदेवो के चरित्र समाविष्ट हुए हैं। प्रसगोपात अन्य अनेक सम्बन्धित चरित्र भी आए हैं। हमारा विचार है कि इसके बाद दूसरे भाग मे बीसवे तीर्थंकर भगवान् मुनिसुव्रत स्वामी का और इक्कीसवें तीर्थंकर श्री नमिनाथजी का चरित्र हो। भगवान् मुनिसुव्रत स्वामी जी के शासन में आठवे वासुदेव बलदेव (श्री रामचन्द्रजी लक्ष्मणजी) हुए हैं, इससे यह चरित्र बडा होगा। तीसरे भाग में भगवान् अरिष्टनेमिजी का चरित्र होगा और अत में भगवान् पार्श्वनाथ जी और भगवान् महावीर स्वामी जी का चरित्र देन का विचार है यह कार्य कब पूरा होगा? स्वास्थ्य और साधनो की अनुकूलता पर ही कार्य की प्रगति रही हुई है।

इस ग्रन्थ की एक हजार प्रतियों के सहायक-श्रीमान् सेठ लाधूराम जी पन्नालाल जी गोलेच्छा खीचन निवासी हैं और दूसरी एक हजार प्रतियो के सहायक श्रीमान् सेठ पारसमल जी मिलापचन्दजी बोहरा मड्या निवासी हैं। दोनो महानुभाव धर्मप्रिय हैं और ज्ञान प्रचार की प्रबल भावना वाले हैं। इस सहयोग के लिए सघ आपका पूर्ण आभारी है। सघ ने अब तक जो भी धार्मिक साहित्य प्रकाशित किया है उसका समाज में अच्छा स्वागत हुआ है। आज कितनी ही पुस्तकें हमारे स्टॉक में नहीं है और माग बनी रहती है।

सघ के प्रकाशित साहित्य का मूल्य भी हमने कम ही रखा है। लागत से भी कम। अन्यत्र प्रकाशित साहित्य की तुलना मे इस सस्था के साहित्य का मूल्य बहुत कम है। सघ को समाज के पूर्ण सहयोग की आकाक्षा है।

सैलाना — रतनलाल डोशी

भाद्रपद पूर्णिमा २०३०

निवेदन

जैन दर्शन का उद्‌गम देव तत्त्व से है। हमारे नमस्कार मत्र मं प्रथम के दो पद अरिहत एव सिद्ध, देव पद के अतर्गत है। इसमें सिद्ध प्रभु तो अपने समस्त कार्य सिद्ध करके सिद्ध अवस्था में विराजमान है। अरिहत यानी तीर्थंकर प्रभु यद्यपि भरत एरवत क्षेत्र की अपेक्षा अभी हमारे यहाँ विद्यमान नहीं है फिर भी उन्हीं के द्वारा वपन किया हुआ जिनवाणी का बीज परम्परा से प्रभावित होता हुआ हमारे तक पहुँचा है। अतएव हमारे लिए व महापुरुष धर्म के आद्य प्ररूपक उपदेशक एव मार्गदर्शक हैं। उन महान् पुरुषा द्वारा प्ररूपित धर्म का अनुसरण करके भूतकाल में अनत जीव अपना आत्म-कल्याण कर गये, वर्तमान म महाविदेह क्षेत्र की अपेक्षा अनेक जीव अपना आत्म-कल्याण कर रहे हैं एव भरत एरवत की अपेक्षा कई जीव आत्म-उत्थान की ओर अग्रसर हैं। भविष्य में भी इसी मार्ग का अनुसरण करके अनत जीव अपना आत्म-कल्याण करेंगे। ऐसे परमोपकारी तीर्थंकर भगवता के उत्थान का क्रम, पूर्वभवा का वर्णन, तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन, तीर्थंकरभव के चारित्र पालन एव उनके द्वारा उपदेशित वाणी आदि को जानने की जिज्ञासा प्रत्येक धर्मानुरागी उपासक की रहती है।

हमारे भरत क्षेत्र मे वर्तमान अवसर्पिणी काल मे हुए २४ तीर्थंकर भगवतो का व्यवस्थित जीवन चारित्र हिन्दी भाषा में उपलब्ध नहीं था। इस अभाव की पूर्ति समाज क जाने माने विद्वान् साहित्यकार श्रीमान् रतनलाल जी सा डोशी ने हेमचन्द्राचार्य क त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र के आधार पर तैयार करके की। इस ग्रथ में आपने तीर्थंकरो भगवन्ता की जीवनी के साथ किस-किस तीर्थंकर के समय अन्य कौन-कौन से श्लाघनीय पुरुष जैसे चक्रवर्ती बलदव, वासुदेव प्रतिवासुदेव हुए उनके चरित्र का भी इसमें समावेश कर इसे विशेष उपयोगी बनाया है। इसके अलावा इस ग्रन्थ की सबमे बड़ी विशेषता यह है कि यद्यपि इसका मुख्य आधार त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र है। फिर भी जहाँ कहीं भी त्रि० श० पु० चरित्र एव आगमिक

विधान पर भेद दिखाई दिया वहाँ आदरणीय डोशी जी सा ने आगमिक विधानो को स्थान दे कर ग्रन्थ को प्रामाणिक बनाने की कोशिश की है। इस कारण यह ग्रन्थ चरित्र के साथ आगमिक दृष्टि से भी काफी प्रामाणिक है।

ग्रन्थ के इस प्रथम भाग म १९ तीर्थंकर भगवन्तो, ८ चक्रवर्तियों, ७ बलदेवो वासुदेवो एव प्रतिवासुदेवो के चरित्र समाविष्ट है। इसके अलावा प्रसगोपात इसमे अन्य सबधित चरित्र का भी समावेश है।

प्रस्तुत ग्रन्थ म धर्मकथानुयोग का विषय होने के साथ ही इसकी भाषा एक दम सरल एव सुपाठ्य है जिससे सामान्य पाठका को इस पढने समझने मे किसी प्रकार की कठिनाई की अनुभूति नहीं होती है फलत धर्मानुरागी बन्धु इसका खूब लाभ उठा रहे हैं। इसकी उपयोगिता का अकन इसी से लगाया जा सकता है कि इसके पाच सस्करण जो पूर्व में प्रकाशित हुए वे समाप्त हो गये। परिणाम स्वरूप यह छठा सशोधित सस्करण पाठको के समक्ष प्रस्तुत किया जा रहा है। सघ के नियमानुसार तीर्थंकर चरित्र का विक्रय पूरे सेट के रूप मे ही किया जायेगा।

बढती हुई महगाई के कारण कागज प्रिंटिंग, बाईंडिग एव कार्यालय खर्च आदि म काफी बढोत्तरी हुई है किन्तु जामनगर (सौराष्ट्र) के एक उदारमना जिनशासन प्रेमी के अर्थ सहयोग से मूल्य वृद्धि न करक पूर्ववत् ही इसका मूल्य रखा गया है। आशा है धर्मानुरागी पाठक इससे ज्यादा से ज्यादा लाभान्वित होगे।

ब्यावर (राज)
१५ सितम्बर २०००

विनीत
नेमीचन्द बाठिया
उपाध्यक्ष
श्री अ भा. सुधर्म जैन
सस्कृति रक्षक सघ जोधपुर

विषयानुक्रमणिका

क्रमाक	विषय	पृष्ठ
	भगवान् ऋषभदेवजी	
१	पूर्वभव-धन्य सार्थवाह	१
२	बोधिलाभ	३
३	युगलिक भव	४
४	देव और विद्याधर	४
५	स्वयबुद्ध का उपदेश	५
६	अधर्मियो से विवाद	६
७	प्रव्रज्या ग्रहण और स्वर्ग गमन	१३
८	देवी के वियोग में शोकमग्न	१४
९	निर्नामिका का वृत्तात	१४
१०	ललिताग देव का च्यवन	१६
११	मनुष्य भव मे पुन मिलन	१७
१२	राज्य-लोभी पुत्र का दुष्कृत्य	१८
१३	जीवानन्द वैद्य और उसके साथी	१९
१४	कुष्ठ रोगी महात्मा का उपचार	१९
१५	चक्रवर्ती पद	२१
१६	अनेक लब्धियों के स्वामी	२२
१७	तीर्थंकर नाम कर्म का उपार्जन	२४
१८	कुलकरों की उत्पत्ति-सागरचन्द्र का साहस	२५
१९	मरुदेवा के गर्भ में अवतरण	२९
२०	आदि तीर्थंकर का जन्म	३१
२१	दिशाकुमारी देवियों द्वारा शौच-कर्म	३१
२२	इन्द्रों का आगमन और जन्मोत्सव	३२
२३	वश स्थापना	३८
२४	जन्म से चार अतिशय	३८
२५	प्रभु के शरीर का शिख-नख वर्णन	३९
२६	सुनन्दा का योग	४०
२७	विवाह	४०
२८	भरत-बाहुबली और ब्राह्मी-सुन्दरी का जन्म	४२
२९	कर्म भूमि का प्रारम्भ-राज्य स्थापना	४२
३०	प्रभु को वैराग्य और देवा द्वारा उद्बोधन	४४
३१	वर्षीदान	४५
३२	दीक्षा	४६
३३	साधुओ का पतन और तापस-परपरा	४७

क्रमाक	विषय	पृष्ठ
३४.	विद्याधर राज्य की स्थापना	४८
३५	भगवान् का पारणा	४९
३६	भगवान् का केवलज्ञान	५१
३७	समवसरण की रचना	५२
३८	भरतेश्वर को बधाइयाँ	५४
३९	मरुदेवा की मुक्ति	५४
४०	भगवान् का धर्मोपदेश	५५
४१	ज्ञान रत्न	५६
४२	दर्शन रत्न	५७
४३	चारित्र रत्न	५९
४४	धर्म-प्रवर्तन	६१
४५	प्रथम चक्रवर्ती भरत महाराज की द्विग्विजय	६२
४६	चक्रवर्ती की ऋद्धि	६४
४७	अठाणु पुत्रो को भगवान् का उपदेश और दीक्षा	६५
४८	बाहुबली नहीं माने	६७
४९	युद्ध का आयोजन और समाप्ति	७१
५०	भरतेश्वर के बल का परिचय	७४
५१	भरत बाहुबली का द्वन्द्व-युद्ध	७५
५२	बाहुबलीजी की कठोर साधना	७९
५३	योगीराज को बहिनों द्वारा उद्बोधन	७९
५४	भरतेश्वर का पश्चात्ताप और साधर्मी सेवा	८१
५५	मरीचि की कथा	८५
५६	मरीचि अतिम तीर्थंकर होंगे	८७
५७	भगवान् का मोक्ष गमन	८८
५८	भरतेश्वर को केवलज्ञान और निर्वाण	९२
५९	टिप्पणी- सुनार की कथा का औचित्य	९३
	भगवान् अजितनाथ जी	**९७**
६०	वैराग्य का निमित्त	९८
६१	तीर्थंकर और चक्रवर्ती का जन्म	९९
६२	सागर का राज्याभिषेक और प्रभु की प्रव्रज्या	१०२
६३	धर्मदेशना-धर्मध्यान	१०४
६४	आज्ञा विचय	१०४
६५	अपाय विचय	१०५
६६	विपाक विचय	१०५
६७	सस्थान विचय	१०७
६८	गणधरादि की दीक्षा	११०
६९	शुद्धभट का परिचय	११०
७०	मेघवाहन और सगर के पूर्व भव	११३

क्रमाक	विषय	पृष्ठ
७१	राक्षस वश	११४
७२	पुत्रा का सामूहिक मरण	११४
७३	शोक-निवारण का उपाय	११५
७४	मागलिक अग्नि कहाँ है	११६
७५	इन्द्रजालिक की कथा	१२०
७६	मायावी की अद्भुत कथा	१२३
७७	सगर चक्रवर्ती की दीक्षा	१२६
७८	भगवान् का निर्वाण	१२८
	भगवान् सभवनाथजी	**१२९**
७९	भयकर दुष्काल में सघ-सेवा	१२९
८०	धर्मदेशना-अनित्य भावना	१३१
	भगवान् अभिनन्दनजी	**१३४**
८१	धर्मदेशना-अशरण भावना	१३४
	भगवान् सुमतिनाथजी	**१३७**
८२	महारानी का न्याय	१३७
८३	धर्मदेशना-एकत्व भावना	१३९
	भगवान् पद्मप्रभ जी	**१४१**
८४	धर्मदेशना-ससार भावना	१४१
८५	नारक की भयकर वेदना	१४२
८६	तिर्यंच गति के दु ख	१४३
८७	मनुष्य गति के दु ख	१४५
८८	देव-गति के दु ख	१४६
	भगवान् सुपार्श्वनाथजी	**१४९**
८९	धर्मदेशना-अन्यत्व भावना	१४९
	भगवान् चन्द्रप्रभ स्वामी	**१५२**
९०	धर्मदेशना-आस्रव भावना	१५२
	भगवान् सुविधिनाथजी	**१५५**
९१	धर्मदेशना-आस्रव भावना	१५५
९२	धर्मविच्छेद और असयती-पूजा	१६०
	भगवान् शीतलनाथजी	**१६१**
९३	धर्मदेशना-सवर भावना	१६१
	भगवान् श्रेयासनाथजी	**१६५**
९४	धर्मदेशना-निर्जरा भावना	१६५
९५	त्रिपृष्ठ वासुदेव चरित्र	१६७
९६	अश्वग्रीव का होने वाला शत्रु	१७२
९७	सिह-घात	१७७
९८	त्रिपृष्ठकुमार के लग्न	१७८
९९	पत्नी की माग	१८०
१००	प्रथम पराजय	१८१
१०१	मत्री का सत्परामर्श	१८२
१०२	अपशकुन	१८२

क्रमाक	विषय	पृष्ठ
१०३	अश्वग्रीव का भयकर युद्ध और मृत्यु	१८४
१०४	त्रिपृष्ठ की क्रूरता और मृत्यु	१९०
	भगवान् वासुपूज्य जी	**१९२**
१०५	विवाह नहीं करूँगा	१९२
१०६	द्विपृष्ठ वासुदेव चरित्र	१९३
१०७	धर्मदेशना-धर्मदुर्लभ-भावना	१९७
	भगवान् विमलनाथजी	**२०३**
१०८	स्वयभू वासुदेव चरित्र	२०३
१०९	धर्मदेशना-बोधि-दुर्लभ भावना	२०६
	भगवान् अनतनाथजी	**२०९**
११०	वासुदेव चरित्र	२०९
१११	धर्मदेशना-तत्त्व निरूपण	२१२
११२	गुणस्थान स्वरूप	२१४
	भगवान् धर्मनाथजी	**२१७**
११३	वासुदेव चरित्र	२१९
११४	धर्मदेशना-क्रोध कषाय को नष्ट करने की प्रेरणा	२२२
११५	मान-कषाय का स्वरूप	२२५
११६	माया-कषाय का स्वरूप	२२७
११७	लोभ-कषाय का स्वरूप	२२९
११८	चक्रवर्ती मघवा	२३३
११९	चक्रवर्ती सनतकुमार	२३४
१२०	सनतकुमार चक्रवर्ती का अलौकिक रूप	२४०
	भगवान् शान्तिनाथजी	**२४५**
१२१	दासीपुत्र कपिल	२४५
१२२	इन्दुसेन और बिन्दुसेन का युद्ध	२४७
१२३	भविष्य-वाणी	२५०
१२४	सुतारा का हरण	२५३
१२५	वासुदेव अनन्तवीर्यजी	२५७
१२६	नारद लीला निमित्त बनी	२५८
१२७	वासुदेव-बलदेव नर्तकिया के रूप मे	२५९
१२८	युद्ध की घोषणा और विजय	२६१
१२९	पूर्वभव वर्णन	२६२
१३०	मेघरथ नरेश	२७०
१३१	कुर्कुट कथा	२७२
१३२	मेघरथ राजा का वृत्तात	२७५
१३३	कबूतर रक्षा मे शरीर दान	२७७
१३४	इन्द्रानियो ने परीक्षा ली	२८०
१३५	भगवान् शान्तिनाथ का जन्म	२८१
१३६	पाँचवें चक्रवर्ती सम्राट	२८३
१३७	धर्मदेशना-इन्द्रियजय	२८४
१३८	महाराजा कुरूचन्द्र का पूर्वभव	२८६

क्रमांक	विषय	पृष्ठ
१३९	भगवान् का निर्वाण	२९१

भगवान् कुन्थुनाथजी २९२

क्रमांक	विषय	पृष्ठ
१४०	धर्मदेशना-मन शुद्धि	२९३

भगवान् अरनाथ स्वामी २९५

क्रमांक	विषय	पृष्ठ
१४१	धर्मदेशना-राग-द्वेष त्याग	२९५
१४२	वीरभद्र का वृत्तांत	२९७
१४३	छठे वासुदेव-बलदेव	३०५
१४४	सुभूम चक्रवर्ती	३०७
१४५	परशुराम की कथा	३०७
१४६	दत्त वासुदेव चरित्र	३१२

भगवान् मल्लिनाथजी ३१३

क्रमांक	विषय	पृष्ठ
१४७	महाबल मुनि का मायाचार	३१३
१४८	तीर्थंकर जन्म	३१४
१४९	निमित्त निर्माण	३१५
१५०	पूर्वभव के मित्रों का आकर्षण	३१६
१५१	अरहन्नक श्रावक की दृढ़ता	३१७
१५२	चोक्खा का पराभव	३२०
१५३	युद्ध और अवरोध	३२१
१५४	मित्रों का प्रतिबोध	३२२
१५५	वर्षीदान	३२४
१५६	धर्मदेशना समता	३२५
१५७	परिशिष्ट	३२६

भ० ऋषभदेवजी

आदिम पृथिवीनाथ - मादिम निष्परिग्रहम् ।

आदिम तीर्थनाथं च, ऋषभस्वामिन स्तुम ॥ १ ॥

पूर्वभव - धन्य सार्थवाह

जम्बूद्वीप के पश्चिम महाविदेह में 'क्षितिप्रतिष्ठित' नामक नगर था । 'प्रसन्नचन्द्र' नाम का राजा राज्य करता था । वहाँ अतुल सम्पत्ति का स्वामी 'धन्य' नामक सार्थवाह (व्यापारियों का नेता) रहता था । वह उदारता, गाभीर्य, धैर्य और सदाचार आदि गुणो से सुशोभित था । वह नगरजनों में विश्वास योग्य, आधारभूत और सर्व सहायक तथा रक्षक था । उसके आधीन रहने वाले सेवक भी धन्य-धान्यादि से युक्त एव सुखी थे ।

एक बार धन्य सेठ ने व्यापार के लिए दूरस्थ वसतपुर जाने का निश्चय किया । उसने नगर मे उद्घोषणा करवाई कि-

"धन्य-श्रेष्ठी व्यापारार्थ वसतपुर जाएँगे । इसलिए जो भाई उनके साथ चलना चाहे, वे तैयार हो जावें । जिन्हें पूँजी की आवश्यकता होगी, उन्हें पूँजी मिलेगी । जिनको वाहन चाहिए, वह वाहन पा सकेगा और जिसे भोजन रक्षण और अन्य प्रकार की सहायता की आवश्यकता होगी तो वह भी मिलेगी । जो सभी प्रकार के साधनो से वञ्चित होंगे उनकी सगे भाई के समान सहायता की जायगी"

धन्ना सेठ की इस उदार उद्घोषणा का लाभ हजारो मनुष्यों ने लिया। शुभ मुहूर्त में सार्थ ने प्रयाण किया। इस समय जैनाचार्य श्री धर्मघोष मुनिराज, अपने शिष्य-परिवार के साथ धन्य-श्रेष्ठी के पास आये। आचार्य को देखते ही सेठ उठा। नमस्कार किया और आने का प्रयोजन पूछा। आचार्यश्री ने कहा-

"हम भी आपके सार्थ के साथ आना चाहते हैं ।"

आचार्य का अभिप्राय जान कर धन्ना सेठ बहुत प्रसन्न हुआ । उसने कहा-

"भगवन् ! मैं धन्य हुआ । आप अवश्य पधारें । मैं आपकी सेवा करूँगा ।"

सेठ ने अपने रसोइये को बुला कर कहा-

'देखो, ये आचार्य और इनके ये सन्त भी हमारे साथ चल रहे हैं। इनके लिए भी भोजन ।'

सेठ की बात पूरी होने के पूर्व ही आचार्य ने कहा -

"भद्र ! हम उस आहार को ग्रहण नहीं करते जो हमारे लिए बनाया गया हो, या हमारे सकल्प से बनवाया हो । जिस आहार मे हमारे उद्देश्य का एक दाना भी मिला हो, वैसा आहार या पानी हमारे लिए ग्रहण करने योग्य नहीं रहता ।"

"महानुभाव ! कूएँ, तालाब अथवा नदी आदि का सचित्त जल भी हमारे लिए अनुपयोगी होता है । हम वही आहार-पानी लेते हैं, जो निर्दोष हो अचित्त हो और गृहस्थ ने अपन लिये बनाया हो। हमारे लिए जिनेश्वर भगवान् की यही आज्ञा है ।"

यह बात हो ही रही थी कि इतने मे एक अनुचर पके हुए आमो का थाल भर कर लाया । सेठ ने वे फल ग्रहण करने की आचार्यश्री से प्रार्थना की । तब आचार्य श्री ने कहा-

"ये फल जीव युक्त हैं । इसलिए हमारे स्पश करने के योग्य भी नहीं हैं ।"

सेठ ने आचार्यश्री के वचन सुन कर आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा-

"अहो श्रमणवर ! आप तो कोइ महा दुष्कर व्रत के धारक हो । ऐसा व्रत प्रमादी पुरुष तो एक दिन भी धारण नहीं कर सकता । आप हमारे साथ अवश्य पधारें । हम आपको वही वस्तु अर्पण करेंगे, जो आपके योग्य होगी ।"

सार्थ-सघ ने प्रस्थान किया । आचार्यश्री भी अपनी शिष्य-मण्डली के साथ ईर्यासमिति युक्त विहार करते हुए चलने लगे । सार्थ बहुत बडा था । हजारों मनुष्य साथ थे । खाने-पीने का सामान, व्यापार की चीजे और बिस्तर, वस्त्र, बरतन आदि ढोने के लिए तथा रास्त मे पानी ले कर साथ चलने में बैल, गधे, खच्चर आदि हजारों पशु थे । सार्थ की रक्षा के लिए सशस्त्र सेना भी साथ थी । जाना बहुत दूर था । शीतकाल में प्रस्थान किया, किन्तु उष्णकाल भी बीत चुका और वर्षाकाल आया । वर्षा के कारण सभी मार्ग रुक गये । गमनागमन रुक गया । सार्थपति ने वर्षाकाल बिताने के लिए उचित स्थान पर पडाव डालने की आज्ञा दी । तम्बू तन गये । अस्थायी निवास की व्यवस्था हो गयी । आचार्यादि भी एक स्थान में ठहर गये । वर्षाकाल लम्बा था और सार्थ में मनुष्य भी बहुत हो गये थे । अतएव खाद्य सामग्री कम हो गई थी । भावी सकट की आशका से सार्थपति धन्य सेठ चिन्तित रहने लगे । उन्हें अचानक स्मरण हो आया कि - "मैं धर्मघोष आचार्य को साथ लाया और उनके अनुकूल व्यवस्था करने का वचन दिया, किन्तु आज तक मैने उनसे पूछा भी नहीं, याद भी नहीं किया । अहो!

मैं कितना दुर्भागी हूँ । मैने महात्माओ की उपेक्षा की । उन अकिंचन महाव्रतियो का जीवन अब तक कैसे चला होगा ? अब मैं उन्हें अपना मुँह भी कैसे दिखाऊँ"-वह चिन्ता से छटपटाने लगा । अन्त में निश्चय किया कि प्रात काल होते ही आचार्यश्री के चरणो में उपस्थित हो कर क्षमा मागूँ और प्रायश्चित्त करूँ। उसके लिए शेष रात्रि बिताना कठिन हो गया । प्रात काल होते ही वह कुछ योग्य साथियो के साथ आचार्यश्री की सेवा मे उपस्थित हुआ । उसने देखा कि -

आचार्य ज्ञान, दर्शन और चारित्र से सुशोभित हैं । उनके मुखकमल पर शाति एव सौम्यता स्पष्ट हो रही है । तप के शात तेज की आभा से उनका चेहरा देदीप्यमान हो रहा है । उनके परिवार के साधुओं में कोई ध्यान-मग्न है, तो कोई स्वाध्यायरत । कोई वन्दन कर रहा है, तो कोई पृच्छा । कोई सीखे हुए ज्ञान की परावर्तना कर रहा है तो कोई वाचना ही ले रहा है । सभी सत किसी न किसी प्रकार की साधना में लगे हुए हैं । वे सभी टूटी-फूटी एव जीर्ण निर्दोष झोपडी में बैठे हुए हैं ।

सार्थपति आदि ने आचार्यश्री और अन्य महात्माओ को वन्दन किया और उनके सम्मुख बैठ कर निवेदन किया -

"भगवन् ! मैं ओपश्री का अपराधी हूँ। मैने आपकी सेवा करने का वचन दिया था किन्तु आज तक आपके दर्शन भी नहीं कर सका। मैं प्रमाद के वश हो कर आपकी स्मृति ही भूल गया। महात्मन्! आप तो कृपानिधान हैं क्षमा के सागर हैं। मेरे अपराध क्षमा करें-प्रभु !"

"सार्थपति ! चिता मत करो" - आचार्य शात वचनो से सेठ को आश्वस्त करने लगे-"आपने जगली क्रूर पशुओं से और चोरों से हमारी रक्षा की है । आपके सघ के लोग ही हमे आहार आदि देते हैं । मार्ग म हमे कुछ भी कष्ट नहीं हुआ । इसलिए खेद करने की आवश्यकता नहीं है ।"

"महर्षि ! गुणीजन तो गुण ही देखते हैं । मैं भूल और दोष का पात्र हूँ । मैं अपने ही प्रमाद से लज्जित हो रहा हूँ । आप मुझ पर प्रसन्न होवें और मेरे यहाँ से आहार ग्रहण करें"- धन्य सार्थवाह ने कहा ।

बोधिलाभ

आचार्यश्री ने साधुओं को आहार के लिए भेजा । जिस समय साधु गोचरी के लिए गये, उस समय सेठ के रसोड़े में साधुओ को देने योग्य निर्दोष सामग्री कुछ भी नहीं थी। सेठ ने देखा-सिवाय घृत के और कुछ भी नहीं है । उसने मुनिवरों को घृत ग्रहण करने का निवेदन किया। साधुओ ने पात्र आगे रख दिया । सार्थपति श्री धन्य श्रेष्ठी ने भावों की उत्तमता से -बडे ही प्रमोद भाव से भक्तिपूर्वक घृत दान दिया । घृत दान के समय भावों की विशुद्धि से सार्थपति को मोक्ष के बीज रूप 'बोधि-बीज- सम्यक्त्व' की प्राप्ति हुई ।

सेठ दान देने के पश्चात् मुनिवरो को पहुँचाने आश्रम तक गया और आचार्यश्री

को वन्दना कर के बैठ गया । आचार्यश्री ने सार्थपति को धर्मोपदेश दिया, जिस सुन कर वह कहने लगा कि मैने आज पहली बार ही ऐसा उपदेश सुना। मैं अब तक अन्धकार में हा भटक रहा था ।" आचार्यश्री को वन्दना कर के सेठ अपने स्थान पर आया । वर्षाकाल पूरा हुआ । सार्थपति ने प्रस्थान की तैयारी की और उद्घोषणा करवा कर सभी को तैयार होने की सूचना दी । पूरा सघ चल पडा । जब सघ, भयानक और विशाल जगल को पार कर गया और छोटे-मोटे गाव आने लगे, तब आचार्यश्री ने सघपति धन्य सेठ को सूचित कर के पृथक् विहार कर दिया और सार्थ वसन्तपुर की दिशा में आगे बढा। वसन्तपुर पहुँचने के बाद क्रय-विक्रय कर के सघ, पीछा लौटा और सुखपूर्वक स्वस्थान-क्षितिप्रतिष्ठित नगर पहुँच गया।

युगलिक भव

कालान्तर में सार्थपति धन्य सेठ आयु पूर्ण कर के उत्तरकुरु क्षेत्र में युगलिक पुरुष के रूप म उत्पन्न हुआ। उत्तरकुरु क्षेत्र के युगलिकों म एकान्त 'सुषमा-सुषमा' नामक आरे जैसी स्थिति होती है। वहाँ की पृथ्वी मिश्री जैसी मीठी और निर्मल होती है। जल भी स्वादिष्ट होता है। वहाँ तीन दिन के बाद आहार लेने की इच्छा होती है । वहाँ के मनुष्यों के २५६ पसलियाँ होती है। शरीर का प्रमाण तीन गाउ लम्बा और आयु तीन पल्योपम की होती है। वे अल्पकषायी व ममत्वरहित होते हैं । दस प्रकार के वृक्षों से वहाँ के निवासियों का निर्वाह होता है। वे वृक्ष इस प्रकार के हैं-

१ मद्याग-इस वृक्ष से मद्य-पौष्टिक रस मिलता है। २ भृगाग-पात्र देता है। ३ तुर्यांग- विविध प्रकार के वादित्र मिलते हैं। ४ दीपशिखाग-दीपक-सा प्रकाश देने वाले। ५ ज्योतिष्काग -सूर्य-सा प्रकाश मिलता है और उष्णता भी मिलती है । ६ चित्राग-विविध प्रकार के पुष्प । ७ चित्ररस से भोजन। ८ मण्यग से आभूषण। ९ गेहाकार से घर और १० अनग्न वृक्ष से सुन्दर वस्त्र मिलते हैं। उनके जीवन के अन्त के दिनों में एक युगल का जन्म होता है। वे अपनी सन्तान की प्रतिपालना केवल ४९ दिन ही करते हैं। इसके बाद उनकी मृत्यु हो जाती है और वे देवगति प्राप्त करते हैं।

देव और विद्याधर भव

धन्य सार्थपति ऐसे सुखद क्षेत्र मे जन्मा और अपनी लम्बी आयु भोग कर सौधर्म स्वग में देव हुआ । देवलोक का आयुष्य पूर्ण कर के पश्चिम महाविदेह की गधिलावती विजय में वैताढ्य पर्वत के ऊपर गधसमृद्धि नगर था । वहाँ के विद्याधरों के अधिपति श्री शतबल की चन्द्र-कान्ता भार्या की कुक्षि से पुत्ररूप में जन्म लिया । वह महाबली था, इसलिए उसका नाम भी 'महाबल' रखा गया । युवावस्था में 'विनयवती' नाम की सुन्दरी कन्या के साथ उसके लग्न हुए । युवराज भोग भोगते हुए काल व्यतीत करने लगे ।

एक दिन विद्याधर -पति महाराज शतबल, एकान्त मे बैठे हुए अशुचि-भावना मे मग्न हो कर सोचने लगे -

"अहो ! यह शरीर स्वभाव से ही अशुचिमय है । ऊपर के आवरणों से ही यह शोभायमान हो रहा है । इसकी स्वाभाविक अशोभनीयता कब तक ढकी रहेगी ? प्रतिदिन शोभा सत्कार करते हुए, यदि एक दिन भी इनकी सजाई नहीं की जाय, तो दुष्ट मनुष्य के समान यह शरीर तत्काल अपने विकार प्रकट कर देता है । बाहर निकले हुए विष्टा, मूत्र, कफ, शलेष्मादि से मनुष्य घृणा करता है, किन्तु वह यह नहीं सोचता कि हमारे शरीर के भीतर क्या है ? यही तो भरा है । जिस प्रकार जीर्ण वृक्ष की कोटर मे साँप, बिच्छु आदि जन्तु रहते हैं ? उसी प्रकार शरीर मे भी अनेक प्रकार के कृमि और दु खदायक रोग भरे हैं । यह शरीर शरदऋतु के मेघ के समान स्वभाव से ही नाश होने याग्य है । यौवन-लक्ष्मी विद्युत् चमत्कार के सदृश है और देखते-देखते ही चली जाती है । आयुष्य भी पताका के समान चपल है और सपत्ति जल-तरग के तुल्य तरल है । भोग, भुजग के फण के समान विषम है और सगम, स्वप्न की तरह मिथ्या है । इस शरीर मे रही हुई आत्मा, काम-क्रोधादि के ताप से तप्त होकर दिन-रात पक रही है । इस प्रकार शरीर की दशा स्पष्ट दिखाई देते हुए भी अज्ञानी जीव, दु खदायक परिणाम वाले विषयो में सुख मानते हैं और अशुचि स्थान म रहे हुए कीडे के समान उसी में प्रीति करते हैं । उन्हे वैराग्य क्यों नहीं प्राप्त होता ? वे परम सुखदायक ऐसे धर्म और मोक्ष-पुरुषार्थ में पराक्रम क्या नहीं करते ?

मुझे यह सुअवसर प्राप्त हुआ है । अब विलम्ब करना उचित नहीं ।" इस प्रकार विचार कर के राजा ने युवराज महाबल का राज्याभिषेक किया और स्वय धर्माचार्य के समीप निर्ग्रंथ-प्रव्रज्या ग्रहण की । बहुत वर्षों तक चारित्र का पालन कर के स्वर्गवासी हुए ।

स्वयं बुद्ध का उपदेश

महाराज महाबल कुशलतापूर्वक राज्य का सचालन करने लगे और मनुष्य सम्बन्धी काम-भाग भोगने लगे । वे काम-भोग में अत्यन्त आसक्त हो गए थे । राज्य सचालन अनेक मन्त्रिया द्वारा होता था । मुख्यमन्त्री चार थे । चारों मुख्य मन्त्रियो के नाम इस प्रकार थे - १ स्वयबुद्ध २ सभिन्नमति ३ शतमति और ४ महामति । इन चारों में स्वयबुद्ध विशेष बुद्धिमान् सम्यग्दृष्टि और राजा का हितचितक था । एक बार स्वयबुद्ध को विचार हुआ कि-

"मेरा स्वामी काम-भोगो में डूब रहा है । इन्द्रियो के विषय रूपी शत्रु ने राजा को अपने अधिकार में कर लिया है । इस प्रकार स्वामी को मनुष्य-जन्म व्यर्थ गँवाते देख कर भी नहीं बोलूँ और चुपचाप देखा करूँ, तो यह मेरी कर्त्तव्य-विमुखता होगी । मेरा कर्त्तव्य है कि मैं महाराज को काम भोगो से मोड़ कर धर्म के मार्ग पर लगाऊँ ।" इस प्रकार सोच कर यथावसर स्वयबुद्ध ने नम्रतापूर्वक महाराज महाबल से निवेदन किया -

"महाराज ! यह ससार समुद्र के समान है । जिस प्रकार नदियों के जल से समुद्र तृप्त नहीं होता और समुद्र के जल से बडवानल (समुद्र में रही हुई अग्नि) तृप्त नहीं होता, जीवो की मृत्यु से यमराज (काल) और काष्ठ-भक्षण से अग्नि तृप्त नहीं होती, वैसे ही यह मोही आत्मा विषय-भोग से तृप्त नहीं हो सकती । आकाक्षी बढती ही रहती है । किन्तु जिस प्रकार नदी के किनारे की छाया दुर्जन, विप और विषधर प्राणी की अत्यन्त निकटता - विशेष सेवन, दु खदायक होता है उसी प्रकार विपयो की आसक्ति भी अत्यन्त दु खदायक होती है । कामदेव का सेवन तत्काल तो सुख देता है, किन्तु परिणाम में विरस एव दु खद होता है और खुजाले हुए दाद की खुजली के समान वासना बढाता ही रहता है। यह कामदेव नरक का दूत व्यसन का सागर और विपत्ति रूपी लता का अकुर है । पाप-रूपी कटु फलदायक वृक्ष का सिचन करने वाली जलधारा भी काम-भोग ही है। कामदेव (मोह) रूपी मदिरा में मदमत्त हुआ जीव, सदाचार के मार्ग से हट कर दुराचार के खड्डे म गिर जाता है और भवभ्रमण के जजाल में पड जाता है। जिस प्रकार घर में घुसा चूहा घर में अनेक खड्डे खोद कर बिल बना देता है उसी प्रकार जिस आत्मा में कामदेव प्रवेश करता हैं उस में धर्म अर्थ और मोक्ष को खोद कर खा जाता है "

"स्त्रियाँ, दर्शन, स्पर्श और उपभोग से अत्यन्त व्यामोह उत्पन करती है । स्त्रियाँ काम रूपी शिकारी की जाल है ।

"वे मित्र भी हितकारी नहीं होते, जो खाने-पीने एव विलास के साथी हैं । वे मन्त्री अपने स्वामी का भावी हित नहीं देख कर स्वार्थ ही देखते हैं । ऐसे लोग अधम हैं- जो स्वार्थरत, लम्पट और नीच हैं और लुभावनी बातें करत हुए स्वामी को स्त्रियों के मोह में डुबाने के लिए वैसी कथा, गीत, नत्य एव कामोद्दीपक वचनों से मोहित कर पतन की ओर धकेलते हैं ।"

"हे स्वामिन् ! आप अपनी रुचि बदलें । ऐसे व्यक्तियो की सगति छोड़ें । आप स्वय सुज्ञ हैं। इस आसक्ति को छोड़ें और धर्म में मन लगावें । जिस प्रकार चारित्र-रहित साधु, शस्त्र-रहित सेना और नेत्र-रहित मुँह शोभा नहीं पाता, उसी प्रकार धर्म-रहित मनुष्य भी शोभा नहीं पाता । उसकी दुर्गति होती हैं । और वह भवान्तर मे महा दु खी होता है । धर्म, जीव को सुख-शान्ति और समृद्धि देने वाला है । इसलिए आप अधर्म को त्याग कर धर्म का सेवन करें ।"

अधर्मियों से विवाद

स्वयबुद्ध मन्त्री की धर्मसम्मत बात "सभिन्नमति" नाम के मन्त्री को नहीं रुचि । वह मिथ्यामति नास्तिक था । स्वय बुद्ध की बात पूरी होते ही बोल उठा, -

"स्वयबुद्धजी ! धन्य है आपको और आपकी बुद्धि को । आपने अपने स्वामी का अच्छा हित सोचा । आपके विचार से आपके उदासीन मानस के दर्शन होते हैं । आप से

महाराज का सुख नहीं देखा जाता । स्वामी की प्रसन्नता आप को अच्छी नहीं लगती । जो सेवक अपने भोग के लिए स्वामी की सेवा करते हैं, वे स्वामी को कैसे कह सकते हैं कि - 'आप भोगों का त्याग कर दें ।' यह तो धृष्टता ही है ।''

''जो प्राप्त उत्तम भोगो को त्याग कर अदृश्य एव असत्य भोगो की - परलोक की आशा रखते हैं, वे भूलते हैं । क्योंकि परलोक की मान्यता ही असत्य के आधार पर खडी है । किसने देखा है परलोक? वास्तविक हस्तगत सत्य को छोड कर मिथ्या धारणा मे भटकना मूर्खता है । वास्तव मे यह शरीर ही सब कुछ है । शरीर के अतिरिक्त ऐसी कोई आत्मा नहीं है, जो परलोक में सुख और दु ख भोगने के लिए जाता हो । जिस प्रकार गुड जल और अन्य अनेक पदार्थों के योग से मद-शक्ति वाली मदिरा उत्पन्न होती है, उसी प्रकार पृथ्वी, अप्, तेज और वायु से चेतना-शक्ति उत्पन्न होती है। वास्तव में शरीर से भिन्न कोई शरीरधारी-आत्मा नहीं है, जो शरीर छोड कर परलोक में जाता हो। शरीर के नाश के साथ ही सब कुछ नष्ट हो जाता है । ऐसी स्थिति मे प्राप्त सुखोपभोग को छोड कर उदासीन जिन्दगी बिताना, केवल मूर्खता ही है । धर्म-अधर्म के विचार मन मे लाना ही भूल है । मात्र भ्रम है । इस प्रकार के भम से प्राप्त सुखोपभोग से वचित रहने से जीवन रूखा हा जाता है । इस प्रकार के अज्ञान से काम-भोगमय सुखी जीवन नष्ट हो जाता है । जिस प्रकार गधे के सिर पर सींग नहीं होते, उसी प्रकार धर्म-अधर्म भी नहीं है । जिस प्रकार पाषाण की स्नान विलेपन पुष्प और वस्त्राभूषण से पूजा करने से पुण्य नहीं होता और पाषाण पर बैठ कर मलोत्सर्ग या मूत्रोत्सर्ग करने से पाप नहीं होता उसी प्रकार धर्म-अधर्म और पुण्य-पाप भी कुछ नहीं होता । यदि कर्म से ही जीव उत्पन्न होते और मरते हो, तो पानी का बुलबुला किस कर्म से उत्पन्न और नष्ट होता है ? अतएव जब तक हम इच्छापूर्वक चेष्टा-क्रिया करते हैं, तब तक 'चेतन' कहा जाता है और चेतना नष्ट होने पर सब कुछ नष्ट हो जाता है । इसके बाद पुनर्भव नहीं होता । पुनर्भव की बात ही युक्ति-रहित और असत्य है । इसलिए हे मित्र स्वयबुद्ध! अपने स्वामी, शिरीष जैसी कोमल शय्या में रूप और लावण्य से भरपूर ऐसी सुन्दर रमणियों के साथ क्रीडा करते हैं और अमृत के समान भोज्य एव पेय पदार्थों का यथारुचि आस्वादन करत हैं, उन्हें निषेध नहीं करना चाहिए। सुखोपभोग मे बाधक बनना स्वामी द्रोह है।''

''हे स्वामिन् ! आप धर्म की भ्रमजाल से दूर रहे और दिन-रात सुखोपभोग में मग्न रहे ।''

सभिन्नमति के ऐसे विचार सुन कर स्वयबुद्ध ने कहा-

''अहो, नास्तिकता कितनी भयानक होती है । जैसे अन्धा नेता खुद को और अपनी टोली को भी अन्धकूप में गिरा देता है, वैसे ही नास्तिक-मति के विचारक भी भोले लागों को नास्तिक बना कर खुद अधोगति मे जाते हैं और साथियों को भी ले जाते हैं । नास्तिक लोग आत्मा का अस्तित्व नहीं मानते किन्तु विचारशील व्यक्ति के लिए यह अनुभव-गम्य है । जिस प्रकार हम स्व-सवेदन से सुख ~ ~ को जानते हैं, उसी प्रकार आत्मा को भी जान सकते हैं । स्व-सवेदन मे किसी प्रकार की बाधा

नहीं होती । इसलिए आत्मा का निषेध करने में कोई भी शक्ति अथवा युक्ति समर्थ नहीं हो सकती । 'मैं सुखी हूँ, मैं दु खी हूँ, मुझे भूख लगी है, मैं प्यासा हूँ,'–आदि भाव आत्मा के अतिरिक्त किसी भूत-जड में उत्पन्न नहीं हो सकते । इस प्रकार के ज्ञान से अपने शरीर के भीतर रही हुई आत्मा की सिद्धि होती है । जितने मनुष्य दिखाई देते हैं, उन सभी में बुद्धिपूर्वक कार्य में प्रवृत्ति होती है । इसलिए उनमें भी आत्मा है–ऐसा सिद्ध होता है । जो प्राणी मरते हैं, वे ही पुन उत्पन्न होते हैं, इसलिए आत्मा का परलोक भी है । जिस प्रकार बाल्यावस्था से तरुण अवस्था और तरुण अवस्था से वृद्धावस्था प्राप्त होती है । इन अवस्थाओं के परिवर्तन म भी आत्मा तो वही रहती है, उसी प्रकार शरीरान्तर से पुनर्जन्म होता है । तत्काल का जन्म हुआ बालक, माता के स्तन पर मुँह दे कर स्तन पान करता है (मुँह चला कर दूध पीने की क्रिया करता है) यह क्रिया उसने पूर्वजन्म के सिवाय कहाँ सीखी ?"

"ससार मे कारण के अनुरूप ही कार्य होता है । कारण के प्रतिकूल कार्य नहीं होता । फिर अचेतन भूतों से चेतन आत्मा कैसे उत्पन्न हो सकती है ?"

"मित्र सभिन्नमति ! मैं तुमस ही पूछता हूँ कि चेतना प्रत्येक भूत से उत्पन्न होती है या सभी भूतो के सयोग से उत्पन्न होती है ? यदि प्रत्येक भूत से उत्पन्न होती हो, तो चेतना भी भूतों के जितनी ही होनी चाहिए । यदि सभी भूतो के सम्मिलन स चेतना उत्पन्न होती हो तो परस्पर भिन्न स्वभाव वाले भूतो से एक स्वभाव वाली चेतना कैसे उत्पन हो सकती है ?"

"रूप गन्ध, रस और स्पर्श गुण पृथ्वी में है । रूप, रस और स्पर्श गुण पानी म है । तेज, रूप और स्पर्श गुण वाला है और एक स्पर्श गुण वाला वायु है । इस प्रकार इन भूतों में स्वभाव की भिन्नता है । ऐसे भिन्न स्वभाव वाले भूतों से एक स्वभाव वाली चेतना कैसे उत्पन्न हो सकती है ?"

"यदि कहा जाय कि 'जिस प्रकार जल से भिन्न स्वभाव के मोती की उत्पत्ति होती है उसी प्रकार भूत से चेतना की उत्पत्ति है " तो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि मोती में भी जल होता है और जल तथा मोती भूतमय ही है । इनमें विसदृशता नहीं है "

"गुड जल और अन्य वस्तुओ से बनी हुई मदिरा में मादकता उत्पन होने का तुम्हारा दृष्टान्त भी उपयुक्त नहीं है, क्योंकि मद-शक्ति स्वय अचेतन है । इसलिए चेतन के लिए अचेतन का उदाहरण घटित नहीं हो सकता ।

"एक पाषाण, पूजा जाता है और दूसरे पर मल-मूत्र किया जाता है- ऐसी युक्ति भी आपकी व्यर्थ है । क्योंकि पाषण अचेतन है उसे सुख-दु ख की अनुभूति नहीं होती । अतएव देह से भिन्न ऐसी आत्मा है और वह परलोक में जाती है और धर्म-अधर्म भी है और धर्म-अधर्म के परिणाम स्वरूप परलोक भी है-ऐसा सिद्ध होता है ।"

"स्वामिन् ! जिस प्रकार अग्नि के ताप से मक्खन पिघल जाता है उसी प्रकार स्त्री के आलिगन से मनुष्य का विवेक नष्ट हो जाता है । अनर्गल एव अत्यन्त रसयुक्त आहार के उपभोग स मनुष्य पशु

के समान उन्मत्त हो जाता है । चन्दन, अगर, कस्तुरी और घनसार (तथा इत्रादि) आदि सुगन्धी पदार्थ से कामदेव, मनुष्य पर आक्रमण करता है ।शब्द, रूप, गध, रस और स्पर्श ये इन्द्रियो के विषय, आत्मा को विकारी बना कर अधोगति में ले जाते हैं ।इसलिए इनकी आसक्ति हितकारक नहीं होती ।इसलिए हे नरेन्द्र ! पाप के मित्र, धर्म के शत्रु और नरक की ओर ले जाने वाले ऐसे विषयो से आप विमुख रहें ।इन्हे त्याग दे ।इसी में आपका हित रहा हुआ है ।''

''नराधिपति ! हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि ससार मे कोई मनुष्य सेव्य है, तो कोई सेवक है, एक दाता है, तो दूसरा याचक है, एक जीव वाहन बनता है तो दूसरा जीव उस पर सवार होता है एक भयभीत हो कर अभयदान माँगता है, तो दूसरा अभयदान देता है और एक सुखी है, तो दूसरा दु खी है ।इस प्रकार धर्म-अधर्म के फल प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं ।इसलिए आप अधर्म को त्याग कर धर्म का आचरण करें ।इसी मे आपका कल्याण है ।''

स्वयबुद्ध के युक्तिसगत वचन सुन कर सभिन्नमति चुप रह गया, जब 'शतमति' नाम के तीसरे क्षणिकवादी मन्त्री ने कहा-''मित्र !प्रतिक्षण नाश होने वाली वस्तु का ज्ञान करने वाली शक्ति को ही 'आत्मा' कहते हैं ।इसके सिवाय आत्मा नाम की कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है ।वस्तु मे स्थिरत्व नहीं होता ।जीवो मे तो स्थिरत्व बुद्धि है वह तो वासना है ।इसलिए पूर्व और पश्चात् क्षणों का वासना रूप एकत्व ही वास्तविक है ।क्षणो का एकत्व सत्य नहीं है ।''

स्वयबुद्ध-''मित्र !कोई भी वस्तु अन्वय - परम्परा रहित नहीं होती ।वस्तु में स्थिरत्व - ध्रुवत्व भी होता है ।जिस प्रकार जल और घास आदि पूर्व कारण का पश्चात् कार्य, गाय से दूध प्राप्ति रूप हाता है, उसी प्रकार ध्रुवत्व भी है ।कोई भी वस्तु आकाश कुसुम के समान परम्परा रहित नहीं है । अतएव क्षणभगुर की मान्यता व्यर्थ है ।यदि क्षणभगुर - प्रतिक्षण विनष्ट होने की बात ही सत्य हो, तो सतति की परम्परा कैसे मानी जा सकती है ? यदि सतति-परम्परा एव नित्यता मानी जाती है तो समस्त पदार्थों म क्षणभगुरत्व किस प्रकार माना जा सकेगा ? सभी पदार्थों को एकान्त अनित्य एव प्रतिक्षण नाश होने वाले माने जायँ, तो किसी के यहाँ रखी हुई धरोहर कालान्तर मे फिर माँगना और पूर्व की बाता और घटनाओं की स्मृति रहना किस प्रकार होता है ?''

हाँ, यदि जन्म होने के बाद के क्षण मे ही सभी की मृत्यु हो जाती हो जन्म के बाद दूसरे क्षण में वह पुत्र, प्रथम के माता-पिता का पुत्र न कहलाता हो और वे माता-पिता नहीं माने जाते हो तथा विवाह के पश्चात् बाद के क्षण में प्रथम क्षण के नाश के साथ ही पति-पत्नी का सम्बन्ध भी नष्ट हो जाता हो - उनमे स्थायित्व नहीं रहता हो तब तो प्रतिक्षण विनष्ट होने की मान्यता सत्य हो सकती है ।किन्तु यह प्रत्यक्ष के विरुद्ध है अतएव असत्य है ।

सभी वस्तु प्रतिक्षण नष्ट होने वाली मानने पर पाप का फल भोगने की मान्यता भी मिथ्या हो जाती है ।चोरी करने वाला चार या हत्यारा, वह क्षण बीत जाने पर अन्य क्षणों में दण्ड का भागी नहीं

रह सकेगा और जो दण्ड भोग रहा है वह कोई दूसरा प्राणी ही माना जायगा । इस प्रकार कृतनाश (किये हुए कर्म का फल नष्ट होना) और अकृतागम (नहीं किये का फल पाना) ये दो महान् दोष आ जावेंगे । अतएव एकान्त क्षणभगुरत्व की मान्यता मिथ्या है और द्रव्यापेक्षा ध्रुवत्व मानना सत्य है।

क्षणिकवादी शतमति के चुप रह जाने पर 'महामति' नाम का चौथा मन्त्री बोला -"स्वयबुद्ध जी ! आप हम सब माया के चक्कर में पडे हुए हैं । हम जो कुछ देखते हैं और आप जो कुछ कहते हैं, यह सब माया का ही प्रपञ्च है । न तो कोई वस्तु ध्रुव है न क्षणभगुर, सब माया ही माया है । माया के अतिरिक्त दूसरा कोई तत्त्व नहीं है । हम जो कुछ जानते-देखते हैं यह सब का सब स्वप्न एव मृगतृष्णा के समान मिथ्या है । गुरु-शिष्य, पिता-पुत्र धर्म-अधर्म अपना-पराया, आदि बातें सब व्यवहार के लिए है । तत्त्व से तो ये सभी बाते मिथ्या है ।

जिस प्रकार एक गीदड, मास का टुकडा मुँह में दबा कर नदी के किनारे आता है । वहाँ मच्छी को देख कर ललचाता है और मास को एक ओर रख कर मच्छी पकडने को झपटता है, किन्तु मच्छी पानी मे लुप्त हो जाती है और उधर मास के लोथडे को गिद्ध पक्षी उठा ले जाता है । यह अप्राप्त मच्छी की आशा में प्राप्त मास को भी खो बैठता है। इसी प्रकार जो लोग, परलोक की आशा से इस लोक के प्राप्त सुखो को छोडते हैं, वे दोनो ओर से भ्रष्ट होते हैं और अपनी आत्मा को धोखा देते हैं ।

पाखडी लोगों के मिथ्या उपदेश सुन कर और नरक से भयभीत हो कर मोहाधीन प्राणी व्रत और तप के द्वारा देह दमन करते हैं ये अज्ञानी हैं ।"

महामति की मिथ्या वाणी सुन कर महामन्त्री स्वयबुद्ध ने कहा - "यदि ससार में सभी वस्तु असत्य और माया (भ्रम) मात्र हो तो जीव अपने कृत्यों का कर्त्ता भी नहीं हो सकता और भोक्ता भी नहीं हो सकता । यदि सब स्वप्न के समान ही हो तो जिस प्रकार स्वप्न में प्राप्त धन सम्पत्ति रमणी और हाथी आदि मिथ्या होते हैं, वैसे प्राप्त साधन भी मिथ्या ही होना चाहिए ? फिर मिथ्या वस्तु का लोभ ही क्या और राज-सेवा आदि से धन आदि की प्राप्ति का प्रयत्न ही क्या होता है ? यदि पदार्थों का कारण भाव सत्य नहीं है तो दुष्ट द्वारा आक्रमण का भय भी नहीं होना चाहिए और "मैं" "तुम" "वे" आदि वाच्य-वाचक भी नहीं होना चाहिए और व्यापार-व्यवसाय और सेवा आदि व्यवहार का फल भी नहीं मिलना चाहिए ? जब समस्त व्यवहार मिथ्या है और सब माया ही है तो माया के पक्षकार को तो व्यवहारों से मुक्त ही रहना चाहिए ?"

"महाराज ! यह सब वितण्डावाद है और विषयाभिलाषी के पोषण की मिथ्या युक्तियें हैं । आपको इस पर स्वय सोचना चाहिए और विवेक के द्वारा विषयों का त्याग कर के धर्म का आश्रय लेना और भविष्य सुधारना चाहिए ।"

मन्त्रियो के भिन्न-भिन्न मतों को जान कर अपने निर्णय के स्वर में महाराज महाबल ने कहा -

"महाबुद्धि स्वयबुद्धजी ! आपने बहुत ही सुन्दर और हितकारक उपदेश दिया । आपका उपदेश यथार्थ है । मैं धर्म-द्वेषी नहीं हूँ । परन्तु धर्म का पालन भी यथावसर ही होना चाहिए । वर्तमान मे मित्र के समान प्राप्त यौवन की उपेक्षा करना उचित नहीं है । आपका उपदेश यथार्थ होते हुए भी असमय हुआ है । जब वीणा का मधुर स्वर चल रहा हो, तब उपदेश की धारा व्यर्थ ही नहीं अशोभनीय लगती हैं । धर्म का परलोक मे मिलने वाला फल नि सन्देह नहीं है । इसलिए आपका इस लोक में प्राप्त सुखभोग का निषेध करना उचित नहीं लगता ।"

महाराज के वचन मुन कर स्वयबुद्ध विनयपूर्वक कहने लगा,-

"महाराज ! धर्म के फल मे कभी भी सन्देह नहीं करना चाहिए । आपको याद ही हागा कि जब आप बालक थे, तब एक दिन अपन नन्दन वन में गये थे । वहाँ हमने एक सुन्दर और कान्तिवान् देव को देखा था । उस दव ने आपको कहा था कि –

"वत्स ! मैं अतिबल नाम का तेरा पितामह हूँ । मैं ससार और विषय-सुख से निर्वेद पा कर निर्ग्रंथ हो गया था और आराधक हो कर लातक स्वर्ग का अधिपति देव हुआ हूँ । इसलिए तुम भी विषयो से विरक्त हा कर धर्म का आश्रय लो ।" इस प्रकार कह कर वह देव अन्तर्धान हो गया था। इसलिए हे महाराज ! आप अपने पितामह की उस वाणी का स्मरण कर के परलोक में विश्वास करें। उस प्रत्यक्ष प्रमाण के आगे आपके सामने अन्य प्रमाण उपस्थित करने की आवश्यकता नहीं रहती।

"मन्त्रीवर ! आपने मुझे पितामह के वचन का स्मरण करा कर बहुत अच्छा किया । मैं उस प्रसग को भूल ही गया था । अब मैं परलोक को मान्य करता हूँ । अब मुझे आपके धर्म-वचनों मे कुछ भी शका नहीं रही ।"

राजा के ऐसे आस्तिकता पूर्ण वचन सुन कर स्वयबुद्ध मन्त्री हर्षित हुआ और कहने लगा,-

"महाराज ! आपके वश में पहले कुरुचन्द्र नाम का एक राजा हो गया है । उसके कुरुमती नाम की रानी और हरिचन्द्र नाम का पुत्र था । कुरुचन्द्र राजा महापापी महाआरभी, महापरिग्रही, अनार्य, निर्दय, दुराचारी और भयकर था । उसने बहुत वर्षों तक राज भोगा किन्तु मरते समय धातु-विकृति के रोग से वह नरक के समान दु ख भोगने लगा । उसे रुई के नरम गदेले आदि काटों की शय्या स भी अति तीक्ष्ण लगने लगे । सरस भोजन बिल्कुल निरस, कडुआ, सुगन्धित पदार्थ दुर्गन्धरूप और स्त्री-पुत्र आदि स्वजन भी शत्रु के समान लगने लगे । उसकी प्रकृति ही विपरीत और महा दु खदायक हो गई थी । अन्त में वह दाहज्वर से पीडितहो कर रौद्र-ध्यानपूर्वक मृत्यु पा कर दुर्गति में गया ।"

कुरुचन्द्र की मृत्यु के बाद हरिश्चन्द्र राजा हुआ । उसने अपने पिता के पाप का फल प्रत्यक्ष देख लिया था । इसलिए वह पाप से विमुख हो कर धर्म के अभिमुख हुआ । उसने अपने सुबुद्धि नाम के श्रावक मित्र से कहा-"मित्र ! तुम्हारा कर्त्तव्य है कि तुम धर्मोपदश सुन कर मेरे पास आओ और रोज मुझे सुनाया करो ।" इस प्रकार पाप से भयभीत हुआ राजा धर्म के प्रति प्रीतिवान् हो कर धर्म सुनने लगा और श्रद्धा रखने लगा ।

कालान्तर मे नगर के बाह उद्यान में, शीलन्धर नाम के महा मुनि को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ। देवगण केवलज्ञानी महात्मा के पास जाने लगे ।सुबुद्धि श्रावक, अपने मित्र महाराज हरिश्चन्द्र को भी केवलज्ञानी भगवान् के पास ले गया । धर्मोपदेश सुन कर राजा सतुष्ट हुआ । उसने केवली भगवान् से पूछा,-

"भगवन् ! मेरा पिता मर कर किस गति म गया ?"

"राजन् ! सातवीं नरक मे गया ।"

राजा विरक्त हुआ और पुत्र को राज्यभार सौंप कर, सुबुद्धि श्रावक के साथ भगवान् के पास प्रव्रजित हुआ और चारित्र पाल कर सिद्धि-गति को प्राप्त हुआ ।

स्वयबुद्ध प्रधान आगे कहने लगा;-

"महाराज ! आपके वश मे एक 'दडक' नाम का राजा हुआ था। उसका शासन प्रचण्ड था। शत्रुओं के लिए वह यमराज के समान था। उसके 'मणिमाली' नाम का पुत्र था। वह सूर्य के समान तेजस्वी था। दडक राजा स्त्री, पुत्र, स्वर्ण रत्न आदि में आसक्त हो कर आर्तध्यान युक्त मृत्यु पाया और भयकर अजगर हुआ। वह अपने राज्य भण्डार में रहने लगा। जा भी व्यक्ति भडार मे पहुँचता, उसे वह क्रुद्ध अजगर निगल जाता। एक बार 'मणिमाली' भण्डार म गया। उसे देख कर अजगर को स्नेह उत्पन्न हुआ। विचार में मग्न होते पूर्वजन्म का स्मरण हुआ और अपना पुत्र जान कर शान्तिपूर्वक उसे निरखने लगा। मणिमाली ने भी समझा कि यह मेरा पूर्वजन्म का सबधी है। उसने ज्ञानी महात्मा से पूछ कर जान लिया कि वह अजगर उसके पिता का जीव है। मणिमाली ने अजगर को धर्म सुनाया। अजगर सवेग भाव में रहने लगा और शुभध्यान स आयुष्य पूर्ण कर के स्वर्ग में गया। उस देव ने पुत्र-प्रेम से प्रेरित हो कर एक दिव्य मुक्ताहार मणिमाली को अपण किया। वह हार आपके वक्षस्थल पर अभी भी शोभा पा रहा है। आप महाराज हरिश्चन्द्र के वशज हैं और मैं सुबुद्धि श्रावक का वशज हूँ। मेरे पूर्वज के समान मैं भी आपको धर्म की प्रेरणा करता हूँ। मैंने आज नन्दन वन में दो चारण मुनियों को देखा और आपके आयुष्य के विषय मे पूछा। उन्होंने आपका आयुष्य मात्र एक महीने का ही बताया है। इसलिए आपको अभी ही धर्म आराधना करनी चाहिए। आपके लिए यह अवसर चूकने का नहीं है ।

स्वयबुद्ध के द्वारा अपना आयुष्य एक मास का जान कर राजा चौंक उठा । उसने स्वयबुद्ध का उपकार मानते हुए कहा - "हे मित्र ! हे अद्वितीय भ्रात ! तुम मेरे परम उपकारी हो और सदैव मेरे हित की बात ही सोचा करते हो । तुमने मोह नींद में बे-भान बने हुए और विषयों की सेना से दबे हुए मुझ पामर को जगाया सावधान किया । अब तुम्हीं बताओ कि इस अल्पकाल में मैं क्या करूँ किस प्रकार धर्म की आराधना करूँ ?"

"महाराज ! घबराइये नहीं, स्वस्थ रह कर श्रमण-धर्म का पालन कीजिए । एक दिन का धर्म-पालन भी मुक्ति दे सकता है, तो स्वर्ग प्राप्ति कितनी दूर है ?

प्रव्रज्या ग्रहण और स्वर्ग गमन

महाबल नरेश ने पुत्र को राज्यभार दिया और दीन-अनाथजनो को भरपूर अनुकम्पादान दिया- इतना कि उन्हें जीवन मे कभी माँगने की आवश्यकता ही नहीं पडे। स्वजनो और परिजना से क्षमा याचना कर मुनीन्द्र के पास सर्वसावद्य योग का त्याग कर के अनशन का पालन कर और नमस्कार मन्त्र के स्मरणपूर्वक देह त्याग कर दूसरे स्वर्ग के "श्रीप्रभ" नाम क विमान मे उत्पन्न हुए । उनकी दिव्य आकृति सप्तधातुओं (हाड, मास, रक्तादि) से रहित शरीर, समचतुरस्र सस्थान, शिरीष पुष्प जैसी सुकोमलता, दिव्य काति और वज्र के समान काया थी। वैक्रिय-लब्धि होने कारण वे इच्छानुसार शरीर बना सकते थे। वे अवधिज्ञान से युक्त थे और अणिमादि आठ सिद्धि के स्वामी थे। उनका देव नाम 'ललिताग' था।

ज्योही ललिताग देव, देवशय्या में उत्पन्न हुआ त्योंही जयजयकार होने लगा । देव दुदुभि और वादिन्त्र बजने लगे । ललिताग देव चकित हो गया । वह सोचने लगा – " यह स्वप्न तो नहीं है ? मायाजाल तो नहीं है ? यहाँ के लोग मेरे प्रति इतने विनीत और स्वामी-भाव से मेरे प्रति क्यो बरत रहे हैं ? इस लक्ष्मी के धाम और आनन्द के मन्दिर रूप स्थान में मैं कैसे आ गया ?" इस प्रकार वह सोच ही रहा था कि प्रतिहार ने हाथ जोड कर नम्रतापूर्वक निवेदन किया-

"हे स्वामी ! आपको स्वामी रूप मे प्राप्त करके हम धन्य हुए हैं । अनाथ से सनाथ हुए हैं । आप हम पर अपनी कृपा दृष्टि बरसाव । स्वामिन् ! यह ईशान देवलोक है । आपने अपने पुण्ययोग से इस श्रीप्रभ विमान का स्वामित्व प्राप्त किया है । आपकी सभा को शाभायमान करने वाले ये आपके सामानिक देव हैं । ये तेतीस देव आपकी आज्ञा की प्रतीक्षा करते हैं । ये हास्य-विलास एव आनन्द की गोष्ठी को रसीली बनाने वाले देव हैं । ये निरन्तर शस्त्र और कवचधारी आपके आत्मरक्षक देव हैं और ये लोकपाल आपके विमान की रक्षा करने वाले हैं । सेनापति भी हैं और प्रजारूप देव भी हैं। ये सभी आपकी आज्ञा को शिराधार्य करेंगे । आपकी दास के रूप मे सेवा करने वाले ये आभियोगिक देव हैं और सभी प्रकार की मलिनता दूर करने वाले ये किल्विषी देव हैं । सुन्दर रमणियो से रमणीय और मन को प्रसन्न करने वाले ये आपके रत्नजडित प्रासाद हैं । स्वर्ण कमल की खान रूप ये वापिकाएँ हैं । ये वारागनाएँ, चामर, आरिसा और पखा हाथ में ले कर आपकी सेवा में तत्पर रहती हैं । यह गन्धर्व वर्ग सगीत करने के लिए उपस्थित हैं ।

इस प्रकार प्रतिहारी का निवेदन सुनने के याद ललिताग देव ने अपने अवधिज्ञान से पूर्वभव का स्मरण किया। उसे धर्म के प्रभाव का साक्षात्कार हुआ। इनके याद उसका विधिवत् अभिपेक किया गया।

देव के वियोग में शोकमग्न

इसके याद वह क्रीडाभवन में गया, जहाँ उसे 'स्वयप्रभा' नाम की देवागना दिखाई दी, जो अपनी प्रभा से दिशाओं को प्रकाशित एव सुशोभित कर रही थी । वह अत्यन्त सुन्दर एव आकर्षक थी । ललिताग देव को अपनी ओर आता हुआ देख कर वह हर्ष एव स्नेहपूर्वक उठी और उसका सत्कार किया । वे दोनों आपस मे क्रीडा करने लगे । कालान्तर मे स्वयप्रभा देवी का अवसान हो गया । उसके वियोग से ललिताग देव को भारी आघात लगा । वह तत्काल मूर्च्छित हो गया फिर सावचेत होन पर विलाप करने लगा और प्रिया का रटन करते हुए इधर-उधर भटकने लगा ।

महाबल राजा (ललिताग का पूर्वभव) के निष्क्रमण और स्वर्ग-गमन के याद स्वयबुद्ध मन्त्री को भी वैराग्य हो गया । वह श्री सिद्धाचार्य के पास दीक्षित हो गया । वर्षों तक सयम की आराधना कर के ईशानेन्द्र का 'दृढधर्मा' नाम का सामानिक देव हुआ । वह अपने पूर्वभव के सम्बन्धी ललिताग देव की दुर्दशा देख कर तत्काल उसके पास आया और उसे समझाने लगा । उसने कहा- 'बन्धु ! तू स्त्री के पीछे इतना पागल क्यों हो रहा है ? अरे, अपने को सम्हाल । धीर पुरुष तो प्राण जाने का समय आने पर भी विचलित नहीं होते, तय तू तो उन्मादी ही हो गया है ।" दृढधर्मा के उपदेश का ललिताग देव पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा । वह कहने लगा - "मित्र ! प्राणों का त्याग तो सहन हो सकता है किन्तु प्राणप्रिया का विरह सहन नहीं हो सकता ।मुझे मालूम नहीं कि ससार में-" सारं सारंगलोचना" - सार है तो एक मृगनयनी ही । इसके अतिरिक्त सभी नि सार है ।" ललिताग का मोहादय तीव्रतर देख कर मित्र देव दु खी हुआ । उसने अवधिज्ञान के उपयोग से जान कर कहा-"मित्र ! घयराओ नहीं तुम्हारी होने वाली प्रिया को मैने देख लिया है । मैं तुम्हें यताता हूँ, सुनो -

निर्नामिका का वृत्तांत

पृथ्वी के ऊपर धातकीखड के पूर्व-विदेह में नन्दी ग्राम है । यहाँ 'नागिल' नामक गृहस्थ रहता है । वह दरिद्र है । वह दिनभर भटकता रहता है, फिर भी उसकी और उसके कुटुम्ब की उदरपूर्ति नहीं हो पाती और भूखा-प्यासा ही सो जाता है । जैसा वह दरिद्र है, वैसी ही उसकी स्त्री 'नागश्री' भी दुर्भागिनी है । उसके छह पुत्रियाँ है । उनकी भूख भी दूसरों की अपेक्षा यहुत अधिक है । व सब लडकियाँ कुरूपा और घृणापात्र है । इसके याद नागश्री फिर गर्भवती हुई । नागिल ने पत्नी का पुन गर्भवती जान कर विचार किया - "मैं कितना दुर्भागी हूँ कि मनुष्य होते हुए भी नारकीय जीवन बिता

रहा हूँ । अभी पेट भरने का ठिकाना ही नहीं लग रहा है और फिर गर्भवती हो गई । शत्रु के समान पुत्रियो की सख्या बढती ही जा रही है । इन दरिद्रता की देवियों ने मुझ बरबाद कर दिया । मेरी शान्ति लूट ली । मैं भूख की ज्वाला से सूख कर जर्जर हो गया । अब भी यदि कन्या का ही जन्म हुआ तो मैं इन सभी को छोड कर चला जाऊँगा ।" इस प्रकार चिन्ता ही चिन्ता मे वह घुल रहा था फिर उसके पुत्री का ही जन्म हुआ। तब उसने यह सुना तो घर से ही भाग निकला । नागश्री को प्रसव के दु ख के साथ पति के पलायन का दु ख भी सहना पडा। वह सद्यजन्मा पुत्री पर अत्यत रोष वाली हुई । उसने उसका नाम भी नहीं दिया, साल-सभाल भी नहीं की। फिर भी वह सातवीं लडकी बडी होती गई। लोग उसे 'निर्नामिका' के नाम से पुकारने लगे । बडी होने पर वह दूसरा के यहाँ काम कर के अपना पेट पालती रही। एक बार किसी त्यौहार के दिन किसी बालक के हाथ मे लड्डू देख कर उसने अपनी माता से लड्डू माँगा। माता ने क्रोधित होकर कहा- "तेरा बाप यहाँ धर गया है, जो मैं तुझे लड्डू खिला दूँ। यदि तुझे लड्डू ही खाना है तो रस्सी ले कर उस अम्बरतिलक पर्वत पर जा और लकडी का भार बाँध ला । उसे बेच कर मैं तुझे लड्डू खिला दूँगी।" माता की ऐसी आघातकारक बात सुन कर निर्नामिका रोती हुई पर्वत पर गई । उस समय पर्वत पर युगन्धर नाम के महा मुनि को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ था और निकट रहे हुए देव, केवल-महोत्सव कर रहे थे। निकट के ग्रामा के लोग भी केवलज्ञानी भगवान् के दर्शन करने आ-जा रहे थे । निर्नामिका उन्हें देखकर विस्मित हुई और उत्सव का कारण जान कर वह भी महा मुनि के दर्शन करने चली गई। उसने भी भक्तिपूर्वक वन्दना की। केवलज्ञानी भगवान् ने वैराग्यवर्धक देशना दी । निर्नामिका ने पूछा-" भगवन् ! आपने ससार को दु ख का घर कहा, किन्तु प्रभो ! सब से अधिक दु खी तो मैं ही हूँ । मुझ से बढ कर और कोई दुखी नहीं होगा।" सर्वज्ञ भगवान् ने कहा " भद्रे ! तेरा दु ख तो साधारण-सा है, इससे तो अनन्त गुण दु ख नरक में है । वहाँ परमाधामी देवों द्वारा नारक जीव, तिल के समान कोल्हू में पीले जाते हैं, वसूले से छिल जाते हैं, करवत से चीरे जाते हैं, कुल्हाडे से काटे जाते हैं, घन से लोहे के समान कूटे जाते हैं, शिला पर पछाडे जाते हैं, तीक्ष्णतम शूलो की शय्या पर सुलाये जाते हैं। उन्हें उबलता हुआ सीसा पिलाया जाता है। उन्ह अनेक प्रकार के दु ख, परमाधामी देवों द्वारा दिये जाते हैं। वे मरना चाह कर भी नहीं मरते। उनका शरीर टुकडे-टुकडे हो कर भी पुन दु ख भोगने के लिए पारे के समान जुड जाता है और फिर भयानक दु ख चालू हो जाता है। वहाँ की क्षेत्रजन्य वेदना भी महा भयकर होती है ।

नारक जीवो के दु ख तो तुम्हारे लिए परोक्ष हैं, किन्तु जलचर और नभचर तिर्यंच जीव भी अनेक प्रकार के दु ख भोगते हैं। जलचरो में से कुछ जीवों का भक्षण तो जलचर ही कर जाते हैं कुछ का बकादि पक्षी और कुछ को मनुष्य मार कर, भुन कर और पका कर खाते हैं। उनकी चमडी उतारते हैं, अग-प्रत्यग काटते हैं। स्थलचर हिरन आदि निर्बल जीवो को सबल सिहादि खाते हैं, शिकारी लोग निशाना बना कर मार डालते हैं। बैल आदि पर शक्ति से अधिक भार लादते हैं। उन्हें भूख प्यास, शीत

उष्ण आदि सहन करना पडता है। चाबुक और लाठी आदि का प्रहार सहन करना पडता है । नभचर-तीतर, कपोत, चिडिया आदि को बाज, गिद्ध आदि पक्षी पकड कर खा जाते हैं और शिकारी भी मार गिराते हैं। इस प्रकार जीवो को अपने कर्मानुसार अनेक प्रकार के भयकर दु ख भोगने पडते हैं।

मनुष्यों मे भी कई जन्मान्ध हैं, कई बहरे, गूँगे, पगु और कोढी हैं । कई चोरी हत्यादि अपराध के दण्ड में शूली, फासी आदि का दण्ड भोगते हैं । कई दास बना कर बेचे जाते हैं । उनसे पशु की तरह काम लिया जाता है और भूख-प्यास आदि के कष्ट सहना पडते हैं । असह्य व्याधियों से पीड़ित मनुष्य मृत्यु की कामना करते हैं । देव भी पारस्परिक लडाई आदि से दु ख भोगते हैं । स्वामी की सेवा में उन्हें क्लेश होता है । इस प्रकार यह ससार, स्वभाव से ही दारुण दु ख का घर बना हुआ है। इसके दु ख का पार नहीं है । इस दु ख के प्रतिकार का एकमात्र उपाय श्री जिनोपदिष्ट धर्म है । हिसा असत्य अदत्तग्रहण अब्रह्म और परिग्रह के सेवन करने से जीव अपने लिए दु खदायक कर्मों का सचय करता है । इनका सर्व अथवा देश से त्याग ही सुख की सामग्री है ।''

सर्वज्ञ भगवान् का उपदेश सुन कर निर्नामिका प्रतिबोध पाई । उसने सम्यक्त्व सहित पाँच अणुव्रत को स्वीकार किया और घर आ कर वह रुचिपूर्वक धर्म का पालन करने लगी । वह अनेक प्रकार के तप भी करने लगी । वह यौवन वय पा कर भी कुमारिका ही रही । उसके कुरूप और दुर्भाग्य के कारण उसके साथ विवाह करने को कोई भी तैयार नहीं हुआ । इससे ससार से विरक्त हो कर निर्नामिका ने युगन्धर मुनिराज के पास अनशन ग्रहण किया और अभी धर्मध्यान में रही हुई है । इसलिए हे ललिताग! तुम अभी उसके पास जाओ और उसे अपना दर्शन दो । तुम्हारे रूप को देख कर वह तुम में आसक्त होगी और मृत्यु पा कर तुम्हारी प्रिया के रूप में उत्पन्न होगी ।''

ललिताग देव मित्रदेव की सूचना के अनुसार निर्नामिका के समीप आया । निर्नामिका देव के रूप पर मोहित हो गई और उसी के विचारों में देह छोड़ कर 'स्वयप्रभा' नाम की ललिताग देव की प्रिया के रूप मे उत्पन्न हुई । ललिताग भोग में पूर्ण रूप से लुब्ध हो गया ।

ललितांग देव का च्यवन

इस प्रकार भोग भोगते हुए ललितांग को अपने च्यवन (मरण) समय के चिह्न दिखाई देने लगे। रत्नाभरण निस्तेज होने लगे मुकुट की मालाएँ म्लान होने लगीं और वस्त्र मलीन होने लगे । उसे निद्रा आने लगी । वह दीन होने लगा अगोपाग ढीले होने लगे । उसकी दृष्टि मन्द होने लगी । उसके कल्पवृक्ष काँपने लगे । अँगोपाग म कम्पन होने लगा । उसका मन रम्य स्थानों में भी नहीं लगता । उसकी यह दशा देख स्वयप्रभा बोली -

"नाथ । आप मुझ पर अप्रसन्न क्यों हैं ? मुझ से ऐसा कौन-सा अपराध हुआ है ?"

ललिताग ने कहा- "प्रिये । तेरा कोई अपराध नहीं है किन्तु मेरा ही अपराध है । मैंने मनुष्य-

भव में धर्म की आराधना बहुत कम की, इससे देवायु इतना ही पाया । अब मेरे च्यवन का समय निकट आ रहा है । उसी के ये लक्षण हैं ।''

यह बात हो ही रही थी कि इशानेन्द्र का आदेश मिला – 'इन्द्र जिनन्दन को जाते हैं, इसलिए तुम भी चलो ।' उसने सोचा-'यह अच्छा ही हुआ । ऐसे समय धर्म का सहारा हितकारी होता है । वह देवी को साथ ले कर जिनदर्शन को गया । वहा जिनेश्वर की वाणी श्रवण से उत्पन्न प्रमोद भाव में रमता हुआ लौट रहा था कि रास्ते में ही आयु पूर्ण हो गया और पूर्व-विदेह के पुष्कलावती विजय के 'लोहार्गल' नगरमें सुवर्णजघ राजा की लक्ष्मी नाम की रानी की कुक्षि से पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ। उसका नाम 'वज्रजघ' रखा गया ।

मनुष्यभव में पुनः मिलन

ललिताग के विरह से दुखित हुई स्वयप्रभा भी धर्म-रुचि वाली हुई और वहाँ से च्यव कर उसी पुष्कलावती विजय की पुडरीकिनी नगरी के वज्रसेन नाम के चक्रवर्ती राजा की गुणवती रानी की पुत्री हुई । वह अतिशय सुन्दर थी । उसका नाम 'श्रीमती' हुआ । यौवन वय प्राप्त होने पर एक दिन वह महल की छत पर चढ कर नागरिक एव प्राकृतिक शोभा देख रही थी । उधर मनोरम नामक उद्यान में एक मुनिराज को केवलज्ञान उत्पन्न हो गया था। उन केवली भगवान् के दर्शनार्थ देवता आ रहे थे । उन देवों को देख कर राजकुमारी श्रीमती की पूर्व-स्मृति जागृत हुई । वह सोचने लगी – 'ऐसा देवरूप तो मैने कहीं देखा है ।'' इस प्रकार सोचते हुए जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया और वह सावधान हो गई । उसने सोचा-''मेरे पति ललिताग देव भी मनुष्य-भव प्राप्त कर चुके हैं। वे भी इस पृथ्वी पर ही कहीं होगे । वे मेरे हृदयेश्वर हैं । मैं उन्ही के साथ वचन व्यवहार करूँगी। वे जब तक मुझे नहीं मिलते, तब तक में किसी दूसरे के साथ नहीं बोलूँगी और मौन ही रहूँगी।'' इस प्रकार निश्चय कर के मौन ही रहने लगी । जब उसने बोलना बन्द कर दिया तो सखियो ने देव-दोष की कल्पना कर ली और मन्त्रादि उपचार होने लगा, किन्तु परिणाम शून्य ही रहा। उसे कोई काम होता, तो वह लिख कर अथवा सकेत से बता देती । यह देख कर उसकी 'पडिता' नाम की धात्री ने एकान्त में कहा-'पुत्री! तू विश्वास रख, मैं तेरा हित ही करूँगी । तेरे मन मे जो बात हो, वह मुझे बता दे । मैं उसका उपाय करूँगी धात्री-माता की बात सुन कर राजकुमारी ने अपना पूर्वभव सुना कर मनोभाव बता दिया । धात्री ने एक पट पर कुमारी और ललिताग के पूर्वभव का चित्राकित किया और चित्रपट ले कर रवाना हुई।

उस समय वज्रसेन चक्रवर्ती की वर्षगाठ आ गई थी । उसका बडा भारी उत्सव हो रहा था । उस उत्सव म सम्मिलित होने के लिए दूर-दूर से अनेक राजा और राजकुमार आ रहे थे । पडिता उस चित्रपट को ले कर राजमार्ग में खडी रही । लोग उस चित्रपट को देखते और चले जाते ।

'दुर्दान्त' नाम का एक राजकुमार भी उस उत्सव म सम्मिलित होने आया था । उसने राजकुमारी

के सौन्दर्य का वर्णन तथा चित्रपट प्रदर्शन का आशय सुना। उसके मन मे कुमारी को प्राप्त करने की लालसा जगी। उसने कुछ जानकारी प्राप्त की और चित्रपट देखने को गया। देखते ही मूर्च्छित होने का ढोंग कर के गिर पडा और कुछ समय पश्चात् चेतना प्राप्त करने का डौल कर के उठा और कहने लगा कि "यह तो मेरे पूर्वभव से सबधित चित्र है। मैं स्वय ललिताग देव था और राजकुमारी मेरी स्वयप्रभा देवी थी।" इस प्रकार उसने जाल बिछाया। पडिता उस राजकुमार के ढग देख कर शकित हुई। उसने राजकुमार से चित्र का पूरा परिचय बताने का कहा। दुर्दान्त ने कहा-"यह मेरु पर्वत है यह पुडरीकिनी नगरी है, यह ललिताग देव है।"

पडिता-"इन मुनि का नाम क्या है ?" दुर्दान्त - नाम तो मैं भूल गया।

पडिता को विश्वास हो गया कि यह मायावी है। उसने कहा-

"कुमार ! यदि तू स्वय ललिताग कुमार है, तो नन्दी ग्राम मे जा। वहा तेरी प्रिया है। वह लगड़ी है। उसे जाति-स्मरण हुआ है। उसी का यह चित्रपट है और उसने अपने पूर्वभव के पति को खोजने के लिए दिया है। चल, मैं तुझे उसके पास ले चलूँ। वह विचारी बहुत दु खी है। मैं उसकी दयाजनक स्थिति देख कर ही परोपकार की भावना से यह पट ले कर आई। अब तू जल्दी चल।"

कुमार यह सुन कर विस्मित हुआ और नीचा मुँह कर के चलता बना।

कुछ समय बाद वहाँ लोहार्गलपुर से राजकुमार वज्रजघ आया। वह चित्र देख कर मूर्च्छित हो गया। उपचार करने पर वह सावधान हुआ। उसने कहा- "यह चित्रपट तो मेरा पूर्वभव बता रहा है। इसमे मेरी प्रिया का भी उल्लेख है। यह देखो - ईशानकल्प रहा। यह श्रीप्रभ विमान। यह मैं ललिताग देव। यह मेरी प्रिया स्वयप्रभा देवी। यह नन्दी ग्राम वाले महादरिद्री की पुत्री निर्नामिका। यह गधारतिलक पर्वत। ये महामुनि युगधरजी। यहाँ निर्नामिका अनशन कर रही है और इसके पास मैं इसे आकर्षित करने के लिए देवलोक से आ कर खड़ा हूँ। इसके बाद यह दृश्य मेरे जिनवन्दन का है और इसके बाद लौटते हुई मेरी मृत्यु हो गई। मेरा विश्वास है कि मेरी वियोगिनी प्रिया स्वयप्रभा भी यहीं-कहीं होगी। उसी ने जातिस्मरण से पूर्वभव जान कर इस चित्रपट को तैयार किया है।'

राजकुमार वज्रजघ की बात पर पण्डिता को विश्वास हो गया। वह राजकुमारी के पास आई और सारी घटना सुनाई। श्रीमती के हर्ष का पार नहीं रहा। पण्डिता ने ये समाचार राजा को सुनाया और राजा ने वज्रजघ कुमार के साथ श्रीमती के लग्न कर दिये। वे नव-दम्पत्ति लोहार्गलपुर आये। सुवर्णजघ राजा ने राज्य का भार युवराज वज्रजघ को दे कर निर्ग्रन्थ-प्रव्रज्या धारण कर ली। उधर चक्रवर्ती महाराज वज्रसेन भी अपने पुत्र पुष्करपाल को राज्य दे कर दीक्षित हुए और तीर्थङ्कर पद पाये।

राज्य-लोभी पुत्र का दुष्कृत्य

वज्रजघ और श्रीमती भोगप्रधान जीवन व्यतीत करने लगे। उनके एक पुत्र हुआ। उधर पुष्करपाल

महाराज के अधिनस्थ सामन्त लोग विद्रोही बन गये । उन्हे वशीभूत करने के लिए वज्रजघ राजा को आमन्त्रण दिया । वह पत्नी-सहित सेना ले कर रवाना हुआ । रास्ते में एक सघन वन था । उसमे दृष्टिविष सर्प रहता था । इसलिए दूसरे मार्ग से हो कर सेना आगे बढी और विद्रोही राजाओ को परास्त करके पुन वश में किये । पुष्करपाल नरेश ने वज्रजघ राजा का (जो पुष्करपाल का बहनोई भी लगता था) बडा भारी सत्कार किया । वज्रजघ, श्रीमती-सहित अपने नगर की ओर रवाना हुआ । उसे मालूम हुआ कि शरकट वन मे श्री सागरसेन और मुनिसेन नाम के दो मुनिवरो को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है । वहा देवों के आवागमन के प्रभाव से दृष्टिविष सर्प निर्विष हो गया है । अब इस सीधे मार्ग से होकर जाने में कोई बाधा नहीं है । वज्रजघ यह जान कर प्रसन्न हुआ कि केवलज्ञानी मुनिराज अभी इसी वन मे हैं । वह उसी मार्ग से चला और मुनिवरों के दर्शन वन्दन और उपदेश श्रवण कर निर्वेद भाव को प्राप्त हुआ । उसने निश्चय किया कि राजधानी मे पहुँच कर राज्य का भार, पुत्र को सौंप कर प्रव्रजित हो जाना और पिता के मार्ग पर चल कर मानव-भव सफल करना । वह लोहार्गलपुर पहुँचा । उधर वज्रजघ का युवक पुत्र, राज्याधिकार प्राप्त करने के लिए बहुत ही अधीर हो रहा था । उसने लालच दे कर अमात्यों को वश मे कर लिया था । इधर राजा और रानी के मन मे प्रव्रजित होने की तीव्र भावना थी। वे दूसरे ही दिन पुत्र का राज्याभिषेक कर दीक्षित होना चाहते थे । रात को राजा-रानी ने शयन किया। उधर मन्त्री-मण्डल का षड्यन्त्र चला । उन्होने उस आवास में विषैला धुआँ फैला दिया । वह धुआँ श्वास के साथ शरीर में प्रवेश कर गया और भावविरक्त दम्पत्ति का प्राणान्त कर दिया । राजा-रानी उत्तरकुरु क्षेत्र में युगलरूप से उत्पन्न हुए । वहाँ से मर कर वे सौधर्म स्वर्ग में देव हुए ।

जीवानन्द वैद्य और उसके साथी

दिव्यभोगों को भोग कर आयुष्य पूर्ण होने पर वज्रजघ का जीव, जम्बूद्वीप के विदेह क्षेत्र के क्षितिप्रतिष्ठित नगर में, सुविधि नाम के वैद्य के यहाँ "जीवानन्द" नाम के पुत्र रूप मे उत्पन्न हुआ । उसी समय के लगभग उस नगर में अन्य चार बच्चे उत्पन्न हुए । यथा-

१ ईशानचन्द्र नरेश की कनकावती रानी की कुक्षि से 'महीधर' नामक पुत्र,२ सुनाशीर मन्त्री की लक्ष्मी नामक पत्नी से 'सुबुद्धि' पुत्र । ३ सागरदत्त सार्थवाह की अभयमती स्त्री से 'पूर्णभद्र' और ४ धनश्रेष्ठि की शीलमती के उदर से 'गुणाकर' पुत्र । इनके अतिरिक्त श्रीमती का जीव भी देवलोक से च्यव कर उसी नगर में ईश्वरदत्त सेठ का 'केशव' नाम का पुत्र हुआ ।

कुष्ठ रोगी महात्मा का उपचार

ये छहों बालक सुखपूर्वक बढते हुए किशोरवय को प्राप्त हुए और परस्पर मित्र रूप खेल-कूद में साथ रहने लगे । इनकी मैत्री एक शरीर की पाँच इन्द्रियाँ और मन के समान एकता युक्त थी । उनमें

से जीवानन्द वैद्य, आयुर्वेद में निष्णात हुआ । वह अन्य सभी वैद्यो मे विशेषज्ञ एव सम्माननीय था । एक बार वह अपने अन्य मित्रो के साथ घर बैठा हुआ था, उस समय एक गुणाकर नाम के राजर्षि तपस्वी मुनिराज भिक्षार्थ पधारे । उनका देह कृश हो गया । वे कुष्ठ रोग से पीडित थे । उनके तन में कीड़े पड़ गये थे । उनका सारा शरीर कृमिकुष्ठ व्याधि मे व्याप्त हो गया था । असह्य पीड़ा होते हुए भी वे औषधोपचार ही नहीं करते थे और शान्त भाव से सहन करते हुए सयम का पालन कर रहे थे ।

तपस्वी मुनिराज बेले के पारणे, आहार के लिए पधारे थे । उन्हें देख राजकुमार महीधर ने व्यगपूर्वक कहा- "मित्र जीवानन्द ! तुम कुशल वैद्य हो । तुम्हारा औषध-विज्ञान भी अद्वितीय है । किन्तु तुम्हारे हृदय में दया नहीं है । तुम वेश्या के समान पैसे के बिना आँखें उठा कर भी रोगी की ओर नहीं देखते । तुम्हे धर्म को नहीं भूलना चाहिए और अपनी योग्यता का उपयोग, परोपकार में भी करना चाहिए और ऐसे त्यागी तपस्वी सत की भक्तिपूर्वक चिकित्सा करनी चाहिए ।"

जीवानन्द ने कहा- "मित्र ! आपने मुझे कर्त्तव्य का भान करा कर मेरा उपकार किया । मैं इन महा मुनि की चिकित्सा करना चाहता हूँ । किन्तु अभी मेरे पास इनकी औषधि की सामग्री नहीं है । औषधि में काम आने वाला 'लक्षपाक तेल' तो मेरे पास है किन्तु 'गोशीर्षचन्दन' और 'रत्नकम्बल' नहीं है । यदि आप ये दोनो वस्तुएँ ला दें तो इनका उपचार हो सकता है ।"

जीवानन्द की बात सुन कर सभी मित्रों ने कहा - "हम दोनों वस्तुएँ लावेंगे ।" वे बाजार में गये। एक वृद्ध सेठ के निकट जा कर उन्होने दोनो वस्तुएँ माँगी । प्रत्येक वस्तु का मूल्य "लाख सोनैया" था । वृद्ध ने पूछा- "आप इन वस्तुओं का क्या उपयोग करेंगे ?" उन्होंने कहा- "एक तपस्वी मुनिराज की औषधि में आवश्यकता है । सेठ ने कहा - "महानुभाव ! कृपा कर ये दोनों चीजें आप ले लें । मूल्य की आवश्यकता नहीं है । आप धन्य है कि युवावस्था मे भी धर्म का सेवन करते हैं । आपके प्रताप से मुझे धर्म का लाभ मिला । इसलिए मैं आपका आभारी हूँ ।" सेठ ने दोनों वस्तुएँ दे दीं और परिणामों में वृद्धि होने पर दीक्षा ले कर मुक्ति प्राप्त की ।

वह मित्र-मण्डली औषधि और सभी सामग्री ले कर मुनि के पास वन में गयी । मुनिराज वटवृक्ष के नीचे कायोत्सर्ग कर रहे थे । मित्र-मण्डली ने तपस्वीराज को वन्दन किया और निवेदन किया कि- "हम आपके ध्यान मे विघ्न कर के चिकित्सा करेंगे अतएव क्षमा करें ।" वे तत्काल की मरी हुई गाय का शव लाये और उसे एक ओर रख दिया । फिर उन्होंने लक्षपाक तेल से मुनिवर के शरीर के प्रत्येक अग का इस प्रकार मर्दन किया कि जिससे वह तेल शरीर की प्रत्येक नस में व्याप्त हो गया। उस अति उष्ण वीर्य वाले तेल से मुनि मूर्च्छित हो गए । तेल के प्रभाव से व्याकुल हुए कीड़े, शरीर के भीतर से बाहर आ गये । कृमि के बाहर आने पर जीवानन्द ने रत्नकम्बल से शरीर को आच्छादित कर दिया । रत्नकम्बल की शीतलता पा कर, तेल की गर्मी से तप्त बने हुए कृमि रत्नकम्बल में आ गये । फिर धीरे से रत्नकम्बल को ले कर उसके कीड़े गाय के कलेवर में छोड़ दिये । इसके बाद

तपस्वीराज के शरीर पर गोशीर्षचन्दन का लेप किया, इससे मुनि को शान्ति मिली । इसके बाद फिर तेल का मर्दन कर के मास के भीतर तक तेल पहुँचाया । उससे मास के भीतर तक पहुँचे हुए कृमि बाहर आ गये । उन्हे भी पूर्ववत् रत्नकम्बल मे ले कर गाय के कलेवर में छोड दिए । पुन चन्दन का लेप कर के शान्ति पहुँचाई और पुन तेल का मर्दन कर हड्डी तक पहुँचे हुए कृमि को बाहर निकाल कर पहले के समान रत्नकम्बल में ले कर गाय के मृत शरीर म छोडे । चन्दन के विलेपन से तपस्वीराज को शाति मिली और वे नीरोग हो गये । इसके बाद मुनिवर से क्षमा याचना कर के मित्र-मण्डली अपने स्थान पर आई और मुनिवर विहार कर गये । कालान्तर मे छहो मित्र ससार त्याग कर प्रव्रजित हो गए और बहुत वर्षों तक सयम और तप का सेवन कर के अनशनपूर्वक देह त्याग कर बारहवें देवलोक में इन्द्र के सामानिक देव हुए ।

चक्रवर्ती पद

अच्युत स्वर्ग का २२ सागरोपम का दीर्घ एव सुखमय जीवन पूर्ण कर के वे छहो जीव, अनुक्रम से मनुष्य-भव मे आये । वे जम्बूद्वीप मे पूर्व-विदेह के पुष्कलावती विजय में लवण समुद्र के निकट, पुडरीकिनी नगरी के राजा वज्रसेन की धारिणी रानी की कुक्षि से अनुक्रम से पाँच पुत्र उत्पन्न हुए ।

१ जीवानन्द वैद्य का जीव वज्रनाभ नाम का पहला पुत्र हुआ २ राजपुत्र का जीव, दूसरा पुत्र हुआ। उसका नाम बाहु था । ३ सुबाहु नाम का तीसरा मन्त्री-पुत्र हुआ, ४ चौथा पीठ नाम वाला श्रेष्ठि-पुत्र हुआ ५ सार्थवाह पुत्र का महापीठ नाम दिया ।

इनके अतिरिक्त केशव का जीव 'सुयशा' के नाम से दूसरे राजा का पुत्र हुआ । यह सुयशा बचपन से ही वज्रनाभ के आश्रय में रहने लगा । ये छहो राजपुत्र साथ ही खेलते और क्रीडा करते बढने लगे। विद्याभ्यास करने मे उनकी बुद्धि तीव्र थी । वे कलाचार्य के सकेत मात्र से समझ जाते थे । वे वीर योद्धा और साहसी थे ।

वज्रनाभ इन सभी में अत्यधिक प्रतिभाशाली थे । इनके गर्भ मे आते समय माता ने चौदह महा स्वप्न देखे थे । समय परिपक्व होने पर लोकान्तिक देवों ने पृथ्वी पर आ कर महाराज वज्रसेन से निवेदन किया – 'भगवन् ! अब धर्मतीर्थ का प्रवर्त्तन कर के चतुर्गति रूप ससार महावन मे भटकते हुए भव्य जीवो का उद्धार करें ।' वज्रसेन महाराज ने वर्षीदान दिया और वज्रनाभ युवराज को राज दे कर स्वयमेव दीक्षित हो गए। घातीकर्मों का नाश होने पर केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त कर तीर्थंकर हुए । इधर वज्रनाभ महाराज की आयुधशाला में चक्ररत्न का प्रवेश हुआ और दूसरे १३ रत्न भी प्राप्त हुए । महाराजाधिराज वज्रनाभ चक्रवर्ती नरेन्द्र हुए । राजकुमार सुयशा उनका सारथी हुआ । पुण्य और समृद्धि की वृद्धि के साथ चक्रवर्ती सम्राट की धर्मभावना भी बढने लगी ।

जिस प्रकार सुगन्ध से आकर्षित हो कर भ्रमर, कमल-पुष्प के पास आते हैं वसी प्रकार प्रबल

पुण्य के उदय से चक्रवर्ती को चौदह रत्न के अतिरिक्त नव-निधि भी प्राप्त हो गई । महाराजाधिराज वज्रनाभ महाराज के पुण्य-वृद्धि के साथ धर्म-वृद्धि भी होने लगी। उनका वैराग्यभाव बढने लगा । कालान्तर में तीर्थंकर भगवान् वज्रसेनजी पुडरीकिनी नगरी पधारे । चक्रवर्ती सम्राट वज्रनाभ, भगवन्त का आगमन जान कर हर्षित हुआ । वह अपने पिता तीर्थंकर भगवान् को वन्दन करने गया । भगवान् का धर्मोपदेश सुन कर वैराग्य बढा और पुत्र को राज्य भार दे कर अपने चारों भाई और सुयशा के साथ दीक्षित हुए। वज्रनाभ मुनिराज चौदह पूर्वधर हुए और अन्य मुनि एकादशाग के पाठी हुए । कालान्तर में तीर्थंकर भगवान् वज्रसेनजी निर्वाण पद को प्राप्त हुए ।

अनेक लब्धियों के स्वामी

तप सयम से आत्मा को पवित्र करते हुए श्रीवज्रनाभ मुनिराज अपने दीक्षित हुए मुनियों के साथ विचरने लगे । प्रशस्त ध्यान एव शुभ योग से क्षयोपशम बढते उनमें अनेक प्रकार की लब्धियें उत्पन्न हुई । सयमपूर्वक तप के प्रभाव से उन मुनिवरों मे कैसी शक्ति प्राप्त हुई, उसका वर्णन सक्षेप म यहाँ किया जाता है ।

खेलौषधि लब्धि – जिन मुनिराज को यह लब्धि प्राप्त हो जाय उनके श्लेष्म के किंचित् लेप मात्र से कुष्ठ रोगी का उग्र कोढ दूर हो कर सुन्दर शरीर बन जाय-ऐसी विशेषता ।

जल्लौषधि लब्धि – जिनके शरीर के मैल के स्पर्श से रोगी के रोग दूर हो जाय ।

आमर्षौषधि लब्धि – जिनके शरीर के स्पर्श मात्र से रोग मिटे ।

सर्वौषधि लब्धि – जिनक शरीर के स्पर्श से वर्षा आदि का जल, रोगहर औषधि रूप बन जाय। शरीर का स्पर्श कर के चला हुआ वायु, औषधि रूप हो जाय । मुँह अथवा पात्र में आया हुआ विषमिश्रित आहार भी अमृत के समान हितकारी बन जाय । जिनके वचनों का स्मरण ही विषहर मन्त्र क समान हितकारी हो । जिनके नख, केश दाँत और शरीर से उत्पन्न सभी मैल, औषधि के रूप में परिणत होती है ऐसी सर्वौषधि लब्धि के धारक ।

अणुत्वलब्धि❖ – जिसके द्वारा सूई के छिद्र में से निकला जा सके, ऐसा सूक्ष्म शरीर बन जाय।

महत्व शक्ति – जिसके प्रभाव से मेरु पर्वत के समान बड़ा शरीर बनाया जा सके ।

लघुत्व शक्ति – शरीर को वायु से भी अधिक हलका बनाने की शक्ति ।

गुरुत्व शक्ति – इन्द्र भी जिसे सहन नहीं कर सके ऐसा वज्र से भी भारी शरीर बनाने की शक्ति।

प्राप्ति शक्ति – पृथ्वी पर खड़े रह कर ग्रहादि को अथवा मरु पर्वत के अग्रभाग को स्पर्श कर लेने की शक्ति ।

❖ अणुत्व से ले कर कामरूप शक्ति तक की सभी लब्धियाँ एक वैक्रिय लब्धि में ही समा जाती है ।

प्राकाम्य शक्ति - जिसके द्वारा भूमि पर चलने के समान जल में गमन हो सके और भूमि पर भी सरोवर में उन्मज्जन-निमज्जन के समान कर सके, ऐसी शक्ति ।

ईशत्व शक्ति - चक्रवर्ती और इन्द्र की ऋद्धि का विस्तार करने की योग्यता ।

वशीकरण शक्ति - जिससे भयकर और क्रूर जन्तु भी वश मे हो जाय ।

अप्रतिघाति शक्ति - जिससे पर्वत के भीतर भी उनके लिए गमन करने योग्य मार्ग बन जाय।

अप्रतिहत अन्तर्धान शक्ति - वायु के समान अदृश्य होने की शक्ति ।

कामरूपत्व शक्ति - जिसके द्वारा समकाल में ही अनेक प्रकार के रूप बना कर सारे लोक को भर दे, ऐसी शक्ति ।

बीज बुद्धि - एक अर्थ रूप बीज से अनेक अर्थ को जानने की बुद्धि ।

कोष्ठ बुद्धि - कोठी मे भरे हुए धान्य के समान, पहले सुने हुए सभी अर्थ यथास्थित रहे, विस्मृत नहीं हो ।

पदानुसारिणी बुद्धि ❍ - आदि अन्त या मध्य के एक पद के सुनने मात्र से सारे ग्रथ का बोध हो जाय, ऐसी शक्ति ।

मनोबली -वीर्यान्तराय के विशिष्ट क्षयोपशम से दृढ मनोबल के स्वामी । एक वस्तु का उद्धार कर के अन्तर्मुहूर्त में श्रुत-समुद्र का अवगाहन करने वाले ।

वचनबली -मुहूर्त भर में मूलाक्षर का उच्चारण कर के सभी शास्त्रा को बोलने की शक्ति वाले।

कायबली - बहुत लम्बे समय तक कायोत्सर्ग प्रतिमा मे, खेद रहित हो कर स्थिर रहने वाले।

अमृतक्षीर मध्वाज्याश्रवी (क्षीरमधुसर्पिरासवी) जिनकी वाणी दु खियो के मन में क्षीर, अमृत, मधु और घृत जैसी शान्ति और सुख देने वाली होती है ।

अक्षीणमहानसी - जिनके पात्र मे पडा हुआ अल्प भोजन, बहुजनो को दान करने पर भी समाप्त नहीं होता ।

अक्षीणमहालय - तीर्थंकर परिषदा के समान अल्प स्थान में भी बहुत से जीवों का समावेश कराने की शक्ति वाले ।

सभिन्नश्रोत लब्धि - एक इन्द्रिय से पाँचों इन्द्रियों का काम लेने की शक्ति वाले ।

जघाचारण लब्धि - इसके प्रताप से वे एक उडान मे रूचकवर द्वीप पर पहुँचने मे समर्थ थे। लौटते समय प्रथम उडान में नन्दीश्वर द्वीप और दूसरी उडान में अपने स्थान पर आ जाते । यदि ऊर्ध्वगति करे, तो एक उड़ान में मेरु पर्वत पर रहे हुए पाडुकवन में पहुँच जाते और लौटते समय प्रथम उडान में नन्दनवन में और दूसरी उडान में अपने स्थान पर आने में शक्तिमान् थे ।

❍ इसके तीन भेद होते हैं - १ अनुश्रोत पदानुसारिणी-प्रथम पद या अर्थ सुनने से अन्त तक के सारे ग्रन्थ की अनुक्रम से विचारणा हो २ प्रतिश्रोत पदानुसारिणी-अतिम पद सुनने से प्रारभ तक के सभी पदों की विचारणा हो ३ उभय पदानुसारिणी-मध्य के किसी एक पद के सुनने से आगे-पीछे सभी पदों का ज्ञान हो जाय ऐसा विशिष्ट बुद्धिबल।

विद्याचारण लब्धि – प्रथम उडान मे मानुषोत्तर पर्वत पर और दूसरी उडान में नन्दीश्वर द्वीप पर जाने की शक्ति वाले और लौटते समय एक ही उड़ान मे अपने स्थान पर पहुँचने की शक्ति वाले थे । उनकी ऊर्ध्व गमन की शक्ति जघाचारण के विपरीत थी ।

इसके अतिरिक्त उन्हें आशीविष लब्धि, निग्रह लब्धि, अनुग्रह लब्धि और अनेक प्रकार की लब्धियें प्राप्त हो गई थी । किन्तु वे इन लब्धियों का उपयोग नहीं करते थे ।

तीर्थकर नामकर्म उपार्जन

महामुनि वज्रनाभ स्वामी ने बीस प्रकार की उत्तम आराधना कर के तीर्थङ्कर नामकर्म का दृढ बन्ध किया । वह उत्तम आराधना इस प्रकार है–

१ अरिहत भगवतों की भक्ति बहुमान गुणानुवाद किया और उनके विरोधियो द्वारा किया जाता हुआ अवर्णवाद मिटा कर आराधना की ।

२ सिद्ध भगवतों की श्रद्धा, भक्ति, स्तवनादि कर के ।

३ प्रवचन– जिनेश्वर भगवतों द्वारा प्ररुपित द्वादशागी रूप निर्ग्रंथ-प्रवचन की भक्ति, बहुमान कर के ।

४ गुरु– आचार्य का बहुमान कर के भक्तिपूर्वक अनुकूल आहारादि से वात्सल्य कर के ।

५ स्थविर – २० वर्ष की दीक्षा वाले पर्याय स्थविर, ६० वर्ष की उम्र वाले वय स्थविर, स्थानाग, समवायाग के ज्ञाता श्रुतस्थविर की भक्ति कर के ।

६ बहुश्रुतपन को प्राप्त हुए महात्माओं की सेवा कर के ।

७ तपस्वी मुनिवरो की वैयावृत्य कर के ।

८ ज्ञान – वाचना, पृच्छा आदि से सूत्र अर्थ और दानों की साधना करते रहने से ।

९ दर्शन – शकादि दोष से रहित, स्थैर्यादि गुणयुक्त और शमादि लक्षण वाले सम्यग्दर्शन की आराधना कर के ।

१० विनय – ज्ञान, दर्शन चारित्र आदि का विनय कर के ।

११ प्रात साय उभयकाल भावपूर्वक षडावश्यक कर के ।

१२ व्रतों का शुद्धतापूर्वक निरतिचार पालन कर के ।

१३ शुभ ध्यान से समय को सार्थक कर के ।

१४ यथाशक्ति तपाचरण कर के ।

१५ अभयदान-सुपात्र दान दे कर ।

१६ वैयावृत्य – आचार्य उपाध्याय स्थविर, तपस्वी, ग्लान नवदीक्षित, साधर्मिक कुल गुण और सघ की यथायोग्य सेवा कर के ।

१७ आकुल-व्याकुलता छोड कर समाधिभाव रख कर और गुर्वादि की यथायोग्य सेवा कर के उन्हे समाधिभाव में रखने से ।

१८ नवीन ज्ञान का अभ्यास करते रहने से ।

१९ श्रुत - सम्यग्श्रुत का शुभ भावपूर्वक प्रचार कर के और श्रुत का अवर्णवाद दूर कर के ।

२० धर्म-प्रभावना - उपदेश और प्रचारादि से धर्म की प्रभावना कर के ।

तीर्थंकर नामकर्म की परम शुभ पुण्य-प्रकृति का बन्ध उपरोक्त बीस प्रकार की उत्तम आराधना से होता है । इसमे से किसी एक पद की आराधना से भी तीर्थंकर पद की प्राप्ति हो सकती है, तब अधिक और सभी पदो की आराधना के पुण्य-प्रभाव का तो कहना ही क्या है । उत्कृष्ट भावों से आराधना हो, तो तीर्थंकर पद प्राप्त करने की योग्यता आ सकती है । महा मुनि वज्रनाभजी ने उत्कृष्ट भावों से सभी पदो की आराधना की और तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध कर लिया ।

बाहुमुनि ने साधुओ की वैयावृत्य कर के चक्रवर्ती पद के भोग फल का बन्ध कर लिया ।

तपस्वी मुनिवरो की सेवा कर के श्री सुबाहुमुनि ने अलौकिक बाहुबल उपार्जन किया ।

एक बार वज्रनाभ महाराज ने कहा - 'धन्य है इन बाहु-सुबाहु मुनिवरो को जो साधुओ और तपस्वी रोगी आदि अशक्त मुनिवरों की भावपूर्वक सेवा करते हैं ।' उनकी ऐसी प्रशसा सुन कर पीठ और महापीठ मुनि के मन में विचार हुआ - 'जो उपकार करते हैं, उन्हीं की प्रशसा होती है । हम आगम के अभ्यास और ध्यान मे तत्पर रहते हैं, इसलिए सेवा नहीं कर सकते, तो हमारी प्रशसा कौन करे ?' इस प्रकार की खिन्नता तथा माया-मिथ्यात्व से युक्त ईर्षा करते रहे और आलोचनादि नहीं कर के स्त्रीत्व का बन्ध कर लिया ।

छहो महा मुनिया ने अनशन किया और आराधक भाव को पुष्ट कर के सर्वार्थसिद्ध महाविमान में तैतीस सागरोपम की स्थिति वाले देव हुए ।

कुलकरों की उत्पत्ति-सागरचंद्र का साहस

जम्बूद्वीप के पश्चिम महाविदेह में अपराजिता नाम की अनुपम नगरी थी । ईशानचन्द्र नाम का राजा उस नगरी का स्वामी था । उस नगरी मे चन्दनदास नाम का एक धनाढ्य सेठ रहता था । इसके सुशील, सुन्दर और अनेक गुणा से युक्त 'सागरचन्द्र' नाम का युवक पुत्र था । एकदा राजाज्ञा से वसतोत्सव में सम्मिलित होने के लिए सागरचन्द्र उद्यान में गया । वहाँ नृत्य, गीत, वादिन्त्र और विविध प्रकार के खेल आदि से मनोहर उत्सव हो रहा था । राजा और प्रजा सभी आमोद प्रमोद में लगे हुए थे कि उद्यान के निकट से एक करुण चित्कार सुनाई दी - 'बचाओ बचाओ बचाओ ' यह चित्कार शब्द सागरचन्द्र के कान म पडी । वह अपने प्रिय-मित्र अशोकदत्त के साथ विविध दृश्य देखता हुआ घूम रहा था । चित्कार सुनते ही वह भागा और ध्वनि के सहारे एक गुफा के निकट पहुँच गया । वहाँ

गुण्डो द्वारा एक युवती का अपहरण हो रहा था । सागरचन्द्र ने पहुँचते ही उस गुडे को पकड़ा- जो युवती को घसीट रहा था । उसका गला दबा कर पछाड़ दिया । इतने में दूसरा गुडा छुरा तान कर सागरचन्द्र पर झपटा, किन्तु चतुर सागरचन्द्र ने उस गुडे के छुरे वाले हाथ पर लकडी का ऐसा प्रहार किया कि छुरा छूट कर दूर जा पडा । सागरचन्द्र ने छुरा उठा लिया । इतने में उसका मित्र अशोकदत्त और अन्य लोग भी आ गये । गुडे भाग गये । युवती बच गयी । वह उसी नगर के श्रीमन्त सेठ पूर्णभद्र की सुपुत्री 'प्रियदर्शना' थी । रूप-लावण्य स सुशोभित सुन्दरी पर सागरचन्द्र मोहित हो गया और प्रियदर्शना भी अपने उद्धारक युवक सागरचन्द्र पर मोहित हा गई । दोनों अपने-अपने घर गए । सागरचन्द्र के साहस और प्रियदर्शना के रक्षक की बात नगरभर मे फैल गई ।

सागरचन्द्र के पिता ने जब यह वृतात सुना तो दग रह गया । उसने पुत्र को एकान्त में ले जा कर कहा कि - "पुत्र ! तून अशोकदत्त से मित्रता की, यह अच्छा नहीं हुआ। यद्यपि अशाकदत्त भी कुलीन है, किन्तु ह्रदय का मैला दिखाइ देता है । ऐसे व्यक्ति के साथ की हुई मित्रता दु खदायक होती है । तू स्वय बुद्धिमान् है । मैं तुझे क्या समझाऊँ और अपन तो व्यापारी हैं । अपने को धन क समान वीरता भी गुप्त ही रखनी चाहिए और साहस का काम नहीं करना चाहिए ।"

सागरचन्द्र ने सोचा - 'पिताजी मोहवश साहस के कामों से रोकते हैं ।' उसने कहा - 'मैं कहाँ साहस करने जाता हूँ । वह तो अचानक प्रसग उपस्थित हो गया था और सोचने का समय ही नहीं रहा था । जैसी भावना जगी, वैसी प्रवृत्ति की और अशोकदत्त की बुराई मुझ म तो नहीं आ जायगी, मैं स्वय सावधान रहूँगा । इतने दिना की मित्रता एकदम तोड़ देना उचित भी नहीं रहेगा । फिर जैसी आपश्री की आज्ञा।"

सेठ ने केवल सावधान रहने का सकेत कर दिया । कालान्तर मे सागरचन्द्र का विवाह प्रियदर्शना के साथ हो गया । दोनों का जीवन अत्यन्त स्नेहमय बीतने लगा ।

अशोकदत्त भी प्रियदर्शना पर माहित हो गया था । उसकी वासना दुर्दम्य हो गई । वह मोहान्ध हो कर प्रियदर्शना की ताक में रहन लगा । एक बार जब सागरचन्द्र बाहर गया हुआ था, अशाकदत्त प्रियदर्शना के पास आया और कहने लगा -

"प्रियदर्शना ! तुम्हें एक गुप्त बात कहना है ।"

"ऐसी क्या बात है - भाई !"

तुम्हारा पति सागरचन्द्र, धनदत्त सेठ की पत्नी के साथ रहता है। मैने अपनी आँखा से देखा है।

"होगा किसी काम से मिलना हुआ होगा । इसमें विचार करने जैसी कौन-सी बात है ?"

प्रियदर्शना। उसका आशय मैं जानता हूँ वह उस पर मोहित है और उससे उसका गुप्त सम्बन्ध है।

प्रियदर्शना विचार में पड गई । उसको चिंतित देख कर अशाकदत्त ने कहा -

"प्रिये । घबराने की आवश्यकता नहीं । यदि वह तुम्हें नहीं चाहता, ता मैं तुझे अपनी ह्रदयेश्वरी बनाने को तैयार हूँ ।"

ये शब्द सुनते ही प्रियदर्शना चौंकी । अब तक वह उसे पति के मित्र और अपने हितैषी देवर के समान मानती थी । किन्तु उसकी मनोभावना का पता लगते ही गरजी और बोली–

"नराधम ! तेरे मन मे ऐसे विचार ही कैसे उत्पन्न हुए ? दुष्ट ! क्या इसीलिए तू मेरे पुण्यात्मा पति पर कलक लगाता है ? चल निकल यहाँ से । खबरदार अब कभी इधर आया तो ।"

अशोकदत्त निराश और अपमानित हो कर चला गया । उसने सोचा– 'जब मित्र यह बात जानेगा, तो क्या समझेगा ?' उसने सागरचन्द्र को भरमाने के लिए जाल रचा । वह प्रियदर्शना के पास से अपने घर जा रहा था, तो रास्ते में सागरचन्द्र आता हुआ दिखाई दिया। वह उदास मुँह लिए सागरचन्द्र के सामने आया । सागरचन्द्र ने उदासी का कारण पूछा तो पहले तो वह मौन ही रहा । विशेष आग्रह करने पर बोला –

"मित्र ! कहने जैसी बात नहीं है । मैं क्या कहूँ तुम्हें ? मत पूछो और मुझे मेरे भाग्य पर ही छोड़ दो ।"

सागरचन्द्र आश्चर्य व्यक्त करता हुआ बोला –"क्या मुझ से भी छिपाने जैसी बात है ?"

"नहीं मित्र ! मेरे मन मे तुम से छिपाने जैसी बात कभी नहीं हो सकती । किन्तु तुम्हारे हित के लिए मैं यह बात तुमसे छिपाना चाहता हूँ । मैं तुम्हारे जीवन में कलह की आग लगाना नहीं चाहता। तुम मत पूछो मित्र ! मत पूछो ।" अशोकदत्त का कठ अवरुद्ध हो गया । उसकी आँखा से आँसू निकल पडे । यह देख कर सागरचन्द्र घबराया । उसने आग्रह के साथ पूछा –

"तुम्हें कहना ही पडेगा । यो भी तुम्हारा दु ख देख कर मैं दु खी हो रहा हूँ, तब बात सुनने से विशेष क्या होगा ? तुम अभी कहो । विलम्ब मत करो ।"

"मित्र ! कैसे कहूँ । मुँह नहीं खुलता । हृदय स्वीकार नहीं करता ।"

"तो भी कहो । देर क्यो कर रहे हो ।"

"मित्र ! ज्ञानियो ने कहा है कि "स्त्री माया की पुतली है । उसके अग–प्रत्यग में माया, वञ्चना और वासना भरी रहती है । वह कभी विश्वास के योग्य नहीं हो सकती । यह मैने आज समझा है । तुम्हारी प्राणप्रिया श्रीमती प्रियदर्शना, कामान्ध बन कर मेरे गले लिपट गई । मैं तो तुम से मिलने गया था । यदि मुझे ऐसा मालूम होता तो मैं वहाँ जाता ही नहीं । कदाचित् पहले से वह मुझ पर आसक्त थी । एकान्त देख कर लिपट गई । मैं स्तभित रह गया और उसे दूर हटा कर भाग निकला । अभी वहीं से चला आ रहा हूँ । यह है मेरे दुःख का सत्य कारण ।"

सागरचन्द्र को अशोकदत्त के शब्द विष–पान जैसे लगे । उसे पत्नी के प्रति तनिक भी शका नहीं थी । वह उस पर पूर्ण विश्वस्त था । किन्तु मित्र की बात सुन कर वह स्तम्भित रह गया । दिग्मूढ हो गया । उसके हृदय म आग जैसी लग गई । वह क्या करे ।।।

सागरचन्द्र को स्तब्ध देख कर अशोकदत्त बोला– "मित्र ! घबराओ नहीं । अब चिन्ता छोड

कर सावधान रहो और उसकी बात पर कभी विश्वास मत करो तथा इस बात को भी अपने मन में ही रख कर, जैसे चले वैसे चलाते रहो । अन्यथा सारा परिवार दु खी हो जायगा ।''

सागरचन्द्र नीचा मुँह किये घर लौट आया । आवेग मिटने पर उसने यही निश्चय किया कि जिस प्रकार शरीर म फोड़ा हो जाने पर पट्टी बाँध कर उसे चलाया जाता है उसी प्रकार प्रियदर्शना को उदासीन भाव से पूर्व के समान निभाया जाय, जिससे परिवार मे शान्ति बनी रहे । वह प्रियदर्शना के साथ उदासीनता से रहने लगा और मन की गाठ मन मे ही दबाये रहा ।

प्रियदर्शना ने सागरचन्द्र के हृदय को आघात नहीं लगे, इस विचार से अशोकदत्त की नीचता की बात उसे या किसी को भी नहीं कही । उसने सोचा- 'मैंने उसे कुत्ते के समान दुत्कार दिया । अब वह कभी मेरे सामने नहीं आ सकेगा । फिर सागरचन्द्र के मन में अशान्ति उत्पन्न करने की आवश्यकता ही क्या है ?' वह नहीं जानती थी कि उस कामी- कुत्ते ने सागरचन्द्र के हृदय में कैसा विष भर दिया है । वह अपने कर्त्तव्य का पालन यथावत् करती रही ।

सागरचन्द्र को ससार के प्रति अरुचि हो गई । वह अपनी सम्पत्ति का दान करने लगा । काल के अवसर में मृत्यु पा कर सागरचन्द्र और प्रियदर्शना, जम्बूद्वीप के भरत-क्षेत्र के दक्षिण-खड में, गगा-सिन्धु नदी के मध्य-प्रदेश में, इस अवसर्पिणी काल के तीसरे आरे के पल्योपम का आठवाँ भाग शेष रहने पर युगलिकपने जन्मे । उनकी आयु पल्योपम के दसवें भाग जितनी थी और अवगाहना ९०० धनुष थी, अशोकदत्त पाप के फल से उसी क्षेत्र में हाथी के रूप में उत्पन्न हुआ । वह चार दाँत वाला था । उसका वर्ण श्वेत था ।

एक बार घूमते-फिरते हाथी ने अपने पूर्वभव के मित्र सागरचन्द्र को अपनी युगलिनी सहित देखा देखते ही उसके मन में प्रीति उत्पन्न हुई । उसने स्नेहपूर्वक युगल को सूँड से उठा कर अपनी पीठ पर बिठा लिया । सागरचन्द्र को भी हाथी के प्रति प्रीति हो गई । उसे अपन पूर्वभव का स्मरण हुआ । अब युगल हाथी की पीठ पर बैठ कर फिरने लगा । उन्हें इस प्रकार फिरते देख कर अन्य विस्मित हुए । उन्होंने उसका नाम 'विमलवाहन' रखा । विमलवाहन जातिस्मरण ज्ञान के कारण पूर्वभव में पाली हुई न्यायनीति को जानने लगा । काल-परिवर्तन के साथ द्रव्य-क्षेत्रादि मे भी परिवर्तन आने लगा । कल्पवृक्षों का प्रभाव मद होने लगा । उनसे प्राप्त खाद्यादि सामग्री थोडी उतरने लगी ।

मद्यागवृक्ष से पेय रस थोडा, स्वाद में पूर्व की अपेक्षा मद और विलम्ब से मिलने लगा । इसी प्रकार सभी प्रकार के कल्पवृक्षों के फल थोडे, स्वाद में हीन और विलम्ब स प्राप्त होने लगे । काल-प्रभाव से युगलिका में भी ममत्व भाव जागृत होने लगा । एक दूसरे के कल्पवृक्षा पर ललचाने लगे । परस्पर खिचाव उत्पन्न होने लगा और विवाद खडे होने लगे । ऐसी स्थिति मे व्यवस्था बनाये रखने और शान्तिपूर्वक रहने के लिए किसी व्यवस्थापक की आवश्यकता हुई । सभी युगलिकों ने यह भार विमलवाहन को सौंपा और उसे अपना कुलकर* माना । विमलवाहन से सभी युगलिकों में कल्पवृक्षों

* कुलकर-कुलपति स्वामी व्यवस्थापक ।

का विभाजन कर दिया । यदि कोई नियम का उल्लघन करता, तो विमलवाहन उसका न्याय करता और नियम तोडने वाले को 'ह' कार शब्द से दण्डित करता । वह कहता कि - "हा, तुम दुष्कृत्य करते हो," बस, इतना कहना भी उस समय मृत्युदण्ड से बढ़ कर माना जाता था ।

विमलवाहन की आयु छह मास शेष रहने पर उसकी युगलिनी ने एक युगल को जन्म दिया। उसका नाम 'चक्षुष्मान्' और 'चन्द्रकान्ता' रखा । वे ८०० धनुष ऊँचे और असख्य पूर्व आयु वाले थे। वे श्याम वर्ण वाले थे । छह महीने तक उनका लालन-पालन कर के विमलवाहन मर कर भवनपति का सुवणकुमार देव हुआ और युगलिनी नागकुमार जाति के भवनपति देवो में उत्पन्न हुई ।

चक्षुष्मान् भी विमलवाहन के समान 'ह' कार नीति से ही युगलिक मर्यादा का सचालन करने लगा । वह दूसरा कुलकर हुआ । उसकी आयु के छह माह शेष रहे, तब युगल उत्पन्न हुआ । उसका नाम 'यशस्वी' और 'सुरूपा' रखा । यशस्वी भी अपने पिता के बाद युगलिक मर्यादा निर्वाहक हुआ। वह तीसरा कुलकर हुआ । किन्तु उस समय तक विषमता मे वृद्धि हो गई थी । लोग 'ह' कार दण्ड-नीति की उपेक्षा करने लगे थे, तब यशस्वी कुलकर (कुलपति) ने 'म' कार नीति चलाई । अल्प अपराध वाले को हकार और विशेष अपराध वालो को मकार-"मत कर" तथा महान् अपराध वाले का हकार-मकार दोनों प्रकार से दण्डित करने लगा ।

यशस्वी के 'अभिचन्द्र' और 'प्रीतिरूपा' हुए । अभिचन्द्र चौथा कुलकर हुआ । उनके 'प्रसेनजित्' और 'चक्षुकान्ता' हुए । प्रसेनजिन् नाम के पाँचवे कुलकर के समय स्थिति में विशेष उतार आया, तब उसने 'धिक्कार' नीति अपनाई । इनके 'मरुदेव' और 'श्रीकान्ता' हुए । मरुदेव छठे कुलकर हुए । इनके अतिम (सातवे) कुलकर 'नाभि और 'मरुदेवा' जन्मे ।

मरुदेवा के गर्भ में अवतरण

तीसरे आरे के चौरासी लाख पूर्व और ८९ पक्ष (तीन वर्ष साढे आठ मास) शेष रहे तब आषाढ मास के कृष्ण-पक्ष की चतुर्दशी को उत्तराषाढा नक्षत्र मे चन्द्र का योग होने पर महर्षि 'वज्रनाभजी' का जीव सर्वार्थसिद्ध महाविमान मे ३३ सागरोपम का आयु पूर्ण कर के, नाभि कुलकर की मरुदेवा पत्नी के गर्भ में उत्पन्न हुआ । इनके गर्भ में आने पर तीनो लोक मे सुख और उद्योत हुआ और श्री मरुदेवाजी ने चौदह महास्वप्न देखे । वे इस प्रकार थे -

१ उज्ज्वल वर्ण, पुष्ट स्कन्ध और बलिष्ठ शरीर वाला एक वृषभ देखा । जिसके गले मे स्वर्ण की घुघरमाल पहनी हुई थी । २ दूसरे स्वप्न में श्वेत वर्ण वाला पर्वत के समान ऊँचा और चार दाँत वाला गजराज देखा । ३ केशरीसिह ४ लक्ष्मीदेवी ५ पुष्पमाला ६ चन्द्रमा ७ सूर्य ८ महाध्वज ९ स्वर्ण-कलश १० पद्म-सरोवर ११ क्षीर-समुद्र १२ देव-विमान १३ रत्नों का ढेर और १४ धूम्र-रहित प्रकाशमान् अग्नि । ये महा मगलकारी चौदह स्वप्न देखे ।

कर सावधान रहो और उसकी बात पर कभी विश्वास मत करो तथा इस
रख कर, जैसे चले वैसे चलाते रहो । अन्यथा सारा परिवार दु खी हो

सागरचन्द्र नीचा मुँह किये घर लौट आया । आवेग मिटने पर उसने
प्रकार शरीर में फोडा हो जाने पर, पट्टी बाँध कर उसे चलाया जाता है उसी प्र
भाव से पूर्व के समान निभाया जाय, जिससे परिवार मे शान्ति बनी रहे । वह प्रि
से रहने लगा और मन की गाठ मन में ही दबाये रहा ।

प्रियदर्शना ने सागरचन्द्र के हृदय का आघात नहीं लगे, इस विचार से
बात उसे या किसी को भी नहीं कही । उसने सोचा- 'मैंने उसे कुत्ते के
वह कभी मेरे सामने नहीं आ सकेगा । फिर सागरचन्द्र के मन में अशान्ति
ही क्या है ?' वह नहीं जानती थी कि उस कामी- कुत्ते ने सागरचन्द्र के
है । वह अपने कर्त्तव्य का पालन यथावत् करती रही ।

सागरचन्द्र को ससार के प्रति अरुचि हो गई । वह अपनी सम
के अवसर में मृत्यु पा कर सागरचन्द्र और प्रियदर्शना जम्बूद्वीप के
सिन्धु नदी के मध्य-प्रदेश में इस अवसर्पिणी काल के तीसरे
रहने पर युगलिकपने जन्मे । उनकी आयु पल्योपम के दस
धनुष थी, अशोकदत्त पाप के फल से उसी क्षेत्र में हाथी
था । उसका वर्ण श्वेत था ।

एक बार घूमते-फिरते हाथी ने अपने पूर्वभव से
देखते ही उसके मन में प्रीति उत्पन्न हुई । उसने
बिठा लिया । सागरचन्द्र को भी हाथी के प्रति
युगल हाथी की पीठ पर बैठ कर फिरने लगे
उन्होंने उसका नाम 'विमलवाहन' रखा । दि
न्यायनीति को जानने लगा । काल-परिवर्तन
का प्रभाव मद होने लगा । उनसे प्राप्त खाद्

मद्यागवृक्ष से पेय रस थोड़ा, स्वाद में
प्रकार सभी प्रकार के कल्पवृक्षों के फल थोडे,
प्रभाव से युगलिकों म भी ममत्व भाव जागृत हो
परस्पर खिंचाव उत्पन्न होने लगा और विवाद ख
और शान्तिपूर्वक रहने के लिए किसी व्यवस्थापक
विमलवाहन को सौंपा और उसे अपना कुलकर* मा

* कुलकर-कुलपति स्वामी, व्यवस्थापक ।

१२ विमान-दर्शन का फल है कि महान् भाग्यशाली ऐसे वैमानिक देव भी आपके पुत्र-रत्न की सेवा करेंगे ।

१३ रत्नराशि बताती है कि वह महान् आत्मा, गुण-रत्नो की खान होगी ।

१४ महान् तेजस्वी होगा वह महापुरुष – यह सन्देश निर्धूम अग्नि का अतिम स्वप्न दे रहा है।

ये चौदह स्वप्न बता रहे हैं कि गर्भस्थ जीव चौदह राजलोक का स्वामी होगा ।

इस प्रकार स्वप्नो का अर्थ बता कर और प्रणाम कर के सभी इन्द्र अपने-अपने स्थान पर गये। महामाता श्रीमती मरुदेवी इन्द्रो के मुख से स्वप्न का फल सुन कर परम हर्षित हुई ।

गर्भ सुखपूर्वक बढने लगा । गर्भ के अनुकूल प्रभाव से मातेश्वरी के शरीर की शोभा, कान्ति और लावण्य भी बढने लगा तथा नाभिराज की ऋद्धि यश, प्रभाव और प्रतिष्ठा में भी वृद्धि होने लगी। प्रकृति भी कुछ अनुकूल हो गई, जिससे कल्पवृक्षो की फलदा शक्ति मे भी कुछ वृद्धि हुई । मनुष्यों और पशु-पक्षियो की प्रकृति में भी कुछ सौमनस्य की वृद्धि हुई ।

आदि तीर्थंकर का जन्म

गर्भकाल पूर्ण होने पर चैत्र-कृष्णा अष्टमी की अर्धरात्रि को सभी ग्रह उच्च स्थान में रहे हुए थे और चन्द्रमा उत्तराषाढ़ा नक्षत्र मे था तब परम सौभाग्यवती महादेवी मरुदेवी की कुक्षि से एक युगल का सुखपूर्वक जन्म हुआ । जिस प्रकार देवो की उपपात शय्या में देव का जन्म होता है, उसी प्रकार रुधिरादि वर्जित, कर्मभूमि के आदि मानव, आदिकुमार का जन्म हुआ । दिशाएँ प्रफुल्ल हुई । जनसमुदाय मे स्वभाव से ही आनन्द का वातावरण निर्मित हो गया । ऊर्ध्व अधो और तिर्यक् लोक मे उद्योत हो गया । जैसे स्वर्ग अपने आप हर्ष से गर्जना करता हो, वैसे आकाश में बिना बजाये ही मेघ के समान गम्भीर शब्द वाली दुदुभि बजने लगी । उस समय नारक जीवों को भी क्षणभर के लिए अपूर्व सुख की प्राप्ति हुई । भूमि पर चलते हुए मद-मद पवन ने पृथ्वी पर की रज और कचरा दूर कर के सफाई कर दी । मेघ सुगन्धित जल की वृष्टि करने लगे ।

दिशाकुमारी देवियों द्वारा शौच-कर्म

इस समय अपने आसन चलायमान होने से अधोलोकवासिनी आठ दिशाकुमारियें तत्काल भगवान् के जन्म स्थान पर आई और भावी आदि-तीर्थंकर तथा उनकी माता को तीन बार प्रदक्षिणा कर के वन्दना की और अपना परिचय देती हुई कहने लगी;-

"हे जगज्जननी ! हे विश्वोत्तम लोक-दीपक महापुरुष को जन्म देने वाली महामाता ! हम अधोलोक में रहने वाली आठ दिशाकुमारियाँ है । हम अवधिज्ञान से जिनेश्वर भगवान् का जन्म जान कर, जन्मोत्सव करने के लिए यहाँ आई हैं । आप हमें देख कर भयभीत नहीं होवें ।"

स्वप्न देख कर जागृत हुई मरुदेवा हर्षित हुई और नाभि कुलकर को मीठे वचनों से स्वप्नों का वृत्तान्त सुनाया । नाभि कुलकर ने अपनी सहज बुद्धि मे विचार कर के कहा - "तुम्हारे एक ऐसा पुत्र होगा, जो महान् कुलकर होगा ।" वास्तव मे गर्भस्थ जीव भविष्य मे होने वाले तीर्थंकर भगवान् थे ।

उस समय इन्द्रों के आसन कम्पायमान हुए । इन्द्रों ने अवधिज्ञान से आसन कम्पने का कारण जाना । सभी इन्द्र मरुदेवाजी के पास आये और विनयपूर्वक स्वप्न का वास्तविक अर्थ बताते हुए कहा ☆ -

"स्वामिनी ! आपने प्रथम स्वप्न में बलवान् वृषभ देखा है । इसका अर्थ यह है कि आपका होने वाला पुत्र-रत्न ऐसा पराक्रमी और लोकोत्तम महापुरुष होगा- जो मोह रूपी कीचड़ में फँसे हुए धर्मरूपी रथ का उद्धार करेगा ।

२ हस्ति-दर्शन का फल यह है कि आपका पुत्र महत् पुरुषा का भी गुरु होगा और महान् बलशाली होगा ।

३ सिह-दर्शन से आपका पुत्र पुरुषों में सिह के समान निर्भय शूरवीर, धीर और पराक्रमी होगा।

४ लक्ष्मीदेवी का दर्शन यह बताता है कि आपका महान् पुण्यशाली पुत्र, तीन लोक की राज्यलक्ष्मी का अधिपति होगा ।

५ पुष्पमाला से वह पुण्यदर्शन वाला होगा और ससार के प्राणी उनकी आज्ञा को माला के समान शिरोधार्य करेंगे ।

६ मनोहर और आनन्दकारी होने का सकेत चन्द्रदर्शन करा रहा है ।

७ मोह एव अज्ञानरूपी अन्धकार का नाश कर के ज्ञान का प्रकाश करने वाला विश्वोत्तम महापुरुष होने की सूचना सूर्यदर्शन से मिलती है ।

८ महाध्वज बता रहा है कि गर्भस्थ पुण्यशाली आत्मा, महान् प्रतिष्ठित एव यशस्वी होगा ।

९ पूर्ण कलश का फल है - सभी प्रकार की विशेषताओं (अतिशयों) से परिपूर्ण होना ।

१० जिस प्रकार पद्मसरोवर मनुष्य क तन का मैल दूर कर के शान्ति देता है, उसी प्रकार आपका होने वाला पुत्र-रत्न, ससारी प्राणियो के पापरूपी ताप का हरण कर के आत्मा को पवित्र और शीतल बनावेगा ।

११ समुद्र-दर्शन बताता है कि आपका पुत्र समुद्र के समान गम्भीर होगा ।

☆ यह कर्म भूमि से प्रारम्भ का समय था । उस समय ज्योतिष शास्त्र के जानने वाले नहीं थे । अतएव यह काम इन्द्रों को करना पड़ा ।

१२ विमान-दर्शन का फल है कि महान् भाग्यशाली ऐमे वैमानिक देव भी आपके पुत्र-रत्न की सेवा करेंगे ।

१३ रत्नराशि बताती है कि वह महान् आत्मा, गुण-रत्नो की खान होगी ।

१४ महान् तेजस्वी होगा वह महापुरुष - यह सन्देश निर्धूम अग्नि का अतिम स्वप्न दे रहा है।

ये चौदह स्वप्न बता रहे हैं कि गर्भस्थ जीव, चौदह राजलोक का स्वामी होगा ।

इस प्रकार स्वप्ना का अर्थ बता कर और प्रणाम कर के सभी इन्द्र अपने-अपने स्थान पर गये। महामाता श्रीमती मरुदेवी, इन्द्रो के मुख से स्वप्न का फल सुन कर परम हर्षित हुई ।

गर्भ सुखपूर्वक बढने लगा । गर्भ के अनुकूल प्रभाव से मातेश्वरी के शरीर की शोभा, कान्ति और लावण्य भी बढने लगा तथा नाभिराज की ऋद्धि यश, प्रभाव और प्रतिष्ठा में भी वृद्धि होने लगी। प्रकृति भी कुछ अनुकूल हो गई, जिससे कल्पवृक्षो की फलदा शक्ति मे भी कुछ वृद्धि हुई । मनुष्यों और पशु-पक्षियो की प्रकृति में भी कुछ सौमनस्य की वृद्धि हुई ।

आदि तीर्थंकर का जन्म

गर्भकाल पूर्ण होने पर चैत्र-कृष्णा अष्टमी की अर्धरात्रि को सभी ग्रह उच्च स्थान में रहे हुए थे और चन्द्रमा उत्तराषाढा नक्षत्र मे था, तब परम सौभाग्यवती महादेवी मरुदेवी की कुक्षि से एक युगल का सुखपूर्वक जन्म हुआ । जिस प्रकार देवो की उपपात शय्या मे देव का जन्म होता है, उसी प्रकार रुधिरादि वर्जित, कर्मभूमि के आदि मानव आदिकुमार का जन्म हुआ । दिशाएँ प्रफुल्ल हुई । जनसमुदाय में स्वभाव से ही आनन्द का वातावरण निर्मित हो गया । ऊर्ध्व, अधो और तिर्यक् लोक में उद्योत हो गया । जैसे स्वर्ग अपने आप हर्ष से गर्जना करता हो, वैसे आकाश में बिना बजाये ही मेघ के समान गम्भीर शब्द वाली दुदुभि बजने लगी । उस समय नारक जीवों को भी क्षणभर के लिए अपूर्व सुख की प्राप्ति हुई । भूमि पर चलते हुए मद-मद पवन ने पृथ्वी पर की रज और कचरा दूर कर के सफाई कर दी । मेघ सुगन्धित जल की वृष्टि करने लगे ।

दिशाकुमारी देवियों द्वारा शौच-कर्म

इस समय अपने आसन चलायमान होने से अधोलोकवासिनी आठ दिशाकुमारियें तत्काल भगवान् के जन्म स्थान पर आई और भावी आदि-तीर्थंकर तथा उनकी माता को तीन बार प्रदक्षिणा कर के वन्दना की और अपना परिचय देती हुई कहने लगी;-

"हे जगज्जननी ! हे विश्वोत्तम लोक-दीपक महापुरुष को जन्म देने वाली महामाता ! हम अधोलोक में रहने वाली आठ दिशाकुमारियाँ है । हम अवधिज्ञान से जिनेश्वर भगवान् का जन्म जान कर जन्मोत्सव करने के लिए यहाँ आई हैं । आप हमें देख कर भयभीत नहीं होवें ।"

इस प्रकार कह कर उन्होने पूर्वदिशा की ओर द्वार वाले एक विशाल 'सूतिकागृह' की रचना की। इनके बाद सवर्तक वायु चला कर सूतिकागृह के आसपास की एक योजन प्रमाण भूमि के काँटे, ककर, कचरा आदि को दूर फेंका और भगवान् को प्रणाम कर के मधुर स्वर से गान करने लगी ।

इसी प्रकार मेरु पर्वत के ऊपर रहने वाली ऊर्ध्वलोक-वासिनी आठ दिशाकुमारियाँ भी आई । उन्होने भी प्रणाम कर के अपना परिचय दिया और मेघ की विकुर्वणा कर के सुगन्धित जल की मद-मद वृष्टि की और उठी हुई धूल को दबाया। पाँचो वर्ण के सुगन्धित पुष्पों की वृष्टि कर के पृथ्वी को सुशोभित बनाई । फिर गायन कर के अपना हर्ष व्यक्त करने लगी। इसी प्रकार रुचक पर्वत के पूर्व की ओर रहने वाली आठ दिशा कुमारियाँ आई और अपने हाथ में दर्पण ले कर गीत गाती हुई खड़ी रही। दक्षिण दिशावाली आठ दिग्कुमारी देवियाँ हाथ में कलश ले कर खड़ी रही। पश्चिम रुचक की आठ देवियें हाथ में पखा ले कर गाती हुई खड़ी रही। उत्तर रूचक की आठ देवियें चँवर लिये हुए, रुचक की विदिशा में रहने वाली चार देवकुमारियें दीपक ले कर और रुचक मध्य की चार दिशाकुमारी देवियाँ आकर नाभिनाल का छेदन कर भूमि में गाडती है और रत्नों से गड्ढे को भर कर के गायन करती है।

इनके बाद उन देवियों ने जन्मगृह के पूर्व, उत्तर और दक्षिण में तीन कदलीगृह की रचना की और उनमें देवविमान जैसे चौक और सिहासन आदि की व्यवस्था की । इसके बाद एक देवी ने तीर्थंकर को अपने हाथ में लिया, दूसरी चतुर दासी के समान मातेश्वरी का हाथ पकड कर दक्षिण दिशा के कदलीगृह मे ले गई । वहाँ माता और पुत्र को सिहासन पर बिठाया और लक्षपाक तेल से धीरे-धीरे मर्दन करने लगी । फिर उबटन किया । इसके बाद पूर्वदिशा के गृह में ले जा कर स्वच्छ जल से स्नान कराया । सुगन्धित कापाय वस्त्रों से उनके शरीर को पाछ कर गोशीर्ष चन्दन का विलेपन किया और दोनों को दिव्य वस्त्राभूषण पहिनाये । इसके बाद उत्तर दिया के मण्डप मे ले गई वहाँ उन्होंने प्रचलित क्रम से गोशीर्ष चन्दन की लकडी से सुगन्धित द्रव्या का हवन आदि क्रिया कर के , भगवान् को दीर्घ आयु वाले होने का आशीर्वाद दिया फिर माता और कुमार को सूतिकागृह में सुलाकर मगलगान गाने लगी ।

इन्द्रों का आगमन और जन्मोत्सव

प्रभु का जन्म होने पर प्रथम स्वर्ग के अधिपति श्री सौधर्मेन्द्र का आसन चलायमान हुआ । अवधिज्ञान से भगवान् का जन्म जान कर उनके हर्ष का पार नहीं रहा । वे आसन से नीचे उतरे और भगवान् की दिशा मे सात-आठ चरण चल कर नीचे बैठे। दाहिने घुटने को नीचे टिका कर बायें घुटने को खडा रखते हैं और दानो हाथ जोड़ कर मस्तक झुकाये हुए भगवान् की स्तुति करते हैं । स्तुति करने के बाद वे अपने आज्ञाकारी 'हरिणैगमेषी' देव को आज्ञा देते हैं कि – तुम 'सुघोषा' नाम की

अपनी विशाल घटा को बजा कर, उद्घोषणा कर के सभी देव-देवियों को भगवान् के जन्मोत्सव में सम्मिलित होने की सूचना दो । हरिणैगमेषी देव, इन्द्र की आज्ञा शिरोधार्य कर के सुघोषा घटा के पास आता है और उस पर तीन बार प्रहार कर के उद्घोषणा करता है कि –

"हे देवो और देवियो ! ध्यान दे कर सुनो,"–

"जम्बूद्वीप के दक्षिण भरतक्षेत्र मे भगवान् आदिनाथ का जन्म हुआ है । श्री सौधर्मेन्द्र, तीर्थंकर भगवान् का जन्मोत्सव करने के लिए जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र मे पधारेंगे । इन्द्र महाराज की आज्ञा है कि सभी देव-देवियाँ भगवान् का जन्मोत्सव करने के लिए आवे ।"

सुघोषा घटा का गभीर नाद होते ही बत्तीस लाख विमानो मे रही हुई सभी घण्टाएँ गरज उठी। घण्टानाद सुनते ही आमोद-प्रमोद में आसक्त हुए देव-देवी स्तब्ध हो कर सावधान हो गये । उनके मन में जिज्ञासा हुई –"क्या बात है ? इस समय कौनसी स्थिति बनने वाली है ? इन्द्र का क्या आदेश है ?" इतने में इन्द्र के सेनापति हरिणैगमेषी देव द्वारा इन्द्र की आज्ञा उनके कानो में पडती है । इन्द्र की आज्ञा सुनते ही कई देव तो भगवान् पर के अपने राग के कारण प्रसन्नतापूर्वक जाते हैं । कई देव, इन्द्र की आज्ञा का पालन करने के लिए जाते हैं । कुछ देवाँगनाओ द्वारा उत्साहित हो कर जाते हैं और कुछ मित्रो की प्रेरणा से जाते हैं । इस प्रकार देवगण इन्द्र के पास उपस्थित होते हैं ।

इन्द्र अपने 'पालक' नाम के आदेश के आज्ञाकारी देव को एक असभाव्य और अप्रतिम विमान की रचना करने का आदेश दता है । आज्ञाकारी देव, एक ऐसे विशाल विमान की रचना करता है , जिसम हजारो स्तभ खिडकियाँ ध्वजाएँ आदि हैं । सुन्दर चित्रो तोरणों और वन्दनवारो से सुशोभित है । मध्य में प्रेक्षामण्डप (अत्यन्त आकर्षक दृश्यो से परिपूर्ण प्रदर्शनी) बनाया । उस प्रेक्षामडप के मध्य मे मणिमय पीठिका बनाई । उस पर सिहासन बनाया । उसके वायव्य उत्तर तथा उत्तर-पूर्व दिशा के मध्य मे इन्द्र के सामानिक देवो के आसन सजाये गये । उसके पूर्व मे इन्द्र की आठ इन्द्रानियों के सिहासन लगे । दक्षिण-पूर्व के मध्य म आभ्यतर सभा के सदस्य देवो के सिहासन, दक्षिण में मध्य सभा के देवा क और दक्षिण –पश्चिम के मध्य में बाह्य परिषद् के देवो भद्रासन तथा पश्चिम दिशा में सेनापतियों के सिहासन लगाये गये । इन सब के आस-पास आत्मरक्षक देवों के सिहासन लगे ।

इस प्रकार विमान की पूर्णरूप से रचना कर के शक्रेन्द्र से निवेदन किया । शक्रेन्द्र ने उत्तर वैक्रिय× कर के अपना रूप बनाया और इन्द्रानियो तथा समस्त देव-परिषद् के साथ विमान के निकट आया और विमान की परिक्रमा करता हुआ पूर्व द्वार क सोपान चढ कर विमान में अपने सिहासन पर बैठ गया । सामानिक देव उत्तर द्वार से और अन्य देव दक्षिण द्वार से आ कर अपने-अपने आसनों पर बैठ

× देवो का शरीर 'वैक्रिय' होता है । उसमें हमारी तरह रक्त-मास हड्डी आदि नहीं होते । उनक स्वाभाविक शरीर को 'भवधारणीय' कहत हैं और आवश्यकतानुसार बढाने-घटाने और इच्छित रूप बनाने की क्रिया का 'उत्तर वैक्रिय' कहते हैं ।

गये । इन्द्र की इच्छा से विमान गतिशील हुआ और सौधर्म स्वर्ग के मध्य में हो कर चला । उसके पीछे अन्य देवों के विमान भी शीघ्रता से चले । वे असख्य द्वीपों और समुद्रो पर होते हुए नन्दीश्वर द्वीप पर आये । रतिकर पर्वत पर ठहर कर पालक विमान को सक्षिप्त किया (एक लाख योजन के बड़े विमान को बिलकुल छोटा बनाया) और वहाँ से चल कर भगवान् के जन्म-स्थान पर गया । सूतिकागृह की प्रदक्षिणा करने के बाद विमान ईशानकोण मे ठहराया गया ।

इन्द्र, विमान मे से उतर कर प्रभु के पास आया । इन्द्र को देखते ही दिशाकुमारियों ने उन्हे प्रणाम किया । इन्द्र ने प्रदक्षिणा कर के प्रभु को और माता को प्रणाम किया और माता से इस प्रकार कहने लगा,-

"हे रत्नकुक्षिधारिणी जगत्माता ! मैं आपको नमस्कार करता हूँ । आप धन्य हैं पुण्यवती हैं, उत्तम लक्षणों से युक्त हैं । आपका जन्म सफल है । ससार में जितनी भी पुत्र वाली माताएँ हैं, उन सभी म आप अधिकाधिक पवित्र है । आपने धर्म की आदि करने वाले धर्म का प्रसार कर के जगत् के जीवो को परम सुख प्राप्त कराने वाले ऐसे आदि तीर्थङ्कर को जन्म दिया है । मैं सौधर्म स्वर्ग का इन्द्र हूँ और आपके पुत्र का जन्मोत्सव करने के लिए यहाँ आया हूँ । आप मुझ से किसी प्रकार का भय नहीं करें ।"

इतना कह कर इन्द्र ने मातेश्वरी को निद्राधीन कर दिया और प्रभु का एक प्रति बिब बना कर मातेश्वरी के पास सुलाया । इसके बाद इन्द्र ने अपने पाँच रूप बनाये। फिर भगवान् को प्रणाम कर के - "हे भगवन् ! आपकी आज्ञा हो"- इस प्रकार कह कर अपने एक रूप से दोनो हाथों मे भगवान् को ग्रहण किया । दूसरे रूप से पीछे खडे रह कर हाथ में छत्र धारण किया । दो रूप चँवर धारण कर दोनो ओर रहे और पाँचवें रूप से वज्र धारण करके आकाश मार्ग से आगे चले । इस प्रकार प्रभु को ले कर मेरु पर्वत के पाडुक वन में पहुँचे । फिर 'अतिपाडुकवला' नामक शिला पर सिहासन रखा और इन्द्र अपनी गोदी में प्रभु को ले कर पूर्व दिशा की ओर मुँह कर के बैठे ।

जिस समय सौधर्मेन्द्र भगवान् को ले कर मेरु पर्वत पर आये उस समय 'महाघोषा' घटा के नाद से प्रबोधित हो कर ईशानेन्द्र, पुष्पक विमान में बैठ कर अपने परिवार सहित दक्षिण दिशा के मार्ग से ईशानकल्प से नीचे उतरे और तिरछे चल कर नन्दीश्वर द्वीप पर आये और रतिकर पर्वत पर अपने विमान को सकुचित कर, मेरु पर्वत पर भगवान् के समीप भक्तिपूर्वक उपस्थित हुए । सनत्कुमार इन्द्र भी अपने 'सुमन' विमान द्वारा उपस्थित हुए । महेन्द्र, श्रीवत्स विमान से ब्रह्मेन्द्र नन्द्यावर्त विमान से लातकेन्द्र कामगव विमान से, शुक्रेन्द्र प्रीतिगम विमान से, सहस्रार इन्द्र मनोरम विमान से, आनतप्राणत के इन्द्र विमल विमान से और आरणाच्युत देवलोक के इन्द्र सर्वतोभद्र विमान में बैठ कर भगवान्

का जन्मोत्सव मनाने के लिए भक्तिपूर्वक मेरु पर्वत पर आये ।

रत्नप्रभा पृथ्वी की पोलार में रहने वाले भवनपति और व्यन्तर के इन्द्रो के आसन कम्पायमान हुए। उस समय चमरचचा नगरी की सुधर्मा सभा मे असुरराज चमरेन्द्र ने अवधिज्ञान के उपयोग से जब भ० आदिनाथ का जन्म होना जाना तो वह भी अपने परिवार के साथ आया । 'बलिचचा' नगरी से बलिन्द्र नागकुमार जाति के धरणेन्द्र और भूतानेन्द्र विद्युतकुमारो के इन्द्र-हरि और हरिस्सह सुवर्णकुमारो के इन्द्र- वेणुदेव और वेणुदारी, अग्निकुमारो के इन्द्र- अग्निशिख और अग्निमाणव, वायुकुमारों के इन्द्र - वेलब और प्रभजन स्तनितकुमारों के इन्द्र-सुघोष और महाघोष, उदधिकुमारो के इन्द्र - जलकान्त और जलप्रभ, द्वीपकुमारो के इन्द्र - पूर्ण और अवशिष्ट और दिशाकुमार जाति के इन्द्र - अमित और अमितवाहन भी आये ।

व्यन्तर जाति के देवों में पिशाचो के इन्द्र-काल और महाकाल । भूतों के इन्द्र - सुरूप और प्रतिरूप। यक्षा के इन्द्र - पूर्णभद्र और मणिभद्र । राक्षसों के इन्द्र - भीम और महाभीम । किन्नरो के इन्द्र - किन्नर और किपुरुष । किपुरुषो के इन्द्र - सत्पुरुष और महापुरुष । महोरगो के इन्द्र - अतिकाय और महाकाय । गन्धर्वों के इन्द्र - गीतरति और गीतयश ।

व्यन्तरो की दूसरी आठ निकाय के १६ इन्द्र हैं । जैसे - अप्रज्ञप्ति के इन्द्र - सन्निहित और समानक। पचप्रज्ञप्ति के - धाता और विधाता । ऋषिवादितों के इन्द्र-ऋषि और ऋषिपालक । भूतवादिता के इन्द्र-ईश्वर और महेश्वर । क्रदितों के इन्द्र-सुवत्सक और विशालक । महाक्रद्रितो के इन्द्र - हास और हासरति । कुष्माडों के इन्द्र - श्वेत और महाश्वेत । पालकों के इन्द्र - पावक और पावकपति ।

ज्योतिषियों के असख्याता चन्द्र और सूर्य । ये 'चन्द्र' और 'सूर्य' - इन दो नाम के ही हैं । इसलिये गिनती में दो ही लिये हैं ।

वैमानिको के १०, भवनपतिया के २० व्यन्तरो के ३२ और ज्योतिषियों के २ । इस प्रकार ६४ इन्द्र, भगवान् का जन्मोत्सव मनाने के लिए मेरु पर्वत पर एकत्रित हुए ।

जन्मोत्सव का प्रारम्भ करते हुए वैमानिको के अच्युतेन्द्र ने अपने आज्ञाकारी देवों को जन्मोत्सव के योग्य उपकरण एकत्रित करने की आज्ञा दी । आज्ञाकारी देवों ने ईशानकोण की ओर जा कर वैक्रिय समुद्घात किया और उत्तम पुद्गलों का आकर्षण कर के सोना चाँदी, रत्न, सोना और चाँदी के मिले हुए, सोना और रत्नो के मिले हुए, सोना चाँदी रत्न के मिले हुए, चाँदी और रत्न के मिले हुए और मृतिका के ऐसे आठ प्रकार के उत्तम, एक हजार आठ सुन्दर कलश बनाये । इसी प्रकार झारी, दर्पण करडिये, ढकने थाल, चगेरियें आदि बनाये और क्षीर-समुद्र आदि विशिष्ट स्थाना के जल श्रेष्ठ कमलादि पुष्प गोशीर्ष आदि सुगन्धित चन्दन आदि एकत्रित किये ।

इसके बाद अच्युतेन्द्र ने अपने सामानिक, आत्मरक्षक, लोकपाल आदि देवों के साथ उत्तरासग कर के भगवान् को स्नान कराया, चन्दन से अग पर विलेपन किया । परिवार के अन्य देव तथा आज्ञाकारी देव उस समय विभिन्न प्रकार के वादिन्त्र बजाने लगे । कई नृत्य करने लगे, कई हर्षातिरेक से कूदने, फादने और विविध प्रकार के कौतुक करने लगे । इस प्रकार मेरु पर्वत का पाडुकवन द्रव्य जिनेश्वर के जन्मोत्सव से आह्लादित होने लगा ❀ ।

अच्युतेन्द्र से स्नान, विलेपनादि करवाने के बाद प्रभु को वन्दन-नमस्कार किया और स्तुति करते हुए बोले;-

"हे जगन्नाथ ! हे धर्म प्रवर्त्तक ! हे कृपार्णव ! सिद्धिदाता ! आपकी जय हो, विजय हो, आप आनन्द करें ★ ।"

अच्युतेन्द्र की ओर से जन्माभिषेक हो जाने के बाद अन्य ६२ इन्द्रो ने भी यथाक्रम जन्माभिषेक किया । उसके बाद ईशानेन्द्र ने अपने पाँच रूप बनाये । उसमे से एक रूप, भगवान् को गोदी में ले कर बैठा । एक रूप ने छत्र धारण किया । दो रूपों ने दोनों ओर चँवर धारण किये और एक रूप त्रिशूल धारण कर के खड़ा रहा । इसके बाद सौधर्मेन्द्र ने भगवान् के चारो दिशा मे चार वृषभ रूप बनाये । उनके प्रत्येक के दोनों ऊँचे सिगों से, ऊँची जलधाराएँ (फव्वारे के समान) निकलने लगी । ये धाराएँ आकाश में एक साथ मिल कर प्रभु के मस्तक पर गिरने लगी । इस प्रकार स्नान करवाने के बाद देवदूष्य वस्त्र से शरीर पोंछा । चन्दन का विलेपन कराने के बाद दिव्य वस्त्र पहिनाये मुकुट धारण कराया, स्वर्ण कुण्डल पहिनाये, मुक्तामाला पहिनाई । इस प्रकार और भी आभूषण पहिना कर वन्दन-नमस्कार और स्तुति की और इसके बाद शक्रेन्द्र ने पूर्व के समान अपने पाँच रूप बना कर भगवान् को ईशानेन्द्र के पास से अपनी गोदी में लिये और अन्य रूप छत्र चामर और वज्र ले कर, आकाश मार्ग से चल कर

❀ जिस प्रकार साधारण मनुष्यों के जन्मोत्सव होते हैं उससे अधिक आडम्बर युक्त जन्मोत्सव बड़े-बडे सेठों सामन्तो ठाकुरो और राजा-महाराजाओं के यहाँ होते हैं और उन सब से श्रेष्ठ प्रकार से चक्रवर्ती सम्राटों के यहाँ जन्मोत्सव होता हैं । किन्तु भावी जिनेश्वर भगवान् के सर्वोत्कृष्ट पुण्य-प्रकृति के उदय से उनका जन्मोत्सव ससार (समस्त लोक) की उत्तम हस्ति (सर्वश्रेष्ठ देवेन्द्र) द्वारा लोक की रीति के अनुसार विशिष्ट प्रकार के द्रव्यों और साधनो से यह सारी क्रिया सम्पन्न होती है । यह मनुष्य भव में होने वाले महान् अभ्युदय की निशानी है कि जिसका जन्मोत्सव ससार का सर्वोच्च व्यक्ति-अच्युतेन्द्र करता है । विश्व का महान् इन्द्र, जिस नवजात मनुष्य-बालक की अनुचर के समान सेवा करे उस बालक के पुण्य के उत्कृष्ट भण्डार का तो कहना ही क्या ?

★ श्रीमद् हेमचन्द्राचार्य ने उपरोक्त स्तुति 'चारणमुनियों ने की' ऐसा लिखा है । किन्तु यह बात समझ में नहीं आती । उस समय भरत-ऐरवत में चारण मुनि तो क्या पर साधारण मुनि होने की सम्भावना भी नहीं है । यदि महाविदेह के आवें तो वहाँ तो साक्षात् भाव-तीर्थंकर विराजमान होते हैं । उन्हें छोड कर यहाँ जन्मोत्सव जैसी सासारिक - आरम्भयुक्त - सावद्य क्रिया में शरीक होने के लिए चारण मुनि आवे यह कैसे मानने में आवे ? यह तो मुनि-मर्यादा का भग ही है । यह उल्लेख अवास्तविक है ।

जन्म-स्थान पर आये और भगवान् के प्रतिबिम्ब को हटा कर भगवान् को मातेश्वरी के पास सुलाये, फिर माता की निद्रा दूर की । शक्रेन्द्र ने भगवान् के सिरहाने वस्त्र-युगल और कुण्डलादि आभूषण रखे और प्रभु की दृष्टि में आवे, इस प्रकार छत में एक स्वर्ण और रत्नमय 'श्रीदामगड' (गेंद) लटकाया, जो रत्नो की लटकती हुई मालाओं से सुशोभित था ।

इसके बाद कुबेर (वैश्रमण) देव को आज्ञा दे कर सोना, चाँदी आदि और उपयोग में आने योग्य बहुमूल्य सिहासनादि उपकरणों से जिन-भवन को परिपूर्ण कराया । इसके बाद आज्ञाकारी देवो के द्वारा चारों निकाय के देवों में शक्रेन्द्र ने यह उद्घोषणा करवाई –

"यदि किसी भी दुष्ट प्रकृति वाले देव ने, जिनेश्वर और उनकी मातेश्वरी का अनिष्ट चिन्तन किया, तो उन्हें सौधर्मेन्द्र कठोर दण्ड देंगे । उसके सिर के टुकडे-टुकडे कर दिये जावेंगे"

इस प्रकार की उद्घोषणा के बाद इन्द्र ने भगवान् के हाथ के अगूठे मे अनेक प्रकार के उत्तमोत्तम रसा से भरी हुई अमृतयम नाडी (नस) का सक्रमण किया। जिससे अगुष्ठ चूसने से ही उनकी क्षुधा शान्त हो जाय । बाल तीर्थंकर, माता का स्तन पान नहीं करते । इसलिए यह व्यवस्था की गई ❋ । इसके बाद धात्री-कर्म करने के लिए इन्द्र ने पाँच अप्सराओ की नियुक्ति की ।

मेरु पर्वत पर जन्मोत्सव हो चुकने पर शक्रेन्द्र, भगवान् को रखने के लिए आये और बहुत-से देव और शेष इन्द्र मेरु पर्वत से ही रवाना हो कर, देवो के निवास रूप नन्दीश्वर द्वीप पर गये । शक्रेन्द्र भी प्रभु को रख कर नन्दीश्वर द्वीप पर गये और अठाई महोत्सव कर के सभी देव अपने-अपने स्थान पर गये ।

प्रातःकाल होने पर भगवती मरुदेवा जागृत हुई । प्रभु का जन्म और देवागमन आदि बातें उनके लिए स्वप्नवत् थी । उन्होंने नाभि राजा को सारा वृत्तान्त सुनाया । वे भी आश्चर्यान्वित हुए । प्रभु की जघा पर वृषभ का लाछन था, तथा माता ने चौदह स्वप्न में से प्रथम स्वप्न मे वृषभ देखा था । इसलिए प्रसन्न हो कर माता-पिता ने प्रभु का नाम 'ऋषभ' और प्रभु के साथ जन्मी हुई बालिका का नाम 'सुमगला' रखा । प्रभु आनन्दपूर्वक बढने लगे । इन्द्र द्वारा नियुक्त पाँच धात्री अप्सराएँ निरन्तर प्रभु की सेवा में रहने लगी ×।

❋ यह इन्द्र की भक्ति थी अन्यथा क्षीरधात्री दुग्ध-पान कराती ही है ।

× गर्भ में आना जन्म लेना, जन्मोत्सव लग्नोत्सव राज्याभिषेक आदि क्रियाएँ सासारिक होती है । ये उदय भाव की क्रियाएँ हैं । जिस प्रकार ससार में हम सभी ये क्रियाएँ करते हैं उसी प्रकार ये भी हैं । इनका निर्ग्रन्थ-धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं है । ये सभी क्रियाएँ आस्रव बन्ध और आरम्भयुक्त है सावद्य है । स्वय आदिनाथ भी जन्म, बाल और यौवनादि सासारिक अवस्था में चतुर्थ गुणस्थानयुक सासारिक अवस्था में थे । अतएव जन्मोत्सवादि क्रिया में धर्म मानने की भूल नहीं करनी चाहिए । इन्द्रों ने भावी जिनेश्वर – जिनसे भविष्य में धर्म-प्रवर्त्तन की महान् आशा है – जान कर उनके द्वारा ससार के भव्य जीवों का उद्धार जान कर, हर्षातिरेक से जन्मोत्सव मनाया है । जिनके द्वारा भविष्य में हित होने की आशा हो उनका अत्यादर किया ही जाता है । इसी दृष्टि से इस प्रसग को समझना चाहिए।

वंश स्थापना

जब श्री ऋषभकुमार एक वर्ष के हुए तब सौधर्मेन्द्र, कर्मभूमि के आदि महामानव के वश की स्थापना करने के लिए भारत भूमि पर आये । खाली हाथ प्रभु के सम्मुख नहीं आने की दृष्टि से वे एक इक्षु-यष्टि (गन्ना) साथ लेते आये । उस समय भगवान् अपने पिता श्री नाभि राजा की गोद में बैठे थे । इन्द्र को देखते ही प्रभु ने अपने अवधिज्ञान से इन्द्र के मनोगत भाव जान लिये और इन्द्र के हाथ से इक्षु-दण्ड लेने के लिए हाथ लम्बा किया । इन्द्र ने प्रणाम कर के वह गन्ना प्रभु को सादर समर्पित कर दिया । इक्षु गहण करने के कारण इन्द्र ने भगवान् का 'इक्ष्वाकु' नाम का वश स्थापन किया ।

जन्म से चार अतिशय

भगवान् आदिनाथ का शरीर, जन्म से ही – १ स्वेद (पसीना) मल रोग से रहित और सुन्दराकार था । स्वर्ण-कमल के समान शोभनीय था, २ उनका रक्त और मास, गाय के दूध के समान उज्ज्वल एव सुगन्ध युक्त था ३ उनका आहार-नीहार चर्म-चक्षु के लिए अगोचर था और ४ उनके श्वास की सुगन्ध, सुविकसित कमल की सुगन्ध के समान थी । ये चार अतिशय उनके जन्म के साथ ही थे ।

प्रभु का शरीर 'वज्र-ऋषभ-नाराच सहनन' (शरीर की सर्वोत्तम रचना, जिससे हड्डियों का जोड़ और पट्ट वज्र मेख से सुदृढ हो जाता है) और समचतुरस्र सस्थान युक्त था । वे मन्द गति से चलते थे । वय से बालक होते हुए भी गम्भीर और मधुर वचन बालते थे। कई देव, भगवान् के साथ खेलने के लिए अपना बालक रूप बना कर आते थे, तो उनके साथ, उनकी इच्छापूर्ति के लिए प्रभु खेलते थे । यदि कोई देव, प्रभु के बल की परीक्षा करने के लिए आता, तो वह तत्काल पराभव पा जाता । कई देवकुमार भगवान् को प्रसन्न करने के लिए मयूर बन कर कोकारव करते और नृत्य दिखाते । कई पोपट, मैना कोयल हस आदि बन कर अपनी मधुर बोली और मोहक रूप से मनोरजन करते । कोई सुन्दर अश्व, गज आदि रूप बन कर भगवान् का वाहन बनता । इस प्रकार क्रीड़ा करते हुए भगवान् बढने लगे ।

अगुष्ठपान की अवस्था बीत जाने के पश्चात् जिनेश्वर, सिद्ध-अन्न (पकाया हुआ अन्न) भोजन में लेते हैं, किन्तु ऋषभदेव तो देवकुरु उत्तरकुरु क्षेत्र से देवों द्वारा लाये हुए कल्पवृक्षों के फलो का ही भोजन करते ▼ और क्षीरसमुद्र के जल का पान करने लगे । इस प्रकार बाल-वय व्यतीत होने पर भगवान् यौवनावस्था को प्राप्त हुए ।

▼ क्योंकि उस समय भारत के मनुष्य फलाहार ही करते थे, न तो उस समय अन्न पकाने के काम में आने वाली बादर अग्नि ही यहाँ थी और पकाने की विधि ही कोई जानता था ।

प्रभु के शरीर का शिख-नख वर्णन+

प्रभु का मस्तक अत्यन्त ठोस, स्नायुओ से भली प्रकार बँधा हुआ, पर्वत के शिखर के समान आकार वाला और पत्थर की पिण्डी के समान गोल तथा श्रेष्ठ लक्षणो से युक्त था । उनके बाल सेमल वृक्ष के फल की रूई के समान कोमल सुलझे हुए, सुन्दर चमकीले, घुँघराले और उत्तम लक्षण युक्त थे । बालो का रग हर्षित भ्रमर और काजल के समान काला था । बालो के स्थान की त्वचा निर्मल स्वच्छ और दाडिम के फूलों के समान लाल थी । मस्तक भाग, छत्र के आकार का था । ललाट अष्टमी के चन्द्रमा के आकार जैसा था । चन्द्रमा के समान सौम्य मुख था । उनके कान मनोहर, मुख से जुडे हुए स्कन्ध तक लम्बे और प्रणाम युक्त थे । दोनो गाल भरे हुए मासल और सुन्दर थे । भौहे झुके हुए धनुष के समान बाँकी और बादल की रेखा के समान पतली, काली कान्ति से युक्त थी । आँखें, खिले हुए श्वेत कमल के समान थी । जिस प्रकार पत्रयुक्त कमल सुशोभित होता है, उसी प्रकार बरौनी युक्त श्वेत आँखें शोभा पा रही थी । नासिका गरूड की चोच के समान लम्बी, सीधी और ऊँची थी । ओष्ठ विशुद्ध मूगे और बिम्ब फल के समान लाल थे । दाँतो की पक्ति निर्मल चन्द्र, शख, गो-दुग्ध, फेन, कुन्द के पुष्प, जल-कण और कमल-नाल के समान श्वेत थी । अखण्ड परस्पर मिले हुए स्निग्ध और सुन्दर दाँत थे । दत-पक्ति के बीच में विभाजक रेखाएँ दिखाई नहीं देती थी । तालु और जिह्वा, तपे हुए सोने के समान लाल थे । दाढी-मूँछ के बाल सदा एक समान और सुन्दर रूप में छँटे हुए से रहते थे उनकी ठुड्डी सुन्दराकार मासल और व्याघ्र की ठुड्डी के समान विस्तीर्ण थी । उनकी गर्दन गोलाकार, चार अगुल प्रमाण, तीन रेखा से युक्त और शख के समान थी । कधे श्रेष्ठ वृषभ, व्याघ्र, हाथी और सिह के समान प्रमाण से युक्त एव विशाल थे । प्रभु के बाहु, गाडी के जुडे के समान गोल, लम्बे और पुष्ट थे । उनके बाहु ऐसे दिखाई देते थे जैसे इच्छित वस्तु को प्राप्त करने के लिए किसी फणिधर (भुजग) ने अपना महान् शरीर फैलाया हो । प्रभु की हथेलियाँ लाल, उन्नत, कोमल, भरी हुई सुन्दर और सुलक्षणों से युक्त थी । अगुलियों के मिलने पर, बीच में छिद्र दिखाई नहीं देते थे । अगुलियाँ पुष्ट, कोमल और श्रेष्ठ थी । अगुलियों के नख ताबे के समान कुछ लाल, पवित्र दीप्त और स्निग्ध थे । हाथी मे चन्द्राकार, सूर्याकार, शखाकार, चक्राकार और दक्षिणावर्त स्वस्तिकाकार रेखाएँ थीं । भगवान् का वक्षस्थल, सुवर्ण शिलातल के समान समतल, प्रशस्त, मासल, विशाल और चौडा था । उस पर श्रीवत्स का चिन्ह था । मासलता के कारण पसलियें दिखाई नहीं देती थी । प्रभु का देह स्वर्ण कान्ति के समान निर्मल, मनोहर और रोग से रहित था । देह में एक हजार आठ उत्तम लक्षण अकित थे । उनके पार्श्व (बगलें) नीचे की और क्रमश कम घेरे वाले हो गए थे और देह के अनुकूल सुन्दर, पुष्ट तथा रम्य थे ।

+ यह वर्णन औपपातिक सूत्र के आधार पर दिया है । श्री हेमचन्द्राचार्य ने नख-शिख वर्णन किया किन्तु जिनेश्वरों के शरीर का वर्णन 'शिख-नख' होता है ।

वक्षस्थल पर सीधी और समरूप से एक दूसरे से मिली हुई, प्रधान पतली स्निग्ध, मन का भाने वाली, सलावण्य और रमणीय रोमों की पंक्ति था । मत्स्य और पक्षी की-सी उत्तम और दृढ मास-पेशियों से युक्त कुक्षि थी । मत्स्य के समान उदर थी । नाभि गगा के भँवर के समान दाहिनी और घूमती हुई तरगों सी चचल एव सूर्य की तेज किरणों से विकसित कमल के मध्य-भाग के समान गभीर और गहन थी । देह का मध्य-भाग त्रिदण्ड, मूसल और तलवार की मूठ के समान क्षीण था । कमर श्रेष्ठ अश्व और सिंह के समान उत्तम घेरे वाली थी । गुप्ताग श्रेष्ठ घोडे के समान गुप्त और उत्तम था और लेप से रहित रहता था । हाथी की सूँड के समान जघाएँ थी और चाल भी श्रेष्ठ हाथी के समान पराक्रम और विलास युक्त थी । गोल डिब्बे के समान पुष्ट घुटने थे । हरिणी की जघा के समान और कुरुविन्द तृण के समान क्रमश उतरती हुई पिंडलियाँ थी । पाँवो के टखने सुगठित, सुन्दराकार एव गुप्त थे । भली प्रकार से स्थापित कछुए के समान पाव थे । क्रमश बडी-छोटी अगुलियाँ थी । ऊँचे उठे हुए, पतले ताम्रवर्ण और स्निग्ध नख थे । रक्त-कमल के समान कोमल और सुकुमार पगतलियाँ थी । पर्वत, नगर, मगर, समुद्र, चक्र, स्वस्तिक आदि मगल चिह्न, पगतलियों में अकित थे ।

जिस प्रकार बहुमूल्य रत्नों से युक्त रत्नाकर सेवन करने के योग्य होता है, उसी प्रकार उत्तमोत्तम एव असाधारण लक्षणा से युक्त प्रभु भी देवो और मनुष्यों के लिए सेवा करने योग्य थे ।

सुनन्दा का योग

एक बाल युगल ताड-वृक्ष के नीचे खेल रहा था । भवितव्यतावश ताड का बडा फल टूट कर पुरुष-बालक पर पडा और वह मर गया * । बालिका अकेली रह गई । वह दिग्मूढ हो गई । उसके माता-पिता उसे ले गये । उस बालिका का नाम 'सुनन्दा' रखा । उसके माता-पिता भी थोड़े ही दिनों में मर गए । बालिका अकेली रह गई । वह इधर-उधर भटकने लगी । वह अत्यन्त सुन्दरी थी । कुछ युगल उस अकेली भटकती हुई बालिका को साथ ले कर अपने कुलपति श्री नाभिराजा के पास आये । श्री नाभिराजा ने उसे श्री ऋषभदेव की पत्नी घोषित करते हुए स्वीकार कर ली ।

विवाह

एकदा सौधर्मेन्द्र, भगवान् को विवाह के योग्य जान कर भगवान् के पास आया और सुनन्दा तथा सुमगला के साथ विवाह कर के विवाह सम्बन्धी लोक-नीति प्रचलित करने का निवेदन किया । प्रभु के मौन रहने पर शक्रेन्द्र ने मनोगत भाव जाने । भगवान् को तिरयासी लाख पूर्व तक उदय भाव के

---

* युगल का यह अकाल मरण आश्चर्यजनक माना गया है क्योंकि अकर्म-भूमि के मनुष्य परिपूर्ण अवस्था भोग कर ही मरते हैं ।

अधीन-गृहवास में रहने का योग था । शक्रेन्द्र ने देवी-देवताओ को भगवान का विवाह रचाने की आज्ञा दी × । देवागनाएँ वैवाहिक मगल- गान गाने लगी । एक ओर देवागनाएँ सुमगला और सुनन्दा को सजाने लगी । पीठी, चन्दन, इत्र, उत्तम वस्त्र और बहुमूल्य आभूषण आदि से दोनों वधुएँ सजाई गई । दूसरी ओर देव, ऋषभदेवजी को स्नानादि से शृगारित करने लगे । विवाह के लिए एक सुन्दर मण्डप बनाया गया । भव्य आसन लगाये गये । श्री ऋषभदेवजी को और दोनों कन्याओं को स्वर्ण सिहासन पर पूर्वाभिमुख बिठाये । इन्द्र ने सुमगला और सुनन्दा का हाथ श्री ऋषभकुमार के हाथमें दिया और लग्न-ग्रथी मे जोडे । गन्धर्वगण, बाजे बजाने लगे ौर बहुत-से देवी-देवता गायन तथा नृत्यादि करने लगे । नाभि राजा, मरुदेवा और अन्य युगलिक स्त्री-पुरुष एकत्रित हो कर इस विवाहोत्सव को आश्चर्यपूर्वक देखते रहे । विवाह कार्य पूर्ण कर के इन्द्रादि देव स्वर्ग में गये । उसी दिन से इस भरत क्षेत्र में विवाह-विधि प्रारभ हुई

× १ उस समय अकर्म-भूमि के भाव चल रहे थे । विवाह करने की रीति ही नहीं थी । एक माता-पिता से साथ जन्मे हुए भाई-बहिन ही अवस्था पा कर पति-पत्नी हो जाते थे । श्री ऋषभदेव के विवाह से ही यह विधि प्रचलित हुई । उस समय कर्म-भूमि के भावों का उदय चल रहा था ।

२ श्रीमद् हेमचन्द्राचार्य ने जो विवाह-विधि बताई उसमें तो आचार्यश्री के समय के विधि-विधानो का खूब समावेश हुआ लगता है । जैसे – विवाह के समय दही उछालना मक्खन फेकना वेदिका बनाना अग्नि के फेरे लेना मथानी को वर के भाल से तीन बार स्पर्श करवाना सरावले में अग्नि रख कर उसमें ममक डालना और उस सरावले को वर से ठुकरा कर नष्ट करवाना वेदिका स्थान गोबर से लिपना वर को अर्घ देना दुर्वा चढाना मातृ-भवन (कुलदेवी?) में लग्न होना देवियों द्वारा अनुचर (वर केसाथ रहने वाले मित्र=श्री ऋषभकुमार के साथ इन्द्र के सामानिक देव अनुचर थे) की विविध प्रकार के हँसी-मजाक करना आदि और देवागनाओ की विविध हलचलों का वर्णन है तो रसपूर्ण और काव्य-कला से समृद्ध, किन्तु ये क्रियाएँ ग्रथकार के अपने समय की श्रीऋषभकुमार के लग्न में जुड गई है ।

३ श्री आदिकुमार का सुनन्दा के साथ विवाह हुआ । इस घटना को कई सुधारक लोग 'पुर्न-विवाह' बता कर विधवा-विवाह के पक्ष में बरबस घसीट ले जाते हैं । यह उनका अन्याय है । पत्नी बनने के पूर्व ही विधवा मान लेने जैसी बेसमझी इस बात में है । यह ठीक है कि युगलिक ही पति-पत्नी बन जाते हैं । यदि सुनन्दा के साथ जन्मा हुआ युगल नहीं मरता तो वही उसका पति बनता किन्तु उनका भाई-बहिन का सम्बन्ध भी तो मानना चाहिए न ? क्यों युगलिकों में भाई-बहिन होते ही नहीं ? और गर्भ से ही पति-पत्नी बन कर जन्म लेते थे ? वास्तव में वे जब तक माता-पिता के सरक्षण म रहते थे तब तक भाई-बहिन के रूप में रहत थे और ज्योंही सयाने हुए कि स्वतन्त्र विचरण करने लगते। स्वतन्त्र विचरण के दिन से उन्हें पति-पत्नी मानना उचित है । इसके पूर्व वे भाई-बहिन थे । सुनन्दा के साथ जन्मे हुए बच्चे का मरण बालवय में (भाई-बहिन के रूप में माता-पिता के सरक्षण मे रहते थे तभी) हो गया था । अतएव उसे कुँवारी (अपरिणिता) मानना ही उचित है । जब उसमें पत्नीभाव की उत्पत्ति ही नहीं हुई तो उसे विधवा कैसे मान ली गई ? यह अन्याय नहीं है क्या ?

भरत-बाहुबली और ब्राह्मी-सुन्दरी का जन्म

श्री ऋषभकुमार अपनी दोनो पत्नियो के साथ, वेदमोहनीय कर्म के अनुसार अनासक्त भाव से भोग भोगने लगे । कुछ कम छह लाख पूर्व तक भोग भोगने के बाद 'बाहु' और 'पीठ' के जीव, सर्वार्थसिद्ध महाविमान से च्यव कर श्री सुमंगलाजी की कुक्षि मे गर्भ रूप से उत्पन्न हुए और 'सुबाहु' तथा 'महापीठ' के जीव श्री सुनन्दाजी के गर्भ में उत्पन्न हुए । सुमंगलाजी ने श्री मरुदेवा के समान चौदह महास्वप्न देखे और श्री ऋषभकुमार को स्वप्न की बात कही । श्री ऋषभकुमार ने कहा - "प्रिये ! तुम्हारे गर्भ मे रहा हुआ बालक प्रथम चक्रवर्ती नरेश होगा ।" गर्भ-काल पूर्ण होने पर सुमंगलाजी की कुक्षि से युगल का जन्म हुआ । पुत्र का नाम 'भरत' और पुत्री का नाम 'ब्राह्मी' दिया गया । श्री सुनन्दाजी के पुत्र का नाम 'बाहुबली' और पुत्री का नाम 'सुन्दरी' रखा । इसके बाद श्री सुमंगला जी ने अनुक्रम से ४९ युगल पुत्रो (९८ पुत्रो) को जन्म दिया । जिस प्रकार अनेक शाखाओं से वृक्ष सुशोभित होता है, उसी प्रकार पुत्री और पुत्रों से श्री ऋषभदेवजी सुशोभित थे ।

कर्म-भूमि का प्रारम्भ - राज्य स्थापना

जिस प्रकार प्रात काल में दीपक का प्रकाश कम हो जाता है, उसी प्रकार अकर्म-भूमि के बीत जाने और कर्म-भूमि के उदय से कल्पवृक्षों का प्रभाव क्षीण होने लगा । वे थोड़े फल देने लगे । उधर शान्त प्रकृति वाले युगलिको मे कषाय की भावना जग कर वृद्धि पाने लगी। वे 'हकार,' 'मकार' और 'धिक्कार' की नीति की अवहेलना करने लगे । इस परिस्थिति को देख कर कुछ युगलिक एकत्रित हो कर श्री आदिनाथ के पास आये और व्यवस्था जमाने का निवेदन किया । श्री आदिनाथजी ने अवधिज्ञान का उपयोग लगा कर देख लिया कि "अब सुव्यवस्था और शान्ति के लिए सत्ताधारी शासक की आवश्यकता है । इसके बिना न तो व्यवस्था रहेगी, न शान्ति ही । अव्यवस्था ही अशान्ति की जड है । इसका उपाय मुझे ही करना पड़ेगा । कर्म-भूमि के आदिकाल में यह व्यवस्था इसी प्रकार हुई और होती रहेगी । मेरा उदय भी उसी के अनुसार है" - इस प्रकार सोच कर कहा -

"आपके सामने जो समस्या है, वह आगे चल कर बढ़ेगी । इसके लिये आपको एक शासक की आवश्यकता है । आप अपने लिए एक शासक नियुक्त कर लें । वह सम्पूर्ण अधिकार और सैन्य-शक्ति के साथ आप पर शासन करेगा और आपकी कठिनाइया को दूर करेगा । आप सभी को उस शासक की आज्ञा में रहना पडेगा ।"

उपस्थित समूह ने कहा - " स्वामिन् ! आप ही हमारे स्वामी हैं । हम और किस स्वामी के पास जावे ? आप से बढ़ कर अथवा आपके समान दूसरा कोई भी व्यक्ति नहीं है। इसलिए आप ही

हमारे शासक बन कर हमारी प्रतिपालना करें ।"

श्री ऋषभदेव ने कहा – "आप अपने कुलकर के पास जा कर प्रार्थना करें । वे आपके लिए शासक की व्यवस्था करेंगे ।" सभी युगलिक श्री नाभि कुलकर के पास गये और प्रार्थना की । नाभि कुलकर ने कहा – "ऋषभ आपका राजा होगा ।" सभी युगलिक प्रभु के पास आये और नाभि कुलकर की आज्ञा सुनाई ।

उस समय सौधर्म स्वर्गाधिपति शक्रेन्द्र का आसन चलित हुआ । उसने अवधिज्ञान से प्रभु के राज्याभिषेक का समय जान कर राज्याभिषेक करने के लिए प्रभु के पास आया उसने स्वर्ण की वेदिका और उस पर एक सिहासन बनाया और तीर्थ-जल से अभिसिञ्चित कर राज्याभिषेक किया । दिव्य वस्त्र परिधान कराये । रत्नों के मुकुट आदि अलकार धारण कराये । इसके बाद इन्द्र, उन सभी के रहने के लिए 'विनीता' नाम की नगरी निर्माण करने का 'कुबेर' को आदेश दे कर स्वर्ग में चला गया ।

कुबेर ने बारह योजन लम्बी और नौ योजन चौड़ी ऐसी विनीता नगरी का निर्माण किया और उसका दूसरा नाम 'अयोध्या' भी रखा । भव्य, सुन्दर और सभी प्रकार की सुविधाओं से परिपूर्ण भवन बनाये । बाजार, हाट उद्यान, बाग-बगीचे आदि यथास्थान बनाये । बालको के खेलने के लिए रमणीय स्थान । आवास बडे ही सुन्दर, खिडकिये और कमरे आदि से परिपूर्ण । सभी प्रकार की सजाई के सामान और गृहकार्य के लिए उपयोगी ऐसे पलग, आसन, शयन और अन्य सभी प्रकार के उपकरणों की व्यवस्था कर दी । नगरी को धन-धान्य और वस्त्रादि से परिपूर्ण की । सुरक्षार्थ किला बनाया । लाखों कूएँ, बावड़ी कुण्ड, गृहवापिका आदि निर्माण किये ।

जन्म से बीस लाख पूर्व बीतने पर श्री ऋषभदेवजी इस अवसर्पिणीकाल के प्रथम नरेश हुए । वे अपनी प्रजा का पुत्र के समान पालन करते थे । काल-प्रभाव से मनुष्यों के मनोगत भावो मे भी क्लिष्टता आ गई थी । इससे सघर्ष भी होने लगे थे । अतएव सज्जनो का पालन करने और दुष्टो का दमन करने के लिए योग्य मत्रियो को नियुक्त किया । चोर आदि से प्रजा को बचाने के लिए 'आरक्षक' नियुक्त किया । हयदल, गयदल रथदल और पायदल, इस प्रकार चार प्रकार की सेना बनाई और बलवान् सेनापति स्थापित किया । गाय, बैल, भैंस आदि पशुओं को भी उपयोग के लिए ग्रहण किये ।

कुछ समय बाद कल्पवृक्ष नष्ट हो गए और साधारण वृक्ष उत्पन्न हुए । उस समय लोग कन्द मूल, फल और गेहूँ, चनादि धान्य, कच्चे और छिलके सहित ही खा जाते थे। कच्चे धान्य के खाने से उनकी पाचन-क्रिया बिगड़ी और पेट में गड़बडी उत्पन्न हुई, तो वे श्री ऋषभ नरेश के पास आये और निवेदन किया, तब नरेश ने कहा– "तुम धान्य को साफ कर के छिलके हटा कर खाओ ।" कुछ दिन बाद यह भी नहीं पचा, तो फिर नरेश के पास आये । प्रभु ने पानी में भिगो कर नरम होने पर खाने का निर्देश दिया । कुछ दिन बाद, भीगा हुआ अन्न भी नहीं पचने लगा, तो नरेश ने उस भीगे हुए अन्न को मुष्टि या बगल में दबा कर और शरीर की गर्मी दे कर खाने की सलाह दी । जब यह भी कष्ट

कर हुआ, तो लोग दु ख का अनुभव करने लगे । इतने मे वृक्षो के परस्पर घर्षण से अग्नि उत्पन्न हुई और तृण-काष्ठादि जलने लगे । नव उत्पन्न बादर अग्नि को लोग आश्चर्य पूर्वक देखने लगे और प्रकाशमान अग्नि को रत्न समझ कर ग्रहण करने को झपटे किन्तु इससे उनके हाथ जले । हाथ जलने पर वे श्री ऋषभ नरेश के पास गये। नरेश ने कहा-स्निग्ध और रूक्ष काल के योग से अग्नि उत्पन्न हुई है। अग्नि की उत्पत्ति न तो एकान्त स्निग्ध काल मे होती है और न एकान्त रूक्ष काल मे । तुम उसे हाथो से मत छुओ । उनके आस-पास के घास आदि को हटा दो, जिससे वह फैले नहीं । फिर उसमे धान्य आदि को पका कर खाओ ।" उन अनजान लोगों ने जब धान्य और फलो को अग्नि मे डाला, तो वे जल गये और वे खडे-खडे देखते ही रहे । वे फिर नरेश के पास आये और कहा -"स्वामिन् ! अग्नि तो भुक्खड है । वह सभी चीजें खा गई ।" प्रभु ने गीली मिट्टी का एक पिड लिया और उसे फैला कर बताते हुए कहा - "तुम इस प्रकार मिट्टी का पात्र बना कर उसे सुखालो और उसमें धान्य रख कर अग्नि पर रखो और पकाओ । वह जलेगा नहीं और तुम्हारे खाने योग्य हो जायगा ।" मिट्टी का पात्र बना कर आदि नरेश ने सर्वप्रथम कुभकार का शिल्प प्रकट किया । इसके बाद घर बनाने की कला बताई । फिर वस्त्र-निर्माण कला केश-कर्त्तन की कला, चित्रकला आदि कलाएँ दिखाई । अन्न उत्पन्न करने के लिए कृषि-कर्म और व्यापार आदि बताये । साम दाम, दड और भेद, ऐसे चार उपाय से नागरिक एव राष्ट्रीय व्यवस्था कायम की । अपने ज्येष्ठ पुत्र 'भरत' को बहत्तर कलाएँ सिखाई । भरत ने अपने भाइयो और पुत्रा आदि को उन कलाओं की शिक्षा दी । बाहुबली को हस्ति अश्व स्त्री और पुरुष के लक्षणो का बोध दिया । ब्राह्मी को दाहिने हाथ से अठारह प्रकार की लिपि सिखाई और सुन्दरी को बायें हाथ से गणित, तोल, नाप आदि बताये और मणि आदि के उपयोग करने की विधि बताई। नरेश के आदेश से वाद-प्रतिवादी का विचार राजा अध्यक्ष और कुलगुरु की साक्षी से चलने लगा। धनुर्वेद आयुर्वेद, अर्थशास्त्र, युद्ध आदि तथा माता पिता, भ्राता आदि सम्बन्ध उसी समय से चलने लगे । प्रभु का विवाह देख कर तदनुसार विवाह होने लगे ।

उपरोक्त सभी कार्य सावद्य हैं, फिर भी श्री आदि नरेश ने उदयानुसार, अपने उत्तरदायित्व को निभाने के लिए प्रवृत्ति की ।

इसके बाद उग्रकुल भोगकुल राजन्यकुल और क्षत्रियकुल-ऐसे चार भेद से कुल की रचना की। उग्र-दण्ड के अधिकारी - आरक्षक को 'उग्रकुल' मन्त्री आदि को 'भोगकुल,' मित्र-गण 'राजन्यकुल' और शेष सभी 'क्षत्रियकुल' के कहलाये । इस प्रकार व्यवहार नीति का प्रवर्तन किया । यो अनेक प्रकार की सुव्यवस्था से यह भरत-क्षेत्र प्राय महाविदेह क्षेत्र के समान हो गया । इस प्रकार आदि नरेश ने तिरसठ लाख पूर्व तक राज्य का पालन किया ।

प्रभु को वैराग्य और देवों द्वारा उद्‌बोधन

एक बार विनीता के उद्यान में बसन्तोत्सव मनाया जा रहा था । परिवार के अनुरोध से आप भी उसमे सम्मिलित हुए । वहाँ लोगों की मोहलीला - खेल-कूद, हँसी-मजाक नृत्य-गान आदि

विकारवर्धक चेष्टा देख कर आपको विचार हुआ कि – ऐसे उत्सव तो मैने पहले कभी कहीं देखे हैं। ऐसा विचार आते ही अवधिज्ञान के उपयोग से अनुत्तर विमान और उससे भी पूर्व के भव देखे और पूर्व के भोगे हुए सुख तथा पाला हुआ चारित्र साक्षात् दिखाई दिया । मोह के कटु विपाक का विचार करते हुए प्रभु को वैराग्य उत्पन्न हो गया । वे ससार से विरक्त हो गए । भगवान् के विरक्त होने पर ब्रह्म देवलोक के अन्त में रहने वाले– १ सारस्वत २ आदित्य ३ वन्हि ४ अरुण ५ गर्दतोय ६ तुषिताश्व ७ अव्याबाध ८ मरुत और ९ रिष्य – ये नौ प्रकार के लोकातिक देव, प्रभु के समीप उपस्थित हुए और परम विनीत हो कर नम्र निवेदन करने लगे –

"हे प्रभु ! बहुत लम्बे काल से भरत-क्षेत्र मे से नष्ट हुए मोक्षमार्ग रूपी धर्मतीर्थ का प्रवर्तन कर के भव्य जीवा पर उपकार करें । आपने लोकव्यवस्था कर के जनता का ऐहिक उपकार तो कर दिया और नीति प्रचलित कर दी । अब धर्मतीर्थ को चला कर परम सुख का मार्ग खोलें ।"

इस प्रकार निवेदन कर के लोकान्तिक देव, स्वर्ग मे गये और प्रभु अभिनिष्क्रमण की इच्छा करते हुए भवन मे पधारे ।

वर्षीदान

ससार से विरक्त बने हुए श्री आदिनाथजी ने अपने सामन्तो और भरतादि पुत्रों को बुलाया और सभी के सामने ससार-त्याग की भावना व्यक्त करते हुए कहा–

"मैं अब इस राज्य और परिवार को त्याग कर निर्ग्रंथ बनना चाहता हूँ । अब आप अपनी व्यवस्था सभालें । मनुष्य को ससार मे ही नहीं फँसा रहना चाहिए । उसे जीवन में उस महान् कर्त्तव्य का भी पालन करना चाहिए जिससे जन्म-मरण का अनादि से लगा हुआ दु ख मिट कर शाश्वत एव अव्याबाध सुख की प्राप्ति हो । मैं इसी कर्त्तव्य का पालन करने के लिए, आप सभी को छोड कर प्रव्रजित होऊँगा। आप भी इस ध्येय को दृष्टि मे रखे और जब तक वैसी तैयारी नहीं हो तब तक उत्तरदायित्व को भली प्रकार से निभाते रहें ।"

प्रभु ने राजकुमार भरत को सम्बोधित करते हुए कहा–

"पुत्र ! तू इस राज्य को सभाल । मैं तो अब सयम रूपी राज्य ग्रहण करूँगा । इस राज्य में अब मेरी रुचि नहीं रही ।"

भरत हाथ जोड कर विनयपूर्वक कहने लगे – "स्वामिन् ! आपके चरण कमल की सेवा मे होने वाले सुख सागर को छोड कर राज्य की झझट में पडने की मेरी इच्छा नहीं है । मैं तो श्री चरणों की छत्र-छाया मे ही परम सुख का अनुभव कर रहा हूँ । आप मुझे इस सुख से वञ्चित नहीं करें ।"

"भरत ! तुम्हे समझना चाहिए । मेरी इच्छा के विरुद्ध मुझे रोकना मेरे हित में नहीं होगा । तुमको मेरी इच्छा का आदर कर के मुझे आत्मिक राज्य प्राप्त करने में सहायक बनना चाहिए और यह राज्यभार

ग्रहण करना चाहिए । यदि राज्य- व्यवस्था नहीं सभाली जाय तो 'मच्छगलागल' चल जाय (बडा मच्छ, छोटे मच्छ को निगल जाता है, इसी प्रकार शक्तिशाली, गरीब को लूट ले) । इसलिए तुम इस राज्य-भार को ग्रहण करो और इसका भली प्रकार से पालन करो ।"

प्रभु के आदेश शिरोधार्य कर भरत ने राज्य-भार ग्रहण करना स्वीकार किया और प्रभु के आदेश से अमात्य, सामन्त और सेनापति आदि ने भरतकुमार का राज्याभिषेक किया । भरत के अतिरिक्त बाहुबली आदि ९९ पुत्रों को योग्यता के अनुसार पृथक्-पृथक् देशों का राज्य दिया । इसके बाद श्री ऋषभदेवजी ने साम्वत्सरिक दान देना प्रारंभ किया । जब वर्षीदान देना प्रारम्भ हुआ । तो इन्द्र के आदेश से कुबेर ने जृंभक देवों के द्वारा श्रीभण्डार में ऐसा द्रव्य जमा किया कि जो भूमि में बाग उद्यान, श्मशान, जलाशय आदि में दबा हो, जिसका कोई स्वामी नहीं हो और जिसकी वंश-परम्परा में कोई नहीं बचा हो ।

वर्षीदान प्रारम्भ करने के पूर्व यह उद्घोषणा करवाई कि - जिसे जो वस्तु चाहिए, उसे वह वस्तु दान में दी जायगी । प्रतिदिन प्रातःकाल से लगा कर भोजन के समय तक श्री आदिनाथजी, एक कोटि आठ लाख सोनैये का दान करने लगे ।

दीक्षा

जब नित्यदान को एक वर्ष पूरा हो गया और प्रव्रजित होने का समय आया तो शक्रेन्द्र का आसन चलायमान हुआ । वह भगवान् की सेवा में उपस्थित हुआ और उसने भगवान् का दीक्षाभिषेक किया। 'सुदर्शना' नाम की शिविका मे प्रभु विराजे । प्रथम मनुष्यों ने और बाद में देवों ने शिविका उठाई । सुर और असुरों ने मंगल बाजे बजा कर दिशाओं को गुंजा दिया । चामर विंजने लगे । भगवंत का जयजयकार करते हुए भगवान् की सवारी निकली । भगवान् को जाते देख विनीता नगरी के लोग उनके पीछे पीछे दौड़ने लगे । देव-गण अपने विमानों में बैठ कर आकाश मार्ग से आने लगे । भगवान् के दोनों ओर भरत और बाहुबली बैठे थे । अन्य अठाणु पुत्र प्रभु के पीछे चल रहे थे । मरुदेवी माता, सुमंगला और सुनन्दा रानी, ब्राह्मी-सुन्दरी पुत्री और अन्य स्त्रियें सजल नयन हो पीछे-पीछे चल रही थीं । भगवान् सिद्धार्थ नामक उद्यान में पधारे और अशोक वृक्ष के नीचे शिविका से उतरे। भगवान् ने अपने आभूषण और वस्त्र उतार दिये । उसी समय इन्द्र ने एक देवदूष्य वस्त्र भगवान् के कन्धे पर रख दिया ।

यह चैत्र-कृष्ण अष्टमी का दिन था । चन्द्र उत्तराषाढ़ा नक्षत्र में आया हुआ था । दिन के अंतिम प्रहर में देवों और मनुष्यों के, बहुत बड़े समूह के सामने प्रभु ने चार मुष्टि लोच किया । प्रभु के केशों को सौधर्मपति शक्रेन्द्र ने अपने वस्त्र में ग्रहण किया । जब भगवान् पाँचवीं मुष्टि से शिखा का लुंचन करने लगे तब इन्द्र ने निवेदन किया - "हे स्वामी ! अब इतने केश तो रहने दीजिए, क्योंकि जब ये केश हवा से उड़ कर आपके कन्धे पर आते हैं, तब मर्कत मणि के समान शोभित होते हैं ।" प्रभु

ने इन्द्र की प्रार्थना स्वीकार कर ली । इन्द्र ने भगवान् द्वारा लुचित केशो को क्षीर समुद्र मे प्रवेश कराया।

अब इन्द्र की आज्ञा से वादिन्त्र बजाना रोक दिया गया । फिर बेले के तप से युक्त ऐसे श्री नाभिकुमार ने देवो और मनुष्यों के समक्ष, सिद्ध को नमस्कार कर के इस प्रकार उच्चारण किया –

"मैं सभी पापकारी प्रवृत्ति का त्याग करता हूँ ।"

इस प्रकार उच्चारण कर के चारित्र ग्रहण किया । जिस प्रकार शरद ऋतु की तेज धूप से तपे हुए मनुष्य को बादल की छाया आ जाने से शाति मिलती है, उसी प्रकार प्रभु के मोक्षमार्ग पर आरूढ होते ही नारकी के जीवों को भी क्षणभर के लिए शान्ति मिली । भगवान् को सयमरूपी धर्म–रथ पर आरूढ होते ही मन पर्यव ज्ञान उत्पन्न हो गया । प्रभु के साथ चार हजार राजा भी दीक्षित हो गए । इसके बाद इन्द्र और अन्य देवी–देवता भगवान् को वन्दन–नमस्कार कर के अपने–अपने स्थान पर चले गए और नन्दीश्वर द्वीप पर अठाई महोत्सव किया । भरत–बाहुबली आदि परिवार भी शोक–सतप्त होते हुए बडी कठिनाई से स्वस्थान आये ।

प्रव्रजित होने के बाद इस अवसर्पिणी काल के आदि महामुनि श्री ऋषभदेवजी ने मौन धारण कर के अपने 'कच्छ,' 'महाकच्छ' आदि मुनियो के साथ विहार किया । बेले के पारणे के दिन प्रभु को किसी भी स्थान से भिक्षा नहीं मिली । उस समय लोग भिक्षादान करना जानते ही नहीं थे । उस समय उस क्षेत्र में कोई भिक्षु नहीं था । प्रभु ही आदिभिक्षुक हुए, तब लोग भिक्षा देना क्या जाने ? और प्रभु तो मौन ही रहते थे । जब प्रभु भिक्षा के लिए किसी के यहाँ जाते, तो वह यही समझता कि 'हमारे महाराजाधिराज हमारे घर आये हैं ।' भगवान् ने मौनपूर्वक विचरने की प्रतिज्ञा कर ली थी । जब भगवान् भिक्षार्थ जाते, तो लोग उत्तम घोडे, हाथी और अनिन्द्य सुन्दर कन्याएँ ले कर उपस्थित होते, कोई हीरे–मोती और बहुमूल्य आभूषण ले कर अर्पण करने आता कोई विविध वर्ण के बहुमूल्य वस्त्र ले कर अर्पण करने आता । इस प्रकार बहुमूल्य भेट ले कर लोग आते, किन्तु भोजन–पानी देने का कोई नहीं कहता । प्रभु उन सभी भेंटो को अग्राह्य होने के कारण स्वीकार नहीं करते और लौट जाते । उनका अनुकरण करने वाले स्वय दीक्षित राजागण भी लौट जाते ।

साधुओं का पतन और तापस–परम्परा

इस प्रकार निराहार रहते कई दिन बीत गए, तब क्षुधा आदि परीषहों से दु खी हुए और तत्त्वज्ञान से अनभिज्ञ साधु, आपस मे विचार करने लगे –"हमसे अब यह दु ख सहन नहीं होता । भगवान् तो कुछ बोलते ही नहीं । अब हम क्या करें ?" उन्होंने कच्छमहाकच्छ मुनि से पूछा । उन्होंने भी कहा –"भगवान् के मन की बात हम भी नहीं जानते । किन्तु अब घर चलना भी अनुचित है, क्योंकि हमने अपना राज्य तो भरतजी को दे दिया और साधु बन कर निकल गये । अब पीछा लौटना उचित नहीं है । इस से अच्छा यही है कि किसी ऐसे वन में हम रुक जायँ कि जिसमे अच्छे–अच्छे फल हो और पीने के लिए पानी भी मिल सके ।" इस प्रकार विचार कर के वे गगा नदी के निकट रहे हुए वन में गये और इच्छानुसार कद–मूल–फलादि का आहार करने लगे और वल्कल से तन ढाँकने लगे । तभी

से कन्दमूलादि का आहार करने वाले जटाधारी तापसों की परम्परा चली ।

विद्याधर राज्य की स्थापना

कच्छ और महाकच्छ राजा के नमि और विनमि पुत्र थे । वे प्रभु की दीक्षा के पूर्व ही कार्यवश विदेश चले गये । जब वे लौट कर आये, तो उनके पिता उन्होंने वन में तापस के रूप में मिले । उन्होंने पूछा - "आपकी यह दशा क्यो हुई ?" उन्हाने अपनी प्रव्रज्या की बात कही । जब नमि-विनमि को मालूम हुआ कि उनकी राजधानी नहीं रही, तो वे खोज करते हुए भगवान् ऋषभदेव के पास आये । भगवान् ध्यान युक्त खडे थे । उन्होने निवेदन किया - "आपने अपने पुत्रो को तो राज्य दे दिया, लेकिन हम तो यो ही रह गए । अब हमें भी कही का राज्य दीजिए ।" भगवान् ने कोई उत्तर नहीं दिया, तो उन्होने सोचा -"हम इन्हीं की सेवा करेंगे । इन्ह छोड कर महाराज भरत या और किसी के पास क्यों जावे ? जिन्होंने भरत को राज्य दिया वे हमका भी दगे ।" इस प्रकार सोच कर वे दोनों भगवान् के साथ रह गए । भगवान् जहाँ पधारते, वहाँ ये भी पीछे-पीछे जाते और जहाँ ठहरते, वहाँ ये भी ठहर कर आस-पास के स्थान की सफाई करते, उसे स्वच्छ बनाते और सुगधित पुष्प बिखेरते । फिर हाथ में तलवार ले कर दोनो और अग-रक्षक के समान खडे रह कर पहरा देते । वे प्रतिदिन त्रिकाल वन्दना कर के निवेदन करते - "हमें आप ही राज्य दीजिए । हम आपको छोड़ कर अन्यत्र नहीं जावगे" कालान्तर में नागकुमार की जाति के देवो का धरणेन्द्र, भगवान् के दर्शन करने आया । उसने नमि-विनमि को भक्ति करते हुए और राज्यश्री की याचना करते हुए देख कर पूछा-"अरे भाई ! तुम कौन हो और भगवान् से क्या मागते हो ? देखते नहीं, ये तो निर्ग्रंथ हैं ।" उन्हाने कहा -

"ये हमारे स्वामी हैं । हम विदेश गये, पीछे से आपने अपने पुत्रो को राज दे दिया और साधु बन गए और हम यों ही रह गए । अब हम इनसे राज्य की याचना करते हैं ।"

धरणेन्द्र ने कहा - "अब तो ये साधु हैं । इनके पास कुछ भी नहीं बचा । तुम भरत महाराज के पास जाओ । वे तुम्हारी माँग पूरी करेंगे ।"

-"नहीं भाई ! हम तो इनसे ही लगे । भरत के पास जाव और वे कह दे कि 'मुझे तो पिताजी ने दिया और तुम्हारे पिता ने अपनी इच्छा से छोडा,' तो फिर हम क्या करें ? हम तो इन्हीं से राज्य लेंगे । ऐसे समर्थ स्वामी को छोड कर दूसरे के सामने हाथ पसारने कौन जावे ।"

-"अरे भाई ! तुम समझते क्यों नहीं ? जब इनके पास कुछ भी नहीं है तो तुम्हें क्या देंगे" - धरणेन्द्र ने पुन समझाया ।

- "महाशय ! आप अपना काम करिये । हम यहाँ से टलने वाले नहीं है" - नमि-विनमि ने कहा ।

नागेन्द्र इनके भोलपन पर प्रसन्न हो गया । उसने कहा-

"मैं भवनपति देव की नाग जाति का इन्द्र और इन महापुरुष का सेवक हूँ । तुम्हारी प्रभु-भक्ति देख कर मैं प्रसन्न हूँ । तुम भाग्यशाली हो । मैं तुम्हे तुम्हारी प्रभु-भक्ति के फलस्वरूप विद्याधरो का ऐश्वर्य प्रदान कता हूँ ।" धरणेन्द्र ने नमि-विनमि को 'गौरी, "विज्ञप्ति' आदि अडतालीस हजार विद्याएँ दी और कहा कि "तुम वैताढय पर्वत पर जा कर दोनो श्रेणी में नगर बसा कर राज्य करो " नमि-विनमि ने विद्या के बल पर पुष्पक नाम का विमान तैयार किया और धरणेन्द्र के साथ विमान मे बैठ कर अपने पिता कच्छ-महाकच्छ के पास आये । उन्हें अपनी सफलता सुनाई । फिर भरत महाराज के पास आ कर उन्हें भी निवेदन किया और स्वजनादि को साथ ले, विमान में बैठकर वैताढय पर्वत पर आये । नमि ने दक्षिण श्रेणी पर पचास नगर बसाये और 'रथनुपुर' नगर बसा कर राजधानी बनाई। विनमि ने उत्तर श्रेणी में साठ नगर बसाये और 'गगनवल्लभ' नगर को राजधानी बनाया । वे दोनो धरणेन्द्र की बताई रीति से न्याय और नीति पूर्वक राज करने लगे ।

भगवान् का पारणा

भगवान् आदिनाथजी मौन रह कर निराहार एक वर्ष पर्यन्त आर्य-अनार्य देशों में विचरते रहे । विचरते-विचरते प्रभु 'गजपुर' (हस्तिनापुर) नामक नगर में पधारे । उस नगर में बाहुबली के पौत्र व सोमप्रभ राजा के पुत्र 'श्रेयास कुमार' रहते थे । उन्होने स्वप्न में देखा कि - 'मेरु पर्वत जो स्वर्ण के समान है, वह कुछ श्याम हो गया है । उस पर्वतराज का उन्होने दूध से अभिषेक कर के उज्ज्वल किया। उसका कालापन मिटाया ।' उसी रात को 'सुबुद्धि' नाम के सेठ ने यह स्वप्न देखा - 'सूर्य से निकल कर गिरी हुई सूर्य की सहस्र किरणों को श्रेयास कुमार ने पुन सूर्य में प्रवेश कराया, इससे सूर्य अत्यत प्रकाशमान हुआ ।'सोमप्रभ नाम के राजा ने स्वप्न में देखा कि - 'अनेक शत्रुओ से घिरे हुए किसी राजा ने मेरे पुत्र श्रेयासकुमार की सहायता से विजय प्राप्त की । श्रेयासकुमार सुबुद्धि सेठ और सोमप्रभ राजा ने अपने-अपने स्वप्न का वर्णन एक दूसरे के सामने किया, किन्तु वे अपने स्वप्न के परिणाम का निर्णय नहीं कर सके । भगवान् ऋषभदेवजी ने उसी दिन हस्तिनापुर नगर में प्रवेश किया । प्रभु को आते देख कर लोग अपने-अपने घर से निकल कर प्रभु के निकट आ गये और अपने-अपने घर पधारने का आग्रह करने लगे । कोई स्नान, मर्दन विलेपन के लिए आग्रह करने लगा, तो कोई वस्त्र, रत्न आभूषणादि ग्रहण करने के लिए प्रार्थना करने लगा और कोई अपनी परम सुन्दरी युवती कन्या ग्रहण करने का आग्रह करने लगा । कोई रथ कोई घोडा, इस प्रकार लोग विविध प्रकार की भोग योग्य वस्तुएँ ग्रहण करने की प्रार्थना करने लगे । किन्तु प्रभु उन सभी की प्रार्थना की उपेक्षा करते हुए आगे बढते रहे । लोगो का कोलाहल बढने लगा । जब यह कोलाहल श्रेयास कुमार के कानों तक पहुँचा तो उसने अपने सेवक को कारण जानने के लिए भेजा । सेवक ने लौट कर निवेदन किया -" भगवान् ऋषभदेव पधारे हैं ।" श्रेयास कुमार यह शुभ सम्वाद सुन कर उठा और हर्षोल्लासपूर्वक प्रभु के सन्मुख आया । उस समय प्रभु उसके आगन में पधार गए थे । कुमार ने वन्दन-नमस्कार किया और अपलक दृष्टि से प्रभु के श्रीमुख को देखने लगा । उसे विचार हुआ कि "ऐसे महापुरुष को मैने पहले भी देखा

है ।'' इस प्रकार विचार करते उसे जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ और उसने जाना कि –

''पूर्व- विदेह क्षेत्र में भगवान्, वज्रनाभ के भव में चक्रवर्ती सम्राट थे, तब मैं उनका सारथी था। उसके पिता वज्रसेन महाराज तीर्थंकर थे । उन्हे मैने इसी रूप में देखे थे । जब श्री वज्रनाभ चक्रवर्ती ने श्री वज्रसेन तीर्थंकर के समीप दीक्षा ली, तब मैंने भी उसके साथ दीक्षा ली थी । उस समय तीर्थंकर भगवान् के श्रीमुख से मैंने सुना था कि यह वज्रनाभ, भरत-क्षेत्र मे प्रथम तीर्थंकर होगा । मैं स्वयप्रभादि के भव में इनके साथ रहा हूँ। इस भव म ये मेरे प्रपितामह हैं । सद्भाग्य से ये आज मेरे यहाँ पधार गये हैं ।'' इस प्रकार वह विचार करता ही था कि किसी ने आ कर उसे इक्षु-रस के घडे भेट किये। श्रेयास कुमार जातिस्मरण ज्ञान से निर्दोष भिक्षा-विधि जान गया था । उसने प्रभु से वह कल्पनीय रस ग्रहण करने की प्रार्थना की । प्रभु ने दोनों हाथो का करपात्र बना कर आगे किया । श्रेयास कुमार इक्षु-रस के घडे ले कर भगवान् के कर-पात्र में खाली करने लगा और भगवान् रस-पान करने लगे । श्रेयास कुमार के हर्ष का पार नहीं रहा । इस अवसर्पिणी के आदि महाश्रमण श्री ऋषभदेवजी ने दीक्षा लेने के एक वर्ष बाद पहली बार इक्षु-रस का पान किया । बेले के तप के साथ चैत्र कृ० ८ को दीक्षा ली थी, जिसका पारणा एक वर्ष बाद हुआ । प्रभु के पारणे से मनुष्यो और देवो मे प्रसन्नता छा गई । आकाश में देव-दुदुभि बजने लगी । देवगण ''अहोदानम्,'' का उच्चारण करने लगे । रत्नों की वृष्टि पाँच वर्ण के उत्तम पुष्पो की वृष्टि, गन्धोदक की वृष्टि और वस्त्रो की वृष्टि, इस प्रकार पाँच दिव्य प्रकट हुए । धर्मदान की प्रवृत्ति इस प्रकार श्री श्रेयास कुमार से प्रारभ हुई ।

प्रभु के पारणे की बात जान कर और रत्नादि की वृष्टि से विस्मित हो कर राजा और नागरिकजन श्रेयास कुमार के भवन पर आने लगे । कच्छ और महाकच्छ आदि क्षत्रिय तापस भी आये । वे सभी हर्षोत्फुल्ल हो कर श्रेयास कुमार को धन्यवाद दे कर उसके सौभाग्य की सराहना करने लगे और कहने लगे कि ''प्रभु ने हम सभी के आग्रह और प्रार्थना की उपेक्षा की । हमारा आतिथ्य ग्रहण नहीं किया और हमें इस प्रकार भूला दिया कि जैसे हमें जानते ही नहीं हो - जब कि प्रभु ने हमारा लाखों पूर्व तक पुत्र के समान पालन किया था ।''

श्रेयास कुमार ने उनका समाधान करते हुए कहा – ''आपको ऐसा नहीं सोचना चाहिए । प्रभु पहले तो परिग्रहधारी राजा थे । किन्तु ससार त्यागने के बाद सभी सावद्य योगा का त्याग कर के साधु बन गए । उन्होंने सभी प्रकार के परिग्रह और भागों को त्याग दिया है । फिर वे धन हाथी, घोडे और कामिनियो को स्वीकार कैसे कर सकते हैं? यदि उन्हे आपसे ये वस्तुएँ लेनी होती, तो प्राप्त सम्पदा को त्याग कर क्यो निकलते ? प्रभु तो अब खाने-पीने के लिए अन्न-पानी भी वैसा ही लेते हैं, जो हम लोग अपने लिए बनाते हैं जो जीव-रहित और सभी प्रकार के दोषों से रहित हो । आप प्रभु की चर्या को नहीं जानते हैं, इसलिए आप निर्दोष आहार-पानी को छोड कर दूसरी अनुपयोगी और ससारियों के लिए उपयोग में आने वाली चीजें ग्रहण करने की भगवान् से प्रार्थना करते रहे । ऐसी प्रार्थना कैसे स्वीकार हो सकती है ?

"युवराज ! हम तो उन्हीं बातों को जानते हैं, जो प्रभु ने हमे सिखाई है । प्रभु ने हमे ऐसे धर्मदान की विधि तो बताई ही नहीं, तब हम कैसे जानते ? किन्तु आपने यह बात कैसे जान ली ?" – लोगों ने पूछा ।

"जिस प्रकार ग्रन्थ के अवलोकन से अज्ञात बातें जानी जाती हैं, उसी प्रकार मैंने भगवान् के श्रीमुख का अवलोकन करते हुए जातिस्मरण ज्ञान प्राप्त किया और उससे मुझे विविध गति के आठ भवा का स्मरण हो आया और पूर्व-भव में भगवान् के साथ पाले हुए सयन के स्मरण से सारी विधि का ज्ञान हो गया । गत रात्रि को मैंने, मेरे पिताश्री ने और सेठ सुबुद्धि ने जो स्वप्न देखे, उसका प्रत्यक्ष फल प्राप्त हो गया । मैंने देखा – कचन वर्ण वाला सुमेरु पर्वत श्याम हो गया और मैंने उसे दूध से सींच कर स्वच्छ किया। इसका प्रत्यक्ष फल मुझे यह मिला कि दीर्घ काल के उग्र तप से कृषश हुए प्रभु को इक्षु-रस से पारणा कराया । जिससे वह पुन सुशोभित हो गया ।

"मेरे पिताश्री ने शत्रु के साथ युद्ध करते हुए जिन्हें देखा, वे प्रभु ही थे । प्रभु ने मेरे द्वारा इक्षु-रस का पारणा कर के परीषह रूपी शत्रु पर विजय प्राप्त की ।"

"सुबुद्धि सेठ ने सूर्य-मण्डल से गिरी हुई सहस्त्र किरणो को मुझे पुन सूर्यमडल में आरोपित करते देखा, जिससे सूर्य पुन सुशोभित हो गया । इसका फल सूर्य किरणो के समान प्रभु के शरीर का तेज ❖ क्षीण हो रहा था, यह पारणे के प्रभाव से पुन देदीप्यमान हो गया ।"

इस प्रकार श्रेयास कुमार से सुन कर सभी लोग अपने-अपने स्थान पर गये । भगवान् भी पारणा कर के अन्यत्र विहार कर गये ।

भगवान् को केवलज्ञान

भगवान् ऋषभदेवजी एक हजार वर्ष तक मौनयुक्त विविध प्रकार के तप एव अभिग्रह करते हुए विचरते रहे । छद्मस्थावस्था के अतिम दिन प्रभु विनीता नगरी के पुरिमताल नाम के उपनगर में पधारे और उसकी उत्तर-दिशा में स्थित 'शकटमुख' उद्यान में वटवृक्ष के नीचे ध्यानस्थ हो गए । छद्मस्थकाल की तपश्चर्या में कर्म के वृन्द के वृन्द झड़ गये थे और आत्मा हलकी होती जा रही थी । घातीकर्मों की जड कटने की घडी निकट आ रही थी । ध्यान की धारा बढी । अप्रमत्त गुणस्थान से अपूर्वकरण (निवृत्तिबादर) गुणस्थान में प्रवेश करने का सामर्थ्य प्रकट हुआ । धर्मध्यान से आगे बढ कर शुक्लध्यान

❖ श्री हेमचन्द्राचार्य ने यहाँ – सहस्त्रकिरण रूप 'केवलज्ञान' मान कर बिना आहार के 'केवल भ्रष्ट' होना माना किन्तु यह कल्पना समझ मे नहीं आई । क्षुधा-परीषह एव तप का प्रभाव देह पर तो पड़ता है किन्तु उससे आत्मा भी कमजोर हो जाती है और आत्मगुण नष्ट होते हैं – ऐसा नहीं माना जाता । इसलिए हमने अपनी मति से यहाँ 'शरीर का तेज क्षीण होने' का लिखा है । फिर बहुश्रुत कहे वह सत्य है ।

की प्रथम पंक्ति पर पहुँचे । आत्मबल सविशेष प्रकट होने लगा । सत्ता एवं उदय में आये हुए कर्म-शत्रु विशेष रूप से नष्ट होने लगे और विजयकूच आगे बढ़ने लगी । अपूर्वकरण से अनिवृत्ति बादर गुणस्थान में पहुँचे, फिर सूक्ष्म-सम्पराय नाम के दसवें गुणस्थान में प्रवेश कर के शेष रहे हुए मोहनीय के महाअंग ऐसे लोभरूप महाशत्रु को भी परास्त कर के शुक्लध्यान की दूसरी सीढ़ी पर पहुँच गये और क्षीणमोह गुणस्थान प्राप्त कर लिया । इसके बाद ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय और अन्तराय, इन तीन कर्मों को एक साथ नष्ट कर दिया। इस प्रकार चारित्र अंगीकार करने के एक हजार वर्ष के बाद फाल्गुन-कृष्णा एकादशी को जब चन्द्रमा उत्तराषाढा नक्षत्र में आया, तब प्रातःकाल के समय प्रभु को केवलज्ञान और केवल-दर्शन प्राप्त हुआ । वे सर्वज्ञ-सर्वदर्शी हुए । लोकालोक के भूत, भविष्य और वर्तमान के सभी भाव जानने-देखने लगे । प्रभु को केवलज्ञान प्राप्त होने पर विश्व में एक प्रकाश फैल गया और सुखशान्ति की लहर व्याप्त हो गई । नारकीय जीवों को भी कुछ समय के लिए सुखानुभव हुआ ।

समवसरण की रचना

भगवान् को केवलज्ञान-केवलदर्शन उत्पन्न होते ही देवलोक के इन्द्रों के आसन कम्पायमान हुए। इन्द्रों ने अपने अवधिज्ञान के उपयोग से जिनेश्वर भगवंत को केवलज्ञान होना जाना और वे सभी अपनी ऋद्धि के साथ केवल-महोत्सव करने के लिए आए ।

आचार्य लिखते हैं कि इस बार सौधर्मेन्द्र की सवारी में 'ऐरावण' नाम का गजराज था । ऐरावण नाम का देव ही हाथी बना - पर्वत के समान विशाल और श्वेत वर्ण वाला। उसके आठ मुँह थे । प्रत्येक मुँह पर आठ लम्बे विस्तृत और कुछ टेढ़े दाँत थे । प्रत्येक दाँत पर स्वच्छ और सुस्वादु जल से भरी हुई एक-एक पुष्करिणी (बावडी) थी । प्रत्येक पुष्करिणी में आठ-आठ कमल थे । प्रत्येक कमल के आठ-आठ पत्र थे । प्रत्येक पत्र पर विभिन्न प्रकार के आठ-आठ नाटक हो रहे थे ॐ । ऐसे लाख योजन जितने विशाल गजराज पर शक्रेन्द्र अपने परिवार सहित बैठा था । शक्रेन्द्र की सवारी चली । गजेन्द्र अपने विशाल देह को संकुचित करता हुआ थोड़ी ही देर में शकटमुख उद्यान में - जहाँ प्रभु विराजमान थे, आ पहुँचा । अन्य इन्द्र भी आ उपस्थित हुए ।

इसके पूर्व वायुकुमार देव ने उस क्षेत्र को एक योजन प्रमाण स्वच्छ कर दिया था । और मेघकुमार देव ने सुगन्धित जल की वृष्टि से सिंचित कर दिया था । वहाँ वैमानिक देवों ने समवसरण के ऊपर के भाग का रत्नमय प्रथम गढ़ बनाया÷ और उस पर विविध प्रकार की मणियों के कंगूरे बना कर सुशोभित किया । उस गढ़ के आस-पास ज्योतिषी देवों ने स्वर्णमय गढ़ बनाया और रत्नमय कंगूरों

ॐ देवों की वैक्रिय शक्ति के आगे यह कोई असंभव बात नहीं लगती ।

÷ ऐसे गढ़ बनाने का उल्लेख समवायांग के अतिशयाधिकार में नहीं है ।

से सुशोभित किया। यह मध्य गढ था। इसके बाहर भवनपति देवो ने रजतमय तीसरा गढ बनाया। यह स्वर्णमय कगूरो से दर्शकों को आकर्षित कर रहा था । प्रत्येक गढ की चारो दिशाओ मे एक-एक ऐसे चार दरवाजे थे। प्रत्येक गढ के पूर्व दरवाजे पर दोनों ओर एक-एक वैमानिक देव द्वारपाल हो कर खडा था, दक्षिण द्वार पर दो व्यन्तर देव, पश्चिम द्वार पर दो ज्योतिषी देव और उत्तर द्वार पर दो भवनपति देव पहरा दे रहे थे। दूसरे गढ के चारो द्वार पर प्रथम समान चारो निकाय की दो-दो देवियाँ पहरे गर थीं और बाहर के गढ के चारो द्वार पर देव खडे थे । समवसरण के मध्य मे व्यन्तर देवो ने एक विशाल अशोक वृक्ष बनवाया था । उस वृक्ष के नीचे विविध प्रकार के रत्नो से एक पीठिका बनाई और उस पर एक मणिमय छन्दक (पीठ को छत के समान आच्छादित करने वाला आवरण विशेष) बनाया । उसके मध्य में पूर्वदिशा की ओर पादपीठिका युक्त एक रत्नमय सिहासन की रचना की । उस पर तीन छत्रों की व्यवस्था की । सिहासन के आस-पास दो देव, श्वेत चामर ले कर खडे रहे । समवसरण के चारो दरवाजा पर अद्भुत कान्ति वाला एक-एक 'धर्मचक्र' स्वर्ण-कमल मे स्थापित किया ।

प्रात काल, चारो प्रकार के देवो के विशाल समूह के साथ प्रभु, समवसरण में, पूर्व द्वार से पधारे और सिहासन पर पूर्व-दिशा की ओर मुँह कर के विराजमान हुए । प्रभु के मस्तक के चारों ओर प्रभामण्डल प्रकाशमान हो रहा था । देव दुन्दुभि☆ आकाश मे गभीर प्रतिशब्द करती हुई बज रही थी। एक रत्नमय ध्वज, प्रभु के समीप शोभायमान हो रहा था ।

वैमानिक देवियाँ पूर्व द्वार से प्रवेश कर के तीर्थङ्कर भगवान् को नमस्कार कर के प्रथम गढ में साधु-साध्विया का स्थान छोड कर ❋ अपने लिए नियत स्थान की ओर अग्निकोण म बैठी ✪ । भवनपति, ज्योतिषी और व्यन्तरो की देवागनाए दक्षिण द्वार से प्रवेश कर नैऋत्य कोण में और भवनपति, ज्योतिषी और व्यन्तर देव, पश्चिम द्वार से प्रवेश कर वायव्य कोण में बैठे । वैमानिक देवगण, मनुष्य और मनुष्य-स्त्रियें उत्तर दिशा के द्वार से समवसरण में प्रवेश कर के ईशानकोण में बैठे । दूसरे गढ में तिर्यञ्च आ कर बैठे और तीसरे गढ में सभी आने वालो के वाहन रहे ।

प्रभु के समवसरण में किसी के लिए प्रतिबन्ध नहीं था । वहाँ कोई भी मनुष्य, देव और तिर्यञ्च आ सकते थे । उन्हे न तो किसी प्रकार का भय था, न वैर-विरोध ही । यदि जातिगण अथवा पूर्व का कोई वैर-विरोध होता, तो भी शान्त रहता ।

☆ देव-दुन्दुभि का उल्लेख आगम में नहीं है ।

❋ साधु-साध्वी थे ही कहाँ ? साध्विया की तो अभी दीक्षा ही नहीं हुई थी ।

✪ ग्रन्थकार खडी रहने का लिखते हैं किन्तु औपपातिक सूत्र के अर्थ में मतभेद है । युक्ति से भी लगता है कि जब तिर्यंचिनी - उरपरिसर्पादि बैठ सकती है तो मनुष्यनी और देवागनाएँ क्यों खडी रहे ?

भरतेश्वर को बधाइयाँ

भगवान् के गृह-त्याग कर प्रव्रज्या स्वीकार करने के बाद पुत्र-विरह से मरुदेवी माता दु खी रहती थी और आँसू बहाती रहती थी । महाराजा भरत उनके चरण-वन्दन करने आते, तब वे ऋषभदेव के समाचार मगवाने का कहती । भरत महाराज उन्हें सान्त्वना देते रहते । इस प्रकार दिन बीतते-बीतते एक हजार वर्ष निकल गये ।

महाराज भरत को एक साथ दो बधाई सन्देश मिले । यमक नाम के सन्देशवाहक ने कहा- "महाराजाधिराज की जय हो । बधाई है महाराज ! भगवान् ऋषभदेव शकटमुख उद्यान म पधारे हैं और उन्हे केवलज्ञान-केवलदर्शन की प्राप्ति हुई है । दवगण कवलमहोत्सव करने आ रहे हैं - महाराज! जय हो । विजय हो । आनन्द हो । कल्याण हो ।"

भरत महाराज यह सन्देश सुन कर प्रसन्नता स भर उठे । इतने मे शमक नाम के सन्देशवाहक ने प्रणाम कर के कहा-

"स्वामिन् ! प्रबलतम शत्रु का पलभर में विनाश करने वाला शक्ति का अनुपम भण्डार देव-रक्षित अस्त्र 'सुदर्शनचक्र' आयुधशाला मे आ उपस्थित हुआ है । यह सार्वभौम साम्राज्य के होने वाले अधिपति की सेवा मे उपस्थित होता है । जय हो-विजय हो महाराज ! आप इस अवनीतल के आदि चक्रवर्ती सम्राट होंगे महाराज ! बधाई है ।"

मरुदेवा की मुक्ति

भरतेश्वर ने सोचा - 'मैं पहले किस का उत्सव मनाऊँ ?' तत्काल उन्होंने निश्चय कर लिया - 'भौतिक ऋद्धि का मिलना उतना प्रसन्नता का विषय नहीं हैं जितना असख्यकाल से इस भारत-भूमि पर से अस्त हुए धर्म को उत्पन्न करने वाला और मोक्ष के द्वार खोलने वाला केवलज्ञान रूपी भाव-सूर्य उदय होना है । यह ससार के भव्य प्राणियों को शाश्वत परम सुख देने वाला है । अतएव सर्वप्रथम केवलमहोत्सव मनाना ही उत्तम है । महाराज ने केवलमहोत्सव मनाने की आज्ञा दी और सन्दशवाहकों को इस बधाई के उपलक्ष में बहुमूल्य पारितोषिक दे कर बिदा किया । फिर आप स्वय सन्देशवाहक बन कर मरुदेवा के पास पहुँचे और बोले -

"पितामही ! आप जिनकी याद में सदैव चिन्तित रहा करती थी, वे आपके प्रिय पुत्र भगवान् ऋषभदेवजी यहाँ पधार गये हैं और उन्हें केवलज्ञान-केवलदर्शन रूपी शाश्वत आत्मऋद्धि प्राप्त हो गई है । आप दर्शन के लिए पधारने की तय्यारी करें ।"

प्रभु-वन्दन के लिए सवारी जुडी । मरुदेवा माता हाथी पर सवार हुई । उनके पास भरतेश्वर बराजे । ज्योंही सवारी समवसरण के निकट पहुँची कि भरत महाराज ने पितामही से कहा -

"देखिये, यह अनेक ध्वजाओं से सुभोभित इन्द्रध्वज दिखाई दे रहा है । यह मेरे पूज्य पिताजी की परम विजय की साक्षी दे रहा है । आप यह जो दुन्दुभि का नाद सुन रहे हैं, यह भी प्रभु का यशोगान कर रहा है । अब देखिय - यह रत्न और स्वर्णमय गढ दिखाई दे रहे हैं, ये देवों ने बनाये हैं । अरे आप देखें तो सही कि आपके पुत्र की सेवा बडे बडे देवी-देवता और इन्द्र तक कर रहे हैं ।"

माता ने समवसरण की रचना देखी । वह मन्त्र-मुग्ध हो गई । प्रभु के परम शान्त श्रीमुख पर उनकी दृष्टि स्थिर हो गई । उन्होने अपलक दृष्टि से प्रभु के मुख से झलकती हुई वीतरागता निरखी। उनके मन मे भी यह भावना जगी कि - जैसा ऋषभ वीतराग हो गया, वैसी वीतरागता ही परम सुख देने वाली है । पराये पर मोहित होना दु खदायक है और आत्मतुष्ट रह कर अपने मे ही लीन रहना सुखदायक है ।" माता की विचारधारा वेगवती हुई, वज्रऋषभनाराच सहनन युक्त बलशाली आत्मा में स्थिरता बढी । कर्म-समूह झडने लगे । अप्रमत्तता से क्षपक-श्रेणी मे आगे कूच हुई । केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त कर के योगो का निरोध किया और शैलेषीकरण कर के मोक्ष प्राप्त कर लिया । देवों ने उनके शरीर को क्षीर-समुद्र म पधरा दिया । पितामही के वियोग से भरत महाराज को शोक हुआ। वे तत्काल हाथी पर से उतर कर और राजचिह्न को त्याग कर समवसरण में गये और पूर्व द्वार से प्रवेश कर के प्रभु को वन्दन-नमस्कार कर इन्द्र के पीछे बैठ गए ।

भगवान् का धर्मोपदेश

इस अवसर्पिणी काल के प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेवजी ने केवलज्ञान-केवलदर्शन होने के पश्चात् बारह प्रकार की परिषदा में जो धर्मोपदेश दिया, वह इस प्रकार था -

"आधि, व्याधि, जरा और मृत्यु रूपी सैकडो ज्वालाआ से घिरा हुआ यह ससार, देदीप्यमान अग्नि के समान है । सभी सासारिक प्राणी इस दावानल से भयभीत हैं । इस भय से मुक्त होने का प्रयत्न करना ही बुद्धिमानों का कर्त्तव्य है । जिस प्रकार असह्य गर्मी से बचने के लिए सुखार्थी लोग, रेगिस्तानी मार्ग को ठण्ड समय में पार करते हैं । उस समय समझदार प्राणी रात की सुखमय नींद में पडे रहने का प्रमाद नहीं करते । वे जानते हैं कि यदि रात के समय सोते रहे, तो दिन की भयकर गर्मी में अग्नि के समान धधकती हुई रेती पर चलना महान् कष्टकर होगा ।

अनेक जीवयोनि रूप ससार समुद्र में गोते लगाते हुए जीव को उत्तम रत्न के समान मनुष्य-जन्म की प्राप्ति होना महान् कठिन है । जिस प्रकार दोहला ❋ पूर्ण करने से वृक्ष फलदायक होता है, उसी प्रकार परलोक की साधना करने से प्राणियो का मनुष्य-जन्म सफल होता है । जिस प्रकार दुष्टजन मीठे वचन से मोहित कर के लोगो को ठग लेते हैं, उनकी मीठी वाणी, परिणाम में दु खदायक होती

❋ बकुल आदि कई प्रकार की वनस्पति ऐसी होती है कि जिनके अनुकूल क्रिया होने पर प्रफुल्लित एव फलयुक्त होती है ।

है, उसी प्रकार इन्द्रियों के मोहक विषय पहले तो मधुर लगते हैं, किन्तु उनका परिणाम महान् दु खप्रद होता है । जिस प्रकार बहुत ऊँची पहुँची हुई वस्तु अन्त मे नीचे गिरती है, उसी प्रकार अनेक प्रकार का प्राप्त हुआ सुखद सयोग, अन्त म वियोग दु ख में ही परिणत होता है । मनुष्यो को प्राप्त हुआ धन, यौवन और आयु, ये सभी नाशवान् हैं । जिस प्रकार मरुस्थल में स्वादिष्ट जल का झरनानहीं होता उसी प्रकार चतुर्गतिमय ससार में भी सुख नहीं होता । क्षेत्र-दोष से और परमाधामी देवो की असह्य मार से, दारुण दु खो को भोगने वाल नारको क लिए सुख तो है ही कहाँ ?

शीत, ताप, वायु और जल से तथा वध, बन्धन और क्षुधादि विविध प्रकार से पीड़ित तिर्यञ्च जीवों को भी कौन-सा सुख है ?

गर्भावास, व्याधि जरा, दरिद्रता और मृत्यु के दु खो से जकड़ा हुआ मनुष्य भी सुखी नहीं है।

पारस्परिक मात्सर्य, अमर्ष, कलह तथा च्यवन (मरण) आदि दु खों के सद्भाव में भी क्या देवी-देवता सुखी माने जा सकते हैं ?

इस प्रकार चारों गतियो में दु ख ही दु ख भरा हुआ है, फिर भी अज्ञानी जीव, पानी की नीची गति के समान ससार की ओर ही झुकते हैं । इसलिए हे भव्य जीवो ! जिस प्रकार साप को दूध पिलाने से विष की वृद्धि होती है, उसी प्रकार मनुष्य-जन्म का दुरुपयोग करने से दु खो की वृद्धि होती है । अतएव इस मनुष्य-जन्म रूपी दूध के द्वारा ससार रूपी विष की वृद्धि नहीं करनी चाहिए ।

हे विवेकशील प्राणियों ! इस ससार-निवास में उत्पन्न होते हुए अनेक प्रकार के दु खों का विचार करो । यदि दु खों के कारण को ही नष्ट कर के सुखी बनना है तो ससार को छोड़ो और मोक्ष के लिए प्रयत्नशील बनो । गर्भ का दु ख, नरक के दु ख के समान है । प्राणियों को जन्म के समय - प्रसव सम्बन्धी वेदना वैसी ही होती है जैसी कुभी (नारकी के नेरियों का उत्पत्ति स्थान) के मध्य में से खींच कर निकाले हुए नारक को होती है । मुक्त जीवो को ऐसी वेदना कभी नहीं होती । मुक्त जीवों को न तो, शस्त्राघात सम्बन्धी पीड़ा होती है, न व्याधि जन्य ही । यमराज का अग्रदूत अनेक प्रकार की पीडाओं का कारण और सभी प्रकार के तेज और पराक्रम का हरण करके, जीव को पराधीन बनाने वाला – ऐसा बुढापा भी मुक्त जीवो को प्राप्त नहीं होता और भव-भ्रमण की कारण रूप मृत्यु भी (जो देवता तक को मार देती है) मोक्ष प्राप्त सिद्धात्मा से दूर रहती है ।

मोक्ष में परम आनन्द, महान् अद्वैत एव अव्यय सुख शाश्वत स्थिति और केवल-ज्ञानरूपी सूर्य की अखण्ड ज्योति रही हुई है । इस शाश्वत स्थान को वही आत्मा प्राप्त कर सकती है, जो ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूपी तीन उज्ज्वल रत्नों का पालन करती हो ।"

ज्ञान रत्न

रत्नत्रय की आराधना करने का उपदेश देते हुए भगवान् ने कहा,-

"जीवादि तत्त्वों का सक्षेप अथवा विस्तार से यथार्थ बोध होना ही सम्यग्ज्ञान है । यह मति, श्रुत,अवधि, मन पर्यय और केवलज्ञान- एसे पाँच भेद वाला है ।

मतिज्ञान – अवग्रह, ईहादि और बहुग्राही, अबहुग्राही आदि भेदयुक्त तथा इन्द्रिय और अनिन्द्रिय से उत्पन्न होने वाला मतिज्ञान है ।

श्रुतज्ञान – अग, उपाग, पूर्व और प्रकीर्णक सूत्रों से अनेक प्रकार से विस्तार पाया हुआ तथा 'स्यात्' पद से अलकृत श्रुतज्ञान अनेक प्रकार का है ।

अवधिज्ञान – देव और नारक को भव के साथ और मनुष्य-तिर्यच को क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाले अवधिज्ञान के मुख्यत छह भेद हैं ।

मन पर्ययज्ञान – ऋजुमति और विपुलमति, इन दो भेदो से मन पर्यय ज्ञान होता है । विपुलमति मन पर्ययज्ञान विशुद्ध एव अप्रतिपाति होता है ।

केवलज्ञान – समस्त द्रव्यों और सभी पर्यायो को विषय करने वाला, विश्व-लोचन के समान, अनन्त, एक और इन्द्रियो के विषय से रहित केवलज्ञान होता है ।"

दर्शन रत्न

"शास्त्रोक्त तत्त्व में रुचि होना सम्यक् श्रद्धान है । यह स्वभाव से और गुरु के उपदेश से, यों दो प्रकार से प्राप्त होता है ।

अनादि-अनन्त ससार के चक्र मे भटकने वाले प्राणियों को ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय वेदनीय और अन्तराय, इन चार कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोटानुकोटि सागरोपम प्रमाण होती है । गोत्र और नाम कर्म की स्थिति बीस कोटानुकोटि सागरोपम प्रमाण होती है और मोहनीय कर्म की स्थिति सत्तर कोटानुकोटि सागरोपम ही होती है । जिस प्रकार पर्वत मे से निकली हुई नदी के प्रवाह में आया हुआ पत्थर, अथडाते-टकराते अपने-आप गोल हो कर कोमल हो जाता है, उसी प्रकार कर्मों की स्थिति क्रमश २९,१९, और ६९ कोटाकोटि से कुछ अधिक क्षय हो जाय और एक कोटाकोटि सागरोपम से कुछ कम रह जाय, तब प्राणी यथाप्रवृत्तिकरण से ग्रन्थी देश को प्राप्त करता है ।

ग्रन्थी – राग-द्वेष के ऐसे परिणाम कि जिनका भेदन करना बडा कठिन होता है । यह राग-द्वेष की गाँठ, काष्ठ की गाँठ जैसी अत्यन्त दृढ और कठिनाई से टूटने वाली होती है । जिस प्रकार किनारे तक आया हुआ जहाज, विपरीत वायु चलने से पुन समुद्र में चला जाता है, उसी प्रकार रागादि से प्रेरित कितने ही जीव, ग्रन्थी के निकट आते-आते ही पुन लौट जाते हैं और कितने ही प्राणी ग्रन्थी के निकट आ कर ठहर जाते हैं । शेष कुछ ही प्राणी वैसे उत्तम भविष्य वाले होते हैं, जो 'अपूर्वकरण' से अपनी शक्ति लगा कर उस ग्रन्थी को तत्काल तोड देते हैं । इसके बाद 'अनिवृत्तिकरण' से अन्त करण कर के मिथ्यात्व को विरल कर अन्तर्मुहूर्त मात्र के लिए सम्यग्दर्शन को प्राप्त करते हैं । यह 'नैसर्गिक(स्वाभाविक) श्रद्धान' कहलाती है और जो सम्यक्त्व, गुरु के उपदेश के अवलम्बन से प्राप्त हो वह 'अधिगम सम्यक्त्व' कहलाता है ।

सम्यक्त्व के औपशमिक सास्वादान, क्षयोपशमिक वेदक और क्षायिक ये पाँच प्रकार हैं ।

१ जिस प्राणी की कर्मग्रन्थी टूट चुकी है । जिसे सम्यक्त्व का प्रथम लाभ अन्तर्मुहूर्त मात्र ही होता है, वह 'औपशमिक सम्यक्त्व' कहलाता है तथा उपशम-श्रेणि के योग से जिसका मोह शान्त हो गया हो ✪ ऐसी आत्मा को 'औपशमिक सम्यक्त्व' होता है ।

२ सम्यक्त्व का त्याग कर के मिथ्यात्व के सम्मुख होते हुए प्राणी को अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय होते, जघन्य एक समय और उत्कृष्ट छह आवलिका पर्यन्त, सम्यक्त्व का परिणाम रहता है । उसे 'सास्वादन समकित' कहते है ।

३ मिथ्यात्व-मोहनीय का क्षय और उपशम होने से होने वाला बोध, 'क्षयोपशमिक सम्यक्त्व' कहलाता है । इसमें सम्यक्त्व-मोहनीय का उदय रहता है ।

४ जिस भव्यात्मा के अनन्तानुबन्धी कषाय चतुष्क, मिथ्यात्वमोहनीय और मिश्रमोहनीय का क्षय हो गया हो ऐसी सम्यक्त्व-मोहनीय के अन्तिम अश का वेदन करते हुए क्षायिक-भाव को प्राप्त करने में तत्पर आत्मा का परिणाम 'वेदक-सम्यक्त्व' कहलाता है । (इसकी स्थिति एक समय मात्र की है)

५ अनन्तानुबन्धी कषाय की चौकडी और दर्शन-त्रिक, मोहनीय कर्म की इन सातों प्रकृतियो को क्षय करने वाली प्रशस्त भाव वाली आत्मा को प्राप्त (अप्रतिपाति) सम्यक्त्व 'क्षायिक सम्यक्त्व' कहलाता है ।

सम्यग्दर्शन, गुण की अपेक्षा - १ कारक २ रोचक और ३ दीपक यो तीन प्रकार का है ।

कारक - जो विरति भाव को उत्पन्न करने वाला - सयम और तप का आचरण कराने वाला है, वह कारक सम्यक्त्व है ।

रोचक - जिसके परिणाम स्वरूप तत्त्वज्ञान म, हेतु और उदाहरण बिना ही दृढ प्रतीति हो रुचि उत्पन्न हो, वह 'रोचक सम्यक्त्व' कहलाता है ।

दीपक - जो सम्यक्त्व को प्रदिप्त करे (जाहिर करे अथवा दूसरे श्रोता के सम्यक्त्व को प्रभावित करे) वह 'दीपक सम्यक्त्व' है । (यह प्रथमगुणस्थान मे होता है) ।

सम्यक्त्व को पहिचानने के पाँच लक्षण इस प्रकार हैं -

१ शम २ सवेग ३ निर्वेद ४ अनुकम्पा और ५ आस्तिक्य । इन पाँच लक्षणा से सम्यक्त्व की पहिचान होती है ।

शम - जिसके परिणाम स्वरूप अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय नहीं होता । कषाय के शक्तिशाली प्रभाव (अनन्तानुबन्धी प्रकृति) के अभाव से, आत्मा में जो शान्ति उत्पन्न होती है, वह 'शम' नामक लक्षण है ।

संवेग - कर्म परिणाम और ससार की असारता का चिन्तन करते हुए जीव को विषयों के प्रति वैराग्य भाव उत्पन्न हो, उसे 'सवेग' कहते है (मोक्ष की अभिलाषा अथवा धर्म-प्रेम को भी 'सवेग' कहते हैं)

✪ जिसने दर्शन-मोहनीय का भी उपशम ही किया हो ।

निर्वेद - सवेगवत आत्मा को ससार कारागृह के समान और स्वजन बन्धन रूप लगते हैं । इस प्रकार ससार और सासारिक सयोगो से होने वाला विरक्ति भाव 'निर्वेद' लक्षण है ।

अनुकम्पा - एकेन्द्रियादि सभी प्राणिया को ससार-सागर में डूबते हुए देख कर हृदय का आर्द्र - कोमल हो जाना, दु खी होना और दु ख निवारण के ठपाय में यथाशक्ति प्रवृत्ति करना 'अनुकम्पा' है ।

आस्तिक्य - इतर दर्शनों के तत्त्वों को सुनने पर भी आर्हत् तत्त्व (जिन प्रणीत तत्त्व) में आकाँक्षा रहित रुचि बनी रहना-दृढ श्रद्धा रहना, 'आस्तिक्य' नाम का लक्षण है ।

इस प्रकार सम्यग्दर्शन रूपी रत्न का स्वरूप है । दर्शन-रत्न की क्षणभर के लिए भी प्राप्ति हो जाय, तो इसके अभाव में पहले जो मति अज्ञान था, वह (अज्ञान) पराभूत हो कर मतिज्ञान रूप परिणत हो जाता है । श्रुतअज्ञान पराभूत हो कर श्रुतज्ञान हो जाता है और विभगज्ञान मिट कर अवधिज्ञान के भाव को प्राप्त हो जाता है ।

चारित्र रत्न

सर्वथा प्रकार से सावद्य योग का त्याग करना 'चारित्र' कहलाता है । वह अहिंसा, सत्य, अचौर्य ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह, यो पाँच व्रतो से पाँच भेद का कहा जाता है । ये पाँच महाव्रत हैं । पाँच-पाँच भावना (कुल २५ भावना) से युक्त ये महाव्रत मोक्ष साधना के लिए अवश्य पालनीय है ।

अहिंसा - प्रमाद के योग से त्रस और स्थावर जीवों के जीवन का नाश नहीं करना 'अहिंसाव्रत' है ।

सत्य - प्रिय हितकारी और सत्य वचन बोलना 'सुनृत' (सत्य) व्रत कहलाता है । अप्रिय और अहितकारी सत्य वचन भी असत्य के समान होता है ।

अस्तेय - बिना दी हुई वस्तु का ग्रहण नहीं करना 'अस्तेय व्रत' है । क्योंकि द्रव्य (धन-धान्यादि) मनुष्य के बाह्य प्राण के समान है । इसका हरण करने वाला, प्राणो का हरण करता है - ऐसा समझना चाहिए ।

ब्रह्मचर्य - दिव्य (वैक्रिय) और औदारिक शरीर से अब्रह्मचर्य के सेवन का मन, वचन और काया से करन करावन और अनुमोदन का त्याग करना - 'ब्रह्मचर्य व्रत' है । इसके अठारह ▼ भेद होते हैं ।

▼ वैक्रिय और औदारिक यों दो प्रकार का मैथुन मन वचन और काया के भेद से छह प्रकार का हुआ। इसके करन करावन और अनुमोदन इन तीन प्रकारों से गुणन करने पर अठारह भेद होते हैं ।

अपरिग्रह – समस्त पदार्थों पर से मोह (मूर्च्छा) का त्याग करना 'अपरिग्रह व्रत' है। मोह के कारण अप्राप्त वस्तु पर भी चित्त में विप्लव होता है । इसलिए अपरिग्रह व्रत मूर्च्छा त्याग रूप है ।

यतिधर्म में अनुरक्त ऐसे यतिन्द्रों के लिए उपरोक्त स्वरूप वाला सर्वचारित्र होता है । गृहस्थों के लिए देश (आंशिक) चारित्र इस प्रकार का है ।

सम्यक्त्व-मूल पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत इस प्रकार गृहस्थो के बारह व्रत हैं ।

हिंसा त्याग – लगडा-लूलापन, कोढ अन्धत्वादि हिंसा के दु:खदायक फल देख कर बुद्धिमान पुरुष को निरपराध त्रस जीवों की सकल्पी हिंसा का त्याग कर देना चाहिए ।

असत्य त्याग – गूगा, तोतला, अस्पष्ट वचन और मुखरोगादि अनिष्ट फल के कारणों को समझ कर कन्या, गाय और भूमि सबन्धी असत्य धरोहर (थापणा) दबा लेना और झूठी साक्षी देना, ये पाँच प्रकार के बडे असत्य का त्याग करना चाहिए ।

अदत्त त्याग – दुर्भाग्य, दासत्व, अगच्छेद, दरिद्रता आदि कटु परिणाम का कारण जान कर स्थूल चोरी का त्याग करना चाहिए ।

अब्रह्म त्याग – नपुसकत्व, इन्द्रिय-छेद आदि बुरे फलों का कारण ऐसे अब्रह्मचर्य के फल का विचार कर के बुद्धिमान् प्राणियों को स्वस्त्री में ही सतोष रख कर, परस्त्री का त्याग करना चाहिए ।

परिग्रह त्याग – असतोष, अविश्वास, आरम्भ और दु:ख, ये सभी परिग्रह की मूर्च्छा के फल हैं । इसलिए परिग्रह का परिमाण करना चाहिए । ये पाँच अणुव्रत हैं ।

दिग्विरति – छहों दिशाओं में मर्यादा की हुई भूमि की सीमा का उल्लघन नहीं करना । यह प्रथम गुणव्रत है ।

भोगोपभोग परिमाण व्रत – भोगोपभोग (खान-पान आदि में काम में आने वाली वस्तुओ) का शक्ति के अनुसार परिमाण रख कर शेष का त्याग कर देना, यह दूसरा गुणव्रत है ।

अनर्थदण्ड त्याग – १ आर्त और रौद्र, ये दो 'अपध्यान' हैं, इनका आचरण २ पापकर्म का उपदेश ३ हिंसक अधिकरण (शस्त्रादि) देना तथा ४ प्रमाद का आचरण करना, यह चार प्रकार का अनर्थ-दण्ड है । शरीरादि तथा कुटुम्ब-परिवारादि के लिए हिंसादि पाप किये जायँ, वे 'अर्थदण्ड' हैं। इसके अतिरिक्त अनर्थ-दण्ड है । इस अनर्थ दण्ड का त्याग करना तीसरा गुणव्रत है ।

सामायिक व्रत – आर्त-रौद्र ध्यान तथा सावद्य-योग का त्याग कर के मुहूर्त (दो घडी) तक समताभाव धारण करना – सामायिक नाम का प्रथम शिक्षा व्रत है ।

देशावकाशिक – दिग्व्रत (छठे व्रत) में दिशा का जो परिमाण किया है उस में दिन और रात्रि सबन्धी सक्षेप करना तथा अन्य व्रतो को भी सक्षेप करना दूसरा गुणव्रत है ।

पौषधव्रत – चार पर्व दिन (अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस्या और पूर्णिमा – ये चार तथा दूसरे पक्ष की अष्टमी, चतुर्दशी यों कुल छह) में उपवासादि तप करना, कुव्यापार (सावद्य व्यापार) का त्याग करना, ब्रह्मचर्य का पालन करना और स्नानादि क्रिया का त्याग करना 'पौषध व्रत' नाम का तीसरा शिक्षा व्रत है ।

अतिथिसंविभाग व्रत – अतिथि (मुनि) को चार प्रकार का आहार, वस्त्र, पात्र और स्थानादि का दान करना । यह चौथा शिक्षा व्रत है ।

मोक्ष की प्राप्ति के लिए इस प्रकार रत्न त्रय की सदैव आराधना करना चाहिए ।

आदि तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेवजी ने केवलज्ञान प्राप्त होने के बाद, प्रथम धर्मदेशना दी । इससे प्रतिबोध पा कर ऋषभसेन आदि सैकडो भव्यात्माएँ असार ससार का त्याग कर मोक्षमार्ग पर अग्रसर हुई है ।

धर्म-प्रवर्तन

भगवान् की परम पावनी धर्मदेशना सुन कर उसी समय भरत महाराज के ऋषभसेन आदि पाँच सौ पुत्र और सात सौ पौत्रों ने ससार से विरक्त हो कर मुनि-दीक्षा ग्रहण की । भगवान् के केवलज्ञान का देवों द्वारा किये हुए महोत्सव से प्रभावित हो कर भरत महाराज के पुत्र 'मरिचि' ने भी सयम स्वीकार किया और भरत महाराजा की आज्ञा से ब्राह्मी भी प्रव्रजित हुई । किन्तु बाहुबली की आज्ञा नहीं होने से 'सुन्दरी' दीक्षित नहीं हो सकी और श्राविका बनी । भगवान् के दीक्षित होते समय जिन लोगों ने भगवान् के साथ दीक्षा अगीकार की थी और बाद में परीषहो से विचलित हो कर तापस हो गए थे, उनमें से 'कच्छ महाकच्छ' को छोड कर शेष सभी तापस पुन भगवान् के पास दीक्षित हो गए । शेष बहुत-से मनुष्यो और तिर्यंचो ने श्रावक व्रत धारण किया और बहुतो ने तथा देवो ने सम्यक्त्व ग्रहण किया ।

भगवान् ने ऋषभसेन (पुडरीक) आदि साधु, ब्राह्मी आदि साध्वी, भरत आदि श्रावक और सुन्दरी आदि श्राविकाओ के चतुर्विध सघ की स्थापाना की । यह चतुर्विध सघ इस अवसर्पिणी काल का प्रथम सघ – प्रथम तीर्थ हुआ । ऋषभसेन आदि ८४ बुद्धिमान् साधु गणधर नामकर्म के उदय वाले थे । उन्हें भगवान् ने 'उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य' इस त्रिपदी का उपदेश दिया । इस उपदेश के आधार पर उन गणधरो ने चौदह पूर्व और द्वादशागी की रचना की । श्री तीर्थंकर भगवान् ने उन गणधरो को सूत्र, अर्थ और सूत्रार्थ का द्रव्य-गुण-पर्याय एवं नय-निक्षेप आदि से प्रवर्त्तन करने और गण धारण करने की अनुज्ञा प्रदान की । भगवान् ने पुन शिक्षामय देशना प्रदान की । इसमे प्रथम प्रहर व्यतीत हो गया। उसके बाद भगवान् सिहासन मे उठ कर देवछदक मे पधार। फिर मुख्य गणधर श्री ऋषभसेनजी (पुडरीकजी) ने भगवान् की पादपीठिका पर बैठ कर धर्मोपदेश दिया । गणधर महाराज के उपदेश

के बाद परिषद् के लोग अपने-अपने घर गए ●।

कुछ समय बाद भगवान् श्री ऋषभदेवस्वामी ने शिष्यों के साथ विहार किया और भव्य जीवों को धर्मोपदेश तथा योग्य जीवों को सर्वविरति-देशविरति प्रदान करते हुए ग्रामानुग्राम विचरने लगे।

प्रथम चक्रवर्ती भरत महाराजा की दिग्विजय

भगवान् की धर्मदेशना सुन कर महाराजा भरत, शस्त्रागार मे आये और सुदर्शनचक्र को देखते ही प्रणाम किया । चक्र का मोरपिछी से प्रमार्जन किया । उसे पानी से धोया, गोशीर्ष चन्दन का तिलक किया और पुष्प, गध, चूर्ण वस्त्र तथा आभूषण से चक्र-रत्न की पूजा की । उसके आगे चाँदी के चावलों से अष्ट-मगल का आलखन किया । उसके आगे उत्तम द्रव्यों का धूप दिया । उसके बाद महाराज ने चक्र को तीन प्रदक्षिणा दी और सात-आठ चरण पीछे हट कर, भूमि पर बैठ कर प्रणाम किया तथा वहाँ रह कर अठाई-महोत्सव किया । इसके बाद हस्ति-रत्न पर आरूढ हो कर सेना के साथ दिग्विजय के लिए पूर्व-दिशा की ओर प्रस्थान किया । महाराज के प्रस्थान करते ही वह यक्षाधिष्ठित चक्र-रत्न, सेना के आगे चलने लगा । फिर दण्ड-रत्न को धारण करने वाला 'सुषेण' नाम का सेनापति-रत्न, उत्तम अश्व-रत्न पर सवार हो कर आगे चलने लगा । पुरोहितरत्न भी महाराजा के साथ हो गया । विशाल सेना के लिए भोजनादि की सुव्यवस्था करने वाला 'गाथापति-रत्न' तथा सेना के पड़ाव (मार्ग में ठहरने योग्य सुखदायक आवास) का प्रबन्ध करने वाला 'वार्द्धिकी-रत्न' भी सेना के साथ हुआ । इसी प्रकार चर्म-रत्न छत्र-रत्न, मणि-रत्न, काकिणी-रत्न और खड्ग-रत्न भी नरेश के साथ रहे । सारी सेना चक्र-रत्न का अनुगमन करने लगी। प्रतिदिन एक-एक योजन प्रमाण चल कर चक्र-रत्न ठहर जाता और वहीं सेना का पड़ाव हो जाता । इस प्रकार सेना चलते-चलते गगानदी के दक्षिण तट पर पहुँची। वहाँ सेना का पडाव हुआ । सेना के प्रत्येक सैनिक और हस्ति आदि पशु के खाने-पीने और अन्य आवश्यक सामग्री की उत्तम व्यवस्था थी । यहाँ से प्रयाण कर के समुद्र-तट पर 'मागध तीर्थ' के निकट पहुँचे । वहा पडाव की सुव्यवस्था हुई । महाराजा के आवास के निकट एक पौषधशाला का भी निर्माण हुआ । महाराजा पौषधशाला में पधारे और मागध तीर्थ-कुमार देव की आराधना करते हुए विधिवत् तेले का तप किया । तप पूर्ण होने पर महाराजा भरत स्नानादि से निवृत हो कर रथ पर सवार हुए और समुद्र की ओर प्रस्थान किया । रथ की नाभि-धुरी तक समुद्र के पानी मे पहुँचने के बाद रथ को खड़ा किया और महाराजा ने धनुष उठाया, उस पर नामाङ्कित बाण चढ़ा कर मागध तीर्थाधिपति की ओर छोड़ा । वह बाण, सूर्य के समान चमकता, आग की चिनगारियें छोड़ता और विद्युत के समान धारा, बिखेरता हुआ तीव्र गति से बारह योजन चल कर मागध तीर्थ में, मागधाधिपति की सभा में गिरा ।

● तीर्थंकर भगवान् के समवसरण में गणधर महाराज की देशना होने का उल्लेख आगमों में नहीं मिलता ग्रन्थों में ही मिलता है ।

अचानक घटी इस घटना को देख कर अधिपति देव एकदम कोपायमान हो गया और भयकर क्रोध युक्त बोला –

"कौन है यह मृत्यु का ग्रास ? किसका जीवन समाप्त होना चाहता है, जो मेरा अपमान कर रहा है ? देखता हूँ मैं उस अभिमानी को" – इस प्रकार बोलता हुआ वह मागध तीर्थाधिपति देव, खड्ग ले कर उठा और उस बाण को देखने के लिए चला । उसके साथ ही उसकी सभा के सभासद तथा अन्य अनुचर देव भी कोपायमान हो कर अपने-अपने शस्त्र ले कर उठे और उस बाण को देखने के लिए आगे बढे । इतने में अमात्य ने बाण को ले कर देखा । उस पर निम्नलिखित अक्षर अंकित थे;–

" मैं भरत-क्षेत्र के इस अवसर्पिणी काल के आदि तीर्थंकर भगवान् आदिनाथ का पुत्र और प्रथम चक्रवर्ती भरत, मागध तीर्थाधिपति को आदेश करता हूँ कि तुम मेरा आधिपत्य स्वीकार कर के मेरे शासन में रहो । इसी मे तुम्हारा हित है ।"

इस प्रकार का उल्लेख पढ कर देव ने विचार किया और अवधिज्ञान का उपयोग कर के निश्चयपूर्वक बोला –

"सभासद्गण ! उत्तेजित होने की बात नहीं है । भरत-क्षेत्र का जो चक्रवर्ती सम्राट होता है, उसकी आज्ञा मे हमे रहना ही पडता है । इस समय महाराजाधिराज भरत, आदि चक्रवर्ती के रूप मे शासन-प्रवर्तन करने निकले हैं । इन्हे चक्रवर्ती की ऋद्धि प्राप्त हुई है। हमे इनकी सेवा में उपस्थित हो कर उनकी अधीनता स्वीकार करनी चाहिए । इसी में हमारा हित है । वे समुद्र मे हमारी प्रतीक्षा कर रहे हैं । हमे मूल्यवान् उत्तम भेंट ले कर उनकी सेवा मे चलना चाहिए । यह बात सुन कर सभी लोग शान्त हुए । मागधतीर्थ का अधिपति बहुमूल्य भेंट, मागध तीर्थ का जल तथा वह बाण ले कर भरत महाराज की सेवा मे आया और प्रणाम कर के भेंट उपस्थित की तथा चक्रवर्ती महाराज की अधीनता स्वीकार की । महाराज भरतेश्वर ने भेंट स्वीकार करते हुए मागधतीर्थाधिपति का सत्कार किया । इसके बाद वे अपनी छावनी में आये और तेले का पारणा किया । मागधदेव स्वस्थान गया । महाराजा ने मागधतीर्थ साधना के उपलक्ष में अठाइ-महोत्सव किया ।

महोत्सव पूर्ण हो चुकने पर सुदर्शन-चक्र आकाश मार्ग से दक्षिण-दिशा की ओर चला और चक्रवर्ती ने भी सेना सहित उसका अनुगमन किया । कालान्तर में 'वरदाम' नामक तीर्थ के पास पहुँचे। यहाँ भी भरतेश्वर ने तेले का तप किया और वरदाम तीर्थाधिपति को साधने के लिए नामाङ्कित बाण फेंका । मागध तीर्थ के समान वरदाम तीर्थ भी चक्रवर्ती के अधिकार मे आया । इसी प्रकार समुद्र की पश्चिम दिशा के 'प्रभास' नामक तीर्थ को अधिकार में लिया ।

इसके बाद समुद्र के दक्षिण की ओर सिन्धु नदी के किनारे आये और सिन्धु देवी की साधना के लिए तेले का तप किया । सिन्धु देवी का आसन चलायमान हुआ । देवी ने अवधिज्ञान से भरतेश्वर का अभिप्राय जाना और बहुमूल्य रत्न, रत्न-जड़ित सिंहासन तथा आभूषणादि ले कर सेवा में उपस्थित

हुई और चक्रवर्ती का शासन स्वीकार किया । भरत महाराज ने देवी की भेंट स्वीकार की और उसका सत्कार कर के विदा की तथा विजयोत्सव मनाया ।

इसके बाद चक्र-रत्न चुल्लहिमवत पर्वत की ओर गया । महाराज भी सेना-सहित उधर ही चले। वहाँ के देव को अधीन किया । वहाँ से ऋषभकूट पवत पर आये । वहाँ के पूर्व शिखर पर सम्राट ने काकिणी-रत्न से इस प्रकार लिखा,-

"इस अवसर्पिणी काल के तीसरे आरे के प्रान्त भाग मे, मैं भरत नाम का प्रथम चक्रवर्ती हुआ हूँ । मैने विजय प्राप्त की है । अब मेरा कोई शत्रु नहीं रहा ।"

इसके बाद चक्रवर्ती की सेना वहाँ से लौट कर गगा महानदी के निकट आई और गगा देवी को अपने अधिकार में की । इसके बाद खडप्रपाता गुफा साधी ।

इसके बाद महाराजा ने 'नव निधान' की साधना की । नव निधान ये हैं,-

१ नैसर्ग - इससे ग्राम-नगर आदि की रचना होती है ।

२ पाडुक - इससे नाप-तोल आदि के गणित तथा धान्य और बीज की प्राप्ति होती है ।

३ पिंगल निधि - इससें स्त्री, पुरुष और अश्वादि के आभूषण की विधि ज्ञात होती है ।

४ सर्वरत्न निधि - इससे सभी प्रकार के रत्नों की उत्पत्ति होती है ।

५ महापद्म निधि - सभी प्रकार के सुन्दर वस्त्रो की प्राप्ति होती है ।

६ काल निधि - इसस भूत-भविष्य काल का ज्ञान और शिल्प-कृषि आदि का ज्ञान होता है।

७ महाकाल निधि - इससे स्वर्ण-रत्नादि की खानों की उत्पत्ति होती है ।

८ माणव निधि - शस्त्र, युद्ध-नीति और दण्ड-नीति की प्राप्ति होती है ।

९ शंख निधि - काव्य, नाट्य और वादित्रादि निष्पन्न होते हैं ।

ये नौ निधि चक्रवर्ती के अधीन हुए । ये निधान पुस्तक रूप में, दृढ़ एव सुरक्षित पेटी में रहते हैं । देव इनकी रक्षा करते हैं । इसका स्थान मागध तीर्थ है । किन्तु चक्रवर्ती के पुण्योदय से उन्हें प्राप्त हुए । ये अक्षय - सदाकाल भरपूर रहने वाले हैं ।

इस प्रकार सर्वत्र अपना शासन चला कर महाराजाधिराज भरतेश्वर, अयोध्या नगरी में पधारे। बडा-भारी उत्सव मनाया गया और चक्रवर्ती का बड़े का भारी आडम्बर से महाराज्याभिषेक किया।

चक्रवर्ती की ऋद्धि

चक्रवर्ती महाराजाधिराज की ऋद्धि इस प्रकार थी । उनकी आयुधशाला में सर्वोत्तम आयुध - १ चक्र-रत्न २ छत्र-रत्न ३ दण्ड रत्न और ४ खड्ग-रत्न थे । उनके रत्नागार (लक्ष्मी भडार) में - १ काकिणी-रत्न २ चर्म-रत्न ३ मणि-रत्न और ४ नौ निधान थे । उन्हीं के नगर में उत्पन्न १ सेनापति-रत्न २ गाथापति-रत्न ३ पुरोहित-रत्न और ४ वार्द्धिकी-रत्न - ये चार रत्न थे । वैताढ्य पर्वत के मूल

में उत्पन्न गज-रत्न हस्तीशाला में और अश्व-रत्न अश्वशाला में तथा विद्याधर की उत्तम श्रेणी में उत्पन्न स्त्री-रत्न उनके विशाल अन्त पुर मे था ।

सोलह हजार देव उनकी सेवा में थे । बत्तीस राजा उनके अधीन थे । उनकी भोजनशाला के लिए ३६३ प्रधान रसोईदार थे । इनमें से प्रत्येक को रसोई बनाने का अवसर वर्षभर मे एक दिन ही आता था । उनकी सेना मे चोरासी लाख हाथी, चोरासी लाख घोडे, चोरासी लाख रथ, छियानवे करोड पदाति सैनिक थे ।

राज्याभिषेक के बाद भरतेश्वर अपने सम्बन्धियों से मिले । उस समय वे अपनी बहन सुन्दरी के दुर्बल शरीर को देख कर दुखित हुए । राजभगिनी सुन्दरी को जब दीक्षा की अनुमति नहीं मिली, तो वह आयबिल तप करने लगी । इससे उसका शरीर दुर्बल हो गया । जब महाराज ने उसकी यह दशा देखी, तो उन्होने उसके वैराग्य से प्रभावित हो कर दीक्षा लेने की आज्ञा प्रदान कर दी ।

भ ऋषभदेवजी ग्रामानुग्राम विहार करते हुए अष्टापद पर्वत पर पधारे । राज-भगिनी सुन्दरी के निष्क्रमण का समय आ गया । भरतेश्वर ने उन्हे भगवान् के समीप दीक्षा दिलाई ।

९८ पुत्रों को भगवान् का उपदेश और दीक्षा

महाराजाधिराज भरतेश्वर ने छह खण्ड साध लिया और राज्याभिषेक भी हो चुका । किन्तु उनके खुद के बन्धु (जो पृथक्-पृथक् भूपति थे) राज्याभिषेक के समय उपस्थित नहीं हुए और अपने को चक्रवर्ती के आज्ञाकारी नहीं माना । हजारो योजन दूर के दूसरे देश राजा और देव तक आज्ञाकारी रहे और अपने ही छोटे भाई राजा, बिलकुल स्वतन्त्र रहे, तो वे पूर्णरूप से चक्रवर्ती सम्राट नहीं हो सकते। उनके चक्रवर्तीपन मे न्यूनता रह जाती थी । अतएव उन्होंने अपने सभी बन्धु राजाओ के पास दूत भेज कर आज्ञा में रहने की स्वीकृति मँगवाई । राजदूतों से भरत नरेश का अभिप्रायजान कर वे सभी बोले-

"पिताश्री ने भरत को और हम सभी को पृथक्-पृथक् राज्य दिया है । भरत अपना राज्य सम्भालें और हम अपना राज्य सम्भालें । हम भरत की आज्ञा क्यो मानने लगे ? भरत ने हमें क्या दिया जो यह हमसे अपनी आज्ञा मनवाना चाहता है ? यह उसका अन्याय है । अभी पिताश्री विद्यमान हैं । हम उनसे निवेदन करेंगे कि भरत सत्ता के मद और राज्य-तृष्णा के जोर से हमें दबाता है और अपने सेवक बनाना चाहता है ।"

राजदूतों को रवाना करके वे भगवान् आदि जिनेश्वर की सेवा में पहुँचे । वन्दन-नमस्कार करने के बाद निवेदन किया -

"स्वामिन् ! आपने योग्यता के अनुसार भरत को और हम सभी को पृथक्-पृथक् राज्य दे कर स्वतन्त्र कर दिया था । हम सभी तो आपके दिये हुए राज्य म ही सतोष कर के चला रहे हैं, किन्तु हमारे ज्येष्ठ-बन्धु भरत की तृष्णा बहुत बढ गई है । उसने अपने राज्य का बहुत ही लम्बा-चौडा विस्तार कर लिया और अब हमारे राज्य भी अपने अधिकार म करना चाहता है । उसने हमारे पास अपने दूत

भेज कर यह माँग की है कि "तुम या तो मेरी सेवा करो या राज्य छोड कर हट जाओ । इस प्रकार भरत हमारे साथ अन्याय एव अत्याचार कर रहा है – प्रभो !"

"नाथ ! सेवा वही करता है, जिसे सेव्य से कुछ पाने की आशा हो, अथवा भय हो। हमें न तो भरत से कुछ लेना है और न भय ही है । ऐसी दशा मे युद्ध का ही मार्ग शेष रह जाता है । हम उनसे युद्ध करेंगे, यही हमारा निश्चय है । फिर भी कुछ करने के पूर्व श्री चरणों में निवेदन के लिए उपस्थित हुए हैं। यदि कोई शान्ति का मार्ग हो तो बतलाइये कृपालु ! जिससे रक्तपात का अवसर नहीं आवे ।"

भगवत ने फरमाया –"आयुष्यमानो। मनुष्य में वीरत्व का होना आवश्यक है । जिनके वीर्यान्तराय कर्म का क्षयोपशम होता है, वही वीरत्व रख सकता है । परन्तु शक्ति का सदुपयोग ही आत्मा को परम सुखी बनाता है । धन, लक्ष्मी, राज्य, स्त्री, कुटुम्ब, परिवार और बल तथा अधिकार के लिए वीरत्व का किया हुआ उपयोग आत्मा को दु खी बना देता है और इन सभी प्रकार की वासनाओ और दु खों के मूल, लोभ तथा उसके साथी क्रोध, मान और माया रूपी दुर्वृत्ति को नष्ट करने में लगाया हुआ वीरत्व, आत्मा को वह अनन्त आत्म-ऋद्धि देता है कि उसके आगे भरत की नाशवान ऋद्धि किस गिनती में है ?' भव्यो ! ऐसी ऋद्धि तो क्या इससे भी अधिक देव ऋद्धि तुमने पूर्व भवों में प्राप्त कर ली और पल्योपम सागरोपम तक उसका उपभोग किया । उस देव ऋद्धि के सामने मनुष्यों की ऋद्धि किस हिसाब में है ? इस ऋद्धि में रचा-पचा मनुष्य नीच गति में जा कर असख्य काल तक दु ख भोगता रहता है । इसलिए मैंने इस पौद्‌गलिक ऋद्धि का त्याग कर के मोक्षमार्ग अपनाया। इसलिए मेरा तो यही कहना है कि तुम इस झझट को छाडो और आत्मधनी बन जाओ ।"

"भरत को जो ऋद्धि देता है कि उसके आगे भरत की नाशवान् ऋद्धि किस गिनती में है ?
"भव्यो। ऐसी ऋद्धि तो क्या, इससे भी अधिक देव ऋद्धि तुमने पूर्व भवो में प्राप्त कर ली और पल्योपम सागरोपम तक उसका उपयोग किया । उस देव ऋद्धि के सामने मनुष्यो की ऋद्धि किस हिसाब में है?
इस ऋद्धि प्राप्त हुई, वह अकारण नहीं है । उसके पूर्व-भव के प्रबल पुण्य का उदय है । वह इस अवसर्पिणी काल का प्रथम चक्रवर्ती होगा । किन्तु तुम्हारे त्याग के प्रभाव से वह तुम्हारे चरणो में झुकेगा। तुम्हें सेवक बनाने वाला महाबली भरत तुम्हारी वन्दना करेगा । महत्ता त्याग की है भोग की नहीं ! यदि तुम्हें जन्म, जरा रोग शाक सयोग, वियोग और मृत्यु से बचना है और परम आत्मानन्द प्राप्त करना है, तो अपने भीतर रहे हुए राग-द्वेष, विषय-कषाय एव पौद्‌गलिक दृष्टि को त्याग कर द्रव्य-भाव निर्ग्रन्थ बनो । यही तुम सब के लिए हितकर है । इसीसे परमात्म पद की प्राप्ति होती है ।"

"भव्यो ! समझो, समझने और सम्यग्-धर्म की आराधना करने का ऐसा उत्तम अवसर बार-बार नहीं आता । यदि इस बार चुक गये, तो फिर स्वाधीनता चली जायगी । उठो और प्रमाद छोड़ कर सावधान हो जाओ ।"

भगवान् आदि जिनेश्वर का उपदेश ९८ ही बान्धवों पर असर कर गया । उनके मोह का नशा हट गया और ज्ञान-चक्षु खुल गये । वे भगवान् के पास सर्वसयमी निर्ग्रन्थ बन गए ।

बाहुबली नहीं माने

अपने ९८ भाइयो का राज्य स्वाधीन हो जाने पर सेनापति ने सम्राट से निवेदन किया-

"महाराज ! चक्र-रत्न अब तक आयुधशाला मे नहीं आया ।"

"क्यो मन्त्रीजी ! क्या बात है ? मेरे भाइयो का राज्य भी अब स्वतन्त्र नहीं रहा, तो अब क्या रुकावट हो गई ? ऐसा कौन वीर शेष रह गया, जिसने अब तक अपने को स्वतन्त्र बनाये रखा है ।" - सम्राट ने प्रधान-मन्त्री से पूछा ।

"स्वामिन् ! और तो कोई नहीं,केवल आपके लघु-बन्धु श्री बाहुबली जी ही बचे हैं, जो आपकी अधीनता स्वीकार करना नहीं चाहते । वे हैं भी महाबली और बलवानो के गर्व को नष्ट करने वाले। जिस प्रकार एक वज्र के सामने अन्य सभी अस्त्र नगण्य हैं, उसी प्रकार बाहुबली जी के आगे सभी राजाओं का बल निरुपाय है । जब तक आप उन्हे नहीं जीत लेते तब तक विजय अधूरी रहेगी" - प्रधान-मन्त्री ने नम्रतापूर्वक निवेदन किया ।

भरतेश्वर विचार में पड गये । उन्होने कहा - "एक ओर छोटा भाई आज्ञा नहीं मानता, यह भी लज्जा की बात है, दूसरी ओर भाई से युद्ध करना भी अच्छा नहीं है । जिसकी आज्ञा अपने घर मे ही नहीं चलती, उसकी आज्ञा बाहर कैसे चलेगी ? एक ओर छोट भाई के अविनय को सहन नहीं करना भी बुरा है, दूसरी ओर गर्वोन्मत्त को शिक्षा देना भी राज-धर्म है । मेरे सामने एक उलझन खड़ी हो गई । क्या किया जाय ?"

"महाराज ! चिन्ता छोड कर श्री बाहुबलीजी के पास दूत भेजिए । वे ज्येष्ठ बन्धु की आज्ञा मान ले, तो ठीक ही है, अन्यथा उन्हें शिक्षा देनी ही पडेगी । ऐसा करने में लोकापवाद नहीं रहेगा' - मन्त्री ने कहा ।

महाराज ने मन्त्री का परामर्श मान कर एक सन्देशवाहक, बाहुबलीजी के पास भेजा । राजदूत तक्षशिला नगरी में आ कर राजभवन में गया और श्री बाहुबली जी को पणाम किया । बाहुबलीजी राज-सभा में अनेक राजाओ और मन्त्रियों के साथ बैठे थे । श्री बाहुबलीजी राजदूत से भरत महाराज और विनितावासियो की कुशल-क्षेम के समाचार पूछे । राजदूत ने भरत महाराज की छह खड साधना, विनीता में हुए राज्याभिषेक और कुशल-मगल के समाचार निवेदन करने के बाद नम्रतापूर्वक इस प्रकार कहा,-

"महाराज ! जिनकी सेवा में नौ निधान और चौदह रत्न हैं । हजारों देव जिनकी सेवा कर रहे हैं और छह खड जिनकी आज्ञा शिरोधार्य कर रहा है-उन परम ऐश्वर्यशाली महाराजाधिराज के आनन्द और क्षेम का तो कहना ही क्या ? उनकी आज्ञा मे चलने वालों के यहाँ भी सदा सुख-शान्ति रहती है । भरतेश्वर को इतनी उत्कृष्ट ऋद्धि प्राप्त हुई है, फिर भी उन्हे सुख का अनुभव नहीं हुआ । जिस गृहपति के घर आनन्दोत्सव हो और कुटुम्ब-परिवार के दूर-दूर के लोग भी जिस उत्सव म सम्मिलित

हों, उस मगल प्रसग पर उसका भाई ही सम्मिलित नहीं हो कर पृथक् रह जाय, तो उस गृहपति को सुखानुभव कैसे होगा- महाराज ?''

''लगातार साठ हजार वर्ष तक भरतेश्वर ने छह खड की साधना की और उसकी सिद्धि के उपलक्ष में राज्याभिषेक का महोत्सव किया । उस उत्सव में दूर-दूर तक के लोग आये, देव और इन्द्र तक आये, किन्तु उनके अपने भाई ही उसमें सम्मिलित नहीं हुए । वे आप सभी की प्रतीक्षा कर रहे थे । आपके नहीं आने से श्री भरत महाराज के मन में अशान्ति रहना स्वाभाविक ही है । महाराजा ने अपने भाइयों को बुलाने के लिए दूत भेजे, किन्तु कोई नहीं आया और आपके अतिरिक्त सभी भाइयों ने भगवान् की सेवा में जा कर सर्वविरति स्वीकार कर ली । उनकी ओर से भरत महाराज, बन्धु-प्रेम से वञ्चित रह गये। अब आप एक ही भाई उनके हैं, जिनसे वे भ्रातृ-प्रेम की आशा रखते हैं । आप ही उनका बन्धु- प्रेम सफल कर सकते हैं । इसलिए आप वहाँ पधार कर उनके बन्धु-प्रेम को सफल करने का कष्ट करें ।''

''महाराजाधिराज भरतेश्वर आपके ज्येष्ठ बन्धु हैं । वे आपके लिए पूज्य हैं- सेव्य हैं। आपका कर्त्तव्य है कि आप बिना बुलाये ही उनकी सेवा में उपस्थित हो कर उनके आज्ञाकारी बने । आपके नहीं पधारने और चक्रवर्ती महाराज की आज्ञा को स्वीकार नहीं करने के अविनय को महाराजाधिराज तो सहन कर लेते हैं, किन्तु जनता पर इसका बुरा प्रभाव पड़ता है । निन्दक लोगों को निन्दा करने का अवसर प्राप्त होता है और उन निन्दा रूपी कीचड के छींटे जब भरतेश्वर तक पहुँचते हैं, तो उन्हें भी इससे खेद होता है । आपके पधारने से बुराई का यह छिद्र बन्द हो जायगा और बन्धु-प्रेम की धारा अक्षुण्ण रहेगी ।'' राजदूत की बात सुन कर बाहुबली जी बोले--

''दूत ! तुम योग्य हो । तुमने अपना प्रयोजन बडी योग्यता के साथ निवेदन किया । मैं भी मानता हूँ कि ज्येष्ठ-बन्धु भरत, पिता के तुल्य सेव्य हैं । वे हमारा बन्धु-प्रेम चाहते हैं, यह भी उनके योग्य एव उचित है । किन्तु बड़े भाई भरत, बड़े-बड़े राजा-महाराजाओं और देवों से सेवित हैं । महान् ऋद्धि के स्वामी हैं । वे हमारे जैसे अल्प ऋद्धि वाले छोटे भाई के आने से लज्जित नहीं हो जाय, इसी विचार से मैं नहीं आया ।''

''ज्येष्ठ-बन्धु, दूसरों के राज्य को अपने आधीन करने में साठ हजार वर्ष तक लगे रहे और अपने छोटे भाइयों के छोटे-छोटे राज्य को अपने अधिकार में करने के लिए ही उन्होंने सभी भाइयों के पास दूत भेजे । यदि उनके मन में बन्धु-प्रेम होता तो अपने भाइयों के पास दूत भेज कर राज्य अथवा युद्ध की इच्छा क्यों प्रकट करते ?''

''मेरे अन्य छोटे भाइयों ने बड़े भाई से युद्ध नहीं करने की शुभ भावना से ही अपना राज्य त्याग कर पिताश्री का अनुसरण किया । वे महान् सत्त्ववंत थे । तुम्हारे स्वामी ने उन छोटे भाइयों द्वारा त्यागे हुए राज्य को अपने अधिकार में ले कर, जिस लोभवृत्ति का परिचय दिया, वह उनके बन्धु-प्रेम का

प्रमाण है, या राज्य-लोभ का ?"

"चतुर दूत ! भरतेश्वर ने क्या वैसे ही शुभ भावों से तुझे मेरे पास भेजा है ? अपने बन्धु-प्रेम के छल से वे मुझ से भी राज्य छिनना चाहते हैं ? किंतु यहाँ उसकी वह चाल सफल नहीं होगी । मैं उन छोटे बन्धुओं के समान राज्य का त्याग कर चला जाने वाला नहीं हूँ ।"

"मैं मानता हू कि गुरुजन - ज्येष्ठ व्यक्ति सेव्य हैं। किन्तु तब तक ही, जब तक कि वे अपने गुरुत्व को धारण किये रहें। मन में स्वार्थ की मलिनता नहीं आने दे। गुणसम्पन्न गुरुजन ही पूज्य हैं। जो गुरुपद की ओट में स्वार्थ साधना करके गुरुत्व के गुणो से रहित होते हैं, उन्हें आदर सत्कार देना तो लज्जास्पद है, विवेकहीनता है। मैं ऐसी विवेकहीनता से बचना चाहता हूँ। जिनके मन में कार्य-अकार्य, उचितानुचित और सद्गुणो को स्थान नहीं हो-ऐसे नामधारी गुरुजन तो त्यागने लायक होते हैं।

"यदि मैं ज्येष्ठभ्राता के नाते उनकी आज्ञा का पालन करूँ, तो भी वह भ्रातृसम्बन्ध की अपेक्षा नहीं रह कर राज्य के कारण स्वामी-सेवक सम्बन्ध ही लोक-प्रसिद्ध रहेगा ।"

"मुझे मालूम है कि भरत को इन्द्र भी अपना आधा आसन दे कर सम्मान करता है, किन्तु यह तो पिताश्री का ज्येष्ठ पुत्र होने के कारण है । इसलिए मेरे मन पर इन बातों का कोई प्रभाव नहीं पडता। मैं ज्येष्ठ बन्धु के मन में प्रेम नहीं लोभ का वास देख रहा हूँ । इसलिए मैं तुम्हारी बात स्वीकार नहीं करता ।"

श्री बाहुबलीजी की बात सुन कर 'सुवेग' ने परिणाम का बोध कराते हुए कहा -

"महाराज ! आपके विचार वास्तविकता से दूर हैं । महाराजाधिराज भरतेश्वर की आत्मा महान् है और आपका भ्रम निर्मूल है । आप प्रत्यक्ष देख रहे हैं कि हजारों राजाओं ने उनकी अधीनता स्वीकार कर ली तो उनके राज्य उनके पास ही रहे । किसी के राज्य से किसी को हटाया नहीं गया । किरातों ने युद्ध किया तो उन्हे क्षति उठानी पडी और अन्त मे उन्हे आज्ञाधीन होना ही पडा । ज्यो ही वे शस्त्र डाल कर शरण मे आये, त्या ही सम्राट ने उनका सम्मान किया और उन्हें अभयदान दे कर विदा दिया। अतएव आप भ्रम को त्याग कर ज्येष्ठ-बन्धु की आज्ञा शिरोधार्य करें । यदि आपने मेरे निवेदन पर योग्य निर्णय नहीं किया तो आपके लिए हितकारी नहीं होगा । आपको यह भी सोच लेना चाहिए कि आपके नम्र नहीं बनने पर सम्राट के लाखों हाथी, घोड़े, रथ और करोडों पदाति सेना के सामने आपकी और आपके राज्य की क्या दशा होगी ? मनुष्य को शान्ति के साथ अच्छी तरह से आगे-पीछे का विचार करने के बाद ही किसी निर्णय पर पहुँचना चाहिए । आवेश में आ कर किया हुआ साहस दु खदायक हो जाता है ।"

राजदूत की बात की अवगणना करते हुए श्री बाहुबली ने कहा;-

"सुवेग ! तुम अपने कर्त्तव्य का पालन करते हो । तुमने अपने स्वामी का बाहरी उज्ज्वल पक्ष बता कर अपने कर्त्तव्य का पालन किया । किन्तु मैं भरत को वैसा नहीं मानता । मेरे सामने ९८ बन्धुओं

बता कर अपने कर्त्तव्य का पालन किया । किन्तु मैं भरत को वैसा नहीं मानता । मेरे सामने ९८ बन्धुओं के राज्य को आत्मसात् कर लेने का ऐसा महान् उदाहरण है कि इसके आगे तेरे स्वामी की सदाशयता टिक नहीं सकती और जो तू उसकी सैन्यशक्ति का वर्णन कर के मुझे डराना चाहता है, तो यह तेरी भूल है । यदि भरत के पास सेना का महासागर है, तो मैं स्वय उस सागर मे वडवानल (समुद्र के भीतर रहने वाली अग्नि) हूँ । मुझे भरत की सैन्य-शक्ति का कोई भय नहीं है । मैंने बचपन में इस भरत को टाग पकड़ कर आकाश में ऊँचा फेंक दिया था और फिर उसे एक पुष्प के समान हाथो में झेल लिया था, जिससे शरीर को आघात नहीं लगे । किन्तु विजय के नशे में वह पिछली बात भूल गया है और चाटुकारो ने उसे अभिमान के शिखर पर चढ़ा दिया है । ठीक है, तुम जाओ । अपने स्वामी से कहो कि मैं उसकी इच्छा के अनुकूल होना नहीं चाहता ।''

श्री बाहुबलीजी और राजदूत की बातें सुन कर सभा मे उपस्थित राजकुमार, राजा सेनापति आदि क्रोधित हुए । उन्हे राजदूत की बाते तुच्छ, विवेकशून्य नरेश और देश का अपमान करने वाली और असहनीय लगी । वे राजदूत को दण्ड देने के लिए तैयार होंगे । सुवेग, राज-सभा से चल कर अपने रथ के पास आया और रथ पर चढ कर विनीता की ओर चल दिया ।

भरतेश्वर के दूत की बात तक्षशिला की जनता मे फैली, तो सर्वत्र हलचल मच गई । राज्य की ओर से किसी प्रकार की सूचना नहीं होने पर भी लाग युद्ध की तैयारी करने लगे । जब सुवेग अपने रथ पर सवार हो कर, विनिता की ओर लौटा जा रहा था तो उसने मार्ग में लोगों की हलचल और युद्ध की तैयारी देखी । नगरजन ही नहीं, गाँवो के किसान भी क्रोधित हो कर अपने आप युद्ध की तैयारी करते दिखाई दिये। उसे विचार हुआ कि बाहुबली को छेड़ना भरतेश्वर को भारी पड़ सकता है ।

सुवेग ने विनीता पहुँच कर महाराजाधिराज भरतेश्वर को अपनी असफलता क समाचार सुनाये और कहा, ''बाहुबलीजी भी आपके समान महाबली हैं । वे आपकी आज्ञा में रहना नहीं चाहत और युद्ध करने को तय्यार हैं। उनकी सभा के सामन्त तथा राजकुमार, प्रचण्ड योद्धा हैं और वे मेरी बात सुनत ही आगबबूला हो गए। वहाँ की प्रजा भी अपने आप ही आप पर क्रुद्ध हो कर युद्ध की तय्यारी करने में लग गई है। यह स्थिति है महाराज ! वहाँ की । अब आप जैसा योग्य समझें वैसा करें ।''

राजदूत की बात सुन कर भरतेश्वर प्रसन्न हुए । उन्होंने कहा -- ''मैं जानता हूँ सुवेग ! बाहुबली के समान शक्तिशाली दूसरा कोई मनुष्य नहीं है । वह सुर-असुर से भी नहीं डरता । त्रिलोकनाथ तीर्थंकर का पुत्र और मेरा भाई महाबली हो, यह तो मेरे लिए प्रसन्नता की बात है । मुझे गौरव है कि मेरा छोटा भाई अद्वितीय महाबली है । मैं उसके बलाभिमान को सहन करता हुआ उसका हित चाहता हूँ । उससे मेरी शोभा है क्योंकि वह मेरा भाई है । मैं उसके दुर्विनय की उपेक्षा करता हूँ । राज्य तो प्राप्त हो सकता है, किन्तु ऐसा भाई मिलना असाध्य है । मेरे ९८ भाई चले गये, अब यह एक ही रहा है । इसके साथ लड़ाई करने की मेरी इच्छा नहीं है । अब मैं इस एकमात्र भाई का मनमुटाव सहन नहीं कर सकूँगा ।'' उन्होंने मन्त्रियों की ओर देख कर पूछा--''बोलो, तुम क्या कहना चाहते हो ?''

बाहुबली के अविनय और सम्राट की क्षमा से उत्तेजित हो कर सेनापति सुषेन बोला।

"भगवान् आदिनाथ के पुत्र महाराजाधिराज क्षमा करें यह तो उचित है,किन्तु करुणा के पात्र पर क्षमा हो, वही उचित है । जा मनुष्य, जिस राजा के गाँव में बसता है, वह भी उस राजा के अधीन होता है, तब बाहुबलीजी तो हमारे एक देश का उपभोग कर रहे हैं, उन्हें तो अधीन होना ही चाहिए। जब वे ज्येष्ठ-बन्धु के नाते और वचनमात्र से भी अधीनता स्वीकार नहीं करते और अपने बल का घमण्ड रख कर अवज्ञा करते हैं, तब वे क्षमा के पात्र नहीं रहते - महाराज !"

"सम्राट ! वह शत्रु भी अच्छा है, जो अपने प्रताप मे वृद्धि करता है । किन्तु वह भाई तो बुरा ही है जो अपने भाई के प्रताप एव प्रतिष्ठा को हानि पहुँचाता है । राजा महाराजा और सम्राट, अपने भण्डार, सेना, पुत्र मित्र और शरीर से भी अपने प्रताप को अधिक महत्त्व देते हैं । अपने तेज की रक्षा के लिए वे अपने प्राणो की भी बाजी लगा देते हैं, क्योकि प्रताप ही उनका जीवन होता है । आपको राज्य की कोई कमी नहीं थी, फिर छह-खण्ड साधने का कष्ट क्यो उठाया ? केवल प्रताप के लिए ही । चक्र-रत्न आने पर भी यदि आप खण्ड साधना नहीं करते, तो आपके प्रताप मे क्षति आती । वास्तव में वह सर्वोत्तम अस्त्र-रत्न, किसी ऐसे ही भाग्यशाली को प्राप्त होता है, जो महान् प्रतापी हो, सत्त्वशाली हो और उसका प्राप्त होना सार्थक बना सकता हो ।"

"स्वामिन् ! जिस सती का शील एक बार खण्डित हो जाय, तो वह असती ही मानी जाती है, उसी प्रकार जिसका एक बार प्रभाव खण्डित हो जाता है, ता वह खण्डित ही रहता है ।"

"गृहस्थो में पिता की सम्पत्ति में भाइयो का हिस्सा होता है । उन भाइयों में कोई तेजस्वी होता है तो दूसरे भाई उसके तेज का आदर और रक्षा करते हैं, उपेक्षा नहीं करते तब आप जैसे छह-खण्ड के विजेता का अपने घर में ही विजय नहीं हो, तो यह समुद्र तिरने पर भी एक छोटे खड्डे में डूब मरने के समान होगा - देव !"

"क्या कहीं सुना भी है कि चक्रवर्ती सम्राट का प्रतिस्पर्द्धी हो कर कोई राज्य का उपभोग कर सकता है ? महाराज ! आप मेरी प्रार्थना नहीं माने, तो आपकी इच्छा परन्तु आपने खण्ड-साधना के समय यह प्रतिज्ञा की थी कि "मैं अपने सभी शत्रुओ को जीत कर अपनी आज्ञा के अधीन बनाने के बाद राजधानी में प्रवेश करूँगा ।" उस प्रतिक्षा का क्या होगा - महाराज ! और चक्र-रत्न जो अब तक नगर के बाहर ही रहा है उसे कैसे स्थानासीन करेंगे - प्रभु ! मैं तो निवेदन करूँगा कि भाई के रूप मे शत्रु बने हुए बाहुबली की उपेक्षा करना उचित नहीं है । फिर आप दूसरे मन्त्रियो से भी पूछ लीजिये ।"

युद्ध का आयोजन और समाप्ति

सेनाधिपति की बातें सुनने के बाद सम्राट ने प्रधान-मन्त्री वाचस्पति की ओर देखा । उन्होंने भी

सेनापति की बात का समर्थन किया और विशेष मे कहा –"महाराज ! अब युद्ध की तय्यारी का आदेश दीजिए ।"

महाराज ने आज्ञा प्रदान कर दी । शुभ मुहूर्त मे प्रस्थान किया और बहली देश में आ कर सीमान्त पर पडाव डाल दिया ।

भरतेश्वर की चढ़ाई के समाचार पा कर बाहुबलीजी ने भी तय्यारी की और सीमान्त पर आ कर पडाव लगाया । दूसरे दिन चारण-भाटो ने दोनो नरेशों को युद्ध के लिए निमन्त्रण दिया । बाहुबली जी ने अपनी युद्ध-परिषद् के राजाओं के परामर्श से अपने पुत्र राजकुमार सिंहरथ को सेनापति घोषित किया और भरतेश्वर ने सुषेण सेनापति को युद्ध करने की आज्ञा प्रदान की । भरतेश्वर ने सैनिकों को सम्बोधित करते हुए कहा;–

"योद्धागण ! आप मेरे छोटे भाई से युद्ध करने जा रहे हैं । आप जिस प्रकार मेरी आज्ञा का पालन करते हैं, उसी प्रकार सेनापति की आज्ञा का पालन करें और युद्ध में विजय प्राप्त करें । आप यह ध्यान में रखें कि जिसके साथ आप युद्ध करने जा रहे हैं, वह साधारण सेना नहीं है । बाहुबली स्वय अद्वितीय महाबली है और उसके सेनापति सामन्त तथा सैनिक सभी शक्तिशाली हैं । किरातो के साथ हुए युद्ध से भी यह युद्ध विशेष उग्र हो सकता है । मैं आपको विपक्ष का बल बढा-चढा कर नहीं बता रहा हूँ । यह वास्तविक स्थिति है । अतएव आपको किसी प्रकार का प्रमाद और असावधानी नहीं रखनी चाहिए और प्राप्त उत्तरदायित्व का प्राणपण से पालन करना चाहिए ।"

"मैं मानता हूँ कि आप सभी शूरमा हैं । आपको जीवन से भी अधिक विजय प्रिय है । आपके सेनापति महान् योद्धा और रण-नीति पारगत हैं । इनकी अधीनता में लड़ने वाले सदा विजयी होते हैं। विपक्ष की अपेक्षा अपनी सेना भी विशाल है और शस्त्रास्त्र भी उच्चकोटि के हैं । इस प्रकार की विशिष्टता का फल तभी प्राप्त होगा जब कि आप सभी, सदा सावधान रह कर अपने कर्त्तव्य का पालन करने में जी-जान से जुट जावें ।"

"वीर सैनिकों ! आपका पराक्रम निर्णायक होगा । इसी पर साठ हजार वर्ष के पराक्रम से प्राप्त विजयश्री का स्थायित्व रहा हुआ है । यह अन्तिम युद्ध होगा । और इसमें आपकी विजय निश्चित है। साहस के साथ प्रस्थान करो और विजयी बनो । मैं आप सभी की मगल कामना करता हुआ आपके साथ हूँ ।"

"महाराजाधिराज की जय ! हम अवश्य विजयी होगे । हमारा शौर्य शत्रु-पक्ष को परास्त कर के रहेगा । चक्रवर्ती सम्राट भरतश्वर की जय ! महाबाहु सेनापति सुसेन की जय !"

विशालतम सेना के जयघोष से प्रकाश गुञ्ज उठा । दिशाएँ कम्पायमान हो गई । और सारी प्रकृति ही भयाक्रान्त हो गई । वातावरण की विक्षुब्धता ने देवो को आकर्षित किया । उन्होने भगवान् ऋषभदेव

के पुत्रो में युद्ध और लाखो मनुष्यों के रक्तपात होने की तय्यारी देखी । वे तत्काल युद्ध-भूमि में आये और युद्ध प्रारभ होने के क्षणो में ही दोनो सेनाओं के मध्य में खडे रह कर कहा -

"हम दोनो पक्षो से मिल कर युद्धबन्दी का प्रयत्न करते हैं, तब तक तुम ठहरो और प्रतीक्षा करो । तुम्हे भगवान् ऋषभदेव की आण है ।"

भगवान् की आज्ञा देने से दोनों पक्ष स्तब्ध हो गये । उनका उत्साह - युद्धोन्माद ठण्डा हो गया। प्रहार करने के लिए उठाए हुए अस्त्र नीचे झुक गए ।

× देवो ने भरतेश्वर से निवेदन किया -

"नरदेव ! आप जैसे योग्य एव आदर्श ऋषभ-पुत्रो को यह विश्व-सहार कैसे भाया ? अहिंसा-धर्म के परम प्रवर्तक भगवान् आदिनाथ के पुत्रो और भरत-क्षेत्र के आदि नरेशो के हृदय में इतनी उत्कृष्ट हिंसा ? करोडों मनुष्यो का सहार कर पृथ्वी, नदी-नालों और सरोवरों को रक्त से भरने की उत्कृष्ट भावना ? यह क्या अनर्थ कर रहे हैं -

जिनेश्वर भगवान् के परमभक्त श्रमणोपासक ? आप सच्चे जिनोपासक हैं या यह सब दभ ही है ? अरे, आप इस जमती हुई राजनीति मे ही युद्ध का बीज बोते हैं, तो भविष्य की राज्य-परम्परा कैसी होगी ? कुछ सोचा भी है ?"

देवो की बात सुन कर भरतेश्वर ने कहा -

"आपका कहना यथार्थ है। आप जैसे उत्तम देव ही विश्वहित की भावना रख कर सद्प्रवृत्ति करते हैं। दूसरे तो पक्ष, विपक्ष के हैं, तथा उढाने-भिडाने और खेल देखने वाले हैं।"

"हे पवित्र आशय वाले देवों ! मैं युद्ध-प्रिय नहीं हूँ । मैं दूसरे किसी से भी युद्ध करना नहीं चाहता, तो अपने छोटे भाई से युद्ध करना कैसे चाहूँगा ? मुझे राज्य-लोभ भी नहीं है, किन्तु करू क्या? यह चक्र-रत्न स्थानासीन नहीं होता । इसी के लिए मुझे विवश हो कर यह मार्ग अपनाना पड़ा । यदि मैं ऐसा नहीं करता हू, तो चक्रवर्ती की परम्परा बिगड़ती है, अनहोनी घटना होती है । इस समय मैं उत्साहरहित हो कर जन-सहार की चिन्तायुक्त इस अप्रिय प्रवृत्ति में लगा हूँ ।"

"यह कोई नियति का ही प्रभाव लगता है, अन्यथा बाहुबली भी ऐसा नहीं था । वह मुझे पिता के समान मानता था । मेरे साठ हजार वर्ष तक खडसाधना में लगे रहने से उसका स्नेह क्षीण हो कर विपरीत भावना बनी है । अब आप ही कोई मार्ग निकाले ।'

"नरेन्द्र ! हम बाहुबलीजी से मिलते हैं । यदि समाधान का कोई मार्ग निकले, तो ठीक

× 'त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र' में देवों के आने का उल्लेख है । अन्य स्थलों पर इन्द्र का आगमन बताया है । यह मतान्तर है ।

ही है। अन्यथा इस भीषण युद्ध को त्याग कर आप दोनों भाई स्वय ही नि शस्त्र युद्ध कर के निर्णय कर लें। क्या आप यह बात मानेगे ?"

- "हाँ, मुझे स्वीकार है" - भरतेश्वर ने कहा ।

देव, बाहुबलीजी के पास आये । उन्हें भी समझाया । वे नहीं माने । किन्तु भरतेश्वर के साथ स्वय युद्ध कर के निर्णय करने और सैनिका को युद्ध से पृथक् ही रखने की बात उन्होंने भी स्वाकार कर ली । भीषण रक्तपात टल गया ।

दोनो ओर युद्धबन्दी की घोषणा हो गई । दोनों ओर के सैनिकों को यह समझौता अच्छा नहीं लगा । वे युद्ध कर के विजय प्राप्त करने के लिए तरस रहे थे । उन्होंने युद्ध रोकने का प्रयत्न करने वाला को गालियाँ दी । रण-क्षेत्र से उनका पलटना कठिन हो गया।

कोई कहता था - "जब युद्ध नहीं करना था, तो चढाई कर के आये ही क्यो ?

दूसरा कहता था - किसी कायर मन्त्री ने महाराज को ऐसी विपरीत सलाह दी होगी ।"

तीसरा कहता था - "अब इन शस्त्रो को समुद्र में डूबो दो ।"

चौथे ने हताश हो कर कहा - "हा, मेरी सारी आशा ही नष्ट हो गई । आज अपना पराक्रम दिखाने का अवसर आ गया था । यह दुर्दैव ने छिन लिया ।"

पाँचवें ने कहा - "हमारी रण-विद्या और युद्धाभ्यास व्यर्थ गया । अब इसकी आवश्यकता ही नहीं रही ।

सैनिकगण या अनेक प्रकार से अपने मन की भडास निकालते और रोष व्यक्त करते हुए लौट रहे थे । सेनाधिकारियों के लिए उन्हे शान्त करना कठिन हो रहा था ।

भरतेश्वर के सेनाधिकारियो को, द्वन्द्व-युद्ध में भरतेश्वर के विजयी होने में सन्देह हुआ । वे परस्पर कहने लगे;-

"सम्राट महाबली हैं, किन्तु बाहुबलीजी तो अद्वितीय बलवान् हैं । उनसे इन्द्र भी नहीं जीत सकता । ऐसी दशा में सम्राट को द्वद्व युद्ध करने देना हमारे लिए दु खदायक होगा । सम्राट ने देवों की बात मान कर अच्छा नहीं किया ।"

भरतेश्वर के बल का परिचय

इस प्रकार सेनाधिकारियों को परस्पर वार्तालाप करते देख कर भरतश्वर उनका आशय समझ गए । उन्होंने सेनाधिकारियों को अपने पास बुलाया और कहने लगे;-

"वीर हितैषियो ! जिस प्रकार अन्धकार का नाश करने में सूर्य की किरण आगे रहती है, उसी प्रकार शत्रुओं को नष्ट करने में तुम लोग मुझसे आगे रहते हो । जिस प्रकार गहरी खाई में पडा हुआ हाथी, पहाडी किले तक नहीं पहुँच सकता, उसी प्रकार तुम योद्धाओं के रहते कोई भी शत्रु मुझ तक नहीं आ सकता । तुम्हारे हृदय में उद्भूत मेरे-प्रति हित-कामना का मैं आदर करता हूँ । किन्तु तुमने

कभी मुझे युद्ध करते देखा नहीं हैं । तुम्ह मेरे बल का परिचय नहीं है । इसीलिए तुम्हें सन्देह हो रहा है । अब तुम सभी एकत्रित हो कर मेरे बल को देख लो, जिससे तुम्हारी शका दूर हो जाय ।" भरतेश्वर ने एक गहरा खड्डा खुदवाया और उसके किनारे पर खुद बैठ गए । इसके बाद अपनी बाँयी भुजा पर बहुत सी सुदृढ साँकलें बधवाई और सैनिकों को सम्बोध कर कहा, –

"योद्धाओ ! जिस प्रकार बैल, गाडे को खिच कर ले जाते हैं, उसी प्रकार उस किनारे पर खडे रह कर तुम सभी, इन साकलों को अपने सम्मिलित बल से एक साथ खिचो और मुझे इस खड्डे में गिरा दो । देखो, तुम यह मत सोचना कि इससे मुझे दु ख होगा । इस समय तुम्हारा लक्ष्य अपनी पूरी शक्ति लगा कर मुझे इस खड्डे मे गिराना ही होना चाहिए । मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ कि अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा कर मुझे खिचो ।

भरतेश्वर का आदेश होने पर भी योद्धागण उठे । उन्हाने दूसरे किनारे पर खडे रह कर साँकलें पकडी और खिचने लगे ।

भरतेश्वर ने सैनिको को उत्साहित करते हुए विशेष बल लगाने का कहा । जब सभी का बल एक साथ लगा तो कौतुक करने के लिए भरतेश्वर ने अपना हाथ थोडा लम्बा कर दिया । योद्धागण सभी एक बल से झूम गए, किन्तु भरतेश्वर को एक अगुल भी नहीं खिसका सके । अन्त मे भरतेश्वर ने झटके के साथ अपना हाथ समेट कर छाती पर चिपका लिया, तो साँकले खिचने वाले सैनिक धडाम से एक दूसरे पर गिर गए । योद्धाओं को महाराजाधिराज के बल का पता लग गया । उन्हे विश्वास हो गया कि भरतेश्वर भी महान् बलाधिपति हैं । उनकी शका नष्ट हो गई ।

भरत-बाहुबली का द्वंद्व-युद्ध

इसके बाद भतेश्वर युद्ध-भूमि की ओर चले और बाहुबलीजी भी आये । सब से पहले दोनो बन्धुआ ने दृष्टि-युद्ध करने का निश्चय किया । युद्ध-भूमि में दोनों प्रतिद्वंद्वी वीर, शक्र और ईशान इन्द्र के समान सुशोभित हो रहे थे । दोना ओर के सेनापति अधिकारी और सैनिक, आस-पास पक्तिबद्ध खडे रह कर उनका अशस्त्र युद्ध देख रहे थे ।

सर्व प्रथम दृष्टि-युद्ध प्रारभ हुआ । एक दूसरे को अनिमेष दृष्टि से देखने लगे । ध्यानस्थ योगी के समान बहुत देर तक दोनों एक दूसरे को स्थिर दृष्टि से देखते रहे । किन्तु अन्त मे भरतेश्वर के नेत्रों में से पानी बहने लगा और आँखें बन्द हो गई । देवों ने बाहुबलीजी का जयनाद किया और उस पर पुष्प वृष्टि की । उनके पक्ष की ओर से जयघोष किया गया और विजय के बाजे बजाये गये । भरतेश्वर के सेनाधिकारिया और सुभटो के हृदय को आघात लगा । एक ओर हर्षावेश, तो दूसरी आर विफलताजन्य घार उदासी । यह दशा देख कर बाहुबलीजी बोले –

"आप यह नहीं समझें कि मैं अनायास ही जीत गया । अभी तो यह पहला ही युद्ध हुआ । आप चाहे तो वाक् युद्ध कर ले ।"

चक्रवर्ती तैयार हो गए । उन्होने भयकर सिहनाद किया । जिस प्रकार मघ की भयकर गर्जना होती है और महानदी की महान् वेगवती बाढ आती है और उसका गभीरतम नाद होता है, उससे भी अधिक भयकर सिहनाद हुआ । घोडे रास तुडा कर भागने लगे । हाथियों को भागने से रोकने के लिए अकुश भी व्यर्थ रहा । ऊँट नाथ के खिचाव को भी नहीं मानते हुए वेगपूर्वक दौड़ने लगे । भरतेश्वर के सिहनाद ने बडे-बडे शूरवीर मनुष्यों के भी हृदय दहला दिये ।

इसके बाद बाहुबलीजी ने सिहनाद किया । उनका सिहनाद भरतेश्वर के सिहनाद से विशेष भयकर हुआ । इस महाघोष को सुन कर सर्प भूमि म घुसने लगे । समुद्र में रहे हुए मगर-मत्स्यादि भयभीत हो कर सपाटी पर से भीतर घुस कर तल तक पहुँचने लगे । पर्वत काँपने लगे । मेघगर्जना के साथ कड़ाके की बिजली गिरी हो - इस आभास से मनुष्यगण भयभ्रान्त हो भूमि पर लेट गए । पृथ्वी धुजने लगी और देवगण भी व्याकुल हो गए । बाहुबली के सिहनाद के बाद भरतेश्वर ने फिर सिहनाद किया । यो सिहनाद होते होते भरतेश्वर की गर्जना का घोष मन्द होने लगा और बाहुबलीजी के सिहनाद को घोष बढ कर रहने लगा । इसमें भी बाहुबलीजी विजयी हुए ।

अब बाहु-युद्ध की बारी थी । दोनों भाई भिड गए । मल्ल-युद्ध होने लगा । कभी दोनों परस्पर गुथ जाते, कभी पृथक् हो कर फिर करस्फोट पूर्वक उछलते-कूदते हुए आ कर गुथ जाते । कभी भरतेश्वर नीचे आ जाते तो कभी बाहुबली । दोनों महाबलियो के वस्त्र और शरीर धूल-धूसरित हो गए । बहुत देर तक मल्ल-युद्ध होता रहा । अन्त मे बाहुबलीजी न भरतेश्वर को उठाकर आकाश में उछाल दिया - फैंक दिया । बाहुबली जी द्वारा फेंके हुए भरतेश्वर, धनुष में से छूटे बाण की तरह आकाश में बहुत ऊँचे तक चले गए । आकाश से नीचे आते समय सेना में हाहाकार मच गया । यह देख कर बाहुबलीजी अपने को धिक्कारने लगे - "अहो ! मैं कितना अधम हूँ । पिता के समान पूज्य ज्येष्ठ-भ्राता पर प्रहार करते और उन्हे सीमातीत कष्ट पहुँचाते मुझे भी सकोच नहीं किया । धिक्कार है मेरे बल को, धिक्कार है मेरे दु साहस को, धिक्कार है मेरी भुजा को और मेरे ऐसे दुष्कृत्य की उपेक्षा करने वाले राज्य-मन्त्रियों को भी धिक्कार है ।" इस प्रकार विचार आते ही उन्होंने आकाश की ओर देख कर पृथ्वी पर गिरने के पूर्व ही भरतेश्वर को अपने हाथों में झेल लिया । चारो ओर हर्ष की लहर दौड गई । किन्तु भरतेश्वर के हृदय में कोप का ज्वाला भड़क उठी । उस समय बाहुबलीजी विनम्र हो कर कहने लगे--

"हे भरताधिपति ! हे महावीर्य ! हे महाबाहु ! आपको खेद नहीं करना चाहिए । देव-योग से मैं इस बार जीत गया, तो भी मैं विजयी नहीं हुआ । अब तक आप अजातशत्रु ही हैं । आप आग क युद्ध के लिए तय्यार हो जाइए ।

भरतेश्वर ने कहा;- "मरी भुजा, मुष्टि प्रहार कर के पिछले दोष का परिमार्जन करेगी ।"

इतना कह कर उन्होंने मूठ उठाई । वे बाहुबलीजी की ओर दौडे और बाहुबलीजी की

छाती पर जोरदार प्रहार किया । किन्तु उसका बाहुबलीजी पर कोई प्रभाव नहीं पडा और वे अडिग रहे। इसके बाद बाहुबलीजी मूठ तान कर भरतेश्वर पर झपटे और उनकी छाती पर मुक्का मारा । इस आघात को सहन नहीं कर सकने के कारण भरतेश्वर मूर्च्छित हो कर धराशायी हो गए । उनके गिरने और मूर्च्छित होने पर बाहुबली को विचार हुआ कि

"क्षत्रियो के मन में यह वीरत्व का दुराग्रह क्यो उत्पन्न होता है कि जो अपने भाई तक के प्राणों को नष्ट करने वाला बन जाता है । यदि मेरे भाई जीवित नहीं रहे, तो मुझे जीवित रह कर क्या करना है ?"

इस प्रकार चिन्ता करते हुए और आँखों से आँसू बहाते हुए बाहुबली अपने उत्तरीय वस्त्र से भरतेश्वर पर वायु सचार करने लगे । थोडी देर मे भरतेश्वर सावधान हो कर उठे। दोनो की दृष्टि मिली। दोनो भाई नीचे देखने लगे । वास्तव मे महापुरुषो की तो जय और पराजय दोनों लज्जित करने वाली होती है ।

भरतेश्वर कुछ पीछे हटे, दड उठाया और बाहुबली के मस्तक पर जोरदार प्रहार किया। इस प्रहार से बाहुबली का मुकुट टूट कर चूर -चूर हो गया । बाहुबली की आँखें बन्द हो गई । थोडी देर में नेत्र खोल कर उन्होंने अपना दड उठाया और भरतेश्वर की छाती पर जोरदार प्रहार किया । इस प्रहार से भरतेश्वर के सुदृढ कवच के टुकडे-टुकडे हो गए और वे विह्वल हो गए ।

सावधान हो कर भरतेश्वर ने फिर से दड उठाया और घुमा कर बाहुबली के मस्तक पर भारी आघात किया । इस आघात के कारण बाहुबली जानु तक भूमि में धँस गए । वे मस्तक धुनाने लगे। उस प्रहार से वह दड भी टूट कर टुकडे-टुकडे हो गया । थोडी देर मे सावधान हो कर वे भूमि में से बाहर निकले और अपने दड को एक हाथ में ले कर घुमाने लगे और घुमाते-घुमाते भरतेश्वर के मस्तक पर ठोक मारा । इस प्रहार से भरतेश्वर अपने कठ तक भूमि में धँस गए । चारों ओर हाहाकार हो गया । भरतेश्वर मूर्च्छित हो गए । थोडी देर बाद सावधान हो कर वे बाहर निकले ।

इस प्रकार हार-पर-हार होती देख कर भरतेश्वर ने सोचा ※ – अब मेरी जीत की कोई सभावना नहीं रही । कदाचित् मेरे साधे हुए छह खड बाहुबली के लिए हो और वह चक्रवर्ती होने वाला हो? एक काल में दो चक्रवर्ती तो हो नहीं सकते । यह तो ऐसा हो रहा है कि जैसे मामूली देव इन्द्र को

※ इस प्रकार चक्रवर्ती की हार होने की बात विचारणीय लगती है । यदि यह सत्य है तो इसको भी अछेरा-आश्चर्यभूत अवश्य बताना था । श्रीकृष्ण के अमरकका गमन को आश्चर्य रूप माना, तो यहाँ तो चक्रवर्ती की भारी पराजय और पराजय पर-पराजय है । इसे आश्चर्य के रूप में क्यों नहीं माना ? यह घटना 'सुभूम' और 'ब्रह्मदत्त' जैसे पापानुबन्धी-पुण्य के धनी और नरक जाने वाले के जीवन से सम्बन्धित नहीं किन्तु पुण्यानुबन्धी-पुण्य के स्वामी और मोक्ष पाने वाले भरतेश्वर की अत्यन्त पराजय के रूप में हो कर भी आश्चर्य के रूप में नहीं आई। यह विचार की बात है । उदय की प्रबलता और विचित्रता के आगे कुछ असम्भव तो नहीं है पर आगमो में – खास कर 'जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति सूत्र में – जहाँ भरतेश्वर की दिग्विजय का विस्तृत वर्णन है वहाँ इन पराजयों को बताने वाला एक भी शब्द नहीं है। इसीलिए विचार होता है ।

****
जीत ले और साधारण राजा चक्रवर्ती को जीत ले कदाचित् बाहुबली ही चक्रवर्ती होगा ।" इस प्रकार विचार कर रहे थे कि यक्ष-देवो ने भरतेश्वर के हाथ में चक्र-रत्न दिया ।

भरतेश्वर ने उस चक्र रत्न को घुमाया । भरत को चक्र घुमाते हुए देख कर बाहुबली ने विचार किया - "भरत अपने को आदिनाथ भगवान् का पुत्र मानता है, किन्तु वह दड-युद्ध के उत्तर में चक्र चला रहा है, क्या यह क्षत्रियो की युद्ध-नीति है ? देवताओ के सामने की हुई उत्तम युद्ध-नीति की प्रतिज्ञा का निर्वाह भी उसने नहीं किया । धिक्कार है - उसे । मैं उसके चक्र को दण्ड प्रहार से चूर-चूर करूँगा ।" इस प्रकार विचार करते रहे । इतने में भरत का चलाया हुआ चक्र बाहुबली के पास आया और उनकी प्रदक्षिणा कर के वापिस भरतेश्वर क पास लौट गया । क्योंकि चक्र-रत्न सामान्य एव सगोत्री पुरुप पर नहीं चलता, तो ऐसे चरम-शरीरी पुरुष पर कैसे चले ?

चक्र-रत्न को लौटता देख कर बाहुबलीजी का कोप भडक उठा । वे मुक्का तान कर भरतेश्वर पर झपटे, किन्तु भरतेश्वर के निकट आते ही एकदम रुक गए और सोचने लगे--

"अहो ! भरतेश्वर के समान मैं भी राज्य मे लुब्ध हो कर ज्येष्ठ-बन्धु को मारने के लिए तत्पर हो रहा हूँ ? हा, इस पापिनी तृष्णा ने कितना अनर्थ कराया ? जिस पिता ने राज्य-वैभव को तृण के समान त्याग दिया और जिन छोटे भाइयों ने इस उच्छिष्ट के समान जान कर छोड दिया, उसी के लिए मैं ज्येष्ठ-बन्धु को मारने के लिए झपट रहा हूँ । धिक्कार है - मुझे ।" इस प्रकार सोचते हुए उन्होंने भी राज्य का त्याग कर निर्ग्रंथ बनने का निश्चय कर लिया + और भरतेश्वर स बोले--

"हे बन्धुवर ! मैंने राज्य के लिए ही आपको कष्ट दिया और विद्रोह किया । इसके लिए आप मुझे क्षमा करें । आप क्षमा के सागर हैं । मैं स्वयं इस राज्य का त्याग कर के प्रभु के मार्ग का अनुगमन करूँगा ।"

उन्होंने उठाये हुए अपने मुक्के को अपने सिर पर उतार कर केशों का लोच कर के सयम स्वीकार कर लिया । देवों ने जयध्वनि के साथ पुष्प-वर्षा की ।

बाहुबली को प्रव्रजित होते देख कर भरतेश्वर लज्जित हुए और अश्रुपात करते हुए बाहुबली के चरणो में नमस्कार किया । उस विरक्त बन्धु का गुणगान करते हुए कहा-

"मुनिवर ! आप धन्य हैं । आपने मुझ पर अनुकम्पा कर के राज्य का त्याग कर दिया । मैं पापी ही नहीं, पापियों का शिरोमणि हूँ, अन्यायी हूँ और लोभियों में धुरन्धर हूँ । मैं राज्य को ससार का मूल्य जानता हुआ भी नहीं छोड़ सकता । वीर ! तुम ही पिताश्री के सच्चे पुत्र हो जो पिताजी के मार्ग का अनुसरण कर रहे हो । मैं उनके मार्ग पर चलूगा तभी उनका खरा पुत्र बनूँगा ।"

इस प्रकार पश्चात्ताप करते हुए वहाँ से हटे और बाहुबलीजी के पुत्र 'चन्द्रयश' को उस राज्य पर स्थापित कर के बाहुबलीजी को पुन वदना की और राजधानी में लौट आये।

+ विभिन्न साहित्य में मतान्तर है । इसमें दीक्षा का कारण स्वयं के हृदय में उद्भूत विचार बताया तब अन्यत्र इन्द्र द्वारा हुआ निवेदन बताया है ।

बाहुबलीजी की कठोर साधना

प्रव्रज्या स्वीकार कर के मुनिराज श्री बाहुबलीजी वहीं - उसी स्थान पर ध्यानस्थ हो गए और निष्कप - अडोल खडे रहे । ग्रीष्म का प्रचड ताप भी उनको चलित नहीं कर सका । देह से पसीना झरता और रज-कण उड कर उनके देह पर चिपक जाते । इस प्रकार सारा शरीर रज-मैल से लिप्त हो कर कीचड़ जम गया । किन्तु ध्यानस्थ मुनिराज की इस ओर दृष्टि ही नहीं गई । घनघोर वर्षा और पृथ्वी पर बहते हुए पानी से उनके देह पर शैवाल जम गई । देह को कपा देने वाले झझावात आये, परन्तु योगीराज का स्थिर-योग निश्चल रहा । वन-उपवन को अपने शीत-दाह से दग्ध करने वाली अत्यन्त शीत और साथ ही हिम-वर्षा के भयकर उपसर्ग भी महान् आत्मबली महामुनि बाहुबली को नहीं डिगा सके । जिस प्रकार वे युद्ध में अजेय रहे और धर्मध्यान मे विशेष स्थिर रहने लगे । उनकी ध्यान-धारा विशेष विकसित होती रही । जगली भैंसे उन्हें वृक्ष का सूखा ठूँठ समझ कर अपना सिर, स्कन्ध और शरीर रगड कर खुजालने लगे । सिह उनके पैरों का सहारा ले कर विश्राम करते । हाथी उनके हाथ पाँव को सूँड से पकड कर खिचने का उपक्रम करते, किन्तु निष्फल हो कर लौट जाते । चमरी-गाये अपनी काँटे के समान तीक्ष्ण-खुरदरी जीभ से उनके शरीर को चाटती थी । वर्षा कें बाद उगी हुई बेलें उनके शरीर पर लिपट कर छा गई थी । बाँस और तीक्ष्ण दर्भ के अकुर उनके पाँव फोंड कर ऊपर निकल आये थे । उनके शरीर पर लिपटी हुई लताओ के झुरमुट में चिडिये अपने घोंसले बना कर रहने लगी थी और मयूर के कोकारव से भयभीत सर्प उस लता में छुपने के लिए उनके शरीर पर चढते और पैरों में लिपट जाते ।

योगीराज को बहिनों द्वारा उद्बोधन

इस प्रकार की कठोर साधना करते हुए महामुनि बाहुबलीजी को एक वर्ष बीत गया । उनका मोह महाशत्रु जीर्ण-शीर्ण हो गया था, फिर भी वह मान के महाश्रय से टिका हुआ था । स्थिति परिपक्व होने आई थी, किंतु इस मान-महिपाल को नष्ट करने में एक महा निमित्त की आवश्यकता थी ।

सर्वज्ञ सर्वदर्शी भगवान् आदि जिनेश्वर ने महासती ब्राह्मी और सुन्दरी को सम्बोध कर कहा,-

"आर्ये ! महामुनि बाहुबलीजी कठोर साधना कर रहे हैं । एक वर्ष की साधना में उन्होंने

कर्म के वृन्द के वृन्द क्षय कर डाले । उन्होंने ध्यानस्थ हो कर अन्तर्शोधन किया और बहुत-से दोषों को नष्ट कर डाला । किन्तु एक दोष उनकी आत्मा में अब तक छुप कर बैठा हुआ है । उसकी ओर उनकी दृष्टि नहीं गई । इस दोष को दूर करने में तुम्हारा निमित्त आवश्यक है । उनका उपादान तुम्हारा निमित्त पा कर जाग्रत कर लेगा । इस समय तुम्हारे उद्बोधन की आवश्यकता है । इसलिए तुम जाओ और उनसे कहो कि - "मुनिवर ! अब इस मान रूपी गजराज से नीचे उतरो । आप जैसे परम पराक्रमी, इस मान के फन्दे में फँस कर वीतराग दशा से वंचित रहें - यह उचित नहीं है ।"

जब बाहुबलीजी दीक्षित हुए, तो उनके मन में यह विचार आया - "यदि मैं अभी प्रभु के चरणों में चला जाऊँगा, तो मुझे अपने छोटे भाइयों को भी वन्दन-नमस्कार करना पड़ेगा । क्योंकि वे मुझसे पूर्व दीक्षित हुए हैं । इसलिए मैं यहीं तप करूँ और केवलज्ञान प्राप्त करने के बाद प्रभु की सेवा में जाऊँ ।" इन विचारों में मान-कषाय का रंग था । यही दोष वीतरागता में बाधक बन रहा था ।

महासती ब्राह्मी और सुन्दरी, वन की ओर चली । वन मे पहुँच कर वे मुनिराज बाहुबलीजी को खोजने लगी । वे उन्हें दिखाई नहीं दिये । पसीने से जमी हुई रज से लिप्त और लताओं से आच्छादित महर्षि को वे बड़ी कठिनाई से खोज सकी । उनको पहिचानना सरल नहीं था । वे मनुष्य के रूप में तो दिखाई ही नहीं देते थे । पत्रावली से आच्छादित शरीर को कोई कैसे पहिचान सकता है ? बुद्धिबल से ही वे मुनिवर को जान सकी । तीन बार प्रदक्षिणा कर के वन्दना की और इस प्रकार बोली,-

"महर्षि ! हम ब्राह्मी-सुन्दरी साध्वी हैं । अपने पिता एवं विश्वतारक भगवान् ऋषभदेवजी ने हमारे द्वारा आपको कहलाया है कि हाथी पर सवार रहने वाले पुरुषों का मोह-महाशत्रु नष्ट नहीं होता । वे केवलज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते । अतएव हाथी से उतर कर नीचे आइये ।"

इतना कह कर वे दोनों महासतियें वहाँ से लौट आई । महामुनि बाहुबली जी, उपरोक्त शब्दों को सुन कर आश्चर्य में पड़ गए । निमित्त ने अपना काम कर दिया । अब उपादान अंगड़ाई ले कर अपना पराक्रम करने लगा । महर्षि विचार करने लगे;-

"अहा ! मैंने तो समस्त सावद्य-योग का त्याग कर दिया और निःसंग हो कर वन में साधना कर रहा हूँ । मेरे पास हाथी तो क्या, घोड़ा-गधा कुछ भी नहीं है । इस शरीर के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं- मेरे पास । फिर हाथी की बात कैसी ? क्या महासती झूठ बोली ? भगवान् ने असत्य सम्वाद भेजा? नहीं-नहीं, न तो महासतियें झूठ बोली होंगी, न भगवान् ने ही

असत्य उद्बोधन कराया होगा। उनका आशय द्रव्य हाथी से नहीं, भाव हाथी से होगा'' – महर्षि आत्म-निरीक्षण करने लगे । दीर्घकाल की ध्यान-धारा के नीचे दबा हुआ चोर पकड में आ गया, –''अरे ! हाँ, वय में छोटे, किन्तु व्रत-पर्याय में ज्येष्ठ ऐसे लघु-बन्धु श्रमणों को वन्दन नहीं कर के अपना बडप्पन बनाये रखने की भावना मेरे मन मे छुपी पडी है । मैंने कायोत्सर्ग किया, धर्म ध्यान ध्याया, किन्तु साधना के पूर्व से ही छुप कर बैठे हुए इस डाकू मानसिह का मर्दन नहीं किया और छुपे शत्रु को टिकाये रखा। मोहराज का प्रत्यक्ष में तो मुझ पर जोर नहीं चला और उनके अन्य तीन महा सेनापतियों से मैं अजेय रहा, परन्तु मुझ में ही छुप कर मेरी साधना के महाफल से मुझे वचित रखने वाला यह दुष्ट मानसिह मुझे धोखा देता रहा और मैंने इस ओर देखा ही नहीं । वास्तव में हाथी के रूप में रहे हुए मानसिह पर मैं सवार रहा । मेरी कठोर साधना और अडोल ध्यान भी इस दूषित भूमि पर चलता रहा । मैं कितना अधम हूँ ? भगवान् वृषभनाथ का पुत्र और उनके चरणो में वर्षों तक रहने, उपदेश सुनने और सेवा करने का सुयोग पा कर भी मैं विवेकी नहीं बन सका । धिक्कार है मेरे अभिमान को और शतश धिक्कार है मेरे अविवेकीपन को। मैं अभी जा कर सभी व्रत-ज्येष्ठ श्रमणो को वन्दना करता हूँ ।''

इस प्रकार विचार कर महान् सत्वशाली महामुनिजी चलने को तत्पर हुए और पाँव उठाया । चिन्तन की इस चिनगारी ने शुक्ल ध्यान रूपी वह ज्वाला उत्पन्न की कि मानमहिपाल की अत्येष्ठि ही हो गई। मान के मरते ही उनकी ओट में रहे हुए सूक्ष्म क्रोध माया और लोभ भी भस्म हो गए। तत्काल शुक्ल ध्यान की दूसरी ज्योति उत्पन्न हुई और ज्ञानावरण-दर्शनावरण और अन्तराय कर्म भी जल कर राख हो गए । महर्षि बाहुबलीजी परम वीतराग सर्वज्ञ-सर्वदर्शी भगवान् हो गए। वे वहाँ से चल कर भगवान् आदिनाथ के समवसरण मे उपस्थित हुए और केवलज्ञानियों की परिषद् मे बैठ गए ।

भरतेश्वर का पश्चात्ताप और साधर्मी सेवा

भगवान् ऋषभदेव स्वामी ग्रामानुग्राम विचरते और भव्य जीवो को प्रतिबोध देते हुए अष्टापद पर्वत पर पधारे । देव-देवियाँ और इन्द्र-इन्द्रानियाँ भगवान् के समवसरण में उपस्थित हुए। वनपालक ने महाराजाधिराज को भगवान् के पधारने की बधाई दी । इस शुभ समाचार ने सम्राट के हृदय में हर्ष की बाढ उत्पन्न कर दी । उन्होंने बधाई देने वाले को साडे बारह करोड स्वर्ण-मुद्रा प्रदान कर पुरस्कृत किया और सिहासन से नीचे उतर कर प्रभु की ओर सात-आठ चरण चल कर विधिवत् वन्दना की। इसके बाद भरतेश्वर ने प्रभु के दर्शनार्थ समवसरण में जाने

के लिए तय्यारियाँ करने की आज्ञा दी। स्वय स्नानादि कर के वस्त्राभूषण से सुसज्जित हुए । बडी धूमधाम से सवारी निकली । प्रभु के समवसरण में पहुँच कर भक्तिपूर्वक वन्दन-नमस्कार किया और योग्य स्थान पर सभा मे बैठे । प्रभु ने धर्मोपदेश दिया । प्रभु की उपशम-भाव-वर्धक देशना सुन कर भरतेश्वर को विचार हुआ,-

"अहो ! मैं कितना लोभी हूँ । मेरी तृष्णा कितनी बढी हुई है । मैंने अपने छोटे भाइयों का राज्य ले लिया । मेरे ये उदार हृदय वाले बन्धु, मोह को जीत कर और प्रभु के चरणों में रह कर अपनी आत्मा को शान्त-रस मे निमग्न कर, अलौकिक आनन्द का अनुभव कर रहे हैं । अरे, कौआ जैसा अप्रिय पक्षी भी अकेला नहीं खाता । वह जहाँ कहीं थोडा भी खाने जैसा देखता है । तो पहले 'काँव-काँव' कर के अपने जाति-बन्धुओं को बुलाता है और सब के साथ खाता है । किन्तु मैं ऐसा पापी हुआ कि अपने छोटे भाईयों का राज्य छिन कर उन्हें साधु बनने पर विवश किया । मैं उन कौओ से भी गया-बीता हो गया। यद्यपि मैंने इनका छोडा हुआ राज्य इनके पुत्रों को ही दिया है, किन्तु यह तो उस डाकू जैसा कार्य हुआ, जो एक को लूट कर दूसरे को देता है । इसमे भी मैं अपने आधिपत्य का स्वार्थ तो साध ही लिया। हा, मेरे छोटे भाई मोक्ष पुरुषार्थ मे लगे हैं, तब मैं सब से बडा हो कर भी अर्थ और काम पुरुषार्थ में रग रहा हूँ। ये त्यागी हैं और मैं भोगी हू। इन्हे भोग से विमुख कर के मैं मन चाहे उत्कृष्ट भोग भोग रहा हूँ। यह मुझे शोभा नहीं देता । मुझे अपने बन्धुओ के साथ ससार में रह कर भ्रात-द्रोह के कलक को मिटाना चाहिए ।"

इस प्रकार विचार कर के भरत महाराज उठे । उन्होंने प्रभु के निकट जा कर विनयपूर्वक मनोभाव व्यक्त किये और अपने भाई-मुनियों को भोग का निमन्त्रण दिया । भरतेश्वर के सुसुप्त विवेक को जाग्रत करते हुए जिनेश्वर भगवान् ने कहा-

"हे सरल हृदयी राजन् ! तेरे ये मुनि-बन्धु महा सत्वशाली हैं । इन्होंने ससार को असार और भोग को रोग-शोक और दु ख का बीज जान कर त्यागा है । ये महाव्रतधारी निर्ग्रंथ हैं । अब इनका आत्माराम, धर्माराम में विचर कर निर्दोष आनन्द का उपभोग कर रहा है । इस पवित्र उत्तमोत्तम आत्मानन्द को छोड़ कर अब ये पुद्गलानन्द – विषयानन्द का विचार ही नहीं करते । इनकी दृष्टि में पुद्गलानन्दी जीव उस सूअर जैसा है,जो विष्ठा भक्षण करता है । त्यागे हुए भोगों को पुन भोगना इनकी दृष्टि में वमन को चाटने के समान है ।"

चक्रवर्ती सम्राट भरतेश्वर समझ गए । उन्हें पश्चात्ताप हुआ - "अभोगी दशा के साधक, भोग सम्बन्धी निमन्त्रण स्वीकार नहीं करते यह ठीक ही है । मैंने बिना विचारे ही आमन्त्रण दिया और निराश हुआ किन्तु शरीर के लिए भोजन तो आवश्यक होता ही है । मैं इन मुनियों को

भोजन करा कर कुछ तो सेवा कर सकूँगा ।" इस प्रकार विचार कर के उन्होने पाँच सौ गाडे भर कर भोज्य-सामग्री मँगवाई और आहार के लिए निमन्त्रण दिया । तब जिनेश्वर भगवत ने कहा-

"राजन् ! यह औद्देशिक आहार है । निर्दोष माधुकरी करने वाले निर्ग्रन्थो के लिए ऐसा आहार त्याज्य है ।"

नरेन्द्र ने सोचा - "हाँ, यह भोजन तो मुनियो के लिए ही बना है, इसलिए इनके लिए अग्राह्य है । किन्तु मेरे यहाँ तो ऐसी भोज्य-सामग्री है, जो इनके लिए नहीं बनी । यह (लड्डू, पेठा, पेडा, खाजा आदि जो नाश्ता आदि में चलते हैं और कुछ दिन रहने पर भी खराब नहीं होते) इनके काम में आ सकेगी ।" यह सोच कर उन्होने मुनिया को उद्देश्य कर नहीं बनाई हुई ऐसी कृत-कारित दोष से रहित सामग्री के लिए निवेदन किया । जिनेनद्र भगवान् ने कहा;-

"नरेन्द्र ! निर्ग्रंथ ब्रह्मचारियों के लिए 'राजपिण्ड' भी त्याज्य है ।

अब तो भरतेश्वर सर्वथा निराश हो गए । उनके मन पर उदासी छा गई । वे सोचने लगे - "अहो! मैं कितना दुर्भागी हूँ कि मेरी किसी प्रकार की सेवा इन त्यागी निर्ग्रंथो के लिए मान्य नहीं होती । मुझ से तो मेरी प्रजा और वे गरीब निर्धन लोग भाग्यशाली हैं, जो इन्हें प्रतिलाभते हैं । वे धन्य हैं, कृतपुण्य हैं और मुझसे लाख गुणा उत्तम हैं

चक्रवर्ती को चिन्तामग्न देख कर प्रथम स्वर्ग के अधिपति शक्रेन्द्र ने प्रभु से पूछा-

"भगवन् ! अवग्रह कितने प्रकार का है ?" उत्तर मिला - "पाँच प्रकार का ।" यथा -

१ इन्द्र का अवग्रह - जिस वस्तु का प्रत्यक्ष में कोई स्वामी नहीं हो, उस तृण, सूखा पान, ककर आदि लेने में दक्षिण भरत के साधु-साध्वी को शक्रेन्द्र की आज्ञा लेनी चाहिए । यह इन्द्र की आज्ञा रूप प्रथम अवग्रह हुआ ।

२ चक्रवर्ती के राज्य में उनकी आज्ञा लेना ।

३ माण्डलिक राजा की उसके अधिकार-क्षेत्र में आज्ञा लेना ।

४ गृह-स्वामी से मकान, पाट आदि लेना ।

५ साधर्मी-साधु का अवग्रह ।

उपरोक्त अवग्रह का क्रम पश्चानुपूर्वी है । सब से पहले साधर्मी का अवग्रह लिया जाता है, उसके बाद सागारी का । इस प्रकार करते हुए यदि चक्रवर्ती का भी योग नहीं हो, तो अन्त में देवेन्द्र का अवग्रह लिया जाता है । यदि देवेन्द्र की आज्ञा हो, किन्तु राजा की आज्ञा नहीं हो, तो वह वस्तु स्वीकार करने योग्य नहीं रहती ।"

इन्द्र ने कहा, - "प्रभो ! आपके जितने भी साधु-साध्वी हैं उन सभी को मैं अपने अवग्रह की आज्ञा, सदा के लिए देता हूं ।"

यह सुन कर चक्रवर्ती नरेन्द्र ने विचार किया -'इन श्रेष्ठ मुनिया ने मेरे आहारादि को

स्वीकार नहीं किया, किन्तु अवग्रह की आज्ञा दे कर कुछ तो कृतार्थ बनूँ ?'' वह उठा और प्रभु के समीप पहुँच कर निवेदन किया - ''प्रभु ! मैं भी अवग्रह की आज्ञा देता हूँ ।''

इसके बाद उन्होंने देवेन्द्र से पूछा - ''कहिये, इस लाई गई भोजन-सामग्री का क्या किया जाय?''

-''नरेन्द्र ! इससे आप व्रतधारी सुश्रावकों की सेवा कर के लाभान्वित हो सकते हैं ।'' - देवेन्द्र ने कहा और भरतेश्वर ने ऐसा ही किया ।

भरतेश्वर को अपने साधर्मी इन्द्र का मनोहर रूप देख कर आश्चर्य हुआ । उन्होंने पूछा -

- ''देवेन्द्र ! आप देवलोक मे भी इसी रूप में रहते हैं, या दूसरे रूप में ?''

- ''नरेन्द्र ! स्वर्ग मे हमारा ऐसा रूप नहीं होता । यह रूप तो हम यहा के लिए खास तौर पर बनाना पड़ता है । हमारा असली रूप इतना प्रकाशमान होता है कि मनुष्य देख ही नहीं सकता'' - देवेन्द्र ने कहा ।

-''शक्रेन्द्र ! मेरी बहुत दिनों से इच्छा हो रही है कि मैं आपका असली रूप देखूँ । क्या आप मेरी इच्छा पूर्ण करेंगे ''- राजेन्द्र ने अपना मनोरथ व्यक्त किया ।

देवेन्द्र ने राजेन्द्र की इच्छा पूरी करने के लिए अपनी एक अगुली दिखाई । वह सुशोभित अगुली दीपशिखा के समान प्रकाशित एव कान्तियुक्त थी। भरतेश्वर उस दिव्य रूप को देख कर प्रसन्न हुए। इन्द्र और नरेन्द्र जिनेन्द्र को नमस्कार कर के स्वस्थान गए । नरेन्द्र ने देवेन्द्र की अगुली जैसा प्रकाशमान आकार बना कर जनता को दिखाने के लिए स्थापन किया और इन्द्रोत्सव मनाया। उसी दिन से 'इन्द्र महोत्सव' की प्रथा प्रारम्भ हुई ।

इन्द्र के परामर्श से भरतेश्वर ने सुश्रावको को भोजन कराया और भरतेश्वर ने सभी श्रावको को सदा के लिए अपनी भोजनशाला में भोजन करन का निमन्त्रण दे दिया और कहा -

''अब आप कृषि आदि आरभजनक कार्य नहीं कर के स्वाध्याय में रत रह कर निरन्तर अपूर्व ज्ञानाभ्यास करने में ही तत्पर रहें और भोजन कर के मेरे पास आ कर प्रतिदिन यह कहा करें - **''जितो भवान् वर्द्धते भीस्तस्मान्माहन-माहन''** अर्थात् आप जीते गये हैं, भय बढ रहा है, इसलिए आत्मगुणों को मत हणो मत हणो) ।

सम्राट का निमन्त्रण स्वीकार कर श्रावकगण वहीं भोजन करने लगे और भरतेश्वर को उद्बोधन करने लगे ।

देवों के समान रति-क्रीडा में मग्न एव प्रमादी बने हुए भरतेश्वर उन बोधप्रद शब्दों को सुन कर विचार करते कि ''मैं किससे जीता गया हूँ ? मुझे किसने जीत लिया है ? मुझे किसका भय है ? किस प्रकार का भय बढ रहा है ?'' विचार करते, वे अपने मन से ही समाधान करते - ''हाँ, हाँ, ठीक तो है। मैं क्रोधादि कषायों से जीता गया हूँ और इन कषायों से ही मेरे लिए भय-

स्थान बढ रहा है। ये मेरे हितैषी मुझे सावधान कर रहे हैं और कह रहे हैं कि – "ओ मोहान्ध । सावधान हो जा। तेरे आत्मगुणो का हनन हो रहा है । अपनी आत्मा की तो दया कर । मत कर ऐ नादान ! अपने आत्मगुणों की हत्या मत कर ।" ये विवेकवत साधर्मी बन्धु मुझे सावधान करते हैं। मुझ पर उपकार कते हैं। अहो! मैं कितना प्रमादी और कैसा विषय-लोलुप हूँ कि यह सब सुनता और समझता हुआ भी भूल जाता हूँ और कामदेव के प्रवाह में बहता ही जा रहा हूँ । यह कैसी विडम्बना है – मेरी। मैं अपने आत्मगुणों के प्रति इतना उदासीन क्यों हो गया ?"

इस प्रकार भरतेश्वर कभी धर्म-चिन्तन मे, तो कभी विषय-प्रवाह में बह जाते हैं । जब साधर्मियों द्वारा उद्‌बोधन मिलता तो विकारी प्रवाह रुक कर धर्म-भावना प्रवाहित होने लगती और जब परम सुन्दरी श्रीदेवी अथवा अन्य मदनमोहिनी का मोहक रूप एव उत्तेजक स्वर का आकर्षण बढता तो उस पवित्र भावना पर पानी फिर जाता । उदयभाव का जोर एव बालवीर्य का प्रभाव दुर्द्धर्ष होता है । निकाचित उदय को रोकने की सामर्थ्य किसमे है ? फिर भी हृदय मे जगी हुई दर्शन-ज्योति व्यर्थ नहीं जाती। वह मोह के महावेग को कालान्तार में नष्ट कर के ही रहती है।

भरतेश्वर की इस प्रकार की डोलायमान स्थिति चल रही है । एक दिन पाकाधिकारी (प्रधान रसोडेदार) ने आ कर महाराजाधिराज से निवेदन किया;–

"स्वामिन् ! भोजनशाला मे भोजन करने वालो की सख्या बहुत बढ गई है । बहुत से लोग झुठ-मूठ ही अपने को श्रावक बता कर भोजन कर जाते हैं । उनकी परीक्षा कैसे की जाय जिससे असली-नकली का भेद किया जा सके ?"

– "अरे भाई । तुम भी तो श्रावक हो । तुम्हे श्रावक की परीक्षा करना नहीं आता क्या ? अब जो अपने को श्रावक बतावे, उससे पूछो कि – श्रावक के व्रत कितने होते हैं और तुम कितने व्रतो का पालन करते हो ? जब वे पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत का स्वरूप बतावे और अपने को उनका पालक कहे, तो उसे मेरे पास भेजो । मैं उसके शरीर पर काकिणी-रत्न से तीन रेखाएँ खिच दूँगा । ये रेखाएँ उनके ज्ञान, दर्शन और चारित्र का परिचय देगी । जिसके शरीर पर उत्तरासग के समान तीन रेखाएँ हों, उन्हें श्रावक समझो और उन्हीं को भोजन कराओ"– भरतेश्वर ने परीक्षा की छाप निश्चित् कर दी । इसका प्रभाव भी अच्छा हुआ । नकली श्रावकों की भीड कम हो गई । भरतेश्वर के बाद उनके उत्तराधिकारी महाराज 'सूर्ययश' के शासन काल मे काकिणीरत्न नहीं रहा तब स्वर्ण के तीन तार पहिनना श्रावक का परिचय माना गया । उनके बाद चाँदी की या होते-होते सूत्र के तीन धागे का परिचय-सूत्र धारण किया जाने लगा । इस परिचय चिह्न को "जैनोपवित" कहा जाने लगा। जैनोपवित का अनुकरण 'यज्ञोपवित' के रूप में हुआ। वर्ष में दो बार श्रावकों की परीक्षा होती और नये बने हुए श्रावक उसमें सम्मिलित होते । श्रावको के द्वारा भरतेश्वर को उद्‌बोधन दिया जाता रहा। वे **"जितो भवान् वर्द्धते**

भीस्तस्मान्" को सामान्य स्वर में और "माहन" शब्द को उच्च स्वर में कहते, इसलिए वे "माहन" उपनाम से प्रसिद्ध हुए । आगे चल कर यह माहन शब्द 'ब्राह्मण' के रूप में परिवर्तित हो गया । प्राकृत का माहन् सस्कृत में ब्राह्मण बन जाता है ।

जब धर्म-प्रिय चक्रवर्ती सम्राट, श्रावको को सन्मानपूर्वक भोजन कराने लगे, तो प्रजा म भी उनके प्रति आदर बढा और साधर्मी की भोजनादि से सेवा करने की शुभ प्रवृत्ति फैली। सम्राट ने सम्यग्ज्ञान के प्रचार और स्वाध्याय के लिए जिनेश्वरों की स्तुति, तत्त्व बोध, आगार धर्म और अनगार धर्म - समाचारी से युक्त चार वेद की रचना की। इनका स्वाध्याय सर्वत्र होने लगा। आचार्य लिखते हैं कि आगे चल कर इन्हीं वेदो से आकर्षित हो कर अन्य विद्वानों ने अपने मतानुसार लौकिक वेदों की रचना की।

मरीचि की कथा

भरतेश्वर का पुत्र "मरीचि" भी भगवान् ऋषभदेवजी का सर्वत्यागी शिष्य था । वह स्वभाव से ही सुकुमार और कष्ट सहन करने मे कच्चा था । ग्रीष्म-ऋतु के मध्यान्ह के प्रचण्ड ताप से तप्त भूमि पर चलते हुए मरीचि के पाँव जलने लग पसीना बहने लगा, शरीर पर धूल लग कर चिपकने लगी और मैल की दुर्गन्ध आने लगी । प्यास के मारे गला सूखने लगा । इस प्रकार के परीषहों से मरीचि घबड़ा उठा । उसकी भावना डिग गई किन्तु अपने कुल का गौरव उसे पकडे रहा । उसने सोचा- "मैं चक्रवर्ती सम्राट भरतेश्वर का पुत्र और प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव का पौत्र हूँ । मुझे कायरो की भाति सयमभ्रष्ट होना शोभा नहीं देता ।" इन विचारों ने उसे साधुता त्याग कर पुन ससारी बनने से तो रोक दिया, किन्तु व्याप्त शिथिलता के कारण उसका निर्दोष रीति से सयम पालना असभव हो गया उसने निश्चय किया कि -

"भगवान् के साधु तो मन वचन और काया के तीनों दण्ड को जीते हुए हैं किन्तु मैं इन तीनों दण्डों से दण्डित हूँ, इसलिए मैं, 'त्रिदण्डी' बनूँगा । श्रमण अपने सिर के केशा का लोच इन्द्रिया का जय कर के मुण्डित सिर रहते हैं, किन्तु मैं लोच परीषह सहन नहीं कर सकता इसलिए उस्तरे से मुँडन कराऊँगा और शिखा धारण करूँगा । ये अनगार महात्मा स्थावर और त्रस जीवों की विराधना से विरत हैं, तब मैं केवल त्रस जीवों के वध से ही विरत रहूँगा । ये निर्ग्रंथ सर्वथा अपरिग्रही हैं, किन्तु मैं तो स्वर्ण-मुद्रिका रखूँगा । ये सर्वत्यागी सत उपानह भी नहीं पहिनते किन्तु मैं ता पैरों में जूते पहिन कर काँटे ककर और गरमी के कष्ट से बचूँगा । ये शील की सुगन्धित से सुगन्धित एव शीतल हैं तब मैं चन्दन का लेप कर सुगन्धित एव शीतल बनूँगा । मैं शीत और ताप से बचने के लिए छत्र धारण करूँगा । ये श्वेत वस्त्र पहिनते हैं ता मैं कषाय स कलुषित होने के कारण कषैला-गेरुआ वस्त्र धारण करूँगा । य मैल का परीषह जीत चुके हैं, किन्तु मैं तो परिमित जल स स्नान एव पान करूँगा ।"

इस प्रकार अपने-आप विचार कर के अपना लिंग – वेश और आचार स्थिर किया और तदनुसार आचरण करता हुआ भगवान् के साथ ही विचरने लगा । जिस प्रकार खच्चर, न तो घोड़ा कहलाता है और न गधा ही, उसी प्रकार मरीचि न तो साधु रहा न गृहस्थ ही । मरीचि के इस विचित्र वेश और आचार को देख कर लोग उससे उसके धर्म का उपदेश देने का आग्रह करने लगे, तो वह निर्ग्रंथ-मुनियों के मूलगुण और उत्तरगुण वाले धर्म का ही उपदेश करता । यदि कोई उसे पूछता कि 'आप इस धर्म का पालन क्यों नहीं करते ?' तो वह अपनी अशक्ति ही बताता । यदि उसके प्रतिबोध से कोई विरक्त हो कर दीक्षा लेना चाहता, तो उसे वह भगवान् के पास भेज कर दीक्षा दिलवाता ।

इस प्रकार विचरते हुए कालान्तर में मरीचि के शरीर में असह्य रोग उत्पन्न हुआ । संयम-भ्रष्ट होने के कारण किसी भी साधु ने उसकी वैयावृत्य नहीं की । सेवा एवं सान्त्वना के अभाव में वह रोग उसे विशेष पीड़ाकारी लगा उसे विचार हुआ – "हा, मैं अकेला रह गया । ऐसे विकट समय मे कोई भी साधु मेरी सम्भाल नहीं करता। मैं सर्वथा निराधार हो गया । यह मेरा ही दोष है। ये शुद्धाचारी श्रमण मेरे जैसे हीनाचारी से सम्बन्ध नहीं रखते । यह इनका दोष है । जिस प्रकार उत्तम कुल के व्यक्ति हीन कुल वाले म्लेच्छ से सम्बन्ध नहीं रखते उसी प्रकार ये निरवद्य चर्या वाले श्रमण भी अपनी मर्यादा में रहते हुए मुझ सावद्य प्रवृत्ति वाले की सेवा नहीं करते। इन उत्तम निर्ग्रंथों से सेवा कराना भी मुझे उचित नहीं हैं। क्योंकि इससे व्रत-भंजक पापाचारी का समर्थन होता है और अव्रत की वृद्धि होती है। जिस प्रकार गधे और गजराज का साथ नहीं रहता उसी प्रकार मुझसे इनका सम्बन्ध एवं सहयोग नहीं रहता" – इस प्रकार विचार करते वह मन को शान्त करने लगा । रोग का प्रकोप कम हुआ और वह क्रमशः रोग मुक्त हो गया ।

किसी समय भगवान् के पास एक 'कपिल' नामका राजपुत्र या । उसने धर्मोपदेश सुना, किन्तु प्रभु का उपदेश उसे रुचिकर नहीं हुआ । वह दुर्भव्य था । उसने विचित्र वेश वाले मरीचि को देखा। वह उसके पास आया और उसको धर्म सुनाने का आग्रह किया । मरीचि ने कहा – "यदि तुम्हें धर्म चाहिए, तो भगवान् के पास ही जाओ । धर्म वहीं है, मेरे पास नहीं है ।" कपिल फिर भगवान् के पास आया । उसके जाने बाद मरीचि को विचार हुआ कि – 'यह पुरुष भी कैसा दुर्भागी है, जिसे भगवान् का उत्तमोत्तम धर्म नहीं रुचा और मेरे पास आया ।" वह इस प्रकार सोच ही रहा था कि कपिल पुनः मरीचि के पास आया और कहने लगा;–

"मुझे तो उनका धर्म अच्छा नहीं लगा । आपके पास भी धर्म होना ही चाहिए । अतः आप अपना धर्म मुझे सुनावें मैं सुनना चाहता हूँ ।"

मरीचि ने सोचा –"यह भी कोई मेरे जैसा ही है । अच्छा है, मुझे भी एक सहायक की आवश्यकता है । यदि यह मेरा शिष्य बन जाय तो मेरे लिए लाभदायक ही होगा ।" इस प्रकार विचार कर उसने कहा;–

"धर्म तो मेरे पास भी है और यहाँ भी है । यदि मेरे पास धर्म नहीं होता, तो मैं इस प्रकार क्यो रहता ।"

मरीचि ने इस प्रकार उत्सूत्र-भाषण करके कोट्यनुकोटि सागरोपम प्रमाण उत्कट कर्म का बन्ध किया और ससार-भ्रमण बढाया । उसने कपिल को दीक्षित कर के अपना शिष्य बनाया । उसी समय से परिव्राजक की परम्परा स्थापित हुई ।

मरीचि अंतिम तीर्थंकर होंगे

कालान्तर में जिनेश्वर भगवान् ग्रामानुग्राम विचरते हुए पुन अष्टापद पर्वत पर पधारे । भरतेश्वर अपने परिवार के साथ वन्दन करने आये । धर्मोपदेश सुनने के बाद विनयपूर्वक पूछा--

"प्रभो ! भविष्य में आपके समान और भी कोई धर्मनायक, धर्मचक्रवर्ती इस भरतखण्ड में होगा?"

- हा, भरत ! इस अवसर्पिणी काल में मेर बाद और भी तेईस तीर्थंकर हागे और तेरे अतिरिक्त ग्यारह चक्रवर्ती नरेश होगे ।" प्रभु ने भावी तीर्थंकरो और चक्रवर्तियो का समय और नाम-गोत्रादि सुनाया और वासुदेव-प्रतिवासुदेव का वर्णन भी सुनाया । सम्राट ने पुन प्रश्न किया;-

"हे नाथ ! इस महापरिषद् में ऐसा कोई भाग्यशाली जीव है, जो भविष्य में तीर्थंकर पद प्राप्त कर के भव्य जीवों का उद्धारक बनेगा ?"

-"वह त्रिदण्ड धारण किया हुआ तुम्हारा पुत्र मरीचि अभी तो मलिन हा गया है, किन्तु भविष्य में यह 'त्रिपृष्ट' नामका प्रथम वासुदेव होगा फिर कालान्तर में पश्चिम महाविदेह में 'पुष्यमित्र' नामका चक्रवर्ती नरेश होगा । उसके बाद बहुत समार परिभ्रमण कर के इसी भरत-क्षेत्र में 'महावीर' नाम का चौबीसवाँ तीर्थंकर होगा और मुक्त हो जायगा ।"

भगवान् से भविष्यवाणी सुन कर भरतश्वर मरीचि के निकट आये और शिष्टाचार साधते हुए बोले -

"मैं तुम्हारे इस पाखण्ड क कारण तुम्हे आदर नहीं देता और न तुम्हें वन्दना करने के लिए आया हूँ । मैं तुम्हें प्रभु की कही हुई यह भविष्यवाणी सुनाने आया हूँ कि तुम भविष्य में इस भरत-क्षेत्र में प्रथम वासुदेव और कालान्तर मे महाविदेह में चक्रवर्ती और उसके बहुत काल बीत जाने पर इसी भरत-क्षेत्र के चौबीसवें तीर्थंकर होओगे ।"

इस प्रकार भविष्य कथन सुना कर सम्राट प्रभु के पास आये और वन्दन-नमस्कार कर के स्वस्थान गए ।

भविष्यवाणी सुन कर मरीचि परम प्रसन्न हुआ । उसकी प्रसन्नता हृदय में समाती नहीं थी । उसने करस्फोट करते हुए कहा -

"अहो मैं कितना भाग्यशाली हूँ कि सभी वासुदेवों में प्रथम वासुदेव होऊँगा, चक्रवर्ती भी बनूँगा और इसी भरत-क्षेत्र मे इसी अवसर्पिणी काल का अन्तिम तीर्थंकर भी बनूँगा । अहा, मैं सभी उत्तम पदवियों का उपभोग कर के मोक्ष प्राप्त कर लूँगा । मेरा कुल भी कितना ऊँचा है कि जिसमे मेरे पितामह तो इस काल के प्रथम तीर्थंकर भगवान् हैं, मेरे पिता प्रथम चक्रवर्ती महाराजाधिराज हैं और मैं प्रथम वासुदेव होऊँगा। विश्वभर में मेरा कुल सर्वश्रेष्ठ है ।" जिस प्रकार मकडी अपनी बनाई हुई जाल में फँस जाती है उसी प्रकार मरीचि ने भी कुल का गर्व कर के कुल-मद से 'नीच-गोत्र' कर्म का बन्ध कर लिया ।

भगवान् का मोक्ष गमन

भगवान् ऋषभदेवजी भव्य जीवो को मोक्षमार्ग बताते हुए और अपने तीर्थंकर नामकर्मादि की निर्जरा करते हुए ग्रामानुग्राम विचरते रहे। भगवान् के उपदेश से प्रभावित हो कर मोक्षाभिलाषी लाखों मनुष्य प्रव्रजित हुए और लाखो ने श्रावक धर्म धारण किया । प्रभु के मोक्षगमन का समय निकट आ रहा था । मोक्ष-कल्याण से सम्बन्धित क्षेत्र की ओर भगवान् का सहजरूप से पदार्पण हो रहा था । भगवान् अष्टापद पर्वत पर पधारे । एक शिला पर पद्मासन से विराजमान हो गए । अनाहारक दशा मे बाधक आहार-पानी छूट गया । चौदह भक्त जितने काल तक निराहार तप और निश्चल – पादपोपगमन दशा में रहे । अघातिया कर्मों की स्थिति एव शरीर सम्बन्ध क्षय होने ही वाला था । इस अपूर्व स्थिति को प्राप्त होने के लिए शुक्लध्यान की तीसरी मजिल में प्रवेश हुआ और योगो का निरुधन होने लगा । योग निरोध होते ही चरम गुणस्थान में प्रवेश कर शुक्ल-ध्यान के शिखर पर आरूढ हो गए । पर्वत के समान सर्वथा अडोल, अकम्प एव अचल ऐसी अपूर्व स्थिरता को प्राप्त कर के शरीर और कर्म-बन्धनो को त्याग दिया और अणु समय में ही लोकाग्र पर पहुँच कर सिद्ध हो गए । भगवान् इस देह का त्याग कर अजर, अमर, अशरीरी, परमेश्वर परमात्मा हो गए । परम पारिणामिक भाव प्रकट कर के सादि-अनन्त सहज आत्म-सुख के भोक्ता बन गए ।

अनन्तानन्त गुणो के स्वामी ऐसे परमात्मा के प्रस्थान कर जान पर देह उजडे हुए घर के समान सुनसान हो गया । क्या करे अब उस देह का ? हाँ, यह ठीक है कि उसमें जगदुद्धारक, अनन्त गुणों के भडार परमपूज्य परमात्मा निवास कर चुके हैं । यह वही पाँच सौ धनुष ऊँचा, वज्र-ऋषभ-नाराच सहनन और समचतुरस्र सस्थान सस्थित और परम शुभ लक्षणों से युक्त शरीर है । जिनकी प्राप्ति करोडों मनुष्यो को नहीं होती, अरे, अनन्तानन्त जीवो को नहीं होती । ऐसे अनन्त जीव मोक्ष पा चुके, जिन्हें वज्र-ऋषभ-नाराच सहनन और प्रथम सस्थान तो मिला किन्तु ऐसे उत्तमोत्तम लक्षणों से युक्त महाप्रभावशाली देह की प्राप्ति नहीं हुई । किन्तु इसका महत्त्व उस

महान् आत्मा के साथ ही था । इसके सहनन, सस्थान और लक्षण, उस आत्मा के कारण ही महत्त्व रखते थे। उसके प्रस्थान करने के बाद इसका सारा महत्त्व लुप्त हो गया । हस (आत्मा) - परमहस चला गया और मानसरोवर सूना हो गया। अब इसको उचित रीति से नष्ट कर देना ही बुद्धिमानी है ।

यह वही शरीर है जिसके द्वारा लाखों मनुष्यो का उपकार हुआ और परम्परा से असख्य जीवो का उद्धार हुआ । इसको देखते ही भव्य जीवो की प्रसन्नता का पार नहीं रहता था । जिनके दर्शन, श्रवण एव वन्दन के लिए लोग तरसते थे । आज इस देह के होते हुए भी वे लोग शोकाकुल हो कर रो रहे हैं । क्या ? इसलिए कि वह देहेश्वर देह छोड कर प्रयाण कर गया । अब यह घर सर्वथा सुना हो गया । अब इस शरीर से उन परमात्मा का कोई सम्बन्ध नहीं रहा । वे उस परम प्रकाशमान् परमात्मा के विरह से रो रहे हैं । शुभ होते हुए भी उनम पर दृष्टि तो है । जब तक अपने म रहे हुए परमात्मा स्वरूप आत्मा की परम दशा प्रकट नहीं होती, तब तक परमात्मा का अवलम्बन ही आधारभूत है। इस परम ज्योति के प्रकाश में अपनी सुसुप्त मन्दतम ज्योति भी क्रमश सतेज की जा सकती है । पहलवान से शिक्षा पा कर एक बच्चा भी स्वय पहलवान एव अपराजित योद्धा बन सकता है ।

भरतेश्वरादि भव्यात्मा, उस देह- अखण्ड एव परिपूर्ण देह के उपस्थित होते हुए भी परमात्म-विरह से दु खी हो रहे थे – रुदन कर रहे थे । उनकी आँखों से अश्रुधारा बह रही थी । ग्रन्थकार श्रीमद् हेमचन्द्राचार्य लिखते हैं कि –'भगवान् के विरह का आघात नहीं सह सकने के कारण चक्रवर्ती सम्राट मूर्च्छित हो गए और बहुत समय तक सज्ञाशून्य रहे ।' वहाँ उनके सामने, वही देह- अखण्ड एव परिपूर्ण देह उपस्थित होते हुए भी वे अपना सतोष नहीं कर के तीर्थंकर भगवान् के विरह की वेदना से अपार दु ख का वेदन करने लगे ।

प्रथम स्वर्ग का अधिपति शक्रेन्द्र अपने देव विमान में आनन्दानुभव कर रहे थे कि हठात् उनका आसन चलायमान हुआ । वे स्तब्ध रह गए । अवधिज्ञान का उपयोग लगाया। उन्हें जिनेश्वर का विरह मालूम हुआ । वे भी शोक-मग्न हो गए और परिवार सहित अष्टापद पर्वत पर आये । उसी प्रकार सभी इन्द्र और देवी-देव आये । सभी की आँखों में आँसू थे । सभी रुदन कर रहे थे ।

जिनेश्वर के उस शव को देवों ने स्नान कराया, वस्त्र पहिनाये और आभूषण भी पहिनाये । इसके बाद श्रेष्ठ गोशीर्ष की लकड़ी से तीन चिताएँ रची गई – १ भगवान् श्री ऋषभदेवजी के लिए २ गणधरों के लिए और ३ शेष सभी साधुओं के लिए । फिर तीन शिविकाएँ बनाई । एक शिविका में भगवान् क शरीर को स्थापन किया दूसरी में गणधरों के शरीर को और तीसरी में शेष साधुओं के शरीर को रखा । उन तीनों शिविकाओं को चिताओं में स्थापन किया और अग्निकाय

देव ने अग्नि उत्पन्न की। वायुकुमार देव ने वायु चला कर अग्नि को सतेज कर प्रज्वलित किया । चिता में अगर, तुरक, घृत आदि डाला गया । चिताओ मे शरीर जल कर भस्म हो गए । फिर मेघकुमार देवों ने क्षीरोदक की वर्षा की। उसके बाद जिनेश्वर की चिता में से शक्रेन्द्र ने ऊपर की दाहिनी ओर की दाढा ग्रहण की, ईशानेन्द्र ने बाँयी ओर की, असुरेन्द्र चमर ने नीचे की दाहिनी ओर की और बलिन्द्र ने बाँयी ओर की डाढ ग्रहण की । इसके बाद अन्य देवो ने शेष अस्थि-भाग ग्रहण किया ।

उस दाह स्थान पर देवों ने चैत्य-स्तूप बनाये । निर्वाण महोत्सव किया । नन्दीश्वर द्वीप पर जा कर अष्टान्हिका महोत्सव किया । इसके बाद उन दाढो आदि को लेकर स्वस्थान आये और उन दाढ़ों को डिब्बों मे रख कर चैत्य-स्तभ में रखी और उनकी अर्चना की ।

भगवान् ऋषभदेवजी के ८४ गणधर, ८४००० साधु, ब्राह्मी-सुन्दरी आदि ३००००० साध्वियें श्रेयास आदि श्रावक ३०५००० और सुभद्रादि ५५४००० श्राविकाएँ थी । साधुओ मे ४७५० जिन नहीं, किन्तु जिन समान ऐसे चौदह पूर्वधर मुनि थे । ९००० अवधिज्ञानी २०००० केवलज्ञानी, २०६०० वैक्रिय लब्धि वाले, १२६५०+ विपुलमति मन - पर्ययज्ञानी, १२६५० वादिविजय लब्धि वाले, २२९०० अनुत्तर विमान में गये, २०००० साधु सिद्ध हुए, ४०००० साध्विये हुई ।

भगवान् आदिनाथ स्वामी उत्तराषाढा नक्षत्र में, सर्वार्थसिद्ध महाविमान से चव कर माता के गर्भ में आये । उत्तराषाढा नक्षत्र में ही जन्मे राज्याभिषेक, दीक्षा और केवलज्ञान ये पाँचो प्रसग उत्तराषाढा नक्षत्र मे ही हुए और अभिजीत नक्षत्र मे सिद्ध हुए ।

प्रभु बीस लाख पूर्व तक कुमार अवस्था में रहे । तिरसठ लाख पूर्व तक राज्यासीन रहे । इस प्रकार ८३ लाख पूर्व तक गृहस्थावस्था मे रहे । इसके बाद दीक्षा ग्रहण की । एक हजार वर्ष तक छदामस्थावस्था में साधु रहे और एक हजार वर्ष कम एक लाख पूर्व तक केवलज्ञानी तीर्थंकर रहे । कुल सयमी-जीवन एक लाख पूर्व का रहा और कुल आयु चौरासी लाख पूर्व थी । जब तीसरे आरे के तीन वर्ष, आठ मास और पन्द्रह दिन शेष रहे, तब सिद्ध गति को प्राप्त हुए ।

प्रथम तीर्थंकर
भगवान्
ऋषभदेव स्वामी का चरित्र सम्पूर्ण

+ इसमें मतान्तर है १२७५० भी माने जाते हैं ।

भरतेश्वर को केवलज्ञान और निर्वाण

भरतेश्वर को भगवान् के मोक्ष-गमन का गहरा आघात लगा । उनके मन पर से शोक का प्रभाव हटता ही नहीं था । वे चिन्तामग्न रहने लगे । मन्त्रियों का चिन्ता हुई उन्होंने मिल कर निवेदन किया- "भगवान् ने तो अपना मनोरथ सफल कर लिया । वे जन्म-मरण के फन्दे को तोड कर मृत्युजय बन गये । वे परमात्मा अनन्त आत्म-सुखों में लीन हैं । उनके लिए शोक करना तो व्यर्थ ही है । अब आपका व हमारा कर्त्तव्य है कि हम शोकसताप छोड कर अपना उत्तरदायित्व निभावें ।"

मन्त्रियो के परामर्श से भरतेश्वर सम्भले और राज-कार्य मे प्रवृत्त होने लगे । वे नगर के बाहर उपवन में घूमने जाया करते । कौटुम्बिकजन उन्हे उपवन-उद्यानों मे ले जाते । वहाँ सुन्दर स्त्रियो का झुण्ड उपस्थित हो जाता और भरतेश्वर उनके साथ लतामण्डपों में जा कर इन्द्रिया के विविध प्रकार के रसो म निमग्न हो जाते । वे रानियो के साथ कुण्ड में उत्तर कर जल-क्रीड़ा भी करते रहते थे ।

भगवान् के मोक्ष-गमन के बाद पाँच लाख पूर्व तक उनका भोगी-जीवन रहा । वे कभी मोह में मस्त हो जाते, तो कभी विराग मे भावो से विरक्त हो जाते । पूर्व-भव के चारित्र के सस्कार उनकी आत्मा को झकझोर कर जागृत करते रहते । उदित पुण्य-बन्ध को वेदते और निर्जरते हुए काल व्यतीत होने लगा और वेद-मोहनीयादि प्रकृति का बल भी कम होने लगा । घातीकर्मों की प्रकृतियो के क्षय होने का समय निकट आ रहा था । एक बार वे जल-क्रीडा के पश्चात् वस्त्राभूषण से सज्ज हो कर अन्त पुर के आदश भवन म गये । वहाँ शरीर प्रमाण ऊँचे, निर्मल एव उज्ज्वल दर्पण मे अपने शरीर को देखने लगे । देखते-देखते उन्हे पुद्गल की परिवर्तनशीलता का विचार हुआ । अवस्था के अनुसार शरीर में परिवर्तन होने का दृश्य, उनकी दृष्टि में स्पष्ट हुआ । इस दृश्य ने उन्हे अनित्य भावना में जोड कर धर्मध्यान मे लगा दिया । धर्मध्यान में तल्लीन होने के बाद वर्धमान परिणाम से वे शुक्लध्यान में प्रवेश कर गए और क्षपकश्रेणी चढ कर समस्त घातीकर्मों को नष्ट कर के सर्वज्ञ सर्वदर्शी बन गए । भगवान् भरतेश्वर ने वस्त्रालकार उतारे *, केशो का लोच किया।

उस समय इन्द्र का आसन चलायमान हुआ । भरतेश्वर को केवलज्ञान होना जान कर इन्द्र, तत्काल वहाँ आया और मुनि का द्रव्य-लिग अर्पण किया । सर्वज्ञ भगवान् ने मुनिवेश स्वीकार किया । फिर आरिसा भवन से निकल कर अन्त पुर के मध्य में होते हुए राज्य-सभा मे आय । सभा को प्रतियोध दे कर दस हजार राजाओं को प्रव्रजित किया और जनपद विहार करने लगे । कुछ कम एक लाख पूर्व तक धर्मोपदेश दे कर भव्य जीवा को मुक्तिमार्ग मे लगाते रहे और एक मास तक अनशन कर के मोक्ष प्राप्त हुए ।

---

* ग्रन्थकार लिखते हैं कि -भरतेश्वर की अगुली में से एक अगुठी निकल कर गिर गई थी । शरीर निरीक्षण के समय अगुली को सूनी - नगी [illegible] -"क्या इस शरार की शोभा, इन दूसरे

टिप्पणी -

सुनार की कथा का औचित्य

महाराजाधिराज भरत के विषय में यह कथा प्रचलित है कि - उनकी निर्लिप्तता के विषय मे जिनेश्वर भगवान् ने समवसरण मे कहा था - "भरत चक्रवर्ती सम्राट है । छह खड का अधिपति चौदह रत्न, नौ निधान और हजारो सुन्दरी रानियों का पति है । इतना वैभवशाली होत हुए भी वह जल-कमलवत् निर्लिप्त है ।" प्रभु का यह वचन एक सुनार को नहीं जँचा । वह इधर उधर बातें करने लगा - "भरतेश्वर, भगवान् के पुत्र हैं और चक्रवर्ती सम्राट हैं । पुत्र-मोह अथवा भरतेश्वर का खुश करने के लिए भगवान् ने यह बात कही है । वास्तव में वे निर्लिप्त नहीं है । क्या इतना वैभवशाली राज्य के लिए युद्ध करने वाला और हजारो रानियों के साथ काम-भोग भोगने वाला भी कभी निर्लिप्त-निष्काम रह सकता है ?"

सुनार की बात महाराजा भरत के काना में गयी । उन्होंने सुनार को बुलाया और तेल से भरपूर कटोरा हाथ में दे कर कहा -

"तुम यह कटोरा ले कर सारे नगर में घूमो । नगर की शोभा देखो और फिर मेरे पास आओ । परन्तु याद रखो कि इस कटोरे में से एक बूँद तेल भी नीचे गिरा तो इन सैनिकों की तलवार तुम्हारी गर्दन पर फिरी । तुम वहीं ढेर कर दिये जाओगे ।

सैनिकों से घिरा हुआ स्वर्णकार, तेल से भरा हुआ कटोरा लिए हुए नगरभर में घूमा किन्तु इतनी सावधानी के साथ कि एक बूँद भी नहीं गिरने दिया । वह सम्राट के समक्ष उपस्थित हुआ । सम्राट ने उससे नगर की शोभा का हाल पूछा । वह बोला;-

"महाराज ! मेरा ध्यान तो इस कटोरे में था । यदि मैं एकाग्र नहीं रह कर इधर-उधर देखता तो वहीं जीवन समाप्त हो जाता । आपके ये यमदूत जो नगी तलवारे ले कर साथ थे । मैं नगरभर में घूमा परन्तु मेरा ध्यान तो इस कटोरे पर ही केन्द्रित रहा । जरा भी इधर-उधर नहीं गया । फिर शोभा निरखने का तो अवकाश ही कहाँ था - महाराज !'

भरतेश्वर ने कहा - "भद्र ! जिस प्रकार तू नगर भर में घूमा फिर भी तेरा ध्यान एकाग्र रहा उसी प्रकार मैं भी इस सारे वैभव का अधिपति होते हुए भी अन्तर से निर्लिप्त रहता हूँ ।" स्वर्णकार का समाधान हो गया ।

उपरोक्त कथा का भाव अपने शब्दो में उपस्थित किया है । किन्तु यह जँचती कम है । माना कि भरतेश्वर को आत्मा उच्च प्रकार के सयम की साधना कर के स्वर्ग म गई थी । उनकी आत्मा बहुत हलकी थी । वे इसी

पुद्गलों से ही है ? इन्हीं से यह शोभनीय दिखाई देता है ?" इस विचार ने दूसरी अगुली से भी अगुठी निकलवाई। वह भी वैसी ही अशोभनीय लगने लगी । फिर क्रमश सार शरीर के आभूषणों को उतार दिया । अब तो सारा शरीर ही अशोभनीय लगने लगा । इस पर से दह की असारता एव अनित्यता का विचार करते हुए वे क्षपक-श्रेणी पर आरूढ हो गए । किन्तु जम्बूद्वीप प्रज्ञप्तिसूत्र म -'शुभ परिणाम प्रशस्त अध्यवसाय से बढते हुए केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त करने और उसके बाद आभरण-अलकार उतारने और केशलुचन करने का उल्लेख है । यहाँ हमने सूत्र के उल्लेख का अनुसरण किया है ।

भव में मोक्ष प्राप्त करने वाले थे फिर भी उनके उत्कृष्ट भाग-कर्मों का उदय था । लाखों पूर्व काल तक वे भोगासक्त रहे थे । उनके भोग का वर्णन जब हम 'त्रिषष्ठि शलाका पुरुष चरित्र' में देखते हैं, तो लगता है कि वे उत्कृष्ट भोग-पुरुष थे । श्री हेमचन्द्राचार्य यहाँ तक लिखते हैं कि-खण्ड-साधना के समय (स्त्री-रत्न प्राप्त होने के बाद भी) हजार वर्ष तक गंगादेवी के साथ भोग भोगते रहे और सेना वहीं पड़ी रही (पर्व १ सर्ग ४) उनके सन्तानें भी थी । ऐसी दशा में उन्हें सर्वथा निर्लिप्त मानना जचता नहीं है । हाँ कभी-कभी उनकी आत्मा में पूर्व के संस्कार जाग्रत होते और वे निर्लिप्तता की स्थिति में आ जाते किन्तु फिर मोह के झपाटे से वे कामासक्त भी हो जाते थे । अप्रत्याख्यानावरण कषाय और वेद-मोहनीयादि के उदय से ऐसा होना असंभव नहीं है । यह भी ठीक है कि उनको जो बन्ध होता था वह तीव्रतम और भवान्तर में भोगने रूप गाढ़ निकाचित नहीं था । फिर भी उन्हें बन्ध होता ही था । वे निर्लिप्त अनासक्त एवं निष्काम नहीं थे । अतएव यह कथा कुछ अतिशयोक्ति पूर्ण लगती है । जो व्यक्ति गृहस्थवास में रहता हुआ भी कम से कम ब्रह्मचारी आवेश रहित और विकार रहित-सा हो उसी पर सुनार का दृष्यान्त लागू हो सकता है ।

यह कथा श्री हेमचन्द्राचार्य के 'त्रिषष्ठिशलाका पुरुष चरित्र' में नहीं है ।

'तेलपात्रधर' का दृष्टांत हमें 'ऋषिभाषित' सूत्र के ४५ वें अध्ययन की २२ वीं गाथा मे मिला । वह गाथा इस प्रकार है -

"तम्हा पाणदयट्ठाए, 'तेल्लपत्तधरो' जधा ।
एगग्गमणीभूतो, दयत्थी विहरे मुणी ॥ २ ॥"

- दयार्थी मुनि प्राणियों पर दया करने के लिए, तेलपात्रधारक के समान एकाग्र मन हो कर विचरे ।

उपरोक्त गाथा में तेलपात्रधर की एकाग्रता का दृष्यांत है । इनमें तथा इनकी टीका में इस दृष्टांत के विषय में कुछ भी नहीं लिखा है। टीका भी संक्षिप्त है। टीकाकार ने इस दृष्यांत को अप्रमत्तता प्रदर्शक बताया है। जैसे -

"तस्मात् प्राणिदयार्थमेकाग्रमनाभूत्वा दयार्थी मुनिरप्रमत्तो विहरेद् यथा कश्चित्तैलपात्रधर ।"

तेलपात्रधर की यह कथा आचार्य श्री हरिभद्रसूरिजी रचित 'उपदेश पद' ग्रन्थ की गाथा ९२२ से ९३१ तक विस्तार से मिलती है । वे गाथाएँ इस प्रकार हैं-

"इह तेल्लपत्तिधारगणाय तततरेसुवि पसिद्ध ।
अइगंभीरत्थ खलु भावेयव्वं पयत्तेण ॥ ९२२ ॥
सद्धो पण्णो राया पाय तेणोवसामिओ लोगो ।
णियनगरे अवर कोति सेट्ठिपुत्तो ण कम्मगुरू ॥ ९२३ ॥
सो लोगगहा मण्णइ हिंसयि तहाविह ण दुट्ठति ।
हिंसाण सुहभावा, दुहावि अत्थ तु दुद्देय ॥ ९२४ ॥

अपमाय सारयाए णिव्विसय तह जिणोवएस पि ।

तक्खगफणरयणगय सिरत्तिसमणोवएसव ॥ १२५ ॥

तस्सुवसमणणिमित्त जक्खोच्छत्तो समाणदिट्ठित्ति ।

णिउणो कओ समप्पिय माणिक्क सागओ तत्तो ॥ १२६ ॥

अवरो रायासण्णो अहति परिबोहगो असमदिट्ठी ।

कालेण वीसभो तओ य मायापओगोत्ति ॥ १२७ ॥

णट्ठ रायाहरण पउहग सिट्ठुति पउरघरलाभे ।

माहण पच्छित्त बहुभयमेवमदोस तहवित्ति ॥ १२८ ॥

जक्खब्भत्थण विण्णवण ममत्थे त णिव सुदडेण ।

तच्चोयण परिणामो विण्णत्ती तइलपत्ति वहो ॥ १२९ ॥

सगच्छण जहसत्ती खग्गधरुक्खेव छणणिरूवणया ।

तल्लिच्छ जत्तनयण चोयणमेवति पडिवत्ती ॥ १३० ॥

एवमणताण इह भीया मरणाइयाण् दुक्खाण ।

सेवति अप्पमाय साहू मोक्खत्थमुज्जुत्ता ॥ १३१ ॥

उपरोक्त गाथाओं में बताया है कि किसी नगर का राजा जिनधर्म का श्रद्धालु एव बुद्धिमान् था । उसके दानादि उपायो से बहुत से लोग जिनशासन के प्रति अनुराग रखते थे । नगर के प्रधान और सेठ आदि सभी धर्म अनुरक्त थे। किन्तु एक सेठ का पुत्र धर्म से प्रभावित नहीं था । वह भारीकर्मा मिथ्यात्व के गाढ उदय से अधर्मप्रिय था । वह पाखड के ससर्ग से हिंसा का दुःखदायक परिणाम नहीं मान कर सुखदायक मानता था । वह जिनेश्वर के अप्रमत्तता प्रधान उपदेश को विनर्विय - समझ से परे - असभव मानता था । उसका कहना था कि जिस प्रकार किसी के सिर मे महा पीड़ा हो रही हो और उसे कोई उपाय बतावे कि 'तुम महानाग - मणिधर सर्पराज के सिर की मणि ला कर अपने गले में बाँधो तो तुम्हारी पीड़ा मिट सकती है । यह उपाय जैसा असभव है वैसा ही जिनेश्वर का अप्रमत्तता का उपदेश भी असभव है । उस मिथ्यादृष्टि श्रेष्ठिपुत्र के मिथ्यात्व का उपशमन करने के लिए, राजा ने यक्ष नाम के विद्यार्थी द्वारा मायापूर्वक अपनी माणिक्य जड़ित मुद्रिका श्रेष्ठिपुत्र के आभरणों में रखवा दी । इसके बाद मुद्रिका खो जाने की हलचल हुई । ढिंढोरा पीटा गया । और अन्त में

भव म मोक्ष प्राप्त करने वाले थे फिर भी उनके उत्कृष्ट भोग-कर्मों का उदय था । लाखों पूर्व काल तक वे भोगासक्त रहे थे । उनके भोग का वर्णन जब हम 'त्रिषष्ठि शलाका पुरुष चरित्र' में देखते हैं, तो लगता है कि वे उत्कृष्ट भोग-पुरुष थे । श्री हेमचन्द्राचार्य यहाँ तक लिखते हैं कि-खण्ड-साधना के समय (स्त्री-रत्न प्राप्त होने के बाद भी) हजार वर्ष तक गंगादेवी के साथ भोग भोगते रहे और सेना वहीं पड़ी रही (पर्व १ सर्ग ४) उनके सन्तानें भी थी । ऐसी दशा में उन्हें सर्वथा निर्लिप्त मानना जचता नहीं है । हाँ कभी-कभी उनकी आत्मा में पूर्व के संस्कार जाग्रत होते और वे निर्लिप्तता की स्थिति में आ जाते किन्तु फिर मोह के झपाटे से वे कामासक्त भी हो जाते थे । अप्रत्याख्यानावरण कषाय और वेद-मोहनीयादि के उदय से ऐसा होना असंभव नहीं है । यह भी ठीक है कि उनका जो बन्ध होता था वह तीव्रतम और भवान्तर में भोगने रूप गाढ़ निकाचित नहीं था । फिर भी उन्हें बन्ध होता ही था । वे निर्लिप्त अनासक्त एवं निष्काम नहीं थे । अतएव यह कथा कुछ अतिशयोक्ति पूर्ण लगती है । जो व्यक्ति गृहस्थवास में रहता हुआ भी कम से कम ब्रह्मचारी आवेश रहित और विकार रहित सा हो उसी पर सुनार का दृष्टान्त लागू हो सकता है ।

यह कथा श्री हेमचन्द्राचार्य के 'त्रिषष्ठिशलाका पुरुष चरित्र में नहीं है ।

'तैलपात्रधर' का दृष्टांत हमें 'ऋषिभाषित' सूत्र के ४५ वे अध्ययन की २२ वीं गाथा म मिला । यह गाथा इस प्रकाह है –

"तम्हा पाणदयट्ठाए, 'तेल्लपत्तधरो' जधा ।
एगग्गमणीभूतो, दयत्थी विहरे मुणी ॥ २ ॥"

– दयार्थी मुनि प्राणियों पर दया करने के लिए, तैलपात्रधारक के समान एकाग्र मन हो कर विचरे ।

उपरोक्त गाथा म तैलपात्रधर की एकाग्रता का दृष्टात है । इसमें तथा इसकी टीका में इस दृष्टात के विषय में कुछ भी नहीं लिखा है। टीका भी संक्षिप्त है। टीकाकार ने इस दृष्टात को अप्रमत्तता प्रदर्शक बताया है। जैसे –

"तस्मात् प्राणिदयार्थमेकाग्रमनाभूत्वा दयार्थी मुनिरप्रमत्तो विहरेद् यथा कश्चित्तैलपात्रधर ।"

तैलपात्रधर की यह कथा आचार्य श्री हरिभद्रसूरिजा रचित 'उपदेश पद' ग्रन्थ की गाथा ९२२ से ९३१ तक विस्तार से मिलती है । वे गाथाएँ इस प्रकार हैं–

"इह तेल्लपत्तिधारगणाय तततरेसुवि पसिद्ध ।
अइगभीरत्थ खलु भावेयव्व पयत्तेण ॥ ९२२ ॥
सद्धो पण्णो राया पाय तेणोवसामिओ लोगो ।
णियनगरे अंवर कोति सेट्ठिपुत्तो ण कम्मगुरू ॥ ९२३ ॥
सो लोगगहा मण्णइ हिंसपि तहाविहं ण दुट्ठति ।
हिंसाण सुहभावा, दुहायि अत्थ तु दुद्देय ॥ ९२४ ॥

अपमाय सारयाए णिव्विसय तह जिणोवएस पि ।

तक्खगफणरयणगय सिरत्तिसमणोवएसव ॥ १२५ ॥

तस्सुवसमणणिमित्त जक्खोच्छत्तो समाणदिट्ठित्ति ।

णिउणो कओ समप्पिय माणिक्क सागओ तत्तो ॥ १२६ ॥

अवरो रायासण्णो अहति परिबोहगो असमदिट्ठी ।

कालेण वीसभो तओ य मायापओगोत्ति ॥ १२७ ॥

णट्ठ रायाहरण पडहग सिट्ठुति पडरघरलाभे ।

माहण पच्छित्त बहुभयमेवमदोस तहवित्ति ॥ १२८ ॥

जक्खब्भत्थण विण्णवण ममत्थे त णिव सुदडेण ।

तच्चोयण परिणामो विण्णत्ती तइलपत्ति वहो ॥ १२९ ॥

सगच्छण जहसत्ती खग्गधरुक्खेव छणणिरूवणया ।

तल्लिच्छ जत्तनयण चोयणमेवति पडिवत्ती ॥ १३० ॥

एवमणताण इह भीया मरणाइयाण दुक्खाण ।

सेवति अप्पमाय साहू मोक्खत्थमुज्जुत्ता ॥ १३१ ॥

उपरोक्त गाथाओं में बताया है कि किसी नगर का राजा जिनधर्म का श्रद्धालु एव बुद्धिमान् था । उसके दानादि उपायों से बहुत से लोग जिनशासन के प्रति अनुराग रखते थे । नगर के प्रधान और सेठ आदि सभी धर्म अनुरक्त थे। किन्तु एक सेठ का पुत्र धर्म से प्रभावित नहीं था । वह भारीकर्मा मिथ्यात्व के गाढ उदय से अधर्मप्रिय था । वह पाखड के ससर्ग से हिंसा का दुखदायक परिणाम नहीं मान कर सुखदायक मानता था । वह जिनेश्वर के अप्रमत्तता प्रधान उपदेश को विनर्विय - समझ से परे - असभव मानता था । उसका कहना था कि जिस प्रकार किसी के सिर मे महा पीड़ा हो रही हो और उसे कोई उपाय बतावे कि 'तुम महानाग - मणिधर सर्पराज के सिर की मणि ला कर अपने गले में बाँधो ' तो तुम्हारी पीड़ा मिट सकती है । यह उपाय जैसा असभव है वैसा ही जिनेश्वर का अप्रमत्तता का उपदेश भी असंभव है । उस मिथ्यादृष्टि श्रेष्ठिपुत्र के मिथ्यात्व का उपशमन करने के लिए, राजा ने यक्ष नाम के विद्यार्थी द्वारा मायापूर्वक अपनी माणिक्य जडित मुद्रिका श्रेष्ठिपुत्र के आभरणों में रखवा दी । इसके बाद मुद्रिका खो जाने की हलचल हुई । ढिंढोरा पीटा गया । और अन्त में

मुद्रिका क्षेष्ठिपुत्र के आभरणो में से निकली । वह पकडा गया । वह भयभीत हो गया । यक्ष नामक विद्यार्थी ने राजा स अपने मित्र को छोडने की प्रार्थना की तो राजा ने यह शर्त रखी कि 'यदि अपराधी तेल का पात्र भर कर नगरभर में घूमे और उस पात्र में से एक भी बूँद नहीं गिरने दे । यदि एक बूँद भी गिरी तो सिर उडा दिया जायगा। वह तेल-पात्र भर कर चला । साथ में खड्गधारी सैनिक थे ।

बाजार में – तिराहे-चौराहे पर नृत्यादि जलसे हो रहे थे । किन्तु वह भयभीत सेठ-पुत्र एकाग्र ही रहा । उसने दूसरी ओर ध्यान ही नहीं दिया और बिना एक भी बूँद गिराये वैसा ही पात्र राजा के सामने ले आया । राजा ने उससे नगर की शोभा और उत्सवों का हाल पूछा, तो वह बोला;–

"महाराज ! मेरा मन तो इस कटोरे में था । मैं क्या जानूँ नगर की शोभा, उत्सवों और नृत्य-नाटकों को । मैंने कुछ भी नहीं देखा – स्वामिन् !"

"अरे, तू जलसों के मध्य हो कर निकला फिर भी उन्हें नहीं देख सका ? यह कैसे हो सकता है ?"

"नरेन्द्र ! मैं जलसा देख कर क्या मौत बुलाता ? मेरे सिर पर तो मौत मँडरा रही थी । फिर मैं नृत्य देखने का शौक कैसे करता ?"

"भाई ! जिस प्रकार तू मृत्युभय से जलसों और नृत्य-नाटकों के बीच जाते हुए भी निर्लिप्त एवं अप्रमत्त रहा उसी प्रकार अप्रमत्त मुनि भी ससार में रहते हुए अप्रमत्त रहते हैं । उनके सामने भी मृत्युभय और पाप के कटु फल-विपाक का डर सदैव रहता है । वे इसीलिए ससार से उदासीन एवं अप्रमत्त रहते हैं और ससार से मुक्त होने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं ।'

यह है तेलपात्रधर का दृष्टांत । इसका सम्बन्ध अप्रमत्त सयती – महान् त्यागी निर्ग्रन्थों से है, जो अप्रमत्त या अप्रमत्तवत् होते हैं । आचार्यश्री हरीभद्रसूरिजी ने गा. ९२१ के उत्तरार्द्ध में – "सेवति अप्पमाय साहू" से और टीकाकार ने –"सेवन्तेऽप्रमादमुक्तलक्षण साधवो मोक्षार्थ मुक्तिनिमित्त उद्युक्ता उद्यमवता"– इस उदाहरण का सम्बन्ध अप्रमत्त-सयत से जोड़ा है ।

श्रीहरीभद्रसूरिजी ने गा. ९२२ में यह भी बताया है कि 'तेलपात्रधर का दृष्टांत तन्त्रान्तर – दर्शनान्तर में भी प्रसिद्ध है ।' किन्तु भरतेश्वर के चरित्र के साथ इस कथा का सम्बन्ध वास्तविक नहीं लगता ।

भ० अजितनाथजी

अर्हन्तमजित विश्व - कमलाकर भास्करम् ।
अम्लानकेवलादर्श-सक्रातजगत स्तुवे ॥ १ ॥
जयत्यजितनाथस्य जितशोणमणिश्रिय
नम्रेन्द्रवदनादर्शा पादपद्मद्वयीनखा ॥ २ ॥
कर्माहिपाशनिर्नाश - जागुलिमन्त्र सनिभम् ।
अजितस्वामीदेवस्य चरित प्रस्तवीम्यत ॥ ३ ॥

– इस विश्व रूपी सरोवर के कमलों को अपने प्रकाश द्वारा विकसित करने मे जो सूर्य के समान हैं, जिसने अपने केवलज्ञानरूपी दर्पण मे तीन जगत् को प्रतिबिबित कर लिया है, ऐसे परम पूजित भगवान् अजितनाथ की मैं स्तुति करता हूँ ।

– रक्त वर्ण की मणियो की शोभा को जीतने वाले, प्रणाम करते हुए देवेन्द्र के मुख के लिए दर्पण रूप, ऐसे भगवान् अजितनाथ के दोनो चरण-कमल के नख जयवत होवे ।

– अब कर्मरूपी सर्प के पास को नष्ट करने में जागुलिमन्त्र के समान भगवान् अजितनाथ का चरित्र प्रारम्भ किया जाता है ।

जबूद्वीप के मध्य भाग मे महाविदेह क्षेत्र है । उसमे सीता नामक महा नदी के दक्षिण तट पर 'वत्स' नामक विजय है । वह ऋद्धि सम्पत्ति और वैभव स युक्त है । कुण्डो, वापिकाआ, नदियो, वृक्षा, लताओं, मण्डपों, वनखण्डों, उपवनो, ग्रामो, नगरों और राजधानी से सुशोभित है । उसमे सूसीमा नाम की नगरी थी, जो पृथ्वी के लिए तिलक समान भूषणरूप थी और देव-नगरी के समान अद्वितीय लगती थी । विमलवाहन राजा उस नगरी का स्वामी था । वह राजा के उत्तम गुणो से युक्त था । शूर-वीर एव पराक्रमी विमल-वाहन से चारों ओर के अन्य राजा झुके हुए रहते थे । वह सज्जना का पालन और महात्माओं की भक्ति करने में भी तत्पर रहता था । दुर्वासना और अधम विचार उसके मन मे स्थान ही नहीं पा सकते थे ।

एक दिन उसे बैठे-बैठे यों ही विचार हुआ-"धिक्कार है इस ससार रूपी समुद्र को कि जिसमें विविध प्रकार की योनि रूप लाखों भँवर पड रहे हैं और उन भँवरो में पड कर अनन्त जीव दु खी हो रहे हैं । इन्द्रजाल के समान इस ससार में कभी उत्पत्ति और कभी विनाश, कभी सुख तो कभी दु ख, कभी हर्ष तो कभी शोक और कभी उत्थान तो कभी पतन से सभी जीव मोहित हो रहे हैं । यौवन पताका के समान चञ्चल है । जीवन कुशाग्र बिन्दुवत् नाशवान है । मनुष्य-जन्म की प्राप्ति

युग-शमिला प्रवेश तुल्य महा कठिन है । जिस प्रकार अर्द्ध रज्जु प्रमाण महाविशाल स्वयभूरमण समुद्र की एक दिशा के किनारे, गाड़ी का जूआ डाला हो और उसके दूसरी ओर उसकी शमिला डाली हो उन दोना का तैरते हुए एक दूसरे के निकट आना और शमिला का अपने-आप जूए में पिरो जाना जितना कठिन है, उससे भी अधिक कठिन है – एक बार हारा हुआ मनुष्य-जन्म पुन प्राप्त करना । ऐसे महत्वपूर्ण नरभव को पा कर भी जो धर्म की आराधना नहीं कर के विषय-कषाय में नष्ट कर दता है, वह अधोगति को प्राप्त हो कर दु ख-परम्परा वढा लेता है ।"

वैराग्य का निमित्त

राजा इस प्रकार सोच रहा था । वह चाहता था – यदि किसी महात्मा का पदार्पण हो जाय तो अपना जन्म सफल करूँ । पुण्यवान् की इच्छा पूरी होने में विशेष विलम्ब नहीं होता । आचार्य श्री अरिदमन मुनिराज का पदार्पण हो गया । राजा ने सुना कि नगर के बाहर उद्यान में आचार्य महाराज पधार गये हैं, तो उसके हर्ष का पार नहीं रहा । वह तत्काल वन्दना करने पहुँचा । वे आत्मारामी महामुनि ब्रह्मचर्य के तेज से देदीप्यमान्, सयम और तप के महाकवच से सुरक्षित और अनेक गुणों के भण्डार थे । उनके शिष्या मे से कोई एक वृक्ष के नीचे बैठ कर स्वाध्याय में रम रहा था, तो कोई एकाग्रतापूर्वक अनुप्रेक्षा कर रहा था । कुछ सत आपस में तत्त्व-चर्चा कर रहे थे । एक वृक्ष के नीचे, एक उपाध्याय मुनिवर, कुछ साधुओं को श्रुत का अभ्यास करा रहे थे । एक ओर सत गोदाहासन से बैठ कर ध्यान कर रहे थे, तो कई विविध आसनों से तप कर रहे थे । राजा ने आचार्यश्री को वन्दना की और आचार्यश्री की अवग्रह-भूमि छोड कर विनयपूर्वक सामने बैठ गया । आचार्यश्री ने धर्मोपदेश दिया । राजा की वैराग्य भावना बढी । उसने निवेदन किया--

"भगवन् ! ससार अनन्त दु खो की खान है । दु खानुभव करते हुए भी जीवों को वैराग्य उत्पन्न नहीं होता, फिर आप ससार से विरक्त कैसे हुए ? ऐसा कौन-सा निमित्त उपस्थित हुआ जिससे आप निर्ग्रंथ बने ?"

आचाय अपनी प्रव्रज्या का निमित्त बताते हुए बोले - "राजन् !" "वैराग्य के निमित्तों से तो सारा ससार भरा हुआ है । जिधर देखो उधर वैराग्य के निमित्त उपस्थित हैं । इनमें से प्रत्येक विरागी को अपने योग्य निमित्त मिल जाता है । मेरे विरक्त होने का निमित्त इस प्रकार बना ।"

"मैं एक बार सेना ले कर दिग्विजय करने निकला । मार्ग में एक अत्यन्त सुन्दर बगीचा मेरे देखने में आया । गहरी छाया सुगन्धित एव सुन्दर पुष्प अनेक प्रकार के उत्तम फल, स्वच्छ और मीठे पानी के झरने, लतामण्डपों और कुञ्जों से वह बगीचा रमणीय एव मनोहर था । वह मुझे नन्दन वन या भद्रशाल वन जैसा लगा । मैंने उस बगीचे में आराम किया और उसकी उत्तमता पर मोहित हो गया । किन्तु जब मैं दिग्विजय कर के पुन उसी रास्ते से लौटा और उस बगीचे के पास आया, तो देखता हूँ कि उसका तो सारा रूप ही पलट चुका था । बगीचे की समस्त शोभा एव सुन्दरता नष्ट हो चुकी थी । वह एकदम

सूख कर नष्ट हो चुका था । उसमे हरियाली और छाया का नाम ही नहीं रहा था । सूखे हुए वृक्षो के ठूँठ, पत्तो के ढेर, मरे हुए पक्षियो और सर्पादि की दुर्गन्ध से वह विरूप एव घृणास्पद हो रहा था । यह देख कर मेरे मन मे विचार हुआ । मैने सोचा - सभी ससारी जीवों की ऐसी ही दशा होती है ''

''जो पुरुष, कामदेव के समान अत्यत सुन्दर दिखाई देता है, वही कालान्तर मे भयकर रोग होने पर एकदम कुरूप हो जाता है । जिसकी वाणी सुभाषित एव वृहस्पति के समान प्रखर विद्वत्तापूर्ण है वही कभी जिह्वा के स्खलित हो जाने से गूँगा हो जाता है । जिसकी चाल, गज और वृषभ के समान प्रशस्त है, वही कभी वात रोग या आघात आदि से पगु हो जाता है । सुन्दर आँखो वाला अन्धा हो जाता है । इसी प्रकार मनुष्यो का शरीर यौवन और वैभव परिवर्तनशील है । सुन्दर से असुन्दर, अरम्य अक्षम हो कर नष्ट हो जाता है । इस प्रकार विचार करते मुझे वैराग्य हो गया और मैं महाव्रतधारी [illegible] बन गया ।''

आचार्यश्री की वाणी सुन कर राजा भी विरक्त हो गया और राज्य का भार पुत्र को [illegible] आचार्यश्री के पास प्रव्रज्या स्वीकार कर ली । सयम और तप का शुद्धतापूर्वक पालन करते हुए [illegible] उत्तम आराधना करते हुए विमलवाहन मुनिवर ने तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध किया और [illegible] के विजय नाम के अनुत्तर विमान मे उत्पन्न हुए । वहाँ उनकी देह एक हाथ प्रमाण [illegible] पुद्गलो से प्रकाशमान थी । आयु थी तैंतीस सागरोपम प्रमाण । उत्तम सुखों में [illegible] हुए देवभव पूर्ण किया ।

तीर्थंकर और चक्रवर्ती का जन्म

जम्बूद्वीप के भरत-क्षेत्र में विनीता नाम की नगरी थी । यह वही [illegible] हुए । भगवान् आदिनाथ के बाद सम्राट भरत आदि असख्य नरेश [illegible] इक्ष्वाकु वश में हुए । उनमें से बहुत-से निर्ग्रंथ बन कर मोक्ष प्राप्त हुए [illegible] में गये । उसी इक्ष्वाकु वश मे ''जितशत्रु'' नाम का महापराक्रमी [illegible] नाम सुमित्र विजय था । यह भी असाधारण पराक्रमी था और युव[illegible] था । जितशत्रु नरेश के 'विजयादेवी' नाम की महारानी थी और सुमित्र[illegible]' था । वे [illegible] महिलाएँ रूप और गुणो से सुशोभित थी ।

वैशाख-शुक्ला तेरस को विमलवाहन [illegible] विजय नाम के अनुत्तर विमान से आ कर [illegible] महा स्वप्न देखे । उसी रात को युव[illegible] किन्तु श्रीमती विजयादेवी के स्वप्नों [illegible] पाठकों से स्वप्नो का अर्थ करा[illegible]

गर्भ में लोकोत्तम लोकनाथ तीर्थंकर भगवान् का जीव आया है और युवराज्ञी वैजयती के गर्भ मे चक्रवर्ती सम्राट भरत के समान चक्रवर्ती होने वाला भाग्यशाली जीव आया है ।

माघ-शुक्ला अष्टमी की रात्रि को महारानी विजयादेवी की कुक्षि से एक लोकोत्तम पुत्र-रत्न का जन्म हुआ । सर्वत्र दिव्य प्रकाश फैल गया । नारक जीव भी कुछ समय के लिए सभी दु खो को भूल कर सुख का अनुभव करने लगे । छप्पन कुमारी देवियें, चौसठ इन्द्र-इन्द्रानियाँ, देव और देवागनाओं ने भारत-भूमि पर आ कर तीर्थंकर का जन्मोत्सव किया।

प्रभु के जन्म के थोडी देर बाद ही युवराज्ञी वैजयती ने भी पुत्र-रत्न को जन्म दिया। पुत्र और भतीजे के जन्म की बधाई पा कर महाराज जितशत्रु की प्रसन्नता का पार नहीं रहा। उन्होने बधाई देने वाले का पीढिया का दारिद्र दूर कर मालामाल कर दिया और दासत्व से मुक्त भी । उत्सवों की धूम मच गई । शुभ मुहूर्त मे पुत्रों का नामकरण हुआ । महारानी विजयादेवी के गर्भ के दिनों में महाराज के साथ पासे के खेल में सदा महारानी की ही जीत होती है । वह महाराज से अजित ही रही । इस जीत को गर्भ का प्रभाव मान कर बालक का नाम 'अजित' रखा गया । यही अजित आगे चल कर भगवान् 'अजितनाथ' के नाम से प्रसिद्ध हुआ । युवराज के पुत्र का नाम 'सगर' रखा जो दूसरा चक्रवर्ती हुआ ।

सभी जिनेश्वर पूर्व-भव से ही तीन ज्ञान साथ ले कर माता के गर्भ मे आते हैं । तीर्थंकर नामकर्म की महान् पुण्य-प्रकृति का यह नियम है । श्री अजितकुमार भी तीन ज्ञान से युक्त थे । इसलिए उन्हें अध्यापको से पढाने और कलाएँ सिखाने की आवश्यकता नहीं थी । किन्तु सगरकुमार को विद्याध्ययन कराया जाने लगा । सगरकुमार की बुद्धि भी तीव्र थी । वे थोडे ही दिनों में शब्द-शास्त्रों का पढ गए और सभी कलाओ में पारगत हो गए। विद्याध्ययन करते हुए कुमार के मन में जो जिज्ञासा उत्पन्न होती, उनका समाधान करना उपाध्याय के लिए कठिन होता किन्तु श्री अजितकुमार उनका ऐसा समाधान करते कि जिससे पूर्ण सतोष हो जाता और विशेष समझने को मिलता तथा पुन पूछने - समझने की इच्छा होती है ।

दोनों कुमार बालवय को पार यौवन अवस्था को प्राप्त हुए । वे वज्र-ऋषभनाराच सहनन, समचतुरस्र सस्थान, स्वर्ण के समान कान्ति से सुशोभित और अनेक उत्तम लक्षणा से युक्त थे । श्री अजितकुमार का सैकडों राजकन्याओं के साथ लग्न किया गया और सगरकुमार का भी विवाह किया गया । उदय म आये हुए भोग-फल देने वाले कर्मों का विचार कर के श्री अजितकुमार को लग्न करना पड़ा । वे रोग के अनुसार औषधी के समान भोग प्रवृत्ति करने लगे । जब श्री अजितकुमार अठारह लाख पूर्व के हुए, तब महाराजा जितशत्रु ने ससार से विरक्त हो कर मोक्ष-पुरुषार्थ साधने की इच्छा से पुत्र को राज्यभार ग्रहण करने के लिए प्रेरित किया तब श्री अजितकुमार ने पिता से निवेदन किया-

"हे पिताश्री । ससार का त्याग कर के मोक्ष की साधना करना आपके लिए भी उत्तम है मेरे

लिए भी और सभी मनुष्यो के लिए आवश्यक है । यदि भोगफलदायक कर्म बाधक नहीं बनते हों, तो मेरे लिये भी निर्ग्रन्थ धर्म का पालन करना आवश्यक है । जो मनुष्य विवेकवत होता है, वह उत्तम साधना मे आगे बढने वाली भव्य आत्मा के मार्ग में बाधक नहीं बनता, अपितु सहायक बनता है । मैं भी आपश्री के निष्क्रमण मे बाधक नहीं बनूँगा । आप प्रसन्नतापूर्वक निर्ग्रन्थ दीक्षा ग्रहण करें, किन्तु राज्याधिकार मेरे लघुपिता (काका) युवराज श्री सुमित्रविजय को प्रदान कीजिये । ये सभी प्रकार से योग्य है ।''

श्री अजितकुमार की बात को बीच मे ही रोकते हुए युवराज सुमित्रविजय बोले -

''मैं किसी भी प्रकार से इस ससारी राज्य के जजाल में नहीं पडता । मैं भी मेरी ज्येष्ठ-बन्धु के साथ शाश्वत राज्य पाने का पुरुषार्थ करूँगा । शाश्वत राज्य पाने के लिए पहले खुद को अजर-अमर बनना पडता है । मैं भी जन्म-मरण के महारोग को नष्ट कर के सादि-अनन्त जीवन पीने के लिए प्रव्रजित बनूँगा और अनन्त आनन्द के धाम ऐसे महारण्य का अधिनायक होऊँगा । मैं अब आपका साथ छोडना नहीं चाहता ।''

श्री अजितकुमार ने ज्ञानोपयोग से सुमित्रविजय के प्रव्रजित होने में विलम्ब जान कर निवेदन किया-

''यदि आपकी इच्छा राज्यभार लेने की नहीं हो, तो आप भाव यति के रूप मे कुछ काल तक गृहवास में रहें । यह हमारे लिए उचित होगा ।'' महाराजा जितशत्रु ने भी भाई को समझाते हुए कहा-

''भाई ! तुम कुमार की बात मत टालो । ये स्वय तीर्थंकर हैं । इनके शासन में तुम्हारी सिद्धि होगी और सगरकुमार चक्रवर्ती नरेन्द्र होगा । इसलिए तुम अभी भाव-त्यागी रह कर ससार में रहो ''

सुमितविजय ने अपने ज्येष्ठ-बन्धु का वचन स्वीकार किया । महाराजा जितशत्रु ने उत्सवपूर्वक अजितकुमार का राज्याभिषेक किया । श्री अजित नरेश ने सगरकुमार को युवराज पद पर प्रतिष्ठित किया । जितशत्रु महाराज निष्क्रमण उत्सवपूर्वक प्रव्रजित हुए । वे भगवान् ऋषभदेवजी की परम्परा के स्थविर मुनिराज के अन्तेवासी हुए और चारित्र की विशुद्ध आराधना कर के केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त कर मोक्ष में चले गए ।

महाराज अजितनाथजी का राज्य सचालन सुखपूर्वक होने लगा । उनके महान् पुण्योदय से अन्य राजागण अपने आप उनके प्रति भक्तिमान हो कर आधीन हो गए । प्रजा में न्याय, नीति और सौहार्द्र की वृद्धि हुई । सुख-सम्पत्ति से राज्य की प्रजा सतुष्ट हुई । दुष्काल रोग और विग्रह का तो नाम ही नहीं रहा । इस प्रकार तिरपन लाख पूर्व तक प्रजा का पालन करते रहे । अब उनके भोगावली कर्म बहुत कुछ क्षीण हो चुके थे । निष्क्रमण का समय निकट आ रहा था । एक बार एकान्त मे चिन्तन करते हुए आपने विचार किया कि- ''अब मुझे यह राज्य-प्रपञ्च भोग और सासारिक सम्बन्धों को छोड कर अपना ध्येय सिद्ध करने के लिए तत्पर हो जाना चाहिए । बन्धनों का छेदन कर निर्ग्रन्थ

निष्कलक और निर्विकार होने के लिए साधना करने में अब विलम्ब नहीं करना चाहिए ।" इस प्रकार का चिन्तन उनके मन मे होने लगा । उधर लोकान्तिक देव भी स्वर्ग से चल कर प्रभु के सम्मुख उपस्थित हुए और विनयपूर्वक निवेदन करने लगे,-

"भगवान् ! आप स्वयबुद्ध हैं । हम आपको क्या उपदेश करें ? फिर भी हम अपना कर्त्तव्य पालन करने के लिए निवेदन करत हैं कि - प्रभो ! अब धर्म-तीर्थ का प्रवर्तन कर के भव्य जीवो का उद्धार करें ।"

इस प्रकार निवेदन किया और प्रणाम कर के स्वधाम चले गये । देवो के निवेदन से महाराजा अजितनाथजी की विचारणा को प्रोत्साहन मिला और उन्होने तत्काल युवराज सगर कुमार को बुला कर कहा,-

"भाई ! अब इस राज्यभार को तुम वहन करो । मैं अब इस प्रपञ्च से निकल कर निवृत्ति के परम पथ पर प्रयाण करना चाहता हूँ । सम्हालो इस भार को । मैं अब ऐसे किसी भी बन्धन मे रहना नहीं चाहता ।"

श्री अजितनाथजी के उपरोक्त वचन, युवराज सगर के लिए क्लेश का कारण बन गये । वे गद्गद् हो कर बोले -

"देव ! मैने आपका ऐसा कौन-सा अपराध किया, जिसके दण्ड स्वरूप आप मुझ पर यह भार लादना चाहते हैं और मुझे छोड कर पृथक् होना चाहते हैं । मैं आपकी छाया के बिना अकेला कैसे रह सकूँगा । आपको खो कर पाया हुआ यह राज्य मेरे लिए दु खदायक ही होगा । मुझे जो सुख आपकी सेवा में मिलता है, वह राज्य में कदापि नहीं मिलेगा । इसलिए प्रभो ! अपना यह विचार छोड़ दीजिये और मुझे आप अपनी छाया में ही रहने दीजिये । यदि आपको ससार त्याग कर निर्ग्रन्थ बनना ही है, तो मैं भी आपके साथ ही रहूँगा । मैं आपसे पृथक् नहीं हो सकता ।"

सगर का राज्याभिषेक और प्रभु की प्रव्रज्या

श्री अजितनाथजी ने भाई को समझाया और अन्त में भारपूर्वक आज्ञा प्रदान करते हुए कहा- "मैं आज्ञा देता हूँ कि तुम राज्य का भार सँभालो । मैं अब यह भार तुम्हे सौंपता हूँ ।"

दुखित मन से प्रभु की आज्ञा शिरोधार्य कर के युवराज ने राज्यारोहण स्वीकार किया । प्रभु ने महान् उत्सव के साथ सगरकुमार का राज्याभिषेक किया और स्वय वर्षीदान देने लगे । वर्षीदान हो चुकने पर शक्रेन्द्र का आसन चलायमान हुआ । वह प्रभु के समीप आया । अन्य सभी इन्द्र और देव-देवियें आई और भगवान् अजितनाथ का दीक्षा महोत्सव हुआ । 'सुप्रभा' नामकी शिविका में भगवान् को विराजमान कर के नरनारियों और देव-देवियों के समूह के साथ महान् धूमधाम से 'जे जे नन्दा जे जे भद्दा'-मगल शब्दों का उच्चारण करते हुए सहस्रामवन उद्यान में लाये ।

माघ मास के शुक्ल पक्ष की नौवीं तिथि के दिन, सायकाल के समय जब चन्द्रमा रोहिणी नक्षत्र

में आया, प्रभु ने बेले के तप सहित प्रव्रजित होने के लिए वस्त्रालकार उतारे और इन्द्र का दिया हुआ देवदूष्य धारण किया । पचमुष्ठि लोच किया और सिद्ध भगवत को नमस्कार कर के सामायिक चारित्र स्वीकार किया । सामायिक चारित्र स्वीकार करते समय भगवान् प्रशस्त भावो के उत्तम रस युक्त अप्रमत्त गुणस्थान में स्थित थे । उन्हे उसी समय विशेष रूप से मन पर्यय ज्ञान उत्पन्न हो गया । यह जीवों के मनोगत भावो को बताने वाला चौथा ज्ञान है । भगवान् के साथ एक हजार राजाओ ने भी प्रव्रज्या स्वीकार की । इन्द्रादिदेव, सगर नरेश और सभी जन अपने-अपने स्थान गये । दीक्षा के दूसरे दिन प्रभु के बेले का प्रथम पारणा, ब्रह्मदत्त राजा के यहाँ क्षीरान्न से हुआ । वहाँ दिव्य वृष्टि हुई । प्रभु ग्रामानुग्राम विहार करने लगे ।

दीक्षित होने के बाद बारह वर्ष तक भगवान् अजितनाथजी छद्मस्थपने विचरते रहे । अब प्रभु की अनादि छद्मस्थता का अन्त होने का समय आ गया था । अनादिकाल से लगा हुआ कषायो का मल आज पूर्णतया नष्ट होने जा रहा था । पौष शुक्ला ११ के दिन सहस्राम्रवन उद्यान मे बेले के तप से घातीकर्मों का घात करने वाली क्षपक-श्रेणी का आरभ हुआ । ध्यानस्थ दशा में अप्रमत्त नामक सातवें गुणस्थान से प्रभु ने 'अपूर्वकरण' नामक आठवें गुणस्थान में प्रवेश किया ।

श्रुत के किसी शब्द का चिन्तन करते हुए अर्थ चिन्तन मे और अर्थ का चिन्तन करते हुए शब्द पर ध्यान लगाते हुए, अनेक प्रकार के श्रुत विचार वाले 'पृथक्त्व वितर्क सविचार' नामक शुक्लध्यान के प्रथम चरण को प्राप्त हुए । इस आठवें गुणस्थान मे अन्तर्मुहूर्त रह कर और ध्यान-बल से हास्य, रति अरति, भय, शोक और जुगुप्सा मोहनीय कर्म की इन छह प्रकृतियो को नष्ट करके "अनिवृत्ति बादर" नामक नौवें गुणस्थान मे आये । ध्यान-शक्ति बढती गई और वेदमोहनीय की प्रकृतियाँ तथा कषायमोहनीय के सज्वलन के क्रोध मान और माया को नष्ट करते हुए 'सूक्ष्म-सम्पराय' नामक दसवें गुणस्थान में प्रवेश हुआ । ज्यो ज्यो मोह क्षय होता गया, त्यों त्यो आत्म-सामर्थ्य प्रकट होता गया और गुणस्थान बढते गये । मोहनीय कर्म का समूल, सर्वथा नाश कर के प्रभु क्षीणमोह गुणस्थान में आये। यहाँ तक शुक्लध्यान का प्रथम चरण कार्य सार्थक बना । इसके बल से मोहनीय कर्म नष्ट हो गया और परम वीतरागता प्रकट हो गई ।

बारहवें गुणस्थान के अतिम समय मे शुक्ल-ध्यान का "**एकत्त्व-वितर्क-अविचार**" नामक दूसरा चरण प्रारम्भ हुआ । इस ध्यान में प्रथम चरण के समान शब्द से अर्थ पर और अर्थ से शब्द पर ध्यान जाने की स्थिति नहीं रहती । इसमे स्थिरता बढती है और एक ही वस्तु पर ध्यान स्थिर रहता है । चाहे शब्द पर हो या अर्थ पर । इस दूसरे चरण के प्राप्त होते ही ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय, ये तीनों घातीकर्म एक साथ नष्ट हो गए । इनके नष्ट होते ही तेरहवें गुणस्थान म प्रवेश हुआ ।

भगवान् अजितनाथजी सर्वज्ञ सर्वदर्शी बन गए । वे तीनो लोक के तीनों काल के, समस्त द्रव्यों की सभी पर्यायो को हाथ में रही हुई वस्तु के समान सहज भाव से जानने लगे ❂।

देवों और इन्द्रो ने प्रभु का केवलज्ञान उत्पत्ति का महोत्सव किया । समवसरण की रचना हुई। उद्यानपालक ने महाराजा 'सगर' को बधाई दी । महाराजा बडे हर्ष उल्लास और आडम्बरपूर्वक भगवान् को वन्दन करने आये । भगवान् ने अपनी अमोघ देशना प्रारम्भ की ।

धर्म देशना - धर्मध्यान

''सुखार्थियों ! जीव अज्ञान से इतने व्याप्त हैं कि उन्हे हिताहित का वास्तविक बोध ही नहीं होता । जिस प्रकार अज्ञान के कारण जीव काँच को वैडूर्यमणि समझ कर ग्रहण कर लेता हैं, उसी प्रकार इस दु खमय असार ससार को सुखमय एव सारयुक्त मानता है । अज्ञान के कारण विविध प्रकार के बँधते हुए कर्मों से प्राणियों का ससार बढ़ता ही जा रहा है । कर्मों की वृद्धि से ससार बढ़ता है और कर्मों के अभाव से ससार का अभाव होता है । इसलिए विद्वानो को कर्मों के नाश करने का ही उपाय करते रहना चाहिए ।

दुर्ध्यान से कर्मों की वृद्धि होती है और शुभ ध्यान से कर्मों का नाश होता है । कर्म-मैल को समूल नष्ट करने वाले शुभ ध्यान का स्वरूप इस प्रकार है -

धर्मध्यान - आज्ञा, अपाय, विपाक और सस्थान चितन रूप चार प्रकार का है ।

आज्ञा - विचय

आप्त पुरुषों का वचन 'आज्ञा' कहलाती है । यह आज्ञा कहलाती है । यह आज्ञा दो प्रकार की होती है- एक है 'आगम आज्ञा' और दूसरी है -'हेतुवाद आज्ञा' । जो शब्द से ही पदार्थों का प्रतिपादन करता है, वह 'आगम' कहलाता है और जो दूसरे प्रमाणों के सवाद से पदार्थों का प्रतिपादन करता है, वह 'हेतुवाद' कहलाता है ।

आगम और हेतुवाद के तुल्य प्रमाण से एव निर्दोष कारणों से जो आरभ हो वह लक्षण से 'प्रमाण'

❂ शुक्ल-ध्यान का दूसरा चरण प्राप्त होते ही सर्वज्ञता-सर्वदर्शिता प्रकट हो जाती है । इसके साथ ही ध्यानान्तर दशा होती है । शुक्ल-ध्यान के प्रथम के दो चरण श्रुतावलम्बी है । केवलज्ञान उत्पन्न होने पर श्रुत का अवलम्बन नहीं रहता और अवलम्बन नहीं रहता तो ध्यान भी नहीं रहता । फिर ध्यानान्तर दशा चलती है वह जीवन के अन्तिम घण्टों तक रहती है । जब जीवन का अन्तिम समय निकट आता है तब शुक्ल-ध्यान का तीसरा चरण ''सूक्ष्मक्रिया-अनिवर्ती'' प्राप्त होता है । इसमें योगों का निरोध होता है । अन्तर्मुहूर्त के बाद ''अयोगी-केवली'' नामक चौदहवाँ गुणस्थान प्राप्त होता है और ''समुच्छिन्न-क्रिया अप्रतिपाती'' नामक शुक्ल ध्यान का चौथा भेद भी । इसमें ''शैलेशीकरण'' हो कर आत्मा, पर्वत के समान अडोल निष्कम्प एव स्थिर होती है । यहाँ कायिकी आदि सूक्ष्म क्रियाएँ भी नष्ट हो जाती है, और पाँच ह्रस्वाक्षर उच्चारण जितना काल रह कर आत्मा मोक्ष धाम को प्राप्त हो जाती है । फिर वहाँ सदा-सर्वदा के लिए स्थिर हो जाती है और परमानन्द परम सुख एव परम शान्ति में रहती है ।

कहलाता है । राग, द्वेष और मोह 'दोष' कहलाते हैं । इनको सर्वथा नष्ट करने के कारण, अर्हंत में ये दोष बिलकुल नहीं होते । इसलिए ये दोष रहित आत्मा से उत्पन्न हुआ अर्हंतो का वचन प्रमाण होता है । अर्हंतो का वचन, नय और प्रमाण से सिद्ध, पूर्वापर विरोध रहित, अन्य बलवान शासनों से भी बाधित नहीं होने वाला, अग उपाग एव प्रकीर्णादि बहुत-से शास्त्र रूपी नदियों के मिलने से समुद्र रूप बना हुआ, अनेक प्रकार के अतिशयो की साम्राज्य-लक्ष्मी से सुशोभित, दुर्भव्य मनुष्यो के लिए दुर्लभ, भव्य जीवो के लिए सुलभ, आचार्य के लिए रत्न-भण्डार के समान और मनुष्यों तथा देवों के लिए सदैव स्तुति करने योग्य है । ऐसे आगम-वचनों की आज्ञा का अवलम्बन कर के, स्याद्वाद न्याय के योग से द्रव्य और पर्याय रूप से, नित्यानित्य वस्तुओं का विचार करना और स्वरूप तथा पर रूप से सत् असत् रूप में रहे हुए पदार्थों मे स्थिर प्रतीति करना- **'आज्ञा-विचय'** ध्यान कहलाता है ।

अपाय-विचय

जिन जीवों ने जिनमार्ग का स्पर्श ही नहीं किया, जिन्होने परमात्मा को जाना ही नहीं और जिन्होंने अपने भविष्य का विचार ही नहीं किया, ऐसे जीवों को हजारों अपाय (विघ्न-सकट) उठाने पडते हैं । जिसका चित्त माया-मोह के अधकार से परवश हो गया है, ऐसा प्राणी अनेक प्रकार के पाप करता है और अनेक प्रकार के अपाय (कष्ट-दु ख) सहता है । ऐसा दु खी प्राणी यदि विचार करे कि-

''नारकी तिर्यंच और मनुष्यों में मैंने जो-जो दु ख भुगते हैं, वे सभी मैंने अपने अज्ञान और प्रमाद से ही उत्पन्न किये थे । परम बोधिबीज को प्राप्त करने पर भी अविरत रह कर मन, वचन और काया की कुचेष्टाओ से मैंने अपने ही मस्तक पर अग्नि प्रज्वलित करने के समान पाप-कृत्य किया और दु खी हुआ । बोधिरत्न (सम्यग्दर्शन) प्राप्त कर लेने पर मोक्षमार्ग मेरे सामने खुला हुआ था, किन्तु मैंने उसकी उपेक्षा की और कुमार्ग पर रुचिपूर्वक चलता रहा । इस प्रकार मैंने स्वय ने ही अपनी आत्मा को अपायो के गर्त में गिरा दिया । जिस प्रकार उत्तम राज्य-लक्ष्मी प्राप्त होते हुए भी (अत्यागी) मूर्ख मनुष्य, भीख माँगने के लिए भटकता रहता है, उसी प्रकार मोक्ष का साम्राज्य प्राप्त करना मेरे अधिकार में होते हुए भी मैं अपनी आत्मा को ससार में परिभ्रमण करा रहा हूँ और दु ख परम्परा का निर्माण कर रहा हूँ । यह मेरी कितनी बुरी वृत्ति है । इस प्रकार राग द्वेष और मोह से उत्पन्न होते हुए अपायो का चिन्तन किया जाय उसे **'अपाय-विचय'** नाम का धर्म-ध्यान कहते हैं ।

विपाक - विचय

कर्म के फल को 'विपाक' कहते हैं । यह विपाक शुभ और अशुभ, दो प्रकार का होता है और द्रव्य-क्षेत्रादि की सामग्री से यह विपाक विचित्र रूप में अनुभव में आता है ।

द्रव्य - विपाक - स्त्री, पुष्पों की माला और रुचिकर खाद्य आदि द्रव्यों के उपभोग से 'शुभ विपाक' कहलाता है और सर्प शस्त्र अग्नि तथा विष आदि से जो दु खद अनुभव होता है वह 'अशुभ विपाक' कहलाता है ।

क्षेत्र-विपाक – प्रासाद, भवन, विमान और उपवनादि में निवास करना शुभविपाक रूप है और श्मशान, जगल, अटवी आदि में विवश हो कर रहना, अशुभ विपाक रूप है ।

काल-विपाक – शीत और उष्ण से रहित ऐसी बसत आदि ऋतु में भमण करना शुभ विपाक है और शीत, उष्ण की अधिकता वाली हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु में भ्रमण करना पडे तो यह अशुभ विपाक है ।

भाव-विपाक – मन की प्रसन्नता और सतोष में शुभ विपाक और क्रोध, अहकार तथा रौद्रादि परिणति में अशुभ विपाक होता है ।

भव-विपाक – देव-भव और भोग-भूमि सम्बन्धी मनुष्यादि भव में शुभ विपाक और कुमनुष्य (जहाँ पापाचार की मुख्यता हो, जिनके सस्कार अशुभ हो और अशुभ कर्मों के उदय से अनेक प्रकार के अभाव दरिद्रतादि दु ख भोग रहे हों) तिर्यंच तथा नरकादि भव मे अशुभ विपाक होता है । कहा भी है कि-

"द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भव को प्राप्त कर, कर्मों का उदय, क्षय, क्षयोपशम और उपशम होता है ।" इसी प्रकार प्राणियों को द्रव्यादि सामग्री के योग से कर्म अपना फल देते हैं ।

कर्म के मुख्यत आठ भेद हैं । यथा –

१ **ज्ञानावरणीय**-जिस प्रकार आँखों पर पट्टी बाँधने से, नेत्र होते हुए भी दिखाई नहीं देता उसी प्रकार जिस कर्म के आवरण से सर्वज्ञ स्वरूपी जीव की ज्ञान-शक्ति दब जाती है वह ज्ञानावरणीय कर्म कहलाता है । इसके १ मति २ श्रुत ३ अवधि ४ मन पर्यय और ५ कवलज्ञानावरण, ये पाँच भेद हैं ।

२ **दर्शनावरणीय** – पाँच प्रकार की निद्रा और चार प्रकार के दर्शन क आवरण से दर्शन-शक्ति को दबाने वाला कर्म । जिस प्रकार पहरेदार, राजा आदि के दर्शन होने में रुकावट डालता है, उसी प्रकार दर्शन-शक्ति को रोकने वाला ।

३ **वेदनीय** – तलवार की तीक्ष्ण धार पर रहे हुए मधु को चाटने के समान यह कर्म है । जिस प्रकार तलवार की धार पर रहे हुए मधु को चाटने से मधु की मिठास के साथ जीभ कटने की दु खदायक वेदना भी होती है, उसी प्रकार सुखरूप और दु खरूप या दो प्रकार से वेदन कराने वाला कर्म ।

४ **मोहनीय** – आत्मा को मोहित करने वाला । जिस प्रकार मद्यपान स मोहमस्त हुआ व्यक्ति, हिताहित और उचितानुचित नहीं समझ सकता उसी प्रकार दर्शन-मोह के उदय से मिथ्यादर्शनी हो जाता है और चारित्र-मोहनीय कर्म के उदय से विरति-चारित्रिक परिणति रुक कर जीव सदाचार से वंचित रहता है ।

५ **आयु** – यह बन्दीगृह के समान है । इसके उदय से जीव नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देवगति में अपने आयु के अनुसार रहता है ।

६ नाम - यह कर्म चित्रकार के समान है । इसका प्रभाव शरीर पर होता है । इससे जाति आदि की विचित्रता होती है ।

७ गोत्र - यह ऊँच और नीच ऐसे दो भेद वाला है । यह कुभकार जैसा है । जिस प्रकार कुभकार क्षीर्य-पात्र भी बनाता है और मदिरा-पात्र भी, उसी प्रकार इस कर्म का परिणाम होता है ।

८ अन्तराय - इसकी शक्ति से दान, लाभ और भोगादि मे बाधा उत्पन्न होती है । जिस प्रकार राजा द्वारा दिये हुए पुरस्कार मे भडारी बाधक होता है, उसी प्रकार यह कर्म भी दान-लाभादि में बाधक बनता है ।

इस प्रकार कर्म की मूल-प्रकृति के फल-विपाक का चिन्तन करना, 'विपाक-विचय' धर्मध्यान कहलाता है ।

सस्थान-विचय

जिसमें उत्पत्ति, स्थिति, लय और आदि अन्त-रहित लोक की आकृति का चिन्तन किया जाय, वह 'सस्थान-विचय' ध्यान कहलाता है ।

इस लोक की आकृति उस पुरुष जैसी है, जो अपने पाँव फैला कर और कमर पर दोनों हाथ रख कर खडा हो । लोक उत्पत्ति स्थिति और नाश रूपी पर्याया (अवस्थाओ) वाले द्रव्यो से भरा हुआ है । नीचे यह वेत्रासन (बेंत के बने हुए आसन-कुर्सी) जैसा है मध्य मे 'झालर' जैसा और ऊपर 'मृदग' की आकृति के समान है । यह लोक तीन जगत् से व्याप्त है । इसमें प्रबल 'घनोदधि' (बर्फ अथवा जमे हुए घृत से भी अधिक ठोस पानी) 'घनवात' (ठोस वायु) और तनुवात' (पतला वायु) से सात पृथ्विये घिरी हुई हैं । अधोलोक, तिर्यक्लोक और ऊर्ध्वलोक के भेद से यह 'तीन लोक' कहलाता है । रुचक-प्रदेश की अपेक्षा से लोक के तीन विभाग होते हैं । मेरु-पर्वत के भीतर, मध्य में गाय के स्तन की आकृति वाले और चार आकाश प्रदेश को रोकने वाले, चार रुचक-प्रदेश ऊपर और चार आकाश प्रदेश को रोकने वाले चार रुचक-प्रदेश नीचे, यो आठ प्रदेश हैं । उन रुचक प्रदेशों के ऊपर और नीचे नौ सौ नौ सौ योजन तक तिर्यक्लोक कहलाता है । इस तिर्यक्लोक के नीचे अधोलाक है । अधोलोक नौ सौ योजन कम सात रज्जु प्रमाण है । अधोलोक में क्रमश सात पृथ्वियाँ हैं । इनमें नपुसकवेद वाले नारक जीवो के भयानक निवास हैं ।

उन सात पृथ्वियो के नाम अनुक्रम से - रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा, पकप्रभा, धूम्रप्रभा, तम प्रभा और महातम प्रभा हैं । इन पृथ्वियो की मोटाई (जाडाई) पहली रत्नप्रभा से लगा कर नीचे अनुक्रम से - एक लाख अस्सी हजार एक लाख बत्तीस हजार, एक लाख अट्ठावीस हजार एक लाख बीस हजार एक लाख अठारह हजार, एक लाख सोहल हजार और एक लाख आठ हजार योजन हैं । इनमें से रत्नप्रभा नाम की पहली पृथ्वी में तीस लाख नरकावास हैं । दूसरी में पच्चीस लाख तीसरी में पन्द्रह लाख, चौथी मे दस लाख, पाँचवीं में तीन लाख, छठी मे एक लाख म पाँच कम और सातवीं

क्षेत्र-विपाक - प्रासाद, भवन, विमान और उपवनादि में निवास करना शुभविपाक रूप है और श्मशान, जगल, अटवी आदि में विवश हो कर रहना, अशुभ विपाक रूप है ।

काल-विपाक - शीत और उष्ण से रहित ऐसी बसत आदि ऋतु में भ्रमण करना शुभ विपाक है और शीत, उष्ण की अधिकता वाली हेमन्त और ग्रीष्म ऋतु में भ्रमण करना पडे, तो यह अशुभ विपाक है ।

भाव-विपाक - मन की प्रसन्नता और सतोष में शुभ विपाक और क्रोध, अहकार तथा रौद्रादि परिणति में अशुभ विपाक होता है ।

भव-विपाक - देव-भव और भोग-भूमि सम्बन्धी मनुष्यादि भव में शुभ विपाक और कुमनुष्य (जहाँ पापाचार की मुख्यता हो, जिनके सस्कार अशुभ हो और अशुभ कर्मो के उदय से अनेक प्रकार के अभाव दरिद्रतादि दु ख भोग रहे हों) तिर्यंच तथा नरकादि भव मे अशुभ विपाक होता है । कहा भी है कि-

"द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भव को प्राप्त कर कर्मों का उदय क्षय क्षयोपशम और उपशम होता है ।" इसी प्रकार प्राणियो को द्रव्यादि सामग्री के योग से कर्म अपना फल देते हैं ।

कर्म के मुख्यत आठ भेद हैं । यथा -

१ ज्ञानावरणीय-जिस प्रकार आँखों पर पट्टी बाँधने से नेत्र होते हुए भी दिखाई नहीं देता उसी प्रकार जिस कर्म के आवरण से सर्वज्ञ स्वरूपी जीव की ज्ञान-शक्ति दब जाती है, वह ज्ञानावरणीय कर्म कहलाता है । इसके १ मति २ श्रुत ३ अवधि ४ मन पर्यय और ५ केवलज्ञानावरण ये पाँच भेद हैं ।

२ दर्शनावरणीय - पाँच प्रकार की निद्रा और चार प्रकार के दर्शन के आवरण से दर्शन-शक्ति का दबाने वाला कर्म । जिस प्रकार पहरेदार, राजा आदि क दर्शन होने में रुकावट डालता है, उसी प्रकार दर्शन-शक्ति को रोकने वाला ।

३ वेदनीय - तलवार की तीक्ष्ण धार पर रहे हुए मधु को चाटने के समान यह कर्म है । जिस प्रकार तलवार की धार पर रहे हुए मधु को चाटने से मधु की मिठास क साथ जीभ कटने की दु खदायक वेदना भी होती है उसी प्रकार सुखरूप और दु खरूप या दो प्रकार से वेदन करान वाला कर्म ।

४ मोहनीय - आत्मा को मोहित करने वाला । जिस प्रकार मद्यपान से मोहमस्त हुआ व्यक्ति, हिताहित और उचितानुचित नहीं समझ सकता उसी प्रकार दर्शन-मोह के उदय से मिथ्यादर्शनी हो जाता है और चारित्र-मोहनीय कर्म के उदय से विरति-चारित्रिक परिणति रूक कर जीव सदाचार स वचित रहता है ।

५ आयु - यह बन्दीगृह के समान है । इसके उदय से जीव नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देवगति में अपने आयु के अनुसार रहता है ।

६ **नाम** - यह कर्म चित्रकार के समान है । इसका प्रभाव शरीर पर होता है । इससे जाति आदि की विचित्रता होती है ।

७ **गोत्र** - यह ऊँच और नीच ऐसे दो भेद वाला है । यह कुभकार जैसा है । जिस प्रकार कुभकार क्षीर्य-पात्र भी बनाता है और मदिरा-पात्र भी, उसी प्रकार इस कर्म का परिणाम होता है ।

८ **अन्तराय** - इसकी शक्ति से दान, लाभ और भोगादि मे बाधा उत्पन्न होती है । जिस प्रकार राजा द्वारा दिये हुए पुरस्कार मे भडारी बाधक होता है, उसी प्रकार यह कर्म भी दान-लाभादि में बाधक बनता है ।

इस प्रकार कर्म की मूल-प्रकृति के फल-विपाक का चिन्तन करना, 'विपाक-विचय' धर्मध्यान कहलाता है ।

सस्थान-विचय

जिसमे उत्पत्ति, स्थिति, लय और आदि अन्त-रहित लोक की आकृति का चिन्तन किया जाय वह 'सस्थान-विचय' ध्यान कहलाता है ।

इस लोक की आकृति उस पुरुष जैसी है, जो अपने पाँव फैला कर और कमर पर दोनो हाथ रख कर खडा हो । लोक उत्पत्ति, स्थिति और नाश रूपी पर्यायो (अवस्थाओ) वाले द्रव्यो से भरा हुआ है । नीचे यह वेत्रासन (बेंत के बने हुए आसन-कुर्सी) जैसा है मध्य में 'झालर' जैसा और ऊपर 'मृदग' की आकृति के समान है । यह लोक तीन जगत् से व्याप्त है । इसमें प्रबल 'घनोदधि' (बर्फ अथवा जमे हुए घृत से भी अधिक ठोस पानी) 'घनवात' (ठोस वायु) और तनुवात' (पतला वायु) से सात पृथ्विये घिरी हुई हैं । अधोलोक, तिर्यक्लोक और ऊर्ध्वलोक के भेद से यह 'तीन लोक' कहलाता है । रुचक-प्रदेश की अपेक्षा से लोक के तीन विभाग हाते हैं । मेरु-पर्वत के भीतर, मध्य में गाय के स्तन की आकृति वाले और चार आकाश प्रदेश को रोकने वाले, चार रुचक-प्रदेश ऊपर और चार आकाश प्रदेश को रोकने वाले चार रुचक-प्रदेश नीचे, यो आठ प्रदेश हैं । उन रुचक प्रदेशों के ऊपर और नीचे नौ सौ नौ सौ योजन तक तिर्यक्लोक कहलाता है । इस तिर्यक्लोक के नीचे अधोलोक है । अधोलोक नौ सौ योजन कम सात रज्जु प्रमाण है । अधोलोक में क्रमश सात पृथ्वियाँ हैं । इनमें नपुसकवेद वाले नारक जीवो के भयानक निवास हैं ।

उन सात पृथ्वियो के नाम अनुक्रम से - रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा वालुकाप्रभा पकप्रभा धूम्रप्रभा, तम प्रभा और महातम प्रभा हैं । इन पृथ्वियो की मोटाई (जाडाई) पहली रत्नप्रभा से लगा कर नीचे अनुक्रम से - एक लाख अस्सी हजार, एक लाख बत्तीस हजार, एक लाख अट्ठावीस हजार, एक लाख बीस हजार एक लाख अठारह हजार, एक लाख सोहल हजार और एक लाख आठ हजार योजन हैं। इनमें से रत्नप्रभा नाम की पहली पृथ्वी में तीस लाख नरकावास हैं । दूसरी में पच्चीस लाख तीसरी में पन्द्रह लाख चौथी मे दस लाख, पाँचवीं में तीन लाख छठी में एक लाख में पाँच कम और सातवीं

में केवल पाँच नरकावास हैं । रत्नप्रभादि सातो पृथ्वियो के प्रत्येक के नीचे और नीचे वाली के ऊपर मध्य मे बीस हजार योजन प्रमाण मोटा घनोदधि है । घनोदधि के नीचे असख्य योजन प्रमाण घनवात है । इसके नीचे असख्य योजन विस्तार वाला तनुवात है और तनुवात के नीचे असख्य योजन तक आकाश रहा हुआ है । इनमे क्रमश दु ख वेदना, आयु, रोग और लेश्यादि अधिकाधिक हैं ।

[रत्नप्रभा पृथ्वी× में असख्य भवनपति दव भी रहते हैं और असख्य नारक जीव भी। शर्कराप्रभा से लगा कर महातम प्रभा तक नारक जीव ही रहते हैं । और प्रत्येक म असख्य-असख्य नारक हैं । रत्नप्रभा पृथ्वी की एक हजार योजन जाडाई छोडने के बाद भवनपति देवों के भवन तथा नरकावास आते हैं । इस एक हजार याजन म से ऊपर व नीचे दस-दस योजन छोड़ कर मध्य के नौ सौ अस्सी योजन मे असख्य व्यन्तर देव रहते हैं ।

रत्नप्रभा पृथ्वी पर मनुष्य और तिर्यंच जीव रहते हैं । यह तिर्यंक्‌लोक है । इसकी ऊचाई अठारह सौ योजन है । इनम से नौ योजन रत्नप्रभा पृथ्वी के भीतर और नौ सौ योजन ऊपर इसकी सीमा है व्यन्तर देव तिरछे लोक में हैं । ज्योतिषी देव, पृथ्वी से ऊपर हैं, फिर भी वह तिरछ लोक में ही है ।

रत्नप्रभा पृथ्वी के मध्य में एक लाख योजन ऊँचा मेरु-पर्वत है । सूर्य चन्द्र और ग्रह-नक्षत्रादि इससे ११२१ योजन दूर रहते हुए परिक्रमा करते रहते हैं । इसम एक ध्रुव का तारा ही निश्चल (?) है । नक्षत्रो में सबसे ऊपर स्वाति नक्षत्र है और सबसे नीचे भरणी नक्षत्र है । दक्षिण में मूल और उत्तर में अभिजित् नक्षत्र है । इस जम्बूद्वीप में दो चन्द्र और दो सूर्य हैं । लवण-समुद्र म चार चन्द्र और चार सूर्य हैं । धातकी खण्ड में बारह चन्द्र और बारह सूर्य है । कालोदधि म बयालीस चन्द्र और बयालीस सूर्य हैं । पुष्करार्द्ध मे ७२ चन्द्र और ७२ सूर्य हैं । इस प्रकार ढाई द्वीप में १३२ चन्द्र और १३२ सूर्य हैं। प्रत्येक चन्द्र के साथ ८८ ग्रह, २८ नक्षत्र और छासठ हजार नौ सौ पिचहत्तर कोटाकोटि ताराओं का परिवार है । ढ़ाई द्वीप के भीतर रहे हुए ये चन्द्रादि भ्रमणशील हैं । इनके अतिरिक्त ढाई द्वीप के बाहर रहे हुए स्थिर हैं ।

मध्य-लोक मे जम्बूद्वीप और लवण-समुद्र आदि शुभ नाम वाले असख्य द्वीप आर समुद्र हैं और ये एक-दूसरे से उत्तरोत्तर द्विगुण अधिक विस्तार वाले हैं । सभी समुद्र वलयाकार से द्वीप को घेर हुए हैं । अन्त में स्वयभूरमण समुद्र है ।

जम्बूद्वीप के सात खण्ड ये हैं - १ भरत २ हेमवत ३ हरिवर्ष ४ महाविदेह ५ रम्यक् वर्ष ६ हैरण्यवत और ७ ऐरवत । इनके मध्य में वर्षधर पर्वत रहे हुए हैं जिनसे इनके उत्तर और दक्षिण एसे दो विभाग हो जाते हैं । इन पर्वतों के नाम - १ हिमवान् २ महाहिमवान् ३ निषध ४ नीलवत ५ रुक्मि और ६ शिखरी ।

भरत-क्षेत्र मे गगा और सिन्धु ये दो बडी नदियाँ हैं । जम्बूद्वीप एक लाख योजन विस्तार का

× लोक का वर्णन विस्तार के साथ हुआ है । उस विस्तार का छोड़ कर पाठक के लिए संक्षिप्त विवेचन मैंने अपनी ओर से किया है ।

है । इसके चारों ओर दो लाख योजन का लवण-समुद्र है । इसके आगे धातकीखण्ड इससे द्विगुण अधिक विस्तार वाला है । उसके आगे आठ लाख योजन का कालोदधि समुद्र है । इसके बाद १६ लाख योजन विस्तार वाला पुष्करवर द्वीप है । यह पुष्करवर द्वीप आधा (आठ लाख योजन) तो मनुष्य-क्षेत्र के अन्तर्गत है और आधा मनुष्य-क्षेत्र के बाहर है । मनुष्य-क्षेत्र कुल पेतालीस लाख योजन परिमाण लम्बा हैं * ।

इसके बाद असख्य द्वीप-समुद्र हैं । यह तिरछा लोक एक रज्जु परिमाण लम्बा है ।

ऊर्ध्व-लोक मे वैमानिक देव रहते हैं । इसम १२ देवलोक तो कल्पयुक्त छोटे-बडे, स्वामी-सेवक और विविध प्रकार के व्यवहार से युक्त हैं और ९ ग्रैवेयक, पाँच अनुत्तर विमान, कल्पातीत-छोटे-बडे के व्यवहार रहित-अहमेन्द्र हैं ।

भवनपति और व्यन्तर देवो मे अशुभ लश्या की विशेषता है । भवनपति देवो मे परमाधामी जैसे महान् क्रूर प्रकृति के महा मिथ्यात्वी देव भी हैं । इनके मनोरजन क्रूरतापूर्ण भी होते हैं । ज्योतिषी देवों की परिणति वैसी नहीं है । उनके आमोद-प्रमोद भी उतनी क्लिष्ट परिणति वाले नहीं होते । वैमानिक देवा की आत्म-परिणति उनसे भी विशेष प्रशस्त होती है । उत्तरोत्तर विमानवासी देवो में विषय-वासना नहीं होती । सब से ऊँचा देवलोक सर्वार्थ-सिद्ध महा विमान् है । वहाँ परम शुक्ल-लेश्या वाले देव रहते हैं । अनुत्तर-विमानो मे एकान्त सम्यग्दृष्टि और अनुत्तर विमानवासी देवों में विषय-वासना नहीं होती । सब से ऊँचा देवलोक सर्वार्थ-सिद्ध महा विमान है । वहाँ परम शुक्ल-लेश्या वाले देव रहते हैं । अनुत्तर-विमानो म एकान्त सम्यग्दृष्टि और पूर्वभव मे चारित्र के उत्तम आराधक महात्मा ही उत्पन्न होते हैं । ये अवश्य ही मोक्ष में जाने वाले होते हैं । सर्वार्थ-सिद्ध महा विमान के ऊपर सिद्धशिला है। सिद्धशिला के ऊपर लोकाग्र पर सिद्ध भगवान् (मुक्त जीव) रहते हैं।

जो बुद्धिमान अशुभ ध्यान का निवारण करने के लिए समग्र लोक अथवा लोक के किसी विभाग का चिन्तन करते हैं, उन्हें धर्मध्यान सम्बन्धी क्षयोपशमिकादि भाव की प्राप्ति होती है । उनकी तेजोलेश्या पद्मलेश्या तथा शुक्ललेश्या शुद्धतर होती है । उन्हे स्व सवेद्य (स्वय अनुभव करे ऐसा) अतीन्द्रिय सुख उत्पन्न होता है । जो स्थिर योगी महात्मा, नि.सग हो कर धर्मध्यान के चलते देह का त्याग करते हैं, वे ग्रैवेयकादि स्वर्गोंमें महान् ऋद्धिशाली उत्तम देव होते हैं । वहाँ ये अपना सुखी जीवन पूर्ण कर सम्पूर्ण अनुकूलता वाले उत्तम मनुष्य जन्म को प्राप्त करते हैं और उत्तम भोग भोगने के बाद ससार का त्याग कर, चारित्र-धर्म की उत्कृष्ट आराधना कर के सिद्ध-बुद्ध एव मुक्त हो जाते हैं ।]

---

* २ लाख योजन का लवण समुद्र, ४ लाख योजन धातकीखण्ड ८ लाख योजन कालोदधि ८ लाख योजन पुष्करार्द्ध ।

ये २२ लाख योजन पूर्व और २२ लाख योजन पश्चिम में और एक लाख योजन का जम्बूद्वीप यों कुल ४५ लाख योजन का मनुष्य क्षेत्र हुआ ।

गणधरादि की दीक्षा

अपने प्रथम उपदेश में तीर्थंकर भगवान् ने धर्म–ध्यान का स्वरूप बताया । उपदेश सुन कर महाराजा सगर चक्रवर्ती के पिता सुमित्रविजय (भगवान् के काका जो भाव सयती के रूप में ससार में रहे थे) आदि हजारा नर–नारियों ने धर्म साधना के लिए ससार का त्याग कर दिया । एक साथ हजारों व्यक्ति मोक्ष की महायात्रा के लिए चल पडे ।

प्रव्रज्या स्वीकार करने वालो मे श्री 'सिहसेन' आदि ९५ महापुरुष ऐसे थे कि जिनके 'गणधर नामकर्म' का उदय होने वाला था । प्रभु ने उन्हें 'उत्पादक व्यय और ध्रौव्य' की त्रिपदी सुनाई । इसमें समस्त आगम – श्रुतज्ञान का मूल रहा हुआ है । इस त्रिपदी को सुनते ही – जिनकों ज्ञानावरणीय कर्म का विशिष्ट क्षयोपशम हो गया है और जो बीज को देख कर ही फल तक का स्वरूप समझ लेते हैं। ऐसे महापुरुषों ने चौदह पूर्व सहित द्वादशागी की रचना कर ली । वे श्रुतकेवली–शास्त्रो के पारगामी हो गए । भगवान् सहस्राम्रवन उद्यान में से निकल कर जनपद विहार करने लगे ।

शुद्धभट का परिचय

ग्रामानुग्राम विचरते हुए भगवान् कौशाबी नगरी के निकट पधारे । समवसरण की रचना हुई । भगवान् की धर्मदेशना प्रारम्भ हुई । इतने मे एक ब्राह्मण युगल आया और भगवान् को वन्दन कर के बैठ गया । देशना पूर्ण होने के बाद ब्राह्मण ने हाथ जोड कर पूछा – " भगवन् ! यह इस प्रकार क्यों है ?" भगवान् ने फरमाया –

"यह सम्यक्त्व की महिमा है । सम्यक्त्व सभी अनर्थों को नष्ट करने और सभी प्रकार की अर्थ–सिद्धि का एक प्रबल कारण है । जिस प्रकार वर्षा से दावाग्नि शान्त हो जाती है उसी प्रकार सम्यक्त्व गुण से सभी प्रकार के वैर शान्त हो जाते हैं । जिस प्रकार गरुड को देख कर सर्प भाग जाता है, उसी प्रकार सम्यक्त्व गुण से सभी प्रकार की व्याधियाँ दूर हो जाती है । दुष्कर्म तो इस प्रकार लय हो जाते हैं कि जिस प्रकार सूर्य के ताप से बर्फ पिघल कर लय हो जाता है । सम्यक्त्व गुण चिन्तामणी के समान मनोरथ पूर्ण करता है । जिस प्रकार श्रेष्ठ गजराज वारी जाति के बन्धन से बध जाता है उसी प्रकार सम्यग्दर्शनी आत्मा के देव का आयु अपने आप बँध जाता है और देव सानिध्य हो जाते हैं। यह तो सम्यग्दर्शन का साधारण फल है । इसका महाफल तो तीर्थंकर पद और मोक्ष प्राप्ति है ।"

भगवान् के उत्तर से ब्राह्मण सतुष्ट हो गया, तब मुख्य गणधर महाराज न ब्राह्मण के प्रश्न का रहस्य – श्रोताओं की जानकारी क लिए पूछा–

"भगवन् ! ब्राह्मण के प्रश्न और आपके उत्तर का रहस्य क्या है ?"

भगवान् न कहा – "इस नगरी के निकट शालिग्राम नाम का गाँव है । उसमें दामोदर नामक ब्राह्मण रहता था । सोमा उसकी स्त्री का नाम था । 'शुद्धभट' नाम का उनका पुत्र था । उस शुद्धभट

का लग्न, सिद्धभट ब्राह्मण की सुलक्षणा नामकी पुत्री के साथ हुआ ।

कालान्तर में शुद्धभट के माता-पिता का देहान्त हो गया और सम्पत्ति भी नष्ट हो गई यहाँ तक दशा बिगडी कि सुभिक्ष होते हुए भी उन्ह रात को भूखा ही सोना पडता । निर्धन के लिए तो सुभिक्ष भी दुर्भिक्ष के समान ही होता है । दरिद्रता से पीडित शुद्धभट पत्नी को छोडकर गुपचुप विदेश चला गया । सुलक्षणा निराधार हो गई । वर्षाऋतु आने पर 'विपुला' नामक प्रवर्तिनी साध्वी आदि उसके घर चातुर्मास बिताने के लिए रह गई । सुलक्षणा ने साध्वी को रहने के लिए स्थान दिया । अब सुलक्षणा प्रतिदिन साध्वी का उपदेश सुनने लगी । धर्मोपदेश सुनने से उसका मिथ्यात्व नष्ट हो गया और सम्यग्दर्शन प्रकट हुआ । वह जीवादि पदार्थों को पदार्थ रूप जानने लगी । उसने जैनधर्म ग्रहण किया। उसे विषयो के प्रति अरुचि हुई । उसने अणुव्रत ग्रहण किये । साध्वीजी, सुलक्षणा को श्राविका बना कर वर्षाकाल समाप्त होते ही विहार कर गई ।

कुल काल बीतने पर शुद्धभट भी विदेश से बहुत-सा धन कमा कर आया । उसने पत्नी से पूछा - "प्रिये ! तेने मेरा दीर्घकाल वियोग किस प्रकार सहन किया ?"

-"प्रियवर ! आपका वियोग असह्य था, किन्तु महासती श्री विपुला साध्वीजी के योग से वियोग दु ख टला और मैने कल्याणकारी धर्म पाया । मैने सम्यग्दर्शन प्राप्त किया" - सुलक्षणा ने कहा ।

-"सम्यग्दर्शन क्या चीज है ? कैसा होता है यह" - शुद्धभट ने जिज्ञासा व्यक्त की ।

"सुदेव में देव-बुद्धि, सद्गुरु में गुरु-बुद्धि और शुद्धधर्म मे धर्म-बुद्धि रखना, इन पर दृढ श्रद्धा रखना, सम्यग्दर्शन है । इसके विपरीत कुदेव, कुगुरु और अधर्म म आस्था रखना, इनमे धर्म मानना, मिथ्यादर्शन कहलाता है ।"

राग-द्वेष आदि समस्त दोषो को नष्ट कर के परमवीतराग बनने वाले, सर्वज्ञ सर्वदर्शी तीनो लोक के पूज्य, हितोपदेष्टा अरिहत परमेश्वर ही सुदेव हैं । इनका ध्यान करना, उपासना करना और इनकी शरण में जाना । यदि ज्ञान चेतना हो, तो इनके धर्म का प्रचार करना । यह सुदेव आराधना है । जो परमतारक देव तो कहलाते हैं, परन्तु शस्त्र और अक्षसूत्रादि राग-द्वेष के चिह्न को धारण करते हैं, जिनके साथ स्त्री रही हुई है, जो उपासको पर अनुग्रह और दूसरा पर कोप करने में तत्पर हैं और जो नाट्य अट्टहास और सगीत आदि मे रस लेते हैं, वे सुदेव नहीं हो सकते । इनकी आराधना से मोक्षफल प्राप्त नहीं हो सकता । वे सुदेव नहीं हैं ।

महाव्रतों के पालक, निर्दोष भिक्षा से जीवन का निर्वाह करने वाले और निरन्तर सामायिक चारित्र में रहने वाले शान्त, धीरजवान् और धर्म का उपदेश करने वाले सुगुरु होते हैं । इसके विपरीत प्रचुर अभिलाषा वाले सर्वभक्षी, परिग्रहधारी, अब्रह्मचारी और मिथ्या उपदेश देने वाले कुगुरु हैं । वे सुगुरु नहीं कहे जाते । जो गुरु कहला कर खुद आरभ और परिग्रह में मग्न रहते हैं, वे दूसरों का उद्धार नहीं कर सकते ।

धर्म वही है जो दुर्गति में गिरते हुए जीव को बचावे । वीतराग सर्वज्ञ भगवतों का कहा हुआ

भगवान् का निर्णय सुन कर चक्रवर्ती ने फिर पूछा-

"इन दोनो के पुत्रों के वैर का क्या कारण है प्रभो ? और सहस्रलोचन के प्रति मेरे मन में स्नेह क्यो उत्पन्न हो रहा है ?"

-"सगर ! तुम पूर्वभव में एक सन्यासी थे । 'रम्भक' तुम्हारा नाम था । तुम्हारी दान देने में विशेष रुचि और प्रवृत्ति थी । तुम्हारे 'शशि' और 'आवली' नाम के दो शिष्य थे । आवली अपनी अतिशय विनम्रता के कारण तुम्हें विशेष प्रिय था । उसने एक गाय मोल ली । किन्तु शशि ने गाय बेचने वाले को फुसला कर वह गाय खुद ने मूल्य दे कर ले ली । इस पर शशि और आवली में झगडा हो गया। दोनों खूब लड़े और अन्त में शशि ने आवली को मार डाला । भव-भ्रमण करते हुए शशि तो मेघवाहन हुआ और आवली सहस्रलोचन हुआ । रम्भक सन्यासी का जीव-तुम दान के प्रभाव से शुभ गतियों में होते हुए चक्रवर्ती हुए । सहस्रलोचन के प्रति तुम्हारा स्नेह पूर्वभव से ही है ।"

राक्षस वंश

धर्म-सभा म उस समय 'भीम' नामक राक्षसाधिपति भी बैठा था । उसने मेघवाहन को देखकर स्नेहपूर्वक छाती से लगाया और बोला -

"वत्स ! मैं पूर्वभव में पुष्करवर द्वीप के भरत-क्षेत्र में, वैताढ्य पर्वत पर के काचनपुर नगर का राजा था । मेरा नाम विद्युद्दंष्ट्र था और तू मेरा रतिवल्लभ नाम का पुत्र था । तू मुझे बहुत ही प्रिय था । आज तू मुझे मिल गया । यह अच्छा ही हुआ । मैं अब भी तुझे अपना प्रिय पुत्र मानता हूँ । अब तू मेरे साथ चल । मेरे सर्वस्व का तू अधिकारी है । लवण समुद्र में सात सौ योजन वाला सभी दिशाओं में फैला हुआ एक 'राक्षस द्वीप' है । उसके मध्य मे त्रिकूट नाम का वलयाकार पर्वत है । वह नौ योजन ऊँचा, पचास योजन विस्तार वाला और बड़ा ही दुर्गम है । उस पर्वत पर 'लका' नाम की नगरी है । वह स्वर्णमय गढ़ से सुरक्षित है । मैने ही यह नगरी बसाई है । उसक छह योजन पृथ्वी मे नीचे 'पाताल लका' नामकी अति प्राचीन नगरी है, जो स्फटिक रत्न के गढ और आवास आदि से सुशोभित है । इन दोनो नगरिया का स्वामी मैं ही हूँ । हे पुत्र ! मैं इन दोना नगरियों का स्वामित्व तुझे देता हूँ । तू इन पर राज्य कर । तीर्थंकर भगवान् के दर्शन का तुझ यह अचिन्त्य लाभ मिल गया है ।"

इस प्रकार कह कर राक्षसाधिपति ने अपनी नौ मणियों वाला बडा हार और राक्षसी विद्या मेघवाहन को वहीं दे दी । मेघवाहन भगवान् को वन्दना कर के राक्षस द्वीप में आया और दोनो लका नगरियों पर शासन करने लगा । राक्षस द्वीप का राज्य और राक्षसी विद्या के कारण मेघवाहन का वश 'राक्षसवश' कहलाया ।

पुत्रों का सामूहिक मरण

चक्रवर्ती सम्राट के साठ हजार पुत्र विदेश भ्रमण के लिए गये थे । सामुदानिक कर्म के उदय

से भ्रमण-काल मे ही किसी निमित्त से उनकी एक साथ मृत्यु हो गई × ।

शोक-निवारण का उपाय

सगर-पुत्रों के मरण से शोकाकुल बने हुए सेनापति, सामन्त और मडलेश्वरादि तथा साथ रही हुई अन्त पुर की स्त्रियो के आक्रद से सारा वन-प्रदेश व्याप्त हो गया । सभी ने राजधानी लौटने के बजाय मरना ही ठीक समझा । उसके करुणाजनक विलाप से सारा वातावरण ही शोकार्त हो गया । पत्थर- से हृदय को भी पिघला देने की शक्ति थी – उस सामूहिक आर्त्तनाद में । उस समय भगवें वस्त्र वाला एक ब्राह्मण वहाँ आया और उन रुदन करते हुए मनुष्यो से कहने लगा,-

"अरे, ओ विवेक-विकल मूर्खों ! तुम इतने मूढ क्यों हो गए ? क्या मरने वालों के साथ मर

× 'त्रिशष्ठिशलाका पुरुष चरित्र' में यहाँ एक कथा दी है जिसमें लिखा है कि सगर चक्रवर्ती के साठ हजार पुत्र एक साथ देशाटन के लिए निकले । उनके साथ स्त्री-रत्न को छोड कर चक्रवर्ती के १३ रत्न भी थे और सुबुद्धि आदि अमात्य भी । वे घूमते-घूमते अष्टापद पर्वत के निकट आये और उस पर के भव्य मन्दिर को देखा –जिसमें भगवान् आदिनाथ अजितनाथ और भविष्य के २२ तीर्थंकरा की मूर्तियाँ थी । वहाँ ऋषभपुत्रों आदि के चरण एव मूर्तियाँ भी थी । उन्होंने उनकी पूजा-वन्दनादि की । फिर उन्होंने सोचा - 'यह पवित्र तीर्थ भविष्य मे इसी प्रकार स्थिर एव सुरक्षित रहे । अर्थलोलुप और अधम मनुष्यो के द्वारा इसको क्षति नहीं पहुँचे इनका प्रबन्ध हमें करना चाहिए । इस पवित्र पर्वत को मनुष्य की पहुँच से बचाने के लिए आस-पास एक बडी खाई खोद कर गगा का पानी भर देना चाहिए ।' इस प्रकार सोच कर और दण्डरत्न से पृथ्वी खोद कर खाई बनाने लगे । एक हजार योजन गहरी खाँई खुद गई । खाई खुदने से भवनपति के नागकुमार जाति के देवो के भवन टूटने लगे । अपने भवन टूटने से देवो का राजा "ज्वलनप्रभ " पृथ्वी से बाहर निकल कर सगर चक्रवर्ती के पुत्रा के पास आया और क्रोधाभिभूत हो कर पृथ्वीदारण का कारण पूछा । उनका शुभाशय और विनय देख कर वह शान्त हो कर लौट गया । उसके जाने क बाद उस खाई को पानी से भरने के लिए, गगा नदी के किनारे पर दण्दरत्न का प्रहार किया और नहर बना कर पानी पहुँचाया । वह गगाजल उस कृत्रिम खाई में गिर कर नागकुमार के भवनो म पहुँचा । उसके भवन पानी से भर गए । नागकुमारों म पुन त्रास बरत गया । उनका अधिपति इस विपत्ति से भयकर कुपित हुआ और बाहर निकर कर सभी – साठ हजार सगर पुत्रों को अपनी क्रोधाग्नि से जला कर भस्म कर दिया । पृथ्वी पर हाहाकार मच गया । सगर चक्रवर्ती के ज्येष्ठ पुत्र जन्हुकुमार द्वारा गगा का पानी अष्टापद तक लाया गया इससे गगा का दूसरा नाम 'जान्हवी % पडा ।

यह सक्षिप्त कथा आई है । किन्तु इसकी वास्तविकता विचारणीय लगती है । कुछ खास बातें तो ऐसी हैं कि जिनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती । जैसे –

(१) प्रथम पर्व के छठे सर्ग में लिखा है भरतेश्वर ने आठ योजन ऊँचे इस अष्टापद पर्वत पर 'सिंहनिषधा' चैत्य और स्तूप बनवाने के बाद उन तक कोई मनुष्य नहीं पहुँच सके इसके लिए 'लोहे के यन्त्र निर्मित आरक्षक खडे किये' और पर्वत को छिलवा कर स्तभ के समान सीधा-सपाट बना दिया साथ ही प्रत्येक योजन पर मेखला के समान आठ सोपान बनाये । इस प्रकार के प्रयत्न से यह मनुष्यो के लिए दुर्गम ही नहीं अगम हो गया था और पर्वत पर लोह-पुरुष रक्षक थे ही । फिर खाई खोदने की क्या आवश्यकता थी ?

% वैदिक साहित्य मे 'जन्हु ऋषि' से उत्पन्न होने के कारण गगा का नाम 'जान्हवी' बताया है ।

जाना भी समझदारी है ? क्या कोई अमर हो कर आया है – ससार में ? मरना तो सभी को है । कोई पहले मरता है और कोई पीछे । कई एक साथ जन्मते हैं और आगे पीछे मरते हैं, कई आगे-पीछे जन्मते हैं, पर एक साथ मरजाते हैं । विभिन्न काल में और विभिन्न स्थानों पर जन्म हुए बहुत-से मनुष्य एक काल में एक स्थान पर भी मरते हैं । यह कोई अनहोनी बात नहीं है । महामारी और युद्धादि में बहुत से मनुष्य एक साथ मरते हैं । मृत्यु तो प्रत्येक ससारी जीव के साथ लगी हुई है । यदि ससार में रह कर ही अमर होने का कोई उपाय होता तो चक्रवर्ती आदि नरेन्द्र और देवेन्द्रादि कभी नहीं मरते । मृत्यु सभी के लिए अनिवार्य है, फिर विक्षिप्त के समान विलाप करना और मरने के लिए तत्पर होना तो मात्र मूर्खता ही है । इसलिए तुम धैर्य धारण करो और अपने स्थान पर जाओ । तुम्हारे स्वामी को सम्हालने के लिए मैं उनके पास जाता हूँ ।"

माँगलिक अग्नि कहाँ है ?

इस प्रकार सभी को समझा कर वह ब्राह्मण आगे बढ़ा और मार्ग में से किसी मरे हुए मनुष्य का शव उठा कर विनिता नगरी म प्रवेश किया । राजभवन के आँगन में जा कर वह ब्राह्मण जोर-जोर से चिल्लाने लगा,-

-"हे चक्रवर्ती महाराज ! हे न्यायावतार ! हे रक्ष-शिरोमणि ! आपके राज्य में मुझ पर महान् अत्याचार हुआ है । आप जैसे महाबाहु राजेश्वर के राज्य मे मैं लूट गया हूँ । मेरी रक्षा करो देव । मैं

(२) कहा जाता है कि यह पर्वत शाश्वत है और उस पर्वत पर के चैत्य भी देव-सहाय्य से अब तक (कुछ कम एक करोड सागरोपम तक) सुरक्षित है तब खाई खोदने की जरूरत ही क्यों हुई ? वे देवता उस चैत्य की रक्षा करते ही थे ?

(३) खाई एक हजार शाश्वत योजन खोद कर भवनपति के भवनों को भी तोड़-फोड़ दिया तो ऊपर के एक सौ योजन के बाद आठ सौ योजन तक के क्षेत्र में व्यन्तर जाति के देवों के नगर हैं उन नगरों पर उसका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा ? वे अछूते ही रह गए ? यह कैसे हो सकता है ?

(४) सगरकुमारों ने खाई खोदने की भूल की और उस भूल की क्षमा भी उसे नागराज ज्वलनप्रभ से मिल गई तो बाद में खाई में पानी तो विचार कर के ही भरना था । किसी ने यह भी नहीं सोचा कि-'जब पृथ्वी फूट ही गई है तो पानी भरने से वह पानी पहले नागकुमार के भवनों मे हो जायेगा । और पुन उपद्रव भड़केगा । सुबुद्धि आदि प्रधानों और पुरोहितादि शान्ति-प्रवर्तक रत्नों तथा तेरह रत्न के अधिष्ठाता देवों में से किसी के भी मन में यह बात क्यों नहीं आई ?

(५) एक विचार यह भी होता है कि ऐसे अलौकिक एव अमृत के समान उपकारी तीर्थ को मनुष्यों की पहुँच के पर क्या रखा गया ? यदि वह मनुष्यों की पहुँच के भीतर होता तो भावुक उपासक दर्शन-पूजन का लाभ ले कर अपने जीवन को सफल करने का सतोष तो मानते ? तीर्थ भी बनाया और ओझल भी कर दिया ? समझ में नहीं आता कि भरतेश्वर ने भी उसे मनुष्यों द्वारा अस्पृश्य रखने का प्रयत्न क्यों किया ?

(६) यदि अष्टापद को ओझल रखना उचित माना जाय तो शत्रुंजय सम्मेदशिखर आदि अन्य तीर्थों को क्यों नहीं? ऐसे अनेकों विचार उत्पन्न होते हैं अस्तु ।

आपकी शरण में आया हूँ ।"

ब्राह्मण के ऐसे अश्रुतपूर्व शब्द सुन कर सगर महाराज चितित हुए । उसके दु ख को अपना ही दु ख मानते हुए उन्होने द्वारपाल को भेज कर ब्राह्मण को बुलाया । ब्राह्मण रुदन करता हुआ राजा के सामने आया । महाराज ने ब्राह्मण से पूछा,-

-"तुझे किसने लूटा है ? कौन है तुझे दु ख देने वाला ?"

-"पृथ्वीनाथ ! आपके राज्य मे सर्वत्र शाति है । कोई किसी को लूटता नहीं है, न चोरियाँ होती हैं, न छिनाझपटी होती है और न कोई धरोहर दबाता है । अधिकारीगण अपने कर्त्तव्य का सचाई के साथ पालन करते हैं । आरक्षक भी अपने स्वजनादि के समान प्रजा की रक्षा करते हैं । प्रजा भी सत्य और न्याय युक्त आचरण करती है । अन्याय, अनीति एव दुराचार का नाम ही नहीं है । न लडाई-झगडे हैं, न वैर-विरोध । सर्वत्र सुख-शाति और सतोष व्याप रहा है । कोई दु खी-दर्दी और दरिद्र नहीं है -आपके राज्य में । किन्तु मुझ गरीब पर ही वज्रपात हुआ है महाराज !"

"मैं अवतीदेश के अश्वभद्र नगर का रहने वाला अग्निहोत्री ब्राह्मण हूँ । मैं अपने एकमात्र पुत्र और पत्नी को छोड कर विशेष अध्ययन के लिए विदेश गया था । मेरा अध्ययन सुखपूर्वक चल रहा था कि एक दिन मुझे अपने-आप ही उदासी आ गई और मन चिन्तामग्न हो गया । अनिष्ट की आशका से मैं उद्विग्न हो उठा । मैने सोचा-मेरे कुटुम्ब पर अवश्य ही कोई सकट आया होगा । मैं उसी समय घर के लिए चल दिया । मेरी बायीं आँख फडकने लगी थी । एक कौआ सूखे हुए झाड के ठूँठ पर बैठ कर कठोर शब्द बोल रहा था । मैं अपने घर के निकट पहुचा, तो मेरा घर भी मुझे शाभाहीन दिखाई दिया । घर मे पहुँचा, तो मेरी पत्नी रुदन कर रही थी । मेरा पुत्र मरा हुआ पडा था । यह देख कर मैं मूर्च्छित हो कर गिर पडा । सचेत होने पर मालूम हुआ कि मेरा पुत्र सर्पदश से मरा है । मेरे दु ख का पार नहीं रहा । मैं रात को भी शव के पास बैठा रोता रहा । इतने में मेरी कुलदेवी ने प्रकट हो कर कहा -

-"वत्स ! रुदन क्यो करता है ? मैं कहूँ वैसा करेगा, तो तेरा मृत पुत्र जीवित हो जायगा । तू कहीं से 'माँगलिक अग्नि' ले आ ।"

-"माता ! कहाँ मिलेगी माँगलिक अग्नि मुझे" - मैंने आशान्वित होते हुए पूछा ।

-"जिस घर में कभी कोई मरा नहीं हो, उस घर से अग्नि ले आ । वह 'मगल अग्नि' होगी । जिस घर मे सदा आनन्द-मगल रहा हो, कभी शोक-सताप और मृत्यु नहीं हुए हो, वहाँ की अग्नि मगलमय होती है" - देवी ने कहा ।

-"महाराज ! देवी की बात सुन कर मैं उत्साहित हुआ और पुत्र को जीवित करने के लिए मैं उत्साहपूर्वक घर से निकल गया । मैं प्रत्येक गाँव और गाँव के प्रत्येक घर में गया, किन्तु ऐसा एक भी घर नहीं मिला कि जहाँ कोई मरा नहीं हो । सभी ने कहा - "हमारे वश मे असख्य मनुष्य मर

चुके हैं ।'' मैं मांगलिक अग्नि की खोज में भटकता हुआ आपकी शरण में आया हूँ । मुझे माँगलिक अग्नि दिलाइये - ''महाराज ! आप चक्रवर्ती सम्राट हैं । सम्पूर्ण छह खड में आपका राज्य है । वैताढ्य पर्वत पर की दोनो श्रेणिया में रहे हुए विद्याधर भी आपके आज्ञाकारी हैं और देव भी आपकी सेवा करते हैं तथा नव-निधान आपके सभी मनोरथ पूर्ण करते हैं । इसलिए किसी भी प्रकार से मेरा मनोरथ पूर्ण कराइये - दयालु'' ब्राह्मण - अत्यन्त दीनता पूर्वक याचना करने लगा ।

ब्राह्मण की याचना सुन कर नरेन्द्र विचार म पड गए । यह अनहोनी माँग कैसे पूरी हो । उन्होंने ब्राह्मण को समझाते हुए कहा,-

'हे भाई ! हमारे ही घर में तीन लोक के स्वामी अरिहत भगवान् ऋषभदेवजी हुए । भरतेश्वर जैसे चक्रवर्ती नरेन्द्र हुए, जिनका सौधर्मेन्द्र जैसे भी आदर करते थे और अपने साथ एक आसन पर बिठाते थे । वीर-शिरोमणि, महाबाहु बाहुबलीजी तथा आदित्ययश आदि नरेन्द्र हुए । ये सभी आयु पूर्ण होने पर देह का त्याग कर गये । हमारे वश में असख्य नरेन्द्र और उनके आत्मीयजन मर चुके तब तुम्हारे लिए माँगलिक अग्नि कहाँ से लाई जाय ? काल तो दुरतिक्रम है भाई ! यह सर्वभक्षी और सर्वभेदी है । इसकी पहुँच से न कोई घर अछूता रहा और न कोई प्राणी बचा । इसलिए तू चाहता है वैसा मगल-गृह तो कहीं नहीं मिल सकता । अब तू शोक करना छोड दे । मृत्यु आने पर सभी मरते हैं, चाहे वृद्ध हो या युवा अथवा बालक ही हो । जब एक बार सभी का मरना है, तो फिर शोक और रुदन क्यों करना चाहिए ? ससार मे जो माता, पिता, पुत्र, भाई, बहन और पत्नी आदि का सम्बन्ध है, वह पारमार्थिक नहीं है । जिस प्रकार नगर की धर्मशाला में विविध स्थाना और विभिन्न दिशाओं से आने वाले बहुत-से व्यक्ति ठहरते हैं और साथ रह कर रात्रि व्यतीत करते हैं किन्तु प्रात-काल होते ही सभी अपने-अपने गन्तव्य की ओर चले जाते हैं, उसी प्रकार इस ससार में भी विभिन्न गतियो से आ कर जीव, एक घर में एकत्रित होते हैं और समय पूर्ण होने पर अपने-अपने कर्म के अनुसार भिन्न-भिन्न गतियों मे चले जाते हैं । ऐसे अनादि सिद्ध एवं अवश्यभावी तथा अनिवार्य विषय में कौन बुद्धिमान शाक करता है । नहीं नहीं, यह शोक करने का विषय नहीं है । इसलिए हे द्विजोत्तम ! तुम माह का त्याग कर के स्वस्थ बनो और विवेक धारण करो ।''

- ''महाराज ! आपका उपदेश सत्य है - यथार्थ है । मैं भी यह जानता हू, किन्तु करूँ क्या ? मुझ से पुत्र-माह नहीं छूटता । पुत्र-वियोग न मेरा सारा विवेक हर लिया है । यह दु ख वही जानता है जो भुगत चुका है । जब तक पुत्र-विरह की वेदना भुगती नहीं, तब तक सभी लोग ऐसी बातें करते हैं और धीरज रखने और विवेकी बनने का उपदेश देते हैं । फिर आप तो अरिहत भगवान् के वशज हैं । निग्रथ-प्रवचन से आप का हृदय निर्मल हो चुका है । आप जैसे शक्तिशाली धैर्यवान् पुरुष विरल ही होते हैं । हे स्वामिन् ! आपने जो उपदेश मुझे दिया और मेरा मोह दूर किया यह बहुत ही अच्छा किया । किन्तु यदि कभी आप पर भी ऐसी बीते, ता आप भी धीरज रख सकेंगे क्या ?''

"महाराज ! जिसके थोडे पुत्र होते हैं उसके थोडे मरते हैं औरअधिक पुत्र हैं, उसके अधिक मरते हैं । थोडे मरते हैं, तो उनके पितादि को भी दु ख होता है और बहुत पुत्रो के मरने पर उनके माता-पितादि को भी दु ख होता है । जिस प्रकार थोडे प्रहार से कीडी-कुथू को और अधिक प्रहार से हाथी को समान पीडा होती है उसी प्रकार पुत्रों के थोडे बहुत मरने पर माता-पितादि को भी समान दु ख होता है । दु ख में न्यूनाधिकता नहीं होती । आपके उपदेश से मैं अपना मोह दूर सकता हूँ । किन्तु राजेन्द्र ! आपको भी अपने उपदेश को हृदयगम कर के अखण्ड धैर्य धारण करना चाहिए । आपके पुत्र जो देशाटन करने गये थे, वे सभी मृत्यु को प्राप्त हो चुके हैं । उनके साथ रहे हुए सेनापति, सामन्त आदि शोक सतप्त दशा मे आये हैं । आपने जो उपदेश मुझे दिया, उसका स्वय भी पालन करें और शोकमग्न परिवार को भी धीरज बँधावे ।"

ब्राह्मण की बात पूरी होते ही वे सेनापति आदि जो कुमारो के साथ गये थे, अश्रुपात करते हुए सभा मे आये और राजा को प्रणाम कर नीचा मुख कर के बैठ गए ।

ब्राह्मण की बात सुन कर और कुमार के साथ गए हुए सेनापति आदि को अश्रुपात करते हुए, बिना पुत्रो के ही आया हुआ देख कर, नरेन्द्र जडवत् स्तभित रह गए । उनके नेत्र स्थिर हो गए और वे मूर्च्छित हो गए । कुछ समय बाद स्वस्थ होने पर ब्राह्मण ने कहा;-

"राजन् ! आप उन विश्ववद्य महापुरुष भगवान् आदिनाथजी के वशज और भगवान् अजितनाथजी के भाई हैं, जिन्होंने विश्व की मोह-निद्रा का नाश किया है । एक साधारण मनुष्य के समान आपको मोहाधीन हो कर शोक करना शोभा नहीं देता । इस समय की आपकी दशा, उन महापुरुषों और उस कुल के लिए अशोभनीय है ।"

नरेश ब्राह्मण की बात सुन कर विचार मे पड गए । वे समझ गए कि ब्राह्मण अपने पुत्र की मृत्यु के बहाने मुझे मेरे पुत्रो की मृत्यु का सन्देश देने आया है । जब राजा को कुमारो के मृत्यु का कारण बताया गया, तो वे विशेष आक्रन्द करने लगे । उनके शोक का पार नहीं रहा । राजा के हृदय मे शान्ति उत्पन्न करने के लिए ब्राह्मण ने फिर कहा,-

"नरेन्द्र ! आपको पृथ्वी का ही राज्य नहीं मिला है, वरन् प्रबोध का आध्यात्मिक अधिकार भी प्राप्त हुआ है-वशानुगत मिला है । आप दूसरो को बोध देने योग्य हैं, फिर आपको दूसरा कोई उपदेश दे, यह उलटी बात है । मोहनिद्रा का समूल नाश करने वाले ऐसे भगवान् अजितनाथ के भाई को दूसर बोध दे, क्या यह लज्जा की बात नहीं है ?"

ब्राह्मण की बात सुन कर राजा को कुछ धैर्य बँधा । किन्तु मोह भी महाप्रबल था । वह रह-रह कर उमड आता और ज्ञान को दबा देता था । यह देख कर 'सुबुद्धि' नाम के प्रधान मन्त्री ने निवेदन किया;-

"महाराज ! समुद्र मर्यादा नहीं छोडता, कुलपर्वत कम्पायमान नहीं होते और पृथ्वी चपल नहीं बनती । यदि कभी समुद्र पर्वत और पृथ्वी भी मर्यादा छोड दे तो भी आप जैसे महानुभाव का तो

दु ख प्राप्त होने पर भी अपना सतुलन नहीं खोना चाहिए । ससार की तो लीला ही विचित्र है । क्षनभर पहले जिसे सुखपूर्वक विचरण करते देखते हैं, वह क्षणभर बाद ही नष्ट होते दिखाई देता है । इसलिए विवेकी पुरुष को ससार की विचित्रता का विचार कर के विवेक को जागृत रखना चाहिए ।

इन्द्रजालिक की कथा

महाराजा सगर चक्रवर्ती का शोक दूर करने के लिए सुबुद्धि प्रधानमन्त्री इस प्रकार कथा सुनाने लगा-

"जम्बूद्वीप के इसी भरत-क्षेत्र के किसी नगर मे एक राजा राज्य करता था । वह जैनधर्म रूपी सरोवर में हस के समान था । सदाचारी और प्रजावत्सल था । न्याय-नीतिपूर्वक राज्य का सचालन करता था । एक समय वह सभा में बैठा हुआ था कि उसके सामने एक व्यक्ति उपस्थित हुआ । उसने राजा को प्रणाम कर के अपना परिचय देते हुए कहा -

"मैं वेदादि शास्त्र शिल्पादि कला एव अन्य कई विद्याओ में पारगत हू । किन्तु इस समय मैं अपनी इन्द्रजालिका (जादुई) विद्या का परिचय देने के लिए आपकी सेवा में उपस्थित हुआ हूँ । इस विद्या से मैं उद्याना की रचना कर सकता हूँ, ऋतुओ का परिवर्तन और आकाश मे गन्धर्वों द्वारा सगीत प्रकट कर सकता हूँ । मैं अदृश्य हो सकता हूँ । आग चबा सकता हूँ । धधकते हुए लोहे को खा सकता हूँ । जलचर, स्थलचर और खेचर (आकाश में उड़ने वाली पक्षी) बन सकता हूँ । इच्छित पदार्थ को दूर देश से मँगवा सकता हूँ । पदार्थों के रुप पलट सकता हूँ और अन्य अनेक प्रकार के आश्चर्यकारी दृश्य दिखा सकता हूँ ।

मेरी प्रार्थना है कि आप मेरी कला देखें ।"

"हे कलाविद्"- नरेश ने इन्द्रजालिक को सम्बोध कर कहा - "अरे, तुमने बुद्धि को बिगाड़ने वाली इस कला के पीछे अपना अनुपम मानवभव क्यों गँवाया ? इस जन्म से तो परमार्थ की साधना करनी थी । अब तुम आये हो, तो मैं तुम्हें तुम्हारी इच्छानुसार धन दे कर सतुष्ट करता हूँ, किन्तु ऐसे जादुई खेल देखने की मेरी रुचि नहीं है ।"

"राजन् ! मैं दया का पात्र नहीं हूँ । मैं कलाविद् हूँ । अपनी कला का परिचय दिये बिना मैं किसी का दान ग्रहण नहीं करता । यदि आपको मरी कला के प्रति आदर नहीं है, तो रहने दीजिए" - कह कर और नमस्कार कर के जादूगर चलता बना । राजा ने उसे मनाने का प्रयत्न किया किन्तु वह नहीं रुका और चला ही गया ।

वही जादूगर दूसरी बार एक ब्राह्मण का रूप बना कर राजा के सामने उपस्थित हुआ और अपना परिचय देते हुए बोला -

-"मैं भविष्यवेत्ता हूँ । भूत, भविष्य और वर्तमान के भाव यथातथ्य बता सकता हूँ । आप मेरे ज्ञान का परिचय पाइए ।"

-"अच्छा यह बताओ कि अभी निकट भविष्य में क्या कुछ नई घटना घटने वाली है" - राजा ने पूछा ।

-"महाराज ! आज से सातवें दिन, समुद्र अपनी मर्यादा छोड कर ससार मे प्रलय मचा देगा । यह समस्त पृथ्वी जलमय हो जायगी "- ज्योतिषी ने भविष्यवाणी की ।

राजा चकित हो कर अपनी सभा के ज्योतिषियों की ओर देखने लगा । ज्योतिषियो ने भविष्यवेत्ता की हँसी उडाते हुए कहा - "महाराज ! यह कोई नया ही भविष्यवेत्ता है । इसके शास्त्र भी नये ही होंगे । किन्तु नभमडल के ग्रह-नक्षत्रादि तो नये नहीं हो सकते । ज्योतिष-चक्र तो वही है स्वामिन्! उससे तो ऐसा कोई योग दिखाई नहीं देता । यह कोई विलक्षण महापुरुष है जो उन्मत्त के समान व्यर्थ बकवाद कर रहा है । यह झूठा है- महाराज ! इसकी बात कभी सत्य नहीं हो सकती ।"

ज्योतिषियों की बात सुन कर भविष्यवेत्ता बोला - "महाराज ! आपकी सभा में या तो ये विद्वान् विदूषक (हँसोडे) हैं, या गाँवडे के जगली पडित हैं । ऐसे नामधारी पडितो से आपकी सभा सुशोभित नहीं होती । राजन् ! ये शास्त्र के रहस्य को नहीं जानते, किन्तु किसी प्रकार अपना स्वार्थ साधते रहते हैं । यदि इन्हे मेरे भविष्य-कथन पर विश्वास नहीं हो, तो बात तो सात दिन की ही है । ये सात दिन मुझे आप अटक में रखिये । यदि मेरा भविष्य-कथन असत्य हो जाय, तो आप मुझे कठोरतम दण्ड दीजिए । मैं अपने ज्ञान को प्रत्यक्ष सिद्ध कर के दिखा दूगा ।"

राजा ने उस ब्राह्मण को अपने अग-रक्षको के रक्षण मे दिया । नगर मे इस बात के प्रसरने से जनता म भी हलचल मच गई । इस भविष्यवाणी को व्यर्थ मानने वाले भी आशकित हो गए । छह दिन व्यतीत होने के बाद सातवे दिन राजा ने उस ब्राह्मण को बुलाया और कहा -

"विप्रवर ! आज का दिन याद है ? क्या आज ही प्रलय होगा ? आकाश तो बिलकुल स्वच्छ दिखाई दे रहा है । समुद्र भी अब तक अपनी सीमा मे ही होगा । फिर यह प्रलय कहाँ से आएगा ?"

"राजन् ! थोडी देर धीरज धरें । मेरी भविष्यवाणी पूरी होने ही वाली है । मैने अपने ज्ञान और अनुभव के बल पर जो भविष्यवाणी की है, वह कदापि अन्यथा नहीं हो सकती । बस थोडी ही देर और हैं । आप, मैं, यह राज्य-सभा और यह हरी-भरी पृथ्वी थोडी ही देर रहेंगे । फिर सब नष्ट हो जाएगा" - ब्राह्मण ने हँसते हुए कहा ।

यह बात हो ही रही थी कि इतन म एक भयकर गर्जना हुई । सभी लोग इस गजना से चौंक उठे । ब्राह्मण ने कहा -

"महाराज ! यह समुद्र की गभीर गर्जना है । यह प्रलय की सूचना है । अब सावधान हो जाइए। देखिए, यह आ रहा है । वह वह वह

ब्राह्मण प्रलय का वर्णन करता जा रहा था । सभी लोगों की दृष्टि दूर-दूर तक पहुँच रही थी। इतने में सभी को दूर से ही, मृग-तृष्णा के समान सभी ओर से, पानी का प्रवाह अपनी ओर आता दिखाई दिया । ब्राह्मण राजा के निकट आ कर कहने लगा –

"देखिए, वह पहाड आधा डूब गया । यह विशाल वृक्ष देखिये कितना डूब गया ? अब तो वृक्षों की ऊपर की डालिय ही दिखाई दे रही है । वह गाँव जलमग्न हो गया । उधर देखो । वहाँ पानी के अतिरिक्त और है ही क्या ? देखिए, यह प्रवाह इधर ही आ रहा है । ये वृक्ष, पशु और मनुष्यों के शव तैरते दिखाई दे रहे हैं । देखिये अब तो आपके किले तक पानी आ गया है । ओह! अब तो भवन के आगन मे भी पानी आ गया । नरेन्द्र ! कहाँ गया आपका नगर ? अब तो आपके इस विशाल भवन के अतिरिक्त कुछ भी दिखाई नहीं दता । सभी जलमग्न हो गया महाराज ! भवन का प्रथम खण्ड जलमग्न हो गया । अब दूसरा खण्ड भी भर रहा है । यह देखिये अब तो तीसरे खण्ड में भी पानी भरने लगा है ।" होते-होते सारा भवन डूबता दिखाई दिया । "कहाँ गये महाराज ! आपके वे मूर्ख ज्योतिषी ?" ब्राह्मण बोलता जा रहा था । राजा भयभीत था । बचने की कोई आशा नहीं रही थी । वह दिग्मूढ हो कर कूद पडा – उस महासागर मे । किन्तु उसने अपने को सिंहासन पर सुरक्षित बैठा पाया । न सागर का पता, न पानी का । सब ज्यों का त्यों ।

विप्र, कमर म ढोल बाँध कर बजा रहा था और अपने ईष्टदेव की स्तुति करता हुआ हर्षोन्मत्त हो रहा था । राजा ने पूछा- "यह सब क्या है ?"

"महाराज ! मैं वही इन्द्रजालिक हूँ । पहले आपने मेरी कला की उपेक्षा की, तो दूसरी बार मैं भविष्यवेत्ता बन कर आया और अपनी कला दिखलाई । मैंने आपके सुयोग्य सभासदों का तिरस्कार किया और आपको भी कष्ट दिया इसके लिए क्षमाप्रार्थी हूँ"- नम्रतापूर्वक जादूगर ने कहा ।

"विप्र ! तुम्हें क्षमा माँगने की आवश्यकता नहीं है । तुमने मेरा उपकार ही किया है । इन्द्रजाल के समान इस ससार असारता का प्रत्यक्ष बोध देकर तुमने मुझे सावधान कर दिया ।"

राजा ने उस जादूगर को बहुत-सा पारितोषिक दे कर विदा किया और अपने पुत्र को राज्य का भार दे कर निर्ग्रन्थ अनगार बन गया ।

कथा को पूर्ण करते हुए सुबुद्धि प्रधान ने कहा-

"स्वामिन् ! यह सारा ससार ही इस कथा के इन्द्रजाल के समान है । इसमें सयोग और वियोग होते ही रहते हैं । आप तो जिनेश्वर भगवान् के कुल में चन्द्रमा के समान हैं और धर्मज्ञ हैं । आपको इस प्रकार शोक नहीं करना चाहिए ।"

सुबुद्धि प्रधान के उद्बोधन से क्षणभर के लिए राजा का मोह हलका हुआ किन्तु रह-रह कर पुन उभरने लगा तब दूसरा मन्त्री कहने लगा ।

मायावी की अद्भुत कथा

"राजन् ! ससार मे अनुकूल और प्रतिकूल सयोग तो मिलते ही रहते हैं । उदयभाव से उत्पन्न परिस्थितियो में हर्ष-शोक करना साधारण व्यक्ति के योग्य हो सकता है, परन्तु आप जैस ज्ञानियों के लिए उचित नहीं है । ससार के सयाग नाटकीय दृश्यो के समान है। मैं आपको एक कथा सुनाता हूँ। जरा शान्ति से सुनिये ।

एक राजा के पास उसके द्वारपाल ने आ कर कहा –

–" महाराज ! एक पुरुष आपके दर्शन करना चाहता है । वह अपने को उच्चकोटि का मायावी बतलाता है और अपने करतब दिखाने आया है । आज्ञा हो, तो उपस्थित करूँ ।"

राजा ने इन्कार करते हुए कहा – "नहीं यह ससार ही मायामय है । इन्द्रजाल के मैने भी कई दृश्य देख लिए । अब विशेष देखने की इच्छा नहीं है । उसे मना कर दो ।"

राजा की उपेक्षा से निराश एव उदास हुआ मायावी चला गया । किन्तु उसकी इच्छा वैसी ही रही । थोडे दिनो के बाद वह अपना मायावी रूप ले कर राजा के सामने उपस्थित हुआ । वह एक हाथ में तलवार और दूसरे हाथ में भाला और साथ में एक सुन्दरतम स्त्री का लिए आकाश-मार्ग से राजा के सामने आ खडा हुआ । आश्चर्य के साथ राजा ने उससे पूछा –

"तुम कौन हो ? यह स्त्री कौन है ? यहाँ क्यो आये हो ?"

–"राजेन्द्र ! मैं विद्याधर हूँ । यह मेरी पत्नी है । एक दूसर विद्याधर के साथ मेरा झगडा हो गया है । वह लम्पट मेरी इस स्त्री को हरण कर के ले गया था, किन्तु मैं अपनी प्रिया को उससे छुडा कर ले आया । वह लम्पट फिर भी मेरे पीछे पडा हुआ है । मैं पत्नी को साथ रख कर उससे युद्ध नहीं कर सकता । इसलिए मैं आपकी शरण में आया हूँ । आप न्यायी, सदाचारी परदार-सहोदर प्रबल पराक्रमी, धर्मात्मा एव शरणागत-रक्षक हैं । आप मेरी पत्नी को धरोहर के रूप में रखें । मैं इसको आपके रक्षण में रख कर उस दुष्टात्मा का दमन करने जाता हू । उसे यमद्वार पहुँचा कर फिर अपनी प्राणप्रिया को ले जाऊगा ।

"नरेन्द्र ! अर्थ-लिप्सा पर अकुश रखने वाले तो मिल सकते हैं । किन्तु भोगलिप्सा पर अकुश रखने वाले ससार में खोज करने पर भी नहीं मिलते । मैने सभी ओर देखा, किन्तु आप जैसा स्वदार-सतोषी एव परनारी-सहोदरवत् और कोई दिखाई नहीं दिया । आपकी यशध्वजा दिगत व्याप्त है । इसीलिए वैताढ्य पर्वत से चल कर मैं आपकी शरण में आया हूँ । आप थोडे दिनों के लिए मेरी पत्नी की रक्षा कीजिए"-मायावी ने हृदयस्पर्शी विनती की ।

–" भद्र ! तुमने यह क्या तुच्छ याचना की । मैं तेर शत्रु उस दुष्ट लम्पट को ही उसकी दुष्टता का कठोर दण्ड देने के लिए तत्पर हू । तू चिन्ता मत कर और यहाँ सुख से रह"– राजा न अपने वीरत्व के अनुकूल उत्तर दिया ।

-"कृपावतार ! आप केवल मेरी पत्नी की ही रक्षा कीजिए । यही उपकार बडा भारी है । क्योंकि चन्द्रमुखी रूप-सुन्दरी का पवित्रतापूर्वक रक्षण करना ही दुष्कर है । आप यही कृपा कीजिए । उस दुष्ट को तो मैं थोडी ही देर में मसल कर सदा के लिए सुला दूँगा"- आगत ने अपनी प्रार्थना पुन दुहराई।

-"स्वीकार है वीर ! तुम निश्चिंत् रहो । तुम्हारी पत्नी यहाँ अपने पितृगृह के समान सुरक्षित रहेगी ।" -राजा ने आश्वासन दिया ।

राजा की स्वीकृति पाते ही वह मायावी उछला और पक्षी के समान आकाश मे उड़ गया । राजा ने उस सुन्दरी से कहा-

"जाओ बेटी ! तुम अन्त पुर में प्रसन्नतापूर्वक रहो । मैं वहाँ तुम्हारी सुविधा का सारा प्रबन्ध करवा दूँगा । तुम किसी भी प्रकार की चिन्ता मत करो और जिस वस्तु की आवश्यकता हो

हठात् आकाश में घोर गर्जना हुई । सिंहनाद हुआ । तलवार और भाले की टक्कर की आवाजें आने लगी ।"मैं तुझे आज यमधाम पहुँचा कर ही रहूँगा । ठहर, जाता कहाँ है ? आज तेरे जीवन का अंतिम क्षण है," इत्यादि आवाजें आने लगी । नरेश एव सभासद् सभी अपने स्थान से उठ कर आकाश की ओर देखने लगे । इतने में उनके सामने एक कटा हुआ मानव हाथ आकाश से आ कर गिरा । हाथ को देखते ही वह स्त्री चौंकी और रोने लगी । इतने में एक कटा हुआ पाँव आ कर गिरा । यह देख कर रोती हुई वह बोली - "यह हाथ और पाँव तो मेरे पति के ही हैं ।" इसके बाद दूसरा पाँव मस्तक और धड कटे हुए गिर । स्त्री करुण क्रन्दन करती हुई कहने लगी -

"मेरा सर्वनाश हो चुका । उस दुष्ट ने मेरे पति को मार डाला । यह उन्हीं क अग हैं । अब मैं जीवित नहीं रह सकती । मैं भी अब पति के साथ ही परलोक जाना चाहती हूँ । महाराज ! शीघ्रता कीजिए । मुझे पतिधाम जाने के लिए आज्ञा दीजिये । चितारूपी शीघ्र-गति वाला वाहन बनाइए । मैं उस पर आरूढ हो कर जाना चाहती हूँ ।"

-"हे पति-परायणा पुत्री ! धैर्य धर । विद्याधरी लीला मे अनक प्रकार की मायावी रचना हो सकती है । कदाचित् उस दुष्ट लम्पट ने निराश हो कर तुझे भ्रमजाल में फँसाने क लिए यह सभी प्रपञ्च किया हो । इसलिए शान्ति धारण कर और थोडी देर प्रतिक्षा कर" - राजा ने सान्त्वना देते हुए कहा।

- "नहीं, महाराज ! यह मेरा पति ही है । मैं पूर्णरूप से पहिचानती हूँ । इसमें किसी प्रकार का भ्रम अथवा धोखा नहीं है । मैं अब क्षणभर जीवित रहना नहीं चाहती । अब मेरा जीवित रहना मेरे पितृकुल एव पतिकुल के लिए शोभनीय नहीं है । इसलिए अपने सेवकों को आज्ञा दे कर मेरे लिए शीघ्र ही चिता रचाइए" -उस स्त्री ने कहा ।

- "बहिन ! तेरे दु ख को मैं जानता हूँ । फिर भी मेरा आग्रह है कि तू थोडा धीरज रख । बिना विचार एक दम साहस कर डालना अच्छी नहीं होता । जो विद्याधर हैं आकाश में उड सकते हैं वे विविध प्रकार के भ्रम की सृष्टि भी कर सकते हैं । कौन जाने यह भी कोई छल हो" - राजा ने सन्देह व्यक्त किया ।

राजा की बात सुनते ही सुन्दरी क्रोधित हो कर बाली-

–"राजन् ! आप मुझे क्यो रोकते हैं ? आपका 'परस्त्री-सहोदर' विरुद वास्तविक है या मात्र भुलावा देने के लिए ही है ? यदि वास्तव में आपकी दृष्टि शुद्ध है, तो कृपा कर शीघ्रता करिये और धर्मपुत्री को अपने कर्त्तव्य-मार्ग पर चलने दीजिए । मैं अब एक पल के लिए भी रुकना नहीं चाहती ।"

राजा निराश हो गया और उसकी इच्छानुसार व्यवस्था करने की आज्ञा प्रदान कर दी । महिला ने स्नान-मजन किया । वस्त्राभूषण पहिने । वह सम्पूर्ण रूप से भृगारित हो कर रथ मे बैठ गई और पति के अगो को भी ले लिये । रथ श्मशान भूमि की ओर चलने लगा । पीछे राजा एव नागरिकजन पैदल चलने लगे । चिता रची गई । चिता में प्रवेश होने के पूर्व उस महिला ने राजा के दिये हुए धन का मुक्त हस्त से दान किया और सभी लोगों को प्रणाम किया । उसके बाद चिता की प्रदक्षिणा कर के उसमें बैठ गई और पति के अगों के साथ जल गयी । राजा और नागरिकजन शोकाकुल हृदय से घर लौटे ।

राजा सभा में बैठा था, तब वही मायावी पुरुष हाथ में तलवार और भाला ले कर सभा मे उपस्थित हुआ । राजा और सभी लोग उसे देख कर चकित रह गये । वह पुरुष बोला –

"राजेन्द्र ! ज्योंही मैं आपके पास से गया, त्योंही मेरा उस दुष्ट से साक्षात्कार हो गया । वह यहीं मेरे पीछे आ रहा था । मैंने उसे ललकारा और गर्जना के साथ हमारा युद्ध प्रारम्भ हो गया । लड़ते-लड़ते मैंने कौशल से पहले उसका एक हाथ काट दिया फिर पाँव इस प्रकार लडते-लडते उसके छह टुकडे कर दिये और उसके सभी अग आपकी सभा में ही गिरे । इस प्रकार आपकी कृपा से मैंने अपने शत्रु को समाप्त कर दिया । अब मैं बिलकुल निर्भय हूँ । अब मेरी पत्नी मुझे दे दीजिए, सो मैं अपने घर जा कर शान्ति से जीवन व्यतीत करूँ ।"

मायावी के वचन सुन कर राजा चितामग्न हो कर कहने लगा –

"भद्र ! तुम्हारी पत्नी मेरे पास थी । किन्तु तुम्हारे युद्ध के परिणाम स्वरूप कटे हुए शरीर को देख कर वह समझी कि मेरा पति मारा गया है और ये हाथ आदि अग उसी के हैं । वह शोकसागर में डूब गई और उस शरीर के साथ जल मरने को आतुर हो गई । हमने उसे बहुत समझाया, किन्तु वह नहीं मानी और उस शरीर के साथ जल गई । हम सब अभी उसे जला कर आये हैं और उसी चिन्ता में बैठे हैं । अब हम उसे कहाँ से लावें ? मुझे आश्चर्य होता है कि वे शरीर के टुकड़े तुम्हारे नहीं थे अथवा पहले जो आया था, वह कोई दूसरा था और अब तुम दूसरे हो, क्या बात है ?"

"राजन् ! आप क्या कह रहे हैं ? क्या आपकी मति पलट गई ? आप भी मेरी पत्नी के रूप पर मोहित हो कर बदल रहे हैं ? क्या यही आपका परनारी सहोदरपना है ? क्या आप भी मेरे साथ शत्रुता करने लगे हैं ? यदि आप सदाचारी और निर्लिप्त हैं, तो कृपा कर मेरी पत्नी मुझे अभी दीजिए और अपनी उज्ज्वल कीर्ति की रक्षा कीजिए ।"

"भाई ! मैंने जो कुछ कहा, वह सत्य है । यह सारी सभा इसकी साक्षी है । अब मैं तुम्हारी स्त्री को कहाँ से लाऊँ"- राजा अपनी विवशता बतलाने लगा ।

"राजन् ! क्या आप झूठ भी बोलने लग गये । मुझ जीते-जागते को मरा हुआ बता कर, मेरा स्त्री को दबाना चाहते हैं ? किन्तु ऐसा नहीं हो सकेगा । आप मेरी स्त्री को नहीं छुपा सकेंगे । आपका पाप खुला हो चुका है । देखिए, आपके पीछे वह कौन बैठी है । इस प्रत्यक्ष सत्य को भी नहीं मानेंगे आप ?"

राजा ने अपने पीछे देखा, तो वही स्त्री, उसी रूप में साक्षात् बैठी दिखाई दी । राजा को लगा कि वह कलंकित हुआ है । उस पर पराई स्त्री को दबाने का दोष लगा है । चिन्ता से उसका चहरा म्लान हो गया । यह देख कर वह मायावी पुरुष हाथ जोड कर बोला -

"महाराज ! मैं वही पुरुष हूँ जिसे कुछ दिन पूर्व आपने निराश कर लौटा दिया था। किन्तु मैं बड़े परिश्रम से प्राप्त अपनी विद्या का चमत्कार आपको दिखाना चाहता था । इसलिए यह सारा मायाजाल मैंने खड़ा किया और आपको अपनी कला दिखा कर कृतार्थ हुआ हूँ । अब आज्ञा दीजिए, मैं अपने स्थान जाता हूँ ।"

राजा ने उसे पारितोषिक दे कर विदा किया और स्वय ने विचार किया कि जिस प्रकार मायावी का मायाजाल व्यर्थ है, उसी प्रकार यह ससार भी नि सार एव नाशवान् है । इस प्रकार चिन्तन करता हुआ राजा, ससार से विरक्त हो कर प्रव्रजित हो गया ।

मन्त्री ने चक्रवर्ती महाराज सगर को उपरोक्त कथा सुना कर कहा-

"महाराज ! यह ससार उस माया-प्रयोग के समान है । इसलिए आप शोक का त्याग कर के धर्म की आराधना करने में तत्पर बनें ।"

सगर चक्रवर्ती की दीक्षा

इस प्रकार दोनों मन्त्रिया के वचन सुन कर चक्रवर्ती महाराज को भव-निर्वेद (वैराग्य) उत्पन्न हो गया । वे मन्त्रियो से कहने लगे -

"तुमने मुझे अच्छा उपदेश दिया । जीव अपने कर्मानुसार ही जन्म लेता है, जीता है और मरता है । इस विषय में बालक युवक और वृद्ध का कोई विचार या निर्धारित परिमाण नहीं होता । माता पिता और बान्धवादि का सगम स्वप्नवत् है । सपत्ति हाथी के कान के समान चचल है । यौवन और लक्ष्मी बरसाती नाले के समान बह जाने वाले हैं । जीवन घास के अग्रभाग पर रहे हुए जलबिन्दु तुल्य है । वृद्धावस्था आयुष्य का अन्त करने वाली राक्षसी के समान है । जब तक वृद्धावस्था नहीं आती और इन्द्रियाँ विकल नहीं होती तब तक सामर्थ्य रहता ही ससार का त्याग कर के निर्ग्रन्थ-प्रव्रज्या धारण कर, आत्महित साध लेना ही श्रेयस्कर है । जो मनुष्य इस असार ससार का त्याग कर के मोक्ष प्राप्ति के पुरुषार्थ में पराक्रमी बनता है वह इस नश्वर शरीर रूपी तुच्छ ककर से शाश्वत सुख रूपी महान् रत्न का महालाभ प्राप्त करता है ।"

महाराजाधिराज सगर इस प्रकार ससार की आसारता बता कर आत्म-कल्याण के लिए प्रव्रजित होने का मनोभाव व्यक्त करने लगे । वे विरक्त हो गए । ससार मे रहना अब उन्हें नहीं सुहाता था । उनका वैराग्य भाव वर्द्धमान हो रहा था ※ । उन्होंने अपने पौत्र भगीरथ का राज्याभिषेक किया । इतने में उद्यान पालक ने तीर्थंकर भगवान् अजितनाथजी के शुभागमन की बधाई दी । महाराज, भगवत को वन्दन करने गये और भगवान् की धर्मदेशना सुन कर प्रव्रज्या प्रदान करने की प्रार्थना की । भगीरथ ने सगर महाराज का अभिनिष्क्रमण महोत्सव किया । सगर महाराज सर्वत्यागी निर्ग्रंथ हो गए । आपके साथ अनेक सामन्तो और मन्त्रियो ने भी दीक्षा ली । दीक्षा लेने के बाद सम्राट ज्ञानाभ्यास एव सयम

※ ग्रथकार बतलाते हैं कि चक्रवर्ती महाराजा के सामने अष्टापद पर्वत के समीप रहने वाले बहुत-से लोगों का एक झुड आया और आर्त्त स्वर में चिल्लाया - "महाराज ! हमारी रक्षा कीजिए । हम दु खी हो गए हैं ।" उन्होंने आगे कहा - "आपके पुत्रो ने अष्टापद पर्वत के समीप जो खाई खोद कर गगा के जल से भरी वह जल हमारा सर्वनाश कर रहा है । खाई भर जाने के बाद सारा जल हमारे प्रदेश में फैल गया और आस-पास के गाँवों को डूबा कर नष्ट करने लगा । हम सभी जीवन बचाने के लिए वहाँ से भाग निकले । हमारे घर, सम्पत्ति और सभी साधन नष्ट हो रहे हैं । हमारी रक्षा करिये कृपालु ! अब हम क्या करें ? कहाँ रहें ?" ग्राम्यजनो की करुण कहानी सुन कर सम्राट को खेद हुआ । उन्होंने अपने पौत्र भगीरथ को बुलाया और कहा - "वत्स ! तुम जाओ ओर दण्ड-रत्न से गगा के प्रवाह को आकर्षित कर के पूर्व के समुद्र में मिला दो । जब तक पानी को रास्ता नहीं बताया जाता तब तक यह अन्धे के समान इधर-उधर भटक कर जीवो के लिए दु खदायक बनता रहता है । जाओ शीघ्र जाओ और इन दुखियों का दु'ख दूर करो । ' भगीरथ गया । उसने तेले का तप कर के 'ज्वलप्रभ ' नामक नागकुमारा के अधिपति का आराधन किया और उसकी आज्ञा ले कर दण्ड-रत्न के प्रयोग से गगा के लिए मार्ग करता हुआ चला । आगे-आगे भगीरथ ओर पीछे बहती हुई गगा । वह कुरुदेश के मध्य मे से लेकर हस्तिनापुर क दक्षिण से कोशलदेश के पश्चिम से प्रयाग के उत्तर से काशी के दक्षिण में विध्याचल के दक्षिण में और अग तथा मगध देश के उत्तर की ओर हो कर गगा को ले चला। मार्ग में आती हुई छोटी बड़ी नदिया भी उसमें मिलती गई । अन्त मे उसे पूर्व के समुद्र में मिला दी गई । उस समय से वहाँ 'गगासागर' नामक तीर्थ हुआ । भगीरथ के द्वारा खिची जाने के कारण गगा का तीसरा नाम ' भागीरथी' हुआ।

गगा को समुद्र की ओर लाते हुए मार्ग में सर्पों के निवास-स्थान टूटे, उन्हें त्रास हुआ । वहाँ भगीरथ ने नागदेव को बलिदान दिया । भगीरथ ने ज्वलनप्रभ के कोप से भस्म हुए सगरपुत्रों की अस्थियाँ भी गगा के साथ समुद्र में प्रक्षिप्त की । भगीरथ ने अपने पितृओं की अस्थिया जल में डाली। उसका अनुकरण लोग अब तक करते हैं।

(वैदिक सम्प्रदाय भी गगा को 'भागीरथी' के नाम से पुकारता है । उनका कहना है कि राजा दिलीप का पुत्र भगीरथ घोर तपस्या कर के गगा को आकाश से उतार कर पृथ्वी पर लाये इसी से वह 'भागीरथी' कहलाई)

भगीरथ वापिस लौट रहा था । रास्ते में उसे केवलज्ञानी भगवत के दर्शन हुए । उसने अपने पिता काका आदि के एक साथ भस्म हो जाने का कारण पूछा । केवली भगवान् ने कहा-'एक सघ तीर्थयात्रा करने जा रहा था । वह चोरपल्ली के पास पहुँच कर वहीं ठहर गया । ऋद्धि-सम्पन्न सघ को देख कर ग्रामवासी चोर लोग खुश हुए । उन्होंने उसे लूटने का विचार किया । किन्तु एक कुभकार ने उन्हें समझाया कि यह तो धमसघ है । इसे सताना अच्छा नहीं है । कुम्हार के समझाने से सघ सुरक्षित रहा । कालान्तर में राजा ने कुपित हो कर चोरपल्ली को ही जला डाला । वहाँ के निवासी

ऐसे भयकर दुष्काल को देख कर राजा बहुत चिंतित हुआ । उसे प्रजा को दुष्काल की भयकर ज्वाला से बचाने का कोई साधन दिखाई नहीं दिया । उसने सोचा - 'यदि मेरे पास जितना धान्य है वह सभी बाट दूँ, तो भी प्रजा की एक समय की भूख भी नहीं मिटा सकता । इसलिए इस सामग्री का सदुपयोग कैसे हो ? उसने विचार कर के निश्चय किया कि प्रजा में भी साधर्मी, अधिक गुणवान् एव प्रशस्त होते हैं और साधर्मी से साधु विशेष रक्षणीय होते हैं । मेरी सामग्री से सघ रक्षा हो सकती है ।' उसने अपने रसोइये को बुला कर कहा -

"तुम मेरे लिए जो भोजन बनाते हो, वह साधु-साध्वियो को बहराया जावे और अन्य आहार, सघ के सदस्यों को दिया जावे । इसमें से बचा हुआ आहार मैं काम में लूँगा "

राजा इस प्रकार चतुर्विध सघ की वैयावृत्य करने लगा । वह स्वय उल्लासपूर्वक सेवा करने लगा। जब तक दुष्काल रहा तब तक इसी प्रकार सेवा करता रहा । सघ की वैयावृत्य करते हुए भावों के उल्लास मे राजा ने तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन किया ।

एक दिन राजा आकाश म छाई हुई काली घटा देख रहा था । बिजलियाँ चमक रही थी । लग रहा था कि घनघोर वर्षा होने ही वाली है, किन्तु अकस्मात् प्रचण्ड वायु चला और नभ-मण्डल में छाये हुए बादल टुकडे-टुकडे हो कर बिखर गए । क्षणभर में बादलों का नभ-मण्डल में छा जाना और क्षणभर में बिखर जाना देख कर राजा विचार में पड़ गया । उसने सोचा -

"अहो ! यह कैसी विडम्बना है ? सघन मेघ का न तो व्यापक रूप से आकाश मण्डल पर अधिकार जमाते देर लगी और न बिखर कर छिन्न-भिन्न होते देर लगी । इसी प्रकार इस ससार में सभी प्रकार की पौद्गलिक वस्तुए भी नष्ट होने वाली है । मनुष्य अनेक प्रकार की योजनाए बनाता है । अनेक प्रकार की सामग्री सग्रह करता है, हँसता है, खेलता है, भोगोपभोग करता है और वैभव के मोह में रगा जाता है किन्तु जब प्रतिकूल दशा आती है तो सारा वैभव लुप्त हो जाता है और दुःख में झुरता हुआ प्राणी, मृत्यु को प्राप्त हो जाता है ।

कोई घोडे पर चढ कर घमण्डपूर्वक इधर-उधर फिरता है किन्तु जब अशुभ कर्म का उदय होता है तो वह घोड़ा उसको नीचे पटक कर ठण्डा कर देता है । कई वैभव में रचे-मचे लोगों को घोर डाकू धन और प्राण लूटकर कुछ क्षणों में ही सारा दृश्य बिगाड देते हैं । अग्नि मे जल कर, पानी की बाढ में बह कर, दिवाल गिरने पर उसके नीचे दब कर, इस प्रकार विविध निमित्तों से नष्ट होने और मरने में देर ही कितनी लगती है । इस प्रकार नाशवान् ससार और प्रतिक्षण मृत्यु की ओर जाते हुए इस मानव जीवन पर मोह करना बड़ी भारी भूल है ।

मनुष्य सोचता है - मैं भव्य भवन बनाऊँ । उच्चकोटि के वाहन, शयन आसन और शृंगार प्रसाधनों का सग्रह करूँ । मनोहर गान, वादित्र, नृत्य और रमणियों को प्राप्त कर सुखोपभोग करूँ । मैं महान् सत्ताधारी बनूं । वह इस प्रकार की उधेड़बुन में ही रहता है और अचानक काल के झपटे

में आ कर मर जाता है । इस प्रकार विडम्बना से भरे इस ससार में तो क्षणभर भी नहीं रहना चाहिए ।"

इस प्रकार सोचते हुए राजा विरक्त हो गया । अपने पुत्र विमलकीर्ति को राज्याधिकार सौंप कर आचार्य श्री स्वयभवस्वामी के समीप दीक्षित हो गया । प्रव्रज्या स्वीकार करने के बाद मुनिराज, पूर्ण उत्साह के साथ साधना करने लगे । परिणामो की उच्चता से तीर्थंकर नामकर्म को पुष्ट किया और समाधिपूर्वक आयुष्य पूर्ण कर के 'आनत' नामक नौवें स्वर्ग मे उत्पन्न हुए । स्वर्ग के सुख भोग कर, आयुष्य पूर्ण होने पर श्रावस्ति नगरी के 'जितारि' नाम के प्रतापी नरेश की 'सेनादेवी' नामकी महारानी की कुक्षि मे उत्पन्न हुए । महास्वप्न और उत्सवादि तीर्थंकर के गर्भ एव जन्म-कल्याणक के अनुसार हुए ×।

भगवान् का जन्म मार्गशीर्ष शुक्ला १४ को हुआ । प्रभु का शरीर चार सौ धनुष ऊचा था । युवावस्था में लग्न हुए । पन्द्रह लाख पूर्व तक कुमार, युवराज पद पर रहे । पिता ने प्रभु को राज्याधिकार दे कर प्रव्रज्या ले ली । प्रभु ने चार पूर्वांग और ४४ लाख पूर्व की उम्र होने पर वर्षीदान दे कर मार्गशीर्ष शुक्ला पूर्णिमा को प्रव्रज्या स्वीकार कर ली । प्रभु चौदह वर्ष तक छद्मस्थ रहे । कार्तिक कृष्णा पचमी के दिन बेले के तप युक्त प्रभु के घातिकर्म नष्ट हो गए और केवलज्ञान-केवलदर्शन उत्पन्न हो गया । प्रभु ने चतुर्विध तीर्थ की स्थापना की ।

धर्मदेशना

अनित्य भावना

"इस ससार में सभी वस्तुएँ अनित्य – नाशवान् हैं, फिर भी उनकी प्राथमिक मधुरता के कारण जीव उन वस्तुओं मे मूर्च्छित हो रहे हैं । ससार में जीवो को अपने आप से दूसरो की ओर से और चारो ओर से विपत्ति आती रहती है । जीव, यमराज के दाँत रूप काल के जबडे में रहे हुए, कितने कष्ट से जी रहे हैं, फिर भी नहीं समझते ।

अनित्यता, वज्र जैसे दृढ और कठोर देह को भी जर्जरित कर के नष्ट कर देती है, तब कदली के गर्भ के समान कोमल देह का तो कहना ही क्या है ? यदि कोई व्यक्ति इस नि सार एव नाशवान् शरीर को स्थिर करना चाहे, तो उसका प्रयत्न सडे हुए घास से बनाये हुए नकली मनुष्य * जैसा है, जो हवा और वर्षा के वेग से नष्ट हो जाता है । काल रूपी सिंह के मुख के समान गुफा म रहने वाले प्राणियो की रक्षा कौन कर सकता है ? मन्त्र-तन्त्र, औषधी देव-दानव आदि सभी शक्तियाँ काल के सामने निष्क्रिय है – विवश है । मनुष्य ज्यो-ज्यों आयु से बढता जाता है, त्यों-त्यों उसे जरावस्था

× इसका वर्णन भ. आदिनाथ के चरित्र में हुआ है । वहाँ देखना चाहिए ।

* खेती की रक्षा के हेतु पशु-पक्षी को डराने के लिए, किसान लोग ऐसा नक्ली मनुष्य बनाते हैं।

(बुढापा) घेरती रहती है और उसके लिए मौत की तैयारी होती रहती है । अहो ! प्राणियों के जन्म को धिक्कार है । जिस जन्म के साथ ही मृत्यु का महा भय लगा हुआ है, वह प्रशंसनीय नहीं होता'

"मेरा शरीर कालरूपी विकराल यमराज के अधीन रहा हुआ है । न जाने कब वह इसे नष्ट कर दे" -इस प्रकार समझ लेने पर किसी भी प्राणी को खान-पान में आनन्द नहीं रहता, फिर पाप-कर्म में तो रुचि हो ही कैसे ? जिस प्रकार पानी में परपोटा उत्पन्न हो कर नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार प्राणियों के शरीर भी उत्पन्न होकर नष्ट हो जाते हैं । काल का स्वभाव ही नष्ट करने का है । वह धनाढ्य या निर्धन राजा या रक, समझदार या मूर्ख, ज्ञानी या अज्ञानी और सज्जन अथवा दुर्जन का भेद नहीं रखते हुए सब का समान रूप से सहार करता रहता है । काल का गुणी के प्रति अनुराग और दुर्गुणी के प्रति द्वेष नहीं है । जिस प्रकार दावानल, बडे भारी अरण्य को हरे सूखे, अच्छे, बुरे और सफल निष्फल आदि का भेद रखे बिना अपनी लपट मे आने वाले सभी को भस्म कर देता है, उसी प्रकार काल भी सभी प्राणियों का सहार किया करता है । किसी कुशास्त्र ने यह लिख भी दिया हो कि - 'किसी उपाय से यह शरीर स्थायी – अमर रहता है,' तो ऐसी शका को मन म स्थान ही नहीं देना चाहिए । जो देवेन्द्रादि सुमेरु पवत का दंड और पृथ्वी का छत्र बनाने में समर्थ हैं वे भी मृत्यु से बचने में असमर्थ हैं । उनका शक्तिशाली शरीर भी यथासमय अपने-आप काल के गाल में चला जाता है । छोटे-से कीड़े से लगा कर महान् इन्द्र पर यमराज का शासन समान रूप सेचल रहा है । एसी स्थिति में काल को भुलावा देने की बात कोई सुज्ञ प्राणी तो सोच ही नहीं सकता । यदि किसी ने अपने पूर्वजों में स किसी को भी अमर रूप मे जीवित देखा हो, तब तो काल को ठग लेने (भुलावा देने) की बात (न्याय मार्ग से विपरीत होत हुए भी) शकास्पद होती है किन्तु ऐसा तो दिखाई नहीं देता । अतएव सभी शरीरधारियों के लिए मृत्यु अनिवार्य है ।

वृद्धावस्था बल और रूप का हरण करती है और शिथिलता ला देती है । बल, सौन्दर्य और यौवन ये सभी अनित्य हैं । जो कामिनियाँ, कामदेव की लीला के वश हो कर यौवनवय म जिन पुरुषों की आर आकर्षित होती थी और उनका सम्पर्क चाहती थी वे ही उन्हीं पुरुषों को वृद्धावस्था में देख कर घृणा करती हुई त्याग देती है । फिर उनका अस्तित्व भी उन्हें नहीं सुहाता । तात्पर्य यह कि शारीरिक शक्ति, सामर्थ्य रूप सौन्दर्य और यौवन भी अनित्य है । वृद्धावस्था इन सब को बिगाड़ देती है ।

जिस धन को अनेक आपत्तिया, क्लेशो और कष्टों को सहन कर क जोड़ा गया और बिना उपभोग किये सुरक्षित रखा गया धनवानो का वह प्रिय धन भी अचानक क्षणभर में नष्ट हो जाता है । इस प्रकार अग्नि, पानी आदि अनेक कारणा मे वर्षों क परिश्रम और दु खा से जोड़ा गया धन भी नष्ट हो जाता है । अतएव वह भी पानी क परपोटे और समुद्र के फेन के समान अनित्य है ।

पत्नी पुत्र और बान्धवादि कुटुम्बियों तथा मित्रा का कितना ही उपकार किया जाय कितना ही गहरा सबध रखा जाय और उस सहयोग को कितना ही दृढ बनाया जाय, किन्तु वह अवश्य ही टूटने वाला है । सभी प्रकार क कौटुम्बिक सयोगों का वियोग अवश्य होता है ।

जो भव्यात्मा सदा अनित्यता का ध्यान करते रहते हैं, वे अपने परम प्रिय पुत्र के वियोग से भी शोक नहीं करते और जो मोहमूढ प्राणी, नित्यता का आग्रह करते हैं, वे अपने घर की एक भींत के गिर जाने से भी रुदन करने लगते हैं । शरीर, यौवन, धन एव कुटुम्ब आदि ही अनित्य है – ऐसी बात नहीं है, यह समस्त सचराचर ससार ही अनित्य है ।

इस प्रकार सभी को अनित्य जान कर आत्मार्थीजनों को चाहिए कि परिग्रह का त्याग कर के नित्यानन्दमय परम पद (मोक्ष) प्राप्त करने का प्रयत्न करें ।

''यत्प्रातस्तन्न मध्यान्हे, यन्मध्यान्हे नतन्निशि ।
निरीक्ष्यते भवेऽस्मिन् हा, पदार्थानामनित्यता ॥ १ ॥
शरीर देहिना सर्व, पुरुषार्थानिबधनम् ।
प्रचडपवनोद्धूत, घनाघन विनश्वरम् ॥ २ ॥
कल्लोलचपला लक्ष्मी , सगमा स्वप्नसनिभा ।
वात्याव्यतिकरोत्क्षिप्त, तूलतुल्य च यौवनम् ॥ ३ ॥
इत्यनित्य जगद्वृत्त, स्थिरचित्त प्रतिक्षणम् ।
तृष्णाकृष्णाहि मन्त्राय, निर्ममत्वाय चिन्तयेत् ॥ ४ ॥ *

– जिस वस्तु की जो स्थिति एव सुन्दरता प्रात काल में होती है, वह मध्यान्ह में नहीं रहती और जो मध्यान्ह में होती है, वह रात्रि मे नहीं दिखाई देती । इस प्रकार इस ससार में सभी पदार्थों की अनित्यता दिखाई देती है । प्राणियों के लिए जो शरीर, सभी प्रकार के पुरुषार्थ की सिद्धि का कारण है, वह भी इस प्रकार छिन्न-भिन्न हो जाता है, जिस प्रकार प्रचड वायु से बादल बिखर कर विलय हो जाते हैं । लक्ष्मी समुद्र की लहरों की भाति चचल है । स्वजनों का सयोग भी स्वप्न के समान है और यौवन वायु के बहाव में उडते हुए अर्कतुल (आक की रुई) के समान अस्थिर है । इस प्रकार चित्त की स्थिरतापूर्वक जगत् की अनित्यता के चिन्तन रूपी मन्त्र से, तृष्णा रूपी काले साप को वश में कर के निर्ममत्व होना चाहिए ।

प्रभु के दो लाख साधु, तीन लाख छत्तीस हजार साध्विये, २१५० चौदह पूर्वधर, ९६०० अवधिज्ञानी, १२१५० मन पर्यवज्ञानी, १५००० केवलज्ञानी, १९८०० वैक्रिय-लब्धिधारी, १२००० वादी, २९३००० श्रावक तथा ६३६००० श्राविकाएँ हुई ।

भगवान् ने केवलज्ञान होने के बाद चार पूर्वांग और चौदह वर्ष कम एक लाख पूर्व तक तीर्थंकर पद पालन कर के एक हजार मुनियो के साथ सम्मेदशिखर पर्वत पर, चैत्रशुक्ला ५ के दिन मोक्ष प्राप्त किया । भगवान् का कुल आयुष्य साठ लाख पूर्व का रहा ।

।। संभवनाथजी का चरित्र सम्पूर्ण ।।

* योगशास्त्र से उद्धृत ।

भ. अभिनन्दनजी

जम्बूद्वीप के पूर्व-विदेह में 'मगलावती' नाम का एक विजय है, उसमें 'रत्नसचया' नाम का नगरी थी ।'महायल' नाम का महा पराक्रमी राजा वहाँ राज करता था ।वह यल और पराक्रम से भरपूर था और दृष्टि, विवेक तथा आत्म-जागृति से भी भरपूर था । दान, शील, तप और भाव में वह सदा तत्पर रहता था ।कालान्तर में राजा ससार का त्याग कर महामुनि विमलचन्द्रजी के सर्वत्यागी निर्ग्रंथ शिष्य यन गये और निर्ग्रन्थ धर्म की साधना करने हुए आत्मा की उन्नति करने लगे । उनकी मनोवृत्ति ससार से एकदम विपरीत थी । यदि कोई उनका आदर-सत्कार करता, तो वे खेदित हो कर विचार करते कि "मुझ जैसे साधारण जीव में सन्मान के योग्य ऐसा है ही क्या ? मैं अयोग्य हूँ, फिर भी ये मेरा आदर करते हैं - यह मर लिए लज्जा की यात है ।" यदि कोई उनका तिरस्कार करता कष्ट पहुँचाता, तो वे प्रसन्न होते और सोचते - "ये मेरे हितैषी हैं । साधना में सहायक यन रहे हैं । ऐसे अवसर ही साधना में विशेष सहयोगी होते हैं ।" उन्होने उग्र तप आदि से तीर्थंकर नाम-कर्म निकाचित किया और दीर्घ काल तक सयम पाल कर 'विजय' नाम के अनुत्तर विमान में देवरूप में उत्पन्न हुए ।

इस भरत-क्षेत्र में 'अयोध्या' नाम की नगरी थी । उसमे 'सवर' नाम का राजा राज करता था। उसकी रानी का नाम 'सिद्धार्था' था ।विजयविमान की उत्कृष्ट तेतीस सागरोपम प्रमाण आयु पूर्ण कर महायल मुनि का जीव रानी की कुक्षि से उत्पन्न हुआ ।माता ने चौदह स्वप्न देखे ।माघ-शुक्ला द्वितीया को जन्म हुआ । जन्मोत्सव आदि हुए । प्रभु के गर्भ में आने पर राज्य और नगर में सर्वत्र अभिनन्द (आनन्द) व्याप्त हो गया इससे आपका नाम 'अभिनन्दन' दिया गया ।साढ़े यारह लाख पूर्व तक आप राजकुमार रहे ।इसके याद पिता ने आपका राज्याभिषेक कर के सर्वविरति स्वीकार कर ली ।इस प्रकार आपने छत्तीस लाख पूर्व और आठ पूर्वांग व्यतीत किया ।इसके याद वर्षीदान दे कर माघ शु. १२ के दिन अभिचि नक्षत्र में, येले के तप से ससार का त्याग कर दिया । प्रव्रज्या लेते ही आप का मन पर्यव ज्ञान उत्पन्न हो गया ।आपके साथ अन्य एक हजार राजा भी दीक्षित हुए । प्रभु अठारह वर्ष छद्मस्थ अवस्था में रहे और पौष-शुक्ला १४ को अभिचि नक्षत्र में ही केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त कर के तीर्थ की स्थापना की । आपने प्रथम धर्मदेशना इस प्रकार दी ।

धर्मदेशना

अशरण भावना

"यह ससार अनेक प्रकार के दु ख शोक, सकट एव विपत्ति का स्थान है । इस स्थान में पड़े हुए मनुष्य को यचाने में कोई भी शक्ति समर्थ नहीं है । माता पिता, यन्धु, पुत्र पति पत्नी और मित्रादि

स्वजन-परिजन कोई भी रोग के आक्रमण से होते हुए कष्ट से भी नहीं बचा सकते, तब मौत से तो कैसे बचावेंगे ? इन्द्र और अहमेन्द्रादि जैसे महान् बलशाली भी मृत्यु के झपाटे में पड जाते हैं । उन्हे मृत्यु के मुख से बचाने वाला -- काल का भी काल ऐसा कौन-सा आश्रय है ? अर्थात् कोई नहीं है।

मृत्यु के समय माता, पिता, भाई, भगिनी, पुत्र, पत्नी आदि सभी देखते ही रह जाते हैं। उसे बचाने की शक्ति किसी में नहीं होती । उस निराधार प्राणी को कर्म के अधीन हो कर अकेला जाना ही पडता है । इस प्रकार मृत्यु पाते हुए जीव के मोहमूढ सम्बन्धीजन विलाप करते हैं । उन्हें स्वजन के मर जाने का दु ख तो होता है किन्तु वे यह विचार नहीं करते कि - 'मैं स्वय भी अशरणभूत हू । मेरा रक्षक भी कोई नहीं हैं । मुझे भी इसी प्रकार मरना पडेगा ।' जिस प्रकार महा भयकर वन मे चारो ओर उग्र दावानल जल रहा हो, उसकी लपटें बहुत ऊँची उठ रही हो, जिसमे गजराज जैसे बडे प्राणी भी नहीं बच सकते, तब बिचारे मृग के छोटे बच्चे की तो बात ही क्या है ? उसी प्रकार मौत की महाज्वाला में जलते हुए ससार मे, प्राणी का रक्षक कोई नहीं है ।

मनुष्य के भयकर रोगो को दूर करने की शक्ति धराने वाले, अष्टाग आयुर्वेद, सजीवनी औषधियें और महामृत्युजयादि मन्त्र भी मृत्यु से नहीं छुडा सकते । चारो ओर शस्त्रास्त्रों की बाड लगा दी गई हो और योद्धाओ की सेना, तत्परता के साथ अपने महाराजाधिराज की रक्षा के लिए जी-जान से जुट गई हो, ऐसे सुदृढ प्रबन्ध की भी उपेक्षा कर के विकराल काल, आत्मा को पकड कर ले जाता है और सारी व्यवस्था व्यर्थ हो जाती है ।

जिस प्रकार पशु-वर्ग, मृत्यु से बचने का उपाय नहीं जानता, उसी प्रकार महान् बुद्धि का धनी मनुष्य-वर्ग भी नहीं जानता । यह कैसी मूर्खता है ? जो एक खड्ग के साधन मात्र से पृथ्वी को निष्कटक करने की शक्ति रखते हैं, वे भी यमराज की भृकुटी से भयभीत हो कर दसों अगुलिये मुँह मे रखते हैं। यह कैसी विचित्र बात है ?

पाप का सर्वथा त्याग कर के जिन्होने निष्पाप जीवन अपनाया, ऐसे मुनियों के, तलवार की धार पर चलने जैसे महान् व्रत भी मृत्यु को नहीं टाल सके, तो शरण-रहित पालक एव नायक से रहित और निरुपाय ऐसा यह ससार, यमराज (मृत्यु) रूपी राक्षस के द्वारा भक्षण होते हुए कैसे बच सकता है ? एक धर्म रूप उपाय, जन्म को तो नष्ट कर सकता है, परन्तु मृत्यु को नहीं रोक सकता । जन्म की जड को नष्ट करने के बाद भी प्राप्त जन्म से तो मरण होता ही है । किन्तु यह मरण, अन्तिम होता है । इसके साथ ही आत्मा स्वय मृत्युजय बन जाता है । मौत की जड जन्म के साथ ही लगी हुई है। यदि जन्म होना रुक जाय, तो मृत्यु अपने - आप रुक जाती है । आयुष्य के बन्ध के साथ अन्त निश्चित हो जाता है, इसलिए धर्म रूपी शुभ उपाय अवश्य करना चाहिए । जिससे मृत्यु हो तो भी दुर्गति नहीं हो कर शुभ गति हो ।

मृत्युजय बनने के लिए प्रत्येक आत्मार्थी को निर्ग्रन्थ-प्रव्रज्या रूप प्रबल उपाय कर के, अक्षय

सुख के भण्डार ऐसे मोक्ष को प्राप्त करना चाहिए। इस महा उपाय से वह स्वय अपना रक्षक बन जाता है और दूसरों के लिए भी अपना आदर्श रख कर शरणभूत बनता है।

"इन्द्रोपेन्द्रादयोऽप्येते यन्मृत्योर्याति गोचरं। अहो तदतकातके क शरीरिणा ॥१॥
पितुर्मातु स्वसुर्भ्रातुस्तनयाना च पश्यतां। अत्राणो नीयते जतु कर्मभियम सद्मनि ॥२॥
शोचते स्वनानत नीयमानान् स्वकर्मभि। नेष्यमाण तु शोचति नात्मान मूढबुद्धय ॥३॥
ससारे दु खदावाग्निज्वलज्ज्वालाकरालिते। वन मृगार्भकस्येव शरण नास्ति देहिन ॥४॥

- अहो! इन्द्र और उपेन्द्र * वासुदेवादि भी मृत्यु के अधीन हो जाते हैं, तो मृत्यु रूपी महा भय के उत्पन्न होने पर पामर प्राणियों के लिए कौन शरणभूत होगा? माता, पिता बहिन, भ्राता एव पुत्रादि के देखते ही प्राणी को उसके कर्म, यमराज के घर की ओर (चारो गति म) ले जाते हैं। अपने कर्मों से ही मृत्यु का ग्रास बनते हुए, अपने प्रिय सम्बन्धी को देख कर मोहमूढ रोते हैं शोक करते हैं। किन्तु यह नहीं सोचते कि थोडे समय के बाद मेरी भी यही दशा होगी। मुझे भी मौत के मुँह में जाना पड़ेगा।

दु ख रूपी दावानल की उठती हुई प्रबल ज्वालाओं से भयकर बने हुए इस ससार रूपी महा वन में, मृग के बच्चों के समान प्राणियों के लिए धर्म के अतिरिक्त कोई भी शरणभूत नहीं है।"

भ अभिनन्दन स्वामी के 'वज्रनाभ' आदि ११६ गणधर हुए। तीन लाख साधु, छह लाख तीस हजार साध्वियें, ९८०० अवधिज्ञानी १५०० चौदह पूर्वी, ११६५० मन पर्यवज्ञानी, ११००० वादलब्धि वाले, २८८००० श्रावक और ५२७००० श्राविकाए, प्रभु के धर्म-तीर्थ में हुए। केवलज्ञान और तीर्थ स्थापना के बाद आठ पूर्वांग और अठारह वर्ष कम लाख पूर्व व्यतीत हुए, तब एक मास के अनशन से समेदशिखर पर्वत पर वैशाख-शुक्ला अष्टमी को पुष्य नक्षत्र में सिद्ध हुए और शाश्वत स्थान को प्राप्त कर लिया। देवो और इन्द्रो ने प्रभु का निर्वाण उत्सव मनाया।

चौथे तीर्थंकर

भगवान्

।। अभिनन्दनजी का चरित्र सम्पूर्ण ।।

---

* जैन साहित्य में 'उपेन्द्र' पद का उल्लेख अन्यत्र देखने में नहीं आया। कोषकारों ने 'उपेन्द्र' शब्द का अर्थ 'वामन अवतारी विष्णु' किया है।

भ० सुमतिनाथ जी

जम्बूद्वीप के पुष्कलावती विजय मे शखपुर नाम का नगर था । विजयसेन राजा और सुदर्शना रानी थी । एक बार किसी उत्सव के प्रसग पर सभी नगरजन उद्यान में क्रीडा करने गये । रानी भी अपनी ऋद्धि सहित हथिनी पर सवार हो कर और छत्र-चँवरयुक्त उद्यान में पहुँची । वहाँ उसने सुन्दर और अलकृत आठ स्त्रिया के साथ आई हुई एक ऐसी स्त्री देखी, जो अप्सराओं के बीच इन्द्रानी जैसी सुशोभित हो रही थी । रानी उसे देख कर विस्मित हुई । उसे विचार हुआ - "यह स्त्री कौन है ? इसके साथ ये आठ सुन्दरियाँ कौन है ?" यह जानने के लिए उसने अपने नाजर को पता लगाने की आज्ञा दी । उसने लौट कर कहा - 'यह भद्र महिला यहाँ के प्रतिष्ठित सेठ नन्दीषेण की सुलक्षणा नाम की पत्नी है और आठ स्त्रियाँ उसके दो पुत्रों की (प्रत्येक की चार-चार) पत्नियाँ है । ये अपनी सास की सेवा दासी के समान करती है ।" यह सुन कर रानी को विचार हुआ -"यह स्त्री धन्य है, सौभाग्यवती है कि जिसे पुत्र और उसकी देवागना जैसी बहुएँ प्राप्त हुई है और वे इसकी सेवा में रत हैं । मै कितनी हतभागिनी हूँ कि मुझे न तो पुत्र है, न बहू । यद्यपि मैं अपने पति के हृदय के समान हूँ, फिर भी मैं पुत्र और पुत्रवधू के सुख से वचित हूँ"- इस प्रकार चिन्तामग्न रानी भवन में लौट आई । उसकी चिन्ता का कारण जान कर राजा ने उसे सान्त्वना दी और कुलदेवी की आराधना की । कुलदेवी ने प्रकट हो कर कहा - " एक महान् ऋद्धिशाली देव, रानी की कुक्षि में पुत्रपने आने वाला है ।" राजा-रानी प्रसन्न हुए। रानी सिह स्वप्न के साथ गर्भवती हुई । उसे सभी प्राणियो को अभयदान देने का दोहद हुआ । दोहद पूर्ण हुआ और यथावसर एक सुन्दर पुत्र का जन्म हुआ ।'पुरुषसिह' नाम दिया । यौवनवय में आठ राजकन्याओं के साथ लग्न हुए । एक बार उद्यान मे क्रीडा करते हुए कुमार ने श्री विनयनन्दन मुनिराज को देखा और उसका उपदेश सुन कर विरक्त हुआ । माता-पिता की आज्ञा ले कर दीक्षित हुआ और उत्कृष्ट भावों से आराधना करते हुए तीर्थंकर नाम-कर्म का बन्ध, दृढीभूत कर लिया । फिर काल कर के वैजयत नाम के अनुत्तर विमान में उत्पन्न हुए ।

जम्बूद्वीप के भरत-क्षेत्र में विनीता नगरी मे 'मेघरथ' राजा थे । उनकी रानी का नाम 'सुमगलादेवी' था । पुरुषसिह का जीव, वैजयत विमान की ३३ सागरोपम की आयु पूर्ण कर के सुमगलादेवी की कुक्षि मे, श्रावण-शुक्ला द्वितीया को गर्भ रूप में उत्पन्न हुआ ।

महारानी का न्याय

उस समय एक धनाढ्य व्यापारी अपनी दो पत्नियों को साथ ले कर व्यापार करने के लिए विदेश गया था । वहाँ एक स्त्री के पुत्र उत्पन्न हुआ । पुत्र का पालन दोनों सपत्नियों ने किया । धनार्जन कर

के वापिस घर आते समय रास्ते मे ही वह व्यापारी मर गया । उनके धन का मालिक उसका पुत्र था नपूती स्त्री ने सोचा – " यह पुत्र वाली है, इसलिए मालकिन यह हो जायगी और मेरी दुर्दशा हो जायगी ।" उसने कहा – 'पुत्र मेरा है, तेरा नहीं है ।' दोनो झगडती हुई विनीता नगरी में आई और नरेश के सामने अपना झगडा उपस्थित किया । राजा विचार में पड गया ।

दोनों स्त्रियें वर्ण एव आकृति मे समान थी और पुत्र छोटा था । वह बोल भी नहीं सकता था यदि आकृति मे विषमता होती, तो जिसकी आकृति से बच्चे की आकृति मिलती, या बच्चा स्वय बोल कर अपनी जननी का परिचय देता, ता निर्णय का कुछ आधार मिलता । बच्चे को दोनों ने पाला था इसलिए वह दोनों के पास जाता था । अब निर्णय हो भी तो किस आधार पर ?

नरेश और सभासद सभी उलझन मे पड़ गए । समय हो जाने पर भी सभा विसर्जित नहीं हुई। भोजनादि का समय भी निकल गया । अन्त में मन्त्रियों की सलाह से वाद को भविष्य म विचार करने के लिए छोड कर सभा विसर्जित की गई । राजा अन्त पुर में गया । रानी ने विलम्ब का कारण पूछा। राजा ने विवाद की उलझन बताई । रानी भी उस विवाद को सुन कर प्रभावित हुई । धर्म के प्रभाव से उसकी मति प्रेरित हुई । रानी ने कहा –

"महाराज ! स्त्रिया के विवाद का निर्णय स्त्री ही सरलता से कर सकती है । इसलिए यह विवाद आप मुझे सौंप दीजिए ।"

दूसरी सभा मे रानी भी उपस्थित हुई । वादी-प्रतिवादी महिलाएँ बुलाई गई । दोना पक्षा को सुन कर राजमहिषि ने कहा –

"तुम्हारा झगडा साधारण नहीं है । सामान्य ज्ञान वाले से इसका निर्णय होना सम्भव नहीं है । मेरे गर्भ में तीर्थंकर होने वाली भव्यात्मा है । तुम कुछ महीने ठहरो । उनका जन्म हो जाने पर वे अवधिज्ञानी तीर्थंकर तुम्हारा निर्णय करेंगे ।"

रानी की आज्ञा विमाता ने तो स्वीकार कर ली, किन्तु खरी माता ने नहीं मानी और बोली –

"महादेवी ! इतना विलम्ब मुझ से नहीं सहा जाता । इतने समय तक मैं अपने प्रिय पुत्र को इसके पास छोड़ भी नहीं सकती । मुझे इसके अनिष्ट की शका है । आप तीर्थंकर की माता हैं तो आज ही इसका निर्णय करने की कृपा करें ।"

महारानी ने यह बात सुन कर निर्णय कर दिया – "असल में माता यही है । यह अपने पुत्र का हित चाहती है । इसका मातृहृदय पुत्र को पृथक् होने देना नहीं चाहता । दूसरी स्त्री तो धन और पुत्र की लोभिनी है । इसके हृदय में माता के समान वास्तविक प्रेम नहीं है । इसीलिए यह इतने लम्बे काल तक अनिर्णित अवस्था में रहना स्वीकार करती है ।"

इस प्रकार निर्णय कर के रानी ने पुत्र वाली को पुत्र दिलवाया । सभा चकित रह गई ।

गर्भकाल पूर्ण होने पर वैशाख-शुक्ला अष्टमी को मघा-नक्षत्र में पुत्र का जन्म हुआ । गर्भकाल

में माता द्वारा सुमति (वाद निर्णय मे बुद्धिमत्ता) का परिचय मिलने पर प्रभु का "सुमति" नाम दिया गया । यौवन-वय मे सुन्दर राज कन्याओं के साथ लग्न हुआ । दस लाख पूर्व बीतने पर पिता ने अपना राज्यभार आपको दिया । उनतीस लाख पूर्व और बारह पूर्वांग तक राज्य का पालन किया और वैशाख-शुक्ला नवमी को मघा -नक्षत्र में एक हजार राजाओ के साथ ससार का त्याग कर प्रव्रज्या स्वीकार की । बीस वर्ष तक छद्मस्थ अवस्था मे रहने के बाद चैत्र-शुक्ला एकादशी के दिन मघा-नक्षत्र में केवलज्ञान-केवलदर्शन उत्पन्न हुआ ।

धर्मदेशना

एकत्व भावना

जिन भव्य प्राणियों मे हिताहित और कार्याकार्य को समझने की योग्यता है, उन्हे कर्त्तव्य-पालन में उपेक्षा नहीं करनी चाहिए । यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि पुत्र, मित्र तथा स्त्री आदि से सम्बन्धित तथा स्वय के शरीर सम्बन्धी जो भी क्रिया की जाती है, वह सब 'परक्रिया' है – दूसरो का कार्य है। स्वकार्य बिलकुल नहीं है । क्योकि अपनी आत्मा के अतिरिक्त सभी 'पर' हैं – दूसरे हैं । इन दूसरों का सयोग, उदय-भाव जन्य है, जिसका वियोग होता ही है जो वस्तु सदैव साथ रहे, वही स्व (अपनी) हो सकती है और जिसका कालान्तर में भी वियोग होता है, वह अवश्य पर है ।

यह जीव अकेला जन्म लेता है और अकेला ही मरता है । अपने सचित किये हुए कर्म का अनुभव भी अकेला ही करता है । एक द्वारा चोरी कर के लाया हुआ धन सभी कुटुम्बी मिल कर खा जाते हैं, किन्तु चोरी का दण्ड तो चोरी करने वाला अकेला ही भुगतता है । उसे नरक गति मे अपनी करणी का दु खदायक फल भुगतना ही पड़ता है । उस समय खाने वाला कोई भी दु ख भोग मे साथी नहीं रहता । दु ख रूपी दावानल से भयकर बने हुए और अत्यन्त विस्तार वाले, भव रूपी अरण्य में कर्म के वशीभूत हुआ प्राणी अकेला ही भटकता रहता है । उस समय उसके कुटुम्बी और प्रियजनो में से कोई एक भी सहायक नहीं होता ।

यदि कोई अपने शरीर को ही सुख-दु ख का साथी मानता है, तो यह भी ठीक नहीं है । शरीर तो सुख-दु ख का अनुभव कराने वाला है । इसी के निमित्त से आत्मा दु ख भोगती है । रोग, जरा और मृत्यु शरीर में ही होते हैं । यदि शरीर नहीं हो, तो ये दु ख भी नहीं होते ।

यदि शरीर को ही सदा का साथी माना जाय, तो यह भी उचित नहीं है । औदारिक और वैक्रिय शरीर तो जन्म के साथ बनता है और मृत्यु के साथ छूट जाता है । यह पूर्वभव से साथ नहीं आता न अगले भव मे साथ जाता है । पूर्वभव और पुनर्भव के मध्य के भव में आई हुई काया को सदा की साथी कैसे मानी जा सकती है ?

यदि कहा जाय कि आत्मा के लिए धर्म अथवा अधर्म साथी है, तो यह भी सत्य नहीं है, क्योंकि धर्म और अधर्म की सहायता मोक्ष में कुछ भी नहीं है । इसलिए ससार मे शुभ और अशुभ कर्म करता हुआ जीव, अकेला ही भटकता रहता है । और अपने शुभाशुभ कर्म के योग्य शुभाशुभ फल का अनुभव करता है । इसी प्रकार मोक्ष रूपी महाफल भी जीव अकेला ही प्राप्त करता है । पर के सम्बन्धों का आत्यन्तिक वियोग ही मोक्ष है । मोक्ष मे मुक्त आत्मा अकेली ही अपने निज-स्वभाव में रहती है ।

जिस प्रकार हाथ, पाँव, मुख और मस्तक आदि रस्सी से बाँध कर समुद्र में डाला हुआ मनुष्य पार पहुँचने के योग्य नहीं रहता, किन्तु खुले हाथ-पाव वाला व्यक्ति तैर कर किनारे लग जाता है, उसी प्रकार कुटुम्ब, धन और देवादि में आसक्ति रूपी बन्धनों में जकड़ी हुई आत्मा, ससार-समुद्र का पार नहीं पा सकती और उसी में दु खपूर्वक डूबती-उतराती रहती है । इसके विपरीत पर की आसक्ति से रहित अकेली स्वतन्त्र - बन्ध रहित बननी हुई आत्मा, भव-समुद्र से पार हो जाती है । इसलिए सभी सासारिक सम्बन्धों को त्याग कर के एकाकी भाव युक्त हो कर शाश्वत सुखमय मोक्ष के लिए प्रयत्न करना चाहिए ।

एक उत्पद्यते जतुरेक एव विपद्यते ।
कर्माण्यनुभवत्येक प्रचितानि भवातरे ॥ १ ॥
अन्यैस्तेनार्जित वित्त, भूय सभूय भुज्यते ।
सत्वेको नरकक्रीडे, क्लिश्यते निजकर्मभि ॥ २ ॥

अर्थात् - यह जीव भवान्तर में अकेला ही उत्पन्न होता है, अकेला ही मरता है और अपने किये हुए कर्मों का फल - इस भव में या पर भव म - अकेला ही अनुभव करता है ।

एक व्यक्ति के उपार्जन किये हुए द्रव्य का दूसरे अनेक मिल कर उपभोग करते हैं, किन्तु पाप-कर्म कर के धन का उपार्जन करने वाला व्यक्ति, अपने कर्मों से नरक में जा कर अकेला ही दु खी होता है । इसलिए एकत्व भावना का विचार कर के आत्महित साधना चाहिए ।

प्रभु के 'चमर' आदि एक सौ गणधर हुए, ३२०००० साधु, ५३०००० साध्वियें, २४०० चौदहपूर्वी, ११००० अवधिज्ञानी, १०४५० मन पर्यवज्ञानी १३००० केवलज्ञानी, १८४०० वैक्रिय लब्धिधारी, १०६५० वाद लब्धिधारी, २८१००० श्रावक और ५१६००० श्राविकाएँ हुई ।

केवलज्ञान होने के बाद भगवान् बीस वर्ष और बारह पूर्वांग कम एक लाख पूर्व तक भाव तीर्थंकरपने, इसी पृथ्वी-तल पर विचरते रहे और एक मास के अनशन से समेदशिखर पर्वत पर एक हजार मुनियों के साथ, कुल चालीस लाख पूर्व की आयु पूर्ण कर चैत्र-शुक्ला नवमी को पुनर्वसु नक्षत्र में मोक्ष पधारें ।

।। पाँचवे तीर्थंकर भगवान् सुमतिनाथजी का चरित्र सम्पूर्ण ।।

भ० पद्मप्रभ:जी

धातकीखण्ड द्वीप के पूर्व विदेह क्षेत्र के वत्स विजय मे 'सुसीमा' नामकी एक नगरी थी । 'अपराजित' नाम का वहाँ का राजा था । वह धर्मात्मा, न्यायी, प्रजापालक और पराक्रमी था । एक बार अरिहत भगवान् की वाणी रूपी अमृत का पान किया हुआ नरेन्द्र अनित्यादि भावना मे विचरण करता हुआ मुनिमार्ग ग्रहण करने को तत्पर हो गया और अपने पुत्र को राज्य का भार सौंप कर एक महान् त्यागी सयमी आचार्य भगवत के समीप प्रव्रज्या ग्रहण कर ली । निर्दोष सयम एव उग्र तप से आत्मा को उन्नत करते हुए, शुभ अध्यवसायो की तीव्रता में तीर्थंकर नाम-कर्म का बन्ध कर लिया और आयुष्य पूर्ण कर के ऊपर के सर्वोच्च ग्रैवेयक में महान् ऋद्धि सम्पन्न देव हुआ ।

इस जम्बूद्वीप के भरत-क्षेत्र मे 'वत्स' नामका देश है । उसमें 'कौशाबी' नामकी नगरी थी । 'धर' नाम का राजा वहाँ का शासक था । 'सुसीमा' नामकी उसकी रानी थी । अपराजित मुनिराज का जीव, सर्वोपरि ग्रैवेयक का ३१ सागरोपम का आयुष्य पूर्ण कर के चौदह महास्वप्न पूर्वक माघ-कृष्णा छठ की रात्रि में चित्रा नक्षत्र में महारानी 'सुसीमा' की कुक्षि मे उत्पन्न हुआ । कार्तिक कृष्णा द्वादशी को चित्रा नक्षत्र म जन्म हुआ । जन्मोत्सव आदि तीर्थंकर-परपरा के अनुसार हुआ । गर्भ में माता को पद्म की शय्या का दोहद होने से बालक का नाम 'पद्मप्रभ' दिया गया । विवाह हुआ । साढे सात लाख पूर्व तक युवराज रह कर राज्याभिषेक हुआ । साढे इक्कीस लाख पूर्व और सोलह पूर्वांग तक राज्य सचालन किया और बेले के तप के साथ कार्तिक कृष्णा १३ को चित्रा नक्षत्र मे प्रव्रज्या स्वीकार की। छह महीने तक छद्मस्थ अवस्था मे रह कर चैत्र-शुक्ला पूर्णिमा को चित्रा नक्षत्र में घातीकर्मों का क्षय कर केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त किया ।

सर्वज्ञ-सर्वदर्शी भगवान् की प्रथम धर्मदेशना इस प्रकार हुई;-

धर्मदेशना

ससार भावना

जिस प्रकार समुद्र में अपार पानी भरा हुआ है, उसी प्रकार ससार रूपी समुद्र भी अपरम्पार है। महासागर जैसे अपार ससार में चौरासी लाख जीव योनि में यह जीव भटकता ही रहता है और नाटक के पात्र के समान विविध प्रकार के स्वाग धारण करता है । कभी यह श्रोत्रीय ब्राह्मण जैसे कुल में जन्म लेता है तो कभी चाण्डाल बन जाता है । कभी स्वामी तो कभी सेवक और कभी देव तो कभी क्षुद्र कीट भी हो जाता है । जिस प्रकार भाडे के मकान में रहने वाला मनुष्य, विविध प्रकार के मकानो में निवास करता रहता है । कभी भव्य भवन में, तो कभी टूटे झोपडे में । इसी प्रकार यह जीव भी शुभाशुभ

कर्मों के अनुसार भिन्न-भिन्न योनियों में उत्पन्न हुआ और मरा । ऐसी कौन-सी योनि है कि जिसमें यह जीव उत्पन्न नहीं हुआ + लोकाकाश के समस्त प्रदेशों में ऐसा एक भी प्रदेश शेष नहीं रहा कि जहाँ इस जीव ने कर्म से प्रेरित हो कर, अनेक रूप धारणकर के स्पर्श नहीं किया हो और पृथ्वी का एक बालाग्र जितना अश भी शेष नहीं रहा कि जहाँ इस जीव ने जन्म-मरण नहीं किया हो । यह जीव समस्त लोकाकाश को विविध रूपों में स्पर्श कर चुका है ।

नारक की भयकर वेदना

मोटे तौर पर ससार में १ नारक २ तिर्यंच ३ मनुष्य और ४ देव, इस प्रकार चार प्रकार के प्राणी हैं । ये प्राय कर्म के सम्बन्ध से बाधित हो कर अनेक प्रकार के दु ख भोगते रहते हैं । प्रथम तीन नरक में मात्र उष्ण वेदना है और अन्त के तीन नरकों में सीत वेदना है । चौथी नरक में उष्ण और शीत-दोनों प्रकार की क्षेत्र वेदना है । प्रत्येक नरक में क्षेत्र के अनुसार वेदना होती रहती है । उन नारक क्षेत्रों की गर्मी और सर्दी इतनी अधिक है कि जहाँ लोहे का पर्वत भी यदि ले जाया जाय, तो उस क्षेत्र का स्पर्श करने के पूर्व ही वह गल जाता है, या बिखर कर छिन्न-भिन्न हो जाता है । इस प्रकार नरक की क्षेत्र-वेदना भी महान् भयकर और असह्य है । इसके अतिरिक्त नारक जीवों के द्वारा एक दूसरे पर परस्पर किये जाने वाले प्रहारादि जन्य दु ख तथा परमाधामी ◆ देवों द्वारा दिये जाने वाले दु ख भी महान् भयकर और सहन नहीं हो सकने योग्य होते हैं । इस प्रकार नारक जीवों को क्षेत्र सम्बन्धी, पारस्परिक मारकाट सम्बन्धी और परमाधामी देवो द्वारा दी हुई, यो तीन प्रकार की महादु खकारी वेदना होती रहती है ।

नारक जीव, छोटे-सकड़े मुँह वाली कुभी में उत्पन्न होते हैं । जिस प्रकार सीसे आदि धातुओं की मोटी सलाइयो को यन्त्र में से खीच कर पतले तार बनाये जाते हैं, उसी प्रकार सकड़े मुँह वाली कुभी में से परमाधामी देव, नारक जीवों को खींच कर बाहर निकालते है । कई परमाधामी देव नारकों को इस प्रकार पछाडते है, जिस प्रकार धोबी वस्त्रों को शिला पर पछाडता है । कोई परमाधामी नेरिये को इस प्रकार चीरता है, जिस प्रकार बढ़ई करवत से लकडी चीरता हो । कोई परमाधामी, नारक को घाने में डाल कर पीलते हैं ।

नारक जीव नित्य तृषातुर रहते हैं । उन बेचारों को परमाधामी देव उस वैतरिणी नदी पर ले जाते हैं, जिसका पानी तप्त लोह रस और सीसे जैसा है । उसमें उन्हें धकेल देते हैं । उनको वह तप्त रस बरबस पिलाया जाता है पाप के भीषण उदय से पीडित ये नारक किसी वृक्ष की शीतल छाया में बैठने की इच्छा करते हैं, तब परमाधामी उन्हें असिपत्र वन में ले जाते हैं । उन वृक्षों के तलवार की धार के

+ अनुत्तर विमान के देव अपवाद रूप होने से आचार्यश्री ने बृहद् पक्ष की अपेक्षा से कथन किया है ।

◆ परमाधामी (परम अधर्मी) पापकर्म में ही रत रहने वाले । नारक जीवों को विविध प्रकार के दु ख दे कर अपना मनोरजन करने वाले क्रूर एव अधम देव ।

समान पत्र जब उन पर पडते हैं, तब उनके अग कट-कट कर छिन्न-भिन्न हो जाते हैं ।नारको को दुखी करने में ही सुख मानने वाले क्रूर परिणामी, महामिंथ्यादृष्टि वे परमाधामी देव,, उन नारकों को वज्रशूल जैसे अत्यन्त तीक्ष्ण काँटो वाले शाल्मलि वृक्ष अथवा अत्यन्त तप्त वज्रागना से आलिगन करवाते हैं और उन्हें पर-स्त्री आलिगन की अपनी पापी मनोवृत्ति का स्मरण करवाते हैं ।कहीं-कहीं नैरयिक की मास-भक्षण की लोलुपता का स्मरण कराते हुए उन्हें उन्हीं के अगों का मास ▼ काट-काट कर खिलाते हैं और पूर्व के मद्यपान का स्मरण करा कर, तप्त लोहरस का बरबस पान कराया जाता है ।प्रबल पापोदय से दीन-हीन और अत्यन्त दु खी हुए उन दुर्भागियो के उस वैक्रियशरीर में भी कोढ खुजली, महाशूल और कुभीपाक आदि की भयकर वेदना का निरतर अनुभव होता रहता है ।उन्हें मास की तरह आग में जीवित सेंका जाता है ।उनकी आख आदि अगों को काग, बक आदि पक्षियो के द्वारा खिचवाया जाता है ।इतना भयकर दु ख भोगते हुए और अगोपाग के टुकड़े-टुकडे हो जाने पर भी वे बिना स्थिति क्षय हुए मरते नहीं उनके छिन्न-भिन्न अग पारे की तरह पुन मिल कर जुड जाते हैं और दु ख भोग चालू ही रहता है ।इस प्रकार के दु ख वे नारक जीव अपनी आयु के अनुसार - कम से कम दस हजार वर्ष और अधिक से अधिक तेतीस सागरोपम प्रमाण काल तक भोगते ही रहते हैं ।

तिर्यंच गति के दुःख

तिर्यंच गति में इतनी विविधता और विचित्रता है कि जितनी अन्य गतियों में नहीं है ।इसमें एकेन्द्रिय से लगा कर पचेन्द्रिय तक के जीव हैं ।जो भारीकर्मा जीव हैं, वे एकेंद्रिय में और वह भी पृथ्वीकाय में उत्पन्न हो कर हल आदि शस्त्रों से खोदे व फाड़े जाते हैं ।हाथी, घोडा आदि से रोंदे जाते हैं ।जल-प्रवाह से प्लावित होते हैं, दावानल से जलते हैं, कटु-तीक्ष्णादि रस और मूत्रादि से व्यथित होते हैं ।कोई नमक के क्षार को प्राप्त होते है, तो कोई पानी में उबाले जाते हैं ।कुभकारादि पृथ्वीकाय के देह को खोद कर, कूट-पीस कर, घट एव ईटादि बना कर पचाते हैं ।घर की भींतों में चुने जाते हैं । शिलाओ को टा की, छेनी आदि औजारों से छिला जाता है और पर्वत-सरिता केप्रवाह से पृथ्वीकाय का भेदन हो कर विदारण होता है ।इस प्रकार अनेक प्रकारों से पृथ्वीकाय की विराधना होती है ।

अप्काय के रूप में उत्पन्न हुए जीव को सूर्य की प्रचण्ड गर्मी से तप कर मरणान्तक दु ख भोगना पड़ता है ।बर्फ के रूप में घनीभूत होना पड़ता है ।रज के द्वारा शोषण किया जाता है और क्षार आदि रस के सम्पर्क से मृत्यु को प्राप्त होते हैं ।प्यासे मनुष्यो और पशुपक्षियादि से पिये जा कर भी अप्काय के जीवो की विराधना होती है ।इन जीवों की विराधना भी अनेक प्रकार से होती है ।

तेजस्काय में उत्पन्न जीव, पानी आदि से बुझा कर मारे जाते हैं, घन आदि से कूटे-पीटे जाते हैं, ईंधनादि से दग्ध किये जाते हैं ।

▼ यह मास और वृक्षादि औदारिक शरीर के नहीं वैक्रिय के तद्नुरूप परिणत पुद्गल हैं ।

वायुकाय के रूप मे उत्पन्न जीवो की पखा आदि से विराधना होती है और शीत तथा उष्णादि द्रव्यो के योग से मृत्यु को प्राप्त होते हैं । प्राचीन वायुकाय के जीवों का नवीन वायुकाल के द्वारा नाश होता है । मुख आदि से निकले हुए पवनों से बाधित होते हैं और सर्प आदि के द्वारा पान किये जाते हैं ।

कन्द आदि दस प्रकार की वनस्पति मे उत्पन्न जीवों का तो सदैव छेदन-भेदन होता है । अग्नि पर चढा कर पकाये जाते हैं । पारस्परिक घर्षण से पीडित होते हैं । रस-लोलुप जीव, क्षार आदि लगा कर जलाते हैं और कदादि सभी अवस्था में भक्षण किये जाते हैं । वायु के वेग से टूट कर नष्ट होते हैं । दावानल से यल-जल कर भस्म होते हैं और नदी के प्रवाह से उखड़ कर गिर जाते हैं । इस तरह सभी प्रकार की बादर वनस्पति, सभी जीवो के लिए भक्ष्य हो कर सभी प्रकार के शस्त्रो से छदन-भेदन को प्राप्त होती है । वनस्पतिकाय को प्राप्त हुआ जीव, सदा ही क्लेश की परम्परा में ही जीवन व्यतीत करता है ।

बेइन्द्रियपने उत्पन्न जीव, पानी के साथ पिये जाते हैं । आग पर चढा कर उबाले जाते हैं । धान्य के साथ पकाये जाते हैं । पाँवों के नीचे कुचले जाते हैं और पक्षियों द्वारा भक्षण किये जाते हैं । शख - सीपादि रूप में हो तो फोड़े जाते हैं, जौंक आदि हों, तो सूँते जाते हैं । गिडोला आदि को औषधि के द्वारा पेट में से बाहर निकाला जाता है ।

तेइन्द्रियपने मे जीव, जूँ और खटमल के रूप में शरीर के साथ मसले जाते हैं । उबलता हुआ पानी डाल कर मारे जाते हैं । चिटियाँ पैरों तले कुचल कर मारी जाती हैं । झाडने-बुहारने में भी मर जाती हैं और कुथुआदि बारीक जीवों का अनेक प्रकार से मर्दन होता हैं ।

चौरिन्द्रिय जीवों में मधुमक्खी और भँरो आदि का मधु-लोभियो द्वारा नाश किया जाता हैं । डास-मच्छरादि प्राणी पखे आदि से और धूम्र प्रयोग से मारे जाते हैं और छिपकली आदि द्वारा खाये जाते हैं ।

पचेन्द्रियपने जलचर मे परस्पर एक दूसरे का भक्षण (मच्छ गलागल) करते हैं । मच्छीमारो द्वारा पकडे जा कर मारे जाते हैं । चर्बी के लिए भी जलचर जीवों की हिसा होती है ।

स्थलचर पचेन्द्रिय जीवा में मृग आदि जीवों को सिहादि क्रूर जीव खा जाते हैं । शिकारी मनुष्य, अपने व्यसन तथा मास-लोलुपता के कारण निरपराधी जीवो की अनेक प्रकार से घात करते हैं । कई प्राणी क्षुधा, पिपासा, शीत उष्ण और अतिभार वहन के कारण दु खी जीवन व्यतीत करते हैं । उन पर चाबुक की मार तथा अकुश एव शूल भोंककर उत्पन्न की हुई असह्य वेदना सहन करते हैं ।

खेचर (उडने वाले) प्राणियों में तीतर, पोपट कपोत और चिडिया आदि पक्षियों का मास-लोलुप श्येन बाज और गिद्ध आदि पक्षी भक्षण करते हैं । मास-भक्षी मनुष्य भी अनेक प्रकार के जाल फैला कर या शस्त्रादि से मार कर विनाश करते हैं । तिर्यंच पक्षियों को वर्षा से दु खी हो कर मरने अग्नि

****

(दावानल आदि) मे जल कर भस्म होने और शस्त्र के आघात आदि सभी प्रकार का भय बना रहता है । तिर्यंच पचेन्द्रिय जीवो के विविध प्रकार के दु खो का वर्णन कितना किया जाय ! उनके दु ख भी वर्णनातीत है ।

मनुष्य गति के दुःख

मनुष्यत्व प्राप्त कर के यदि अनार्य देश में उत्पन्न हुआ, तो वहाँ इतना पाप करता है कि जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता । आर्य-देश में भी चाडाल आदि जाति मे अनार्य के समान पाप की प्रचुरता होती है और महान् दु ख का अनुभव करते हैं । आर्यदेश वासी कई मनुष्य, अनार्य-कृत्य करने वाले होते हैं । परिणाम स्वरूप दारिद्र एव दुर्भाग्य से दग्ध हो कर निरन्तर दु ख भोगते हैं । कई मनुष्य दूसरा को सम्पत्तिशाली तथा अपने को दरिद्र देख कर, दु ख एव सतापपूर्वक जीवन व्यतीत करते हैं । कई मनुष्य रोग, जरा और मरणाभिमुख हो कर और असाता-वेदनीय के उग्र उदय से दु खी हो कर ऐसी विडम्बना में पडे हैं कि जिन्हें देख कर दया आती है ।

मनुष्य के गर्भवास के दु ख भी नरक के घोर दु ख के समान है । गर्भवास ऐसे दु ख का कारण है कि जैसे दु ख, रोग, वृद्धावस्था, दासत्व एव मृत्यु के भी नहीं है । आग में तपा कर गर्म की हुई सूइयो को मनुष्य के प्रत्येक रोम में एक साथ भोंकी जाने पर जितना दु ख होता है, उससे आठ गुणा अधिक दु ख जीव को गर्भवास में होता है और जन्म के समय जीव को जो दु ख होता है, वह गर्भवास के दु ख से भी अनन्त गुण है ।

जन्म के बाद बाल अवस्था में मूत्र एव विष्टा से, यौवनवय में रति-विलास से और वृद्धावस्था में श्वास, खासी आदि रोग से पीडित होता है, फिर भी वह लज्जारहित रहता है ।

मनुष्य बालवय में विष्टा का इच्छुक - भडसूर युवावस्था में कामदेव का गधा और वृद्धावस्था में बूढा बैल बन जाता है । किन्तु वह पुरुष होते हुए भी पुरुष नहीं बनता (पशु जैसा रहता है) शिशु-वय में मातृमुखी (माता के मुख को ताकने वाला) यौवन मे स्त्रीमुखी (स्त्री की गरज करनेवाला) और बुढापे मे पुत्र-मुखी (पुत्र के आश्रय में जन्म बितानें वाला) रहता है, किन्तु वह कभी अन्तर्मुखी नहीं होता । धन की इच्छा से विह्वल बना हुआ मनुष्य, चाकरी, कृषि व्यापार और पशुपालन आदि उद्योगो में अपना जन्म निष्फल गँवाता है । कभी चोरी करता है, तो कभी जूआ खेलता है और कभी जार-कर्म कर के मनुष्य ससार-परिभ्रमण बहुत बढा लेता है । कई सुख-सामग्री प्राप्त मनुष्य, मोहान्ध हो कर काम-विलास से दु खी हो जाते हैं और दीनता तथा रुदन करते हुए मनुष्य-जन्म को खो देते हैं किन्तु धर्म-कार्य नहीं करते । जिस मनुष्य-जन्म से अनन्त कर्मों के समूह का क्षय किया जा सकता है उस मनुष्य-जन्म से पापी मनुष्य, पाप ही पाप किया करते हैं । मनुष्य-जन्म ज्ञान, दर्शन और चारित्र, इन तीन रत्नो का पात्र रूप हैं । ऐसे उत्तमोत्तम जन्म मे पाप-कर्म करना तो स्वर्ण पात्र मे मदिरा (अथवा

मूत्र) भरने जैसा है । मनुष्य जन्म की प्राप्ति 'शमिलायुग' * के समान महान् दुर्लभ है । मूर्ख मनुष्य, चिन्तामणी रत्न के समान इस मानव-भव को पाप-कर्म में गँवा कर हार जाता है । मनुष्य-जन्म, स्वर्ग और मोक्ष प्राप्ति के कारण रूप है, किन्तु आश्चर्य है कि मनुष्य पाप-कर्म के द्वारा इसे नरक प्राप्ति का साधन बना लेता है । मनुष्य-भव की अनुत्तर विमान के देवता भी आशा करते हैं । किन्तु पापी मनुष्य ऐसे दुर्लभ मानव -भव को पा कर भी पाप-कर्म मे ही आसक्त रहते हैं । यह कितने दुःख की बात है । नरक के दु ख तो परोक्ष हैं, किन्तु मनुष्य-भव के दु ख तो प्रत्यक्ष दिखाई दे रहे हैं । इसलिए मनुष्य-सम्बन्धी दु खों का विशेष वर्णन करना आवश्यक नहीं है ।

देव-गति के दुःख

देव-गति में भी दु ख का साम्राज्य चल रहा है । शोक, अमर्ष, खेद, ईर्षा और दीनता से देवों की बुद्धि भी बिगडी हुई रहती है । दूसरों के पास विशेष ऋद्धि देख कर देव भी अपनी हीन-दशा पर खेद करते हैं । उन्हें अपने पूर्व-जन्म के उपार्जित शुभ-कर्म की कमी का शोक रहता है । दूसरे बलवान् और ऋद्धिशाली देवों द्वारा होते हुए अपमान एव अडचनो और उसके प्रतिकार की असमर्थता के कारण अल्प-ऋद्धि वाले देव चिन्ता एव शोक ग्रस्त रहा करते हैं । वे मन में पश्चात्ताप करते रहते हैं कि मैने पूर्व-जन्म मे कुछ भी सुकृत्य नहीं किया, जिससे यहाँ देव भव पा कर भी सेवक - दास के रूप में उत्पन्न हुआ ? इस प्रकार चिन्ता करते और अपने से अधिक सम्पत्तिशाली देवों के वैभव को देख कर खेद करते रहते हैं । वे अन्य देवों के विमान, देवागनाएँ एव उपवन सम्बन्धी सम्पत्ति देख देख कर जीवनपर्यंत ईर्षा रूपी अग्नि में जलते रहते हैं । कई बलिष्ट देव, अल्प सत्व वाले देव की ऋद्धि, देवागना आदि छीन लेते हैं । इससे निराश्रित बने हुए देव, निरन्तर शोक करते रहते हैं । पुण्य-कर्म से देव-गति प्राप्त करने पर भी वे काम, क्रोध और भय से आतुर रहते हैं । वे कभी भी स्वस्थता एव शाति का अनुभव नहीं करते ।

जब देव का आयुष्य पूर्ण होने वाला होता है, तब छह महीने पूर्व से ही मृत्यु के चिन्ह देख कर भयभीत हो जाते हैं और मृत्यु से बचने के लिए छुपने का प्रयत्न करते हैं।

कल्पवृक्षो के पुष्पों की बनी हुई माला कभी मुरझाती नहीं है । वह सदैव विकसित ही रहती है, किन्तु जब देव के च्यवन (मृत्यु) का समय निकट आता है, तब उस देव का मुख-कमल भी म्लान हो जाता है और वह पुष्पमाला भी मुरझा जाती है वहाँ के कल्पवृक्ष इतने दृढ होते हैं कि बडे बलवान्

---

* गाड़ी की धुरी अथवा जूआ और खीली दोनों को स्वयभुरमण समुद्र में एक-दूसरे की पूर्वपश्चिम के समान विपरीत दिशा में डाल दिया जाय तो दोनों का परस्पर मिल कर जुड़ जाना महान् कठिन है । इसी प्रकार मनुष्य-जन्म की प्राप्ति भी महान् दुर्लभ है ।

मनुष्यों के हिलाने पर भी नहीं हिलते हैं, किन्तु देवता का च्यवन समय निकट आने पर वे कल्पवृक्ष भी शिथिल हो जाते हैं । उत्पत्ति के साथ ही प्राप्त हुई और अत्यन्त प्रिय लगने वाली ऐसी लक्ष्मी और लज्जा भी उनसे रूठ जाती हैं । निरन्तर निर्मल एव सुशोभित करने वाले उनके वस्त्र भी मलिन एव अशोभनीय हो जाते हैं । जब चींटियो की मृत्यु का समय निकट आता है, तब उनके पख निकल आते हैं, उसी प्रकार च्यवन समय निकट आने पर देवों में, अदीन होते हुए भी दीनता और निद्रा रहित होते हुए भी निद्रा आती है । जिस प्रकार असह्य दुःख से घबरा कर मृत्यु को चाहने वाला मनुष्य, विष-पान करता है, उसी प्रकार अज्ञानी देव, च्यवन समय आने पर न्याय एव धर्म को छोड कर विषयो के प्रति विशेष रागी बन जाता है । यद्यपि देवो को किसी प्रकार का रोग नहीं होता, किन्तु मृत्यु समय निकट आने पर वेदना से उनके अगोपाग और शरीर के जोड शिथिल हो कर दर्द करने लगते हैं और उन्हें आलस्य घेर लेता है । उनकी दृष्टि भी मद हो जाती है । 'भविष्य में उन्हें गर्भवास मे रहना पडेगा' – इस विचार व उस घृणित एव दु खमय स्थिति का अनुभव कर के उनका शरीर ऐसा धूजने लगता और विकृत हो जाता है कि जिसे देखने वाला भी डर जाता है । इस प्रकार च्यवन के चिन्हो को देख कर और अपना मरणकाल निकट जान कर उन्हें वैसी बेचैनी होती है कि जैसी किसी मनुष्य को अग्नि से जलने पर होती है । उस घबराहट को मिटाने में न तो वे विमान सहायक हो सकते हैं, न वापिका और नन्दनवन आदि ही । उन्हें कहीं भी शाति नहीं मिलती । उस समय वे विलाप करते हैं और कहते हैं कि –

"हा, मेरी प्राणप्रिय देवागना ! हाय मेरे विमान ! हाय कल्पवृक्ष ! हाय मेरी पुष्करणी वापिका। हाय, मैं इनसे बिछुड जाऊँगा । फिर इन्हे कब देख सकूँगा ।

हाय ! अमृत की बेल के समान और अमृतमय वाणी से आनन्दित करने वाली मेरी कान्ता, रत्न के स्तभ वाले विमान, मणिमय भूमि और रत्नमय वेदिकाए, अब तुम किसकी हो कर रहोगी ?

हे रत्नमय पद-पक्ति युक्त एव श्रेणि-बन्ध कमलवाली पूर्ण वापिकाओं ! अब तुम्हारा उपभोग कौन करेगा ? हे पारिजात सतान, हरिचन्दन और कल्पवृक्ष ! क्या तुम अपने इस स्वामी को त्याग दोगे?

अरे, क्या स्त्री के गर्भ रूपी नर्क में मुझे बरबस रहना पडेगा ? और अशुचि रस का आस्वादन करते हुए उसी से शरीर बनाना होगा ?

हा अपने कर्मों के बन्ध मे जकड़ा हुआ मुझे जठराग्नि रूपी अँगीठी में पकने रूप दु ख भी सहन करना पडेगा । हाय, कहाँ तो रति-सुख की खान ऐसी ये मेरी देवागनाएँ और कहाँ अशुचि की खान एव बीभत्स ऐसी मानवी स्त्रियों का भोग ?"

इस प्रकार स्वर्गीय सुखों का स्मरण करते हुए देवता उस प्रकार वहाँ से च्यव जाते हैं, जिस प्रकार दीपक बुझ जाता है । इस प्रकार देवगति भी दु ख रूप है । इसलिए बुद्धिमानों का कर्त्तव्य है कि इस ससार को असार जान कर दीक्षा रूपी उपाय के द्वारा ससार का अन्त कर के मुक्ति को प्राप्त करे ।

श्रोत्रिय श्वपच स्वामी, पतिर्ब्रह्मा कृमिश्च स ।
ससारनाट्ये नटवत्, ससारी हत चेष्टत्ते ॥ १ ॥
न याति कतमा योनि कतमा वा न मुचति ॥
ससारो कर्मसबधादवक्रयकुटीमिव ॥ २ ॥
समस्तलोकाकाशेऽपि, नानारूपै स्वकर्मभि ।
बालाग्रमपि तन्नास्ति, यन्नस्पृष्ट शरीरिभि ॥ ३ ॥

– इस ससार की अनेक योनियो मे परिभ्रमण करने रूप नाटक मे ससारस्थ जीव नट के समान चेष्टा करते रहते हैं । ऐसी ससार रूपी रगभूमि पर वेद-वेदाग का पारगामी भी कर्मोदय से मर कर चाण्डालपने उत्पन्न हो जाता है । स्वामी मर कर सेवक और प्रजापति मर कर एक तुच्छ कीडा हो जाता है । ससारी जीव, कर्मोदय से भाडे की कुटिया के समान एक योनि छोड कर दूसरी, यों विभिन्न योनियों में भटकते ही रहते हैं, एक योनि छोड कर दूसरी में प्रवेश करते हैं । इस समस्त ससार में, एक बाल के अग्रभाग पर आवे, उतना भी स्थान ऐसा नहीं है कि जिसे कर्म के वश हो कर इस जीव ने अनेक रूप धारण कर के, उस स्थल का स्पर्श नहीं किया हो । इस प्रकार ससार भावना का विचार करना चाहिए ।

भगवान् ने सोलह पूवाग कम एक लाख पूर्व तक सयम पाला । इस प्रकार कुल तीस लाख पूर्व का आयुष्य भोग कर, मार्गशीर्ष-कृष्णा एकादशी को चित्रा-नक्षत्र मे, एक मास के सथारे से सम्मेदशिखर पर्वत पर ३०८ मुनियों के साथ सिद्ध गति को प्राप्त हुए ।

प्रभु के 'सुव्रत' आदि १०७ गणधर हुए और ३३०००० साधु, ४२०००० साध्वी २३००* चौदह पूर्वधर १०००० अवधिज्ञानी, १०३०० मन पर्यवज्ञानी, १२००० केवलज्ञानी, १६८०० वैक्रिय लब्धिधारी ९६०० वादलब्धि सम्पन्न २७६००० श्रावक और ५०५००० श्राविकाएँ हुईं ।

छठे तीर्थंकर

भगवान्

।। पद्मप्रभःजी का चरित्र सम्पूर्ण ।।

* त्रि. श. पु. च. में चौदह पूर्वधर २२०० बताये हैं ।

भ० सुपार्श्वनाथजी

धातकीखड के पूर्व-विदेह क्षेत्र म क्षेमपुरी नगरी थी । नन्दीषेण उसका राजा था । उस धर्मात्मा राजा को ससार से वैराग्य हो गया और उसने अरिदमन नाम के आचार्य के समीप प्रव्रज्या स्वीकार की। सयम एव तप की उत्तम भावना में रमण करते हुए नन्दीषेण मुनि ने तीर्थंकर नाम-कर्म को निकाचित कर लिया और आयुष्य पूर्ण कर के छठे ग्रैवेयक विमान मे देव हुए उनका आयुष्य २८ सागरोपम का था ।

काशी देश के वाराणसी नगरी मे 'प्रतिष्ठसेन' नाम का राजा राज करता था । उसकी रानी का नाम 'पृथ्वी' था । नन्दीषेण मुनि का जीव देवलोक से च्यव कर भाद्रपद कृष्णा अष्टमी को, अनुराधा नक्षत्र में महारानी पृथ्वी की कुक्षि मे, चौदह महास्वप्न पूर्वक उत्पन्न हुआ । ज्येष्ठ शुक्ला द्वादशी को विशाखा-नक्षत्र मे पुत्र का जन्म हुआ । देवी-देवता और इन्द्रो ने जन्मोत्सव किया । गर्भकाल मे माता के पार्श्व (छाती और पेट के अगल बगल का हिस्सा) बहुत ही उत्तम और सुशोभित हुए इसलिए पुत्र का 'सुपार्श्व' नाम दिया गया। यौवनवय में अनेक राजकुमारियो के साथ उनका विवाह हुआ । पाँच लाख पूर्व तक कुमार अवस्था में रहने के बाद, पिता ने प्रभु को राज्य का भार दे दिया । चौदह लाख पूर्व और बीस पूर्वांग तक राज्य का सचालन करने के बाद ज्येष्ठ-कृष्णा त्रयोदशी को, अनुराधा नक्षत्र में, बेले के तप सहित ससार का त्याग कर के पूर्ण सयमी बन गए । नौ मास तक सयम और तप की विशिष्ट प्रकार से आराधना करते हुए फाल्गुन-कृष्णा छठ को विशाखा नक्षत्र में केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त किया । प्रभु की प्रथम धर्मदेशना इस प्रकार हुई;-

धर्म देशना

अन्यत्व भावना

''स्त्री, पुत्र, माता, पिता, कुटुम्ब, परिवार, धन-धान्यादि और अपना शरीर ये सब अपनी आत्मा से भिन्न एव अन्य वस्तुएँ हैं । मूर्ख मनुष्य, इन्हें अपना मान कर इन पर वस्तुओं के लिए पाप-कर्म करता है और भवसागर में डूबता है । जब जीव, शरीर के साथ सलग्न होने पर भी भिन्नता रखता है, तो स्पष्ट रूप से एकदम भिन्न ऐसे कुटुम्ब और धन-धान्यादि की भिन्नता के विषय में तो कहना ही क्या है ? ''

जो सुज्ञ आत्मा, अपनी आत्मा को देह, कुटुम्ब और धनादि से भिन्न देखता है, उसे शोक रूपी शूल की वेदना नहीं होती । यह भिन्नता एक दूसरे के लक्षण की विलक्षणता से ही स्पष्ट ज्ञात होती है । आत्मा के स्वभाव और शरीर के पौद्गलिक स्वभाव का विचार करने पर यह भेद 'साक्षात्' हो जाता है । देहादि पदार्थ, इन्द्रियों द्वारा ग्रहण किये जा सकते हैं, किन्तु आत्मा तो केवल अनुभव गोचर होती है । जब दोनों में इस प्रकार की भिन्नता प्रत्यक्ष हो रही है तब दोनो की अनन्यता-एकता कैसे मानी जाय ?

शका – यदि आत्मा और देह भिन्न है, तो शरीर पर पडती हुई मार की पीडा आत्मा को क्यों होती है ?

समाधान – शका उचित है, किन्तु पीडा उसी को होती है, जिसकी देह मे ममत्व बुद्धि है – अभेद भाव है । जिन महात्माओ को आत्मा और देह के भेद का भली प्रकार से अनुभव ज्ञान हो गया, उन्हें देह पर होते हुए प्रहारादि की वेदना नहीं होती × । जो ज्ञानवन्त आत्मा है, उसे पितृ-वियोग जन्य दु ख होने पर भी पीडा नही होती, किन्तु जिस अज्ञानी की पर मे ममत्व बुद्धि है जिसे भेद -ज्ञान नहीं है, उसे तो एक नौकर सम्बन्धी दु ख होने पर भी पीडा होती है । अनात्मीय – अन्यत्व रूप से ग्रहण किया हुआ पुत्र भी भिन है, किन्तु आत्मीय – एकत्व रूप में माना हुआ नौकर भी पुत्र से अधिक हो जाता है । आत्मा जितने सयोग सम्बन्धो को अपने आत्मीय रूप में मान कर स्नेह करता है । उतने ही शोक रूपी शूल उसके हृदय में पहुँच कर दु खदायक होते हैं । इसलिए जितने भी पदार्थ इस जगत् में हैं, वे सभी आत्मा से भिन्न ही है – इस प्रकार की समझ से जिस आत्मा की अन्यत्व भेद बुद्धि हो जाती है, वह किसी भी वस्तु का वियोग होने पर तात्त्विक विषय में मोह को प्राप्त नहीं होता । जिस प्रकार तुम्बी पर का लेप धुल जाने पर वह ऊपर उठ जाती है उसी प्रकार अन्यत्व रूप भेद ज्ञान से जिस आत्मा ने मोह-मल को धो डाला है, वह प्रव्रज्या को ग्रहण कर स्वल्प काल में ही शुद्ध हो कर ससार से पार हो जाती है ।

यत्रायत्व शरीरस्य, वैसादृश्याच्छरीरिण ।
धनबन्धुसहायाना, तत्रान्यत्व न दुर्वचम् ॥ १ ॥
यो देहधनबन्धुभ्यो, भिन्नमात्मान मीक्षते ।
क्व शोकुशकुना तस्य हतातक प्रतन्यते ॥ २ ॥

× आत्मा शरीर से कथचित् भिन्न कथचित् अभिन्न है । देह और आत्मा दूध-पानी के समान एकमेक हैं अत्यन्त निकट है इसलिये वेदना होती है । वेदना होने में असातावेदनीय कर्म के उदय का जोर है, इसलिए वेदना होती है ।

- जहाँ मूर्त-अमूर्त, चेतन-जड और नित्य-अनित्यादि विसदृश्यता से, आत्मा से शरीर की भिन्नता स्वत सिद्ध है, वहाँ धन-बान्धवादि सहायकों की भिन्नता बताना अत्युक्ति नहीं कहा जा सकता । जो सुज्ञ मनुष्य, देह, धन और बन्धुजनादि से आत्मा को भिन्न देखता है, उसे वियोगादि जन्य शोक रूपी शल्य कैसे पीडित कर सकता है ? इस प्रकार देह गेहऔर स्वजनादि से आत्मा भिन्न है - ऐसा विचार करना चाहिए ।

प्रभु के विदर्भ आदि ९५ गणधर हुए । तीन लाख साधु, चार लाख तीस हजार साध्वियाँ, २०३० चौदह पूर्वधर, ९००० अवधिज्ञानी ९१५० मन पर्यवज्ञानी, ११००० केवलज्ञानी, १५३०० वैक्रिय-लब्धिधारी, ८४०० वाद-लब्धि सम्पन्न, २५७००० श्रावक और ४९३००० श्राविकाएँ हुई ।

भगवान् केवलज्ञान के बाद ग्रामानुग्राम विहार कर के भव्य जीवो को प्रतिबोध देते रहे । वे बीस पूर्वांग और नौ मास कम एक लाख पूर्व तक विचरते रहे । आयुष्यकाल निकट आने पर सम्मेदशिखर पर्वत पर पाँच सौ मुनियों के साथ, एक मास के अनशन से, फाल्गुन-कृष्णा सप्तमी को, मूल-नक्षत्र में सिद्धगति को प्राप्त हुए । प्रभु का कुल आयु बीस लाख पूर्व का था ।

सातवें तीर्थंकर

भगवान्

।। सुपार्श्वनाथजी का चरित्र सम्पूर्ण ॥

भ० चन्द्रप्रभः स्वामी

धातकीखण्ड के प्राग्विदेह क्षेत्र में मगलावती विजय में 'रत्नसचया' नाम की नगरी थी। 'पद्म' नाम के राजा वहाँ के शासक थे । वह परम प्रतापी राजा, श्रेष्ठ तत्त्ववेता था और ससार म रहते हुए भी वैराग्य युक्त था । उसने युगन्धर मुनिवर के पास दीक्षा ग्रहण की और साधना के सोपान पर चढते हुए, जिन नाम-कर्म को दृढीभूत किया और कालान्तर में आयुष्य पूर्ण कर के वैजयत नाम के अनुत्तर विमान में उत्पन्न हुए ।

इस जम्बूद्वीप के भरत-क्षेत्र में 'चन्द्रानना' नाम की नगरी थी । 'महासेन' नाम का नरेश वहाँ का अधिपति था । 'लक्ष्मणा' नाम की उसकी रानी थी । पद्म मुनिवर का जीव वैजयत विमान का तेतीस सागरोपम का आयु पूर्ण कर के चैत्र-कृष्णा पचमी को अनुराधा नक्षत्र में महारानी लक्ष्मणा की कुक्षि में उत्पन्न हुआ और पौष-कृष्णा द्वादशी को अनुराधा नक्षत्र में जन्म हुआ । माता को चन्द्र-पान करने का दोहद होने और पुत्र की चन्द्र के समान कान्ति होने से 'चन्द्रप्रभ' नाम दिया गया । यौवन वय में प्रभु ने राजकुमारिया के साथ विवाह किया । ढाई लाख पूर्व तक कुमार अवस्था में रहने के बाद प्रभु का राज्याभिषेक हुआ । साढे छह लाख पूर्व और चौबीस पूर्वांग तक राज्य का सचालन किया। पौष-कृष्णा त्रयोदशी को अनुराधा नक्षत्र में एक हजार राजाओं के साथ ससार त्याग कर पूर्ण सयमी बन गये । तीन महीने तक छद्मस्थ अवस्था में रहने के बाद फाल्गुन-कृष्णा सप्तमी को अनुराधा नक्षत्र में केवलज्ञान केवलदर्शन प्राप्त किया ।

भगवान् ने प्रथम समवसरण में धर्मोपदेश दिया । यथा-

धर्मदेशना

अशुचि भावना

अनन्त क्लेश रूपी तरगों से भरा हुआ यह भवसागर, प्रति-क्षण सभी प्राणियों को ऊपर नीचे और तिरछे फैंकता रहता है । जिस प्रकार समुद्र की लहरें स्थिर नहीं रहती उसी प्रकार प्राणियों का जीवन भी स्थिर नहीं रहता । किन्तु ऐसे अस्थिर जीवन में भी प्राणी मूर्च्छित हो

रहा है । जिस प्रकार विष्टादि अशुचि से कीडे प्रीति करते हैं, उसी प्रकार मनुष्य भी अशुचिमय क्षणिक शरीर से स्नेह करता है । वह शरीर ही उसके लिए बन्धन रूप बन जाता है ।

रस, रुधिर, मास, चर्बी, अस्थि, मज्जा, वीर्य, आतें और विष्टादि अशुचि के स्थान रूप देह मे पवित्रता कहाँ है ? नव द्वारों में से झरते हुए दुर्गन्धमय झरनों से बिगडे हुए इस देह में, पवित्रता का सकल्प करना, यही मोहराज की महा मस्ति है। वीर्य और रुधिर से उत्पन्न, मलिन रस से बढा हुआ और गर्भ से जरायु से ढँका हुआ यह देह, कैसे पवित्र हो सकता है ?

माता के खाये हुए भोजनादि से उत्पन्न और रस नाडी में हो कर आये हुए रस का पान कर के बढे हुए शरीर को कोई भी सुज्ञ पवित्र नहीं मान सकता ।

दोष, धातु और मल से भरे हुए, कृमि और गिडोले के स्थान रूप तथा रोग रूपी सर्पों से डसे हुए शरीर को शुद्ध मानने की भूल कोई भी सुज्ञ नहीं कर सकता ।

अनेक प्रकार के सुगन्धी द्रव्यों से किया हुआ विलेपन, तत्काल मल रूप हो जाता है। ऐसे शरीर को पवित्र कहना भूल है । मुँह में सुगन्धित ताम्बुल चबा कर सोया हुआ मनुष्य, प्रातःकाल उठ कर अपने ही मुख की दुर्गन्ध से घृणा करता है । सुगन्धी पुष्प, पुष्पमाला और धूपादि भी जिस शरीर के द्वारा दुर्गन्धमय बन जाते हैं, उस शरीर को शुद्ध नहीं कहा जा सकता ।

जिस प्रकार शराब का घडा दुर्गन्धमय रहता है, उसी प्रकार उच्च प्रकार के सुगन्धित तैल और उबटन से स्वच्छ कर के प्रचुर पानी से धोया हुआ शरीर भी अपवित्र ही रहता है।

जो लोग कहते हैं कि यह शरीर मृतिका, जल, अग्नि, वायु और सूर्य की किरणो के स्नान से शुद्ध होता है, उन्होने शरीर की वास्तविकता नहीं समझी और चमडी को देख कर ही रीझे हुए हैं ।

जिस प्रकार बुद्धिमान् मनुष्य, खारे पानी के समुद्र में से रत्न ढूँढ कर निकालते हैं, उसी प्रकार बुद्धिमान् मनुष्यो को ऐसे दुर्गन्धमय देह से, केवल मोक्ष रूपी फल का उत्पादक ऐसा तप ही करना चाहिए । इसी से महान् सुख की प्राप्ति होती है ।

रसासृग्मासमेदोस्थिमज्जशक्रात्रवर्चसा ।

अशुचिना पद काय , शुचित्व तस्य तत्कुत ॥ १ ॥

नवस्त्रोत स्त्रवद्विस्त्ररसनि स्यदपिच्छिले ।

देहेपि शौचसकल्पो, महन्मोहविजृंभितम् ॥ २ ॥

– रस, रुधिर मास मेद, हड्डी, मज्जा, वीर्य, अतडियाँ एव विष्ठादि अशुचि के घर रूप इस शरीर में पवित्रता है ही कहाँ ? देह के नौ द्वारो से यहता हुआ दुर्गन्धित रस और उससे लिप्त देह की पवित्रता की कल्पना करना या अभिमान करना, यह तो महामोह की चेष्टा है । इस प्रकार का विचार करने से मोह-ममत्व कम होता है ।

भगवान् के 'दत्त' आदि ९३ गणधर हुए । २५०००० साधु, ३८०००० साध्वियाँ, २००० चौदह पूर्वधर, ८००० अवधिज्ञानी, ८००० मन पर्यवज्ञानी, १०००० केलवी, १४००० वैक्रिय लब्धिधारी, ७६०० वादी, २५०००० श्रावक और ४९१००० श्राविकाएँ हुई ।

प्रभु चौबीस पूर्वांग और तीन महीने का कम लाख पूर्व तक तीर्थंकरपने विचरते हुए भव्य जीवों का उपकार करते रहे । फिर मोक्ष-काल निकट आने पर एक हजार मुनियों के साथ सम्मेदशिखर पर्वत पर एक मास के अनशन से भाद्रपद-कृष्णा सप्तमी को श्रवण नक्षत्र में सिद्ध गति को प्राप्त हुए । प्रभु का कुल आयु दस लाख पूर्व का था ।

आठवें तीर्थंकर

भगवान्

।। चन्द्रप्रभः स्वामी का चरित्र सम्पूर्ण ।।

भ० सुविधिनाथ जी

पुष्करवर दीपार्द्ध के पूर्व-विदेह में पुष्कलावती विजय है । उस विजय में 'पुडरिकिनी' नाम की नगरी थी ।'महापद्म' वहाँ का शासक था । वह बडा ही धर्मात्मा एव हलुकर्मी था । उसने ससार का त्याग कर के जगन्नन्द मुनिराज के पास सर्वविरति स्वीकार कर ली । साधना में उन्नत होते हुए उन्होंने जिन नामकर्म का बन्ध कर लिया और आयुष्य पूर्ण कर के वैजयत नाम के अनुत्तर विमान मे देव रूप में उत्पन्न हुए ।

इस जम्बूद्वीप के दक्षिण भरत में 'काकदी' नाम की नगरी थी । उस भव्य नगरी का शासन महाराजा 'सुग्रीव' करते थे । महारानी 'रामा' उनकी प्रिय पत्नी थी । वैजयत विमान मे ३३ सागरोपम का आयु पूर्ण कर के महापद्म देव, फाल्गुन-कृष्णा नौमी को मूलनक्षत्र में रामादेवी की कुक्षि मे उत्पन्न हुआ। चौदह महास्वप्न देखे । मार्गशीर्ष-कृष्णा पचमी को मूल नक्षत्र में पुत्र का जन्म हुआ । देव-देवियों और इन्द्रो ने जन्मोत्सव किया । गर्भावस्था मे, गर्भ के प्रभाव से रामादेवी सभी प्रकार के कार्यों को सम्पन्न करने की विधि मे कुशल हुई । इसलिए पुत्र का नाम 'सुविधि' रखा और पुष्प के दोहद से पुत्र के दाँत आये इसलिए दूसरा नाम 'पुष्पदत' हुआ । यौवन वय में राजकुमारियो के साथ लग्न किया। पचास हजार पूर्व तक कुमार अवस्था में रहे । फिर पिता ने आपको राज्याधिकार प्रदान किया । पचास हजार पूर्व और अट्ठाईस पूर्वांग तक राज्य का शासन किया । उसके बाद मार्गशीर्ष षष्ठी के दिन मूल-नक्षत्र में बेले के तप सहित सर्वत्यागी बन गए । आपके साथ एक हजार राजाआ ने भी प्रव्रज्या स्वीकार की चार मास तक छद्मस्थ रहे और कार्तिक-शुक्ला तृतीया के दिन मूल-नक्षत्र में सर्वज्ञ-सर्वदर्शी हो कर तीर्थंकर नाम-कर्म को पूर्ण रूप से सफल किया ।

धर्मदेशना

आस्त्रव भावना

भगवान् का प्रथम उपदेश इस प्रकार हुआ -

यह ससार अनन्त दु खो के समूह का भडार है । जिस प्रकार विष की उत्पत्ति का स्थान विषधर (सर्प)है, उसी प्रकार दु खमय ससार की उत्पत्ति का कारण 'आस्त्रव' है ।

आस्त्रव का अर्थ है - 'कर्म पुद्गलो का आत्मा मे प्रवेश करने का कारण । आत्मा में कर्म के प्रवेश करने का मार्ग ।'

जीवों के मन वचन और काया से जो क्रिया होती है वह 'योग' कहलाता है । ये योग ही आत्मा में शुभाशुभ कर्म को आस्त्रवते (लाते) हैं । इसी से यह 'आस्त्रव' कहलाता है । मैत्री आदि

शरीर को बुरी प्रवृत्ति से भली प्रकार से रोक कर धार्मिक प्रवृत्ति में लगाने से आत्मा शुभकर्म का आस्रव करता है और जीव-घातादि अशुभ कार्यों में निरन्तर लगाये रहने से अशुभ कर्म का आगमन होता है ।

क्रोधादि कषाय, इन्द्रियो के विषय, तीन योग, प्रमाद, अव्रत, मिथ्यात्व, आर्त्तध्यान और रौद्र ध्यान आदि अशुभ कर्मों के आस्रव के कारण हैं । इन अशुभ कर्मों से पीछे हटना, यह आस्रव भावना का हेतु है ।

भगवान् के 'वराह' आदि ८८ गणधर हुए । २००००० साधु, १२०००० साध्वियें ८४०० अवधिज्ञानी, १५०० चौदह पूर्वधर, ७५०० मन पर्यवज्ञानी, ७५०० केवलज्ञानी १३००० वैक्रिय-लब्धि वाले, ६००० वादलब्धि वाले, २२९००० श्रावक और ४७२००० श्राविकाएँ हुई ।

आयुष्य-काल निकट आने पर प्रभु सम्मेदशिखर पर्वत पर एक हजार मुनियो के साथ पधारे । एक मास का अनशन हुआ और कार्तिक-कृष्णा नौमी को मूल नक्षत्र में, अट्ठाइस पूर्वांग और चार मास कम एक लाख पूर्व तक तीर्थंकर पद भोग कर मोक्ष पधारे । प्रभु का कुल आयुष्य दो लाख पूर्व का था ।

धर्म-विच्छेद और असंयती-पूजा

प्रभु के निर्वाण के बाद कुछ काल तक तो धर्मशासन चलता रहा, किन्तु बाद में हुडावसर्पिणी काल के दोष से श्रमण धर्म का विच्छेद हो गया । एक भी साधु नहीं रहा । लोग वृद्ध श्रावकों से धर्म का स्वरूप जानने लगे । श्रावक ही धर्म सुनाते, तब श्रोतागण श्रावको की अर्थ-पूजा करने लगे । वे श्रावक भी अर्थ-पूजा के लोभी बन गए । उन्होंने नये-नये शास्त्र रचे और दान के फल का महत्त्व बढा-चढा कर बताने लगे । फिर वे पृथ्वीदान, लोहदान, तिलदान स्वर्णदान, गृहदान गोदान, अश्वदान गजदान, शय्यादान और कन्यादान आदि का प्रचार कर के वैसा दान ग्रहण करने लगे । वे अपने को दान ग्रहण करने योग्य महापात्र बतला कर और दूसरो को कुपात्र कह कर निन्दा करने लगे । वे स्वय लोगो के गुरु बन गए । इस प्रकार भ सुविधिनाथजी का तीर्थ विच्छेद हो कर असयत-अविरत की पूजा होने लगी ।

नौवे तीर्थंकर भगवान्

।। सुविधनाथजी का चरित्र सम्पूर्ण ।।

भ० शीतलनाथ जी

पुष्करवर द्वीपार्द्ध के पूर्व महाविदेह के वज्र नाम के विजय में सुसीमा नाम की नगरी थी । पद्मोतर नाम के नरेश वहाँ के स्वामी थे । उन्होंने ससार से विरक्त हो कर त्रिस्ताध नाम के आचार्य के समीप दीक्षा अगीकार की और चारित्र की आराधना करते हुए तीर्थंकर नाम-कर्म का उपार्जन किया । आयुष्य पूर्ण कर प्राणत नाम के दसवें स्वर्ग में देव रूप में उत्पन्न हुए ।

इस जम्बूद्वीप के भरत-क्षेत्र में 'भद्दिलपुर' नगर था । 'दृढरथ' नाम के महाराज वहाँ के शासक थे । उनकी महारानी का नाम 'नदादेवी' था । पद्मोतर मुनिराज का जीव, प्राणत देवलोक का बीस सागरोपम प्रमाण आयुष्य पूर्ण कर के वैशाख-कृष्णा छठ को पूर्वाषाढा नक्षत्र में नन्दादेवी की कुक्षि में उत्पन्न हुआ । माघ-कृष्णा द्वादशी को पूर्वाषाढा नक्षत्र में उनका जन्म हुआ । गर्भकाल में महाराजा का शरीर किसी रोग के कारण तप्त हो गया था, किन्तु महारानी के स्पर्श से सारी तपन मिटकर शीतलता व्याप गई । इसे गर्भस्थ जीव का प्रभाव मान कर पुत्र का नाम 'शीतलनाथ' रखा गया । यौवनवय में कुमार का विवाह किया गया । श्री शीतलनाथ जी पच्चीस हजार पूव तक कुमार अवस्था में रहे । महाराजा दृढरथ ने अपना राज्य-भार शीतलनाथ जी को दिया । आपने पचास हजार पूर्व तक राज्य-भार वहन किया । इसके बाद माघ-कृष्णा द्वादशी को पूर्वाषाढा नक्षत्र में एक हजार राजाओ के साथ ससार का त्याग कर के सयम साधना में तत्पर हो गए । तीन महीने तक प्रभु छद्मस्थ रह कर चारित्र का विशुद्ध रीति से पालन करते रहे । पौष मास के कृष्ण-पक्ष की चतुर्दशी को पूर्वाषाढा नक्षत्र में घातीकर्मों का क्षय कर के केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त किया । इन्द्रादि देवों ने केवल-महोत्सव किया ।

धर्मदेशना

सवर भावना

केवलज्ञान प्राप्त करने के बाद भगवान् ने प्रथम धर्मोपदेश में फरमाया -

"इस ससार में सभी पौद्गलिक पदार्थ, विविध प्रकार के दु ख के कारण हैं और क्षणिक हैं । पौद्गलिक-रुचि ही आस्रव की मूल और दु ख की सर्जक है और आस्रव का निरोध करना 'सवर' है । सवर अनन्त सुखों के भण्डार रूप मोक्ष को प्राप्त करने का साधन है ।

सवर दो प्रकार का है - १ द्रव्य सवर और २ भाव सवर । जिससे कर्म-पुद्गलों का ग्रहण रुके - वह द्रव्य-सवर है और जिससे ससार की हेतु ऐसी परिणति और क्रिया का त्याग हो वह भाव-सवर है। जिन-जिन उपाय्ये से जिस-जिस आस्रव का निरोध हो उस आस्रव की रोक के लिए बुद्धिमानों को वैसे ही उपाय करना चाहिए । सवर धर्म के वे उपाय इस प्रकार हैं -

क्षमा - सहनशीलता से क्रोध के आस्रव को रोकना चाहिए । कोमलता (नम्रता) स मान का, सरलता से माया का और निस्पृहता से लोभ का । इस प्रकार चार प्रकार की सवरमय साधना से, ससार के सब से बडे आस्रव रुक जाते हैं ।

बुद्धिशाली मनुष्य का कर्त्तव्य है कि असयम से उन्मत्त बने हुए, विष के समान विषयों का, अखण्ड सयम के द्वारा निरोध करे । मन वचन और काया के योग जन्य आस्रव को, तीन गुप्तियों के अकुश से वश मे करना चाहिए ।

मद्य एव विषय-कषायादि प्रमाद आस्रव का अप्रमत्त भाव से सवरण करना और सभी प्रकार के सावद्य-योग के त्याग के द्वारा अविरति को रोक कर विरति रूपी सवर की आराधना करनी चाहिए।

सवर की साधना करने वाले का सर्व-प्रथम सम्यग्दर्शन के द्वारा मिथ्यात्व के महान् आस्रव को बन्द कर देना चाहिए ।

चित्त की उत्तमता पवित्रता एव शुभ ध्यान में स्थिरता के द्वारा आर्त्तध्यान और रौद्र ध्यान पर विजय पाना चाहिए ।

जिस प्रकार अनेक द्वार वाले भवन के सभी द्वार खुले रहें, तो उसमें धूल अवश्य ही घुस जाती है और इस प्रकार घुसी हुई धूल, तेल आदि की चिकास के सयोग से चिपक कर तन्मय हो जाती है। यदि घर के सभी द्वार बन्द रहें, तो धूल घुसने को अवसर ही नहीं आवे । उसी प्रकार आत्मा म कर्म-पुद्गल के प्रवेश करने के सभी द्वारों को बन्द कर दिया जाय, तो कर्म का आना ही रुक जाय ।

जिस प्रकार किसी सरोवर में पानी आने के सभी नाले खुले रहें, तो उसमें चारों ओर से पानी आ कर इकट्ठा हो जाता है और नाले बन्द कर देने पर पानी आना बन्द हो जाता है । फिर उसमें बाहर का पानी नहीं आ सकता । उसी प्रकार अविरति रूपी आस्रव द्वार बन्द कर देने से आत्मा में कर्मों की आवक रुक जाती है ।

जिस प्रकार किसी जहाज के मध्य में छिद्र हो गये हो, तो उन छिद्रो में से जहाज मे पानी भरता रहता है और भरते-भरते जहाज के डूब जाने की सम्भावना रहती है और छिद्र बन्द कर देने से पानी का आगमन रुक जाता है । फिर जहाज को कोई खतरा नहीं रहता । इसी प्रकार योगादि आस्रव द्वारों को सभी प्रकार से बन्द कर दिया जाये, तो सवर से सुशोभित बने हुए चारित्रात्मा म कर्म-द्रव्य का प्रवेश नहीं हो सकता ।

आस्रव के निरोध के उपाय को ही 'सवर' कहते हैं और सवर के क्षमा आदि अनेक भेद हैं । गुणस्थानों में चढते-चढते जिन आस्रव द्वारों का निरोध होता है उन नामों वाले सवर की प्राप्ति होती है । अविरत सम्यग्दृष्टि में मिथ्यात्व का उदय रुक जाने से सम्यक्त्व सवर की प्राप्ति होती है । देशविरति

आदि गुणस्थाना में अविरति का (विरति) सवर होता है । अप्रमत्तादि गुणस्थाना मे प्रमाद का सवरण होता है । उपशान्त-मोह और क्षीण-मोह गुणस्थानों मे कषाय का सवरण होता है और अयोगी-केवली नाम के चौदहवे गुणस्थान मे पूर्णरूप से योग-सवर होता है ।

जिस प्रकार जहाज का खिवैया, छिद्र-रहित जहाज के योग मे, समुद्र को पार कर जाता है, उसी प्रकार पवित्र भावना और सुबुद्धि का स्वामी, उपरोक्त क्रम से पूर्ण सवरवान् हो कर ससार-समुद्र के पार पहुँच कर परम सुखी बन जाता है ।

''सर्वेषामाश्रवाणा तु, निरोध सवर स्मृत ।
स पुनर्भिद्यते द्वेधा, द्रव्य-भावविभेदत ॥ १ ॥
य कर्मपुद्गलादानच्छेद स द्रव्य-सवर ।
भवहेतु क्रियात्याग स पुनर्भाव-सवर ॥ २ ॥
''येन येनह्युपायेन रुध्यते यो य आश्रव ।
तस्य-तस्य निरोधाय, स स योग्यो मनीषिभि ॥ ३ ॥
क्षमया मृदुभावेन, ऋजुत्वेनाप्यनीहया ।
क्रोध मान तथा माया, लोभ रुध्याद्यथाक्रमम् ॥ ४ ॥
असयमकृतोत्सेकान्, विषयान् विषसनिभान् ।
निराकुर्यादखडेन सयमेन महामति ॥ ५ ॥
त्रिसृभिर्गुप्तिभिर्योगान् प्रमाद चाप्रमादत ।
सावद्ययोगहानेनाविरति चापि साधयेत् ॥ ६ ॥
सद्दर्शनेन मिथ्यात्व, शुभस्थैर्येण चेतस ।
विजयेत्तार्तरौद्रे च, सवरार्थ कृतोद्यम ॥ ७ ॥

इन सात शलोकों मे इस देशना का सार आ गया है । सवर के द्वारा सभी प्रकार क अशुभकर्मों के आत्मा में प्रवेश करने के द्वार बन्द किये जाते हैं । सवर उस फौलादी कवच का नाम है, उसके द्वारा आत्मा-सम्राट की पूर्ण रूप से रक्षा होती है । सवर रूपी रक्षक के सद्भाव में विषय-कषायादि चोर, आत्मा के ज्ञानादि गुणो और सुख-शान्ति को नहीं चुरा सकते ।

सवर के व्यवहार दृष्टि से २० भेद इस प्रकार हैं -

१ मिथ्यात्व आस्रव को रोक कर 'सम्यक्त्व' गुण की रक्षा करना इसी प्रकार २ विरति ३ अप्रमत्तता ४ कषाय त्याग ५ अशुभ योगो का त्याग ६ प्राणातिपात विरमण ७ मृषावाद विरमण ८ अदत्तादान विरमण ९ मैथुन त्याग १० परिग्रह त्याग ११ श्रोत्रेन्द्रिय सवर १२ चक्षुइन्द्रिय सवर

१३ घ्राणेन्द्रिय सवर १४ रसनेन्द्रिय निरोध १५ स्पर्शनेन्द्रिय सवर १६ मन सवर १७ वचन सवर १८. काय सवर १९ भण्डोपकरण उठाते-रखते अयतना से होने वाले आस्रव का निरोध और २० सूचि-कुशाग्र मात्र लेने रखने में सावधानी रखना ।

दूसरी अपेक्षा से सवर के ५७ भेद इस प्रकार हैं –

५ पाँच समिति ६-८ तीन गुप्ति ९-३० बाईस परीषह सहन करना ३१-४० क्षमादि दस प्रकार का यतिधर्म ४१-५२ अनित्यादि बारह और ५३-५७ सामायिकादि पाँच चारित्र ।

सवर का दूसरा नाम 'निवृत्ति' भी है । निवृत्ति के द्वारा आत्मा अनन्त असीम पौद्गलिक रुचि को छोड कर – निवृत्त हो कर अपने-आप में स्थिर होता है । स्थिरता की वृद्धि के साथ गुणस्थान की वृद्धि होती है और जब पूर्ण स्थिरता हो जाती है, तब आत्मा मुक्त हो कर शाश्वत पद को प्राप्त कर लेती है । धर्म का मूल आधार ही सवर है । सवर रूपी फौलादी रक्षा-कवच को धारण करने वाला आत्म-समाट पूर्ण रूप से सुरक्षित रहता है । उस पर मोहरूपी महाशत्रु का आक्रमण सफल नहीं हो सकता । सवरवान् आत्मा, मोह महाशत्रु पर पूर्ण विजय प्राप्त कर के धर्म-चक्रवर्तीपद प्राप्त कर ईश्वर- जिनेश्वर बन जाता है । वह शाश्वत सुखो को प्राप्त कर लेता है ।

प्रभु की प्रथम देशना मे अनेक भव्यात्माओं ने सर्वविरतिरूप श्रमण-धर्म स्वीकार किया और अनेक देश-विरत श्रावक बने । प्रभु के 'आनन्द' आदि ८१ गणधर हुए । प्रभु तीन मास कम पच्चीस हजार पूर्व तक पृथ्वीतल पर विचर कर और भव्य जीवों को प्रतिबोध दे कर मोक्षमार्ग मे लगाते रहे । प्रभु के धर्मोपदेश से प्रेरित हो कर एक लाख पुरुषो ने श्रमण-धर्म स्वीकार किया । १००००६ + साध्वियाँ हुई । १४०० चौदह पूर्वधारी, ७२०० अवधिज्ञानी ७५०० मन पर्यवज्ञानी, ७००० केवलज्ञानी, १२००० वैक्रिय-लब्धि वाले ५८०० वादलब्धि वाले, २८९००० श्रावक और ४५८००० श्राविकाएँ हुई ।

मोक्ष काल निकट आने पर प्रभु एक हजार मुनियों के साथ सम्मेदशिखर पर्वत पर पधारे और एक मास का सथारा किया । वैशाख-कृष्णा द्वितीया तिथि को पूर्वाषाढा नक्षत्र में प्रभु परम सिद्धि को प्राप्त हुए । प्रभु का कुल आयुष्य एक लाख पूर्व का था ।

दसवें तीर्थंकर
भगवान्
।। शीतलनाथजी का चरित्र सम्पूर्ण ।।

+ त्रि श. पु. च में १०६००० लिखी है ।

भ० श्रेयांसनाथ जी

पुष्करवर दीपार्द्ध के 'कच्छ' नाम के विजय में 'क्षेमा' नाम की एक नगरी थी । 'नलिनिगुल्म' नाम का राजा वहाँ का अधिपति था । उसके मन्त्री बडे कुशल और योग्य थे । उसका धन-भण्डार भरपूर था । हाथी, घोडे और सेना विशाल तथा शक्तिशाली थी । इस प्रकार धन, सम्पत्ति, बल और प्रताप में बढ-चढ कर होने पर भी नरेश धन, यौवन और लक्ष्मी को असार मान कर अति लुब्ध नहीं हुआ था । कामभोग के प्रति उसकी उदासीनता बढ रही थी । अन्त मे उन्होने राजपाट छोड कर वज्रदत्त मुनि के समीप निर्ग्रन्थ प्रव्रज्या स्वीकार कर ली और उग्र साधना तथा तप से आत्मा को पवित्र करते हुए तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध कर लिया । प्रशस्त ध्यान युक्त काल कर के महाशुक्र नाम के सातवें देवलोक में उत्पन्न हुए ।

इस जम्बूद्वीप क भरत-क्षेत्र मे सिहपुर नाम का एक समृद्ध नगर था । 'विष्णुराज' नरेश वहाँ के अधिपति थे । उनकी रानी का नाम भी 'विष्णु' था । देवलोक से नलिनिगुल्म मुनि का जीव अपना उत्कृष्ट आयु पूर्ण कर के विष्णुदेवी की कुक्षि में उत्पन्न हुआ । विष्णुदेवी ने चौदह महा स्वप्न देखे। भाद्रपद-कृष्णा द्वादशी को 'श्रवण' नक्षत्र मे पुत्र का जन्म हुआ । श्रेयस्कारी प्रभाव के कारण माता-पिता ने 'श्रेयास' नाम दिया । यौवनवय में राजकुमारिया के साथ लग्न किये । २१००००० वर्ष तक कुमार-पद पर रह कर, पिता द्वारा प्रदत्त राज्य के अधिकारी हुए । ४२००००० वर्षो तक राज किया। इसके बाद विरक्त हो कर वर्षीदान दिया और फाल्गुन-कृष्णा १३ के दिन श्रवण-नक्षत्र में, बेले के तप के साथ प्रव्रज्या स्वीकार की । प्रभु का प्रथम पारणा सिद्धार्थ नगर के नन्द राजा के यहाँ परमान्न से हुआ। पाँच दिव्य प्रकट हुए ।

भ श्रेयासनाथजी दीक्षा लेने के दो माह तक छद्मस्थ अवस्था में विचरे । फिर वे सहस्राम्र वन में पधारे । वहाँ वृक्ष के नीचे ध्यानस्थ रहे हुए और शुक्ल ध्यान के दूसरे चरण के अन्त मे वर्द्धमान परिणाम मे रहे हुए प्रभु ने मोहनीय कर्म को समूल नष्ट कर दिया। उसके बाद एक साथ ही ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म को नष्ट किया । इन चारो घाती-कर्मों को नष्ट कर के माघ कृष्णा अमावस्या के दिन, चन्द्र के श्रवण-नक्षत्र मे आने पर, बेले के तप के साथ प्रभु को केवल-ज्ञान और केवल दर्शन की प्राप्ति हुई । वे सर्वज्ञ-सर्वदर्शी हो गए । इन्द्रादि देवो ने प्रभु का केवल महोत्सव किया।

धर्मदेशना

निर्जरा भावना

भगवान् ने अपनी देशना मे फरमाया कि -

"स्वयभूरमण समुद्र" सब से बडा है किन्तु ससार-समुद्र तो उससे भी अधिक बडा है । इसमें

कर्म रूपी उर्मियों के कारण जीव कभी ऊँचा उठ जाता है, तो कभी नीचे गिर जाता है और कभी तिरछा चला जाता है । कभी देव बन जाता है, कभी नारक और कभी निगोद का क्षुद्रतम प्राणी । इस प्रकार कर्म से प्रेरित जीव, विविध अवस्थाओं मे परिवर्तित होता रहता है । जिस प्रकार वायु से स्वेद-बिन्दु तथा औषधि से रस झर जाता है, उसी प्रकार निर्जरा के बल से, ससार समुद्र में डूबने के कारणभूत आठो कर्म झर जाते हैं – आत्मा से विलग हो जाते हैं । जिनमें ससार रूपी महावृक्ष के बीज भरे हुए हैं, ऐसे कर्मों का जिस शक्ति के द्वारा पृथक्करण होता है, उसे 'निर्जरा' कहते हैं ।

निर्जरा के 'सकाम' और 'अकाम' ऐसे दो भेद हैं । जो यम-नियम के धारक हैं, उन्हें सकाम निर्जरा होती है और अन्य प्राणियों को अकाम-निर्जरा होती है । फल के समान कर्मों की परिपक्वता अपने-आप भी होती है और प्रयत्न विशेष से भी होती है । जिस प्रकार दूषित स्वर्ण, अग्नि के द्वारा शुद्ध किया जाता है, उसी प्रकार तप रूपी अग्नि से आत्मा के दोष दूर हो कर शुद्धि हो जाती है । यह तप दो प्रकार का है – १ बाह्य और २ आभ्यन्तर ।

बाह्य तप – १ अनशन २ ऊनोदरी ३ वृत्ति-सक्षेप ४ रस-त्याग ५ काय-क्लेश और ६ सलीनता । बाह्य तप के ये छह प्रकार हैं ।

आभ्यन्तर तप के छह भेद इस प्रकार हैं – १ प्रायश्चित्त २ विनय ३ वैयावृत्य ४ स्वाध्याय ५ शुभध्यान और ६ व्युत्सर्ग ।

बाह्य और आभ्यन्तर तप रूपी अग्नि को प्रज्वलित कर के व्रतधारी पुरुष, अपने दुर्जर कर्मों को भी जला कर भस्म कर देता है ।

जिस प्रकार किसी सरोवर के, पानी आने के सभी द्वार बन्द कर देने से उसमें बाहर से पानी नहीं आ सकता उसी प्रकार सवर से युक्त आत्मा के आस्रव द्वार बन्द होने पर नये कर्म का योग नहीं हो सकता । जिस प्रकार सूर्य के प्रचण्ड ताप से सरोवर में रहा हुआ पानी सूख जाता है उसी प्रकार आत्मा के पूर्व बधे हुए कर्म, तपश्चर्या के ताप से तत्काल क्षय हो जाते हैं । बाह्य-तप से आभ्यन्तर तप श्रेष्ठ होता है । इससे निर्जरा विशेष होती है । मुनिजन कहते हैं कि आभ्यन्तर तप में भी ध्यान का राज्य तो एक छत्र रहा हुआ है । ध्यानस्थ रहे हुए योगियो के चिरकाल से उपार्जन किये हुए प्रबल कर्म, तत्काल निर्जरीभूत हो जाते हैं । जिस प्रकार शरीर में बढा हुआ दोष, लघन करने से नष्ट होता है, उसी प्रकार तप करने से पूर्व के सचित किये हुए कर्म क्षय हो जाते हैं ।

जिस प्रकार प्रचण्ड पवन के वेग से बादलों का समूह छिन्न-भिन्न हो जाता है, उसी प्रकार तपश्चर्या से कर्म-समूह विनष्ट हो जाता है । जब सवर और निर्जरा प्रतिक्षण शक्ति के साथ उत्कर्ष को प्राप्त होते हैं तब ये अवश्य ही मोक्ष की स्थिति उत्पन्न कर देते हैं ।

बाह्य और आभ्यन्तर ऐसे दोनों प्रकार की तपस्या से कर्मों को जलाने वाला प्रव्रजित पुरुष, सभी कर्मों से मुक्त हो कर मोक्ष के परम उत्कृष्ट एव शाश्वत सुख को प्राप्त करता है ।

"ससारबीजभूताना, कर्मणा जरणादिह ।
निर्जरा सा स्मृता द्वेधा, सकामा कामवर्जिता ॥ १ ॥
ज्ञेया सकामा यमिनामकामा त्वन्यदेहिना ।
कर्मणा फलवत्पाको, यदुपायात्स्वतोऽपि च ॥ २ ॥
सदोषमपि दीप्तेन, सुवर्ण वह्निना यथा ।
तपोग्निना तप्यमानस्तथा जीवो विशुध्यति ॥ ३ ॥
अनशनमौनोदर्य वृते सक्षेपण तथा ।
रसत्यागस्तनुक्लेशो, लीनतेति बहिस्तप ॥ ४ ॥
प्रायश्चित्त वैयावृत्य, स्वाध्यायो विनयोऽपि च ।
व्युत्सर्गोऽथ शुभ ध्यान, षोढेत्याभ्यतर तप ॥ ५ ॥
दीप्यमाने तपोवह्नौ, बाह्ये वाभ्यतरेपि च ।
यमी जरति कर्माणि, दुर्जराण्यपि तत्क्षणात् ॥ ६ ॥

साधारणतया जहाँ सवर है वहाँ सकाम-निर्जरा होती रहती है किन्तु तप द्वारा की हुई निर्जरा विशेप रूप से होती है । उससे आत्मा की शुद्धि शीघ्रतापूर्वक होती है ।

त्रिपृष्ठ वासुदेव चरित्र

महाविदेह क्षेत्र मे 'पुडरिकिनी' नगरी थी । सुबल नाम का राजा वहाँ राज करता था । उसने वैराग्य प्राप्त कर 'मुनिवृषभ' नाम के आचार्य के पास दीक्षा ग्रहण की और सयम तथा तप का अप्रमत्तपने उत्कृष्ट रूप से पालन करते हुए काल कर के अनुत्तर विमान में देव रूप में उत्पन्न हुए ।

भरत-क्षेत्र के राजगृह नगर में 'विश्वनन्दी' नाम का राजा था । उसकी 'प्रियगु' नाम की पत्नी से 'विशाखनन्दी' नाम का पुत्र हुआ । विश्वनन्दी राजा के 'विशाखभूति' नाम का छोटा भाई था । वह 'युवराज' पद का धारक था । वह बडा बुद्धिमान्, बलवान् नीतिवान् और न्यायी था, साथ ही विनीत भी । विशाखभूति की 'धारिणी' नाम की रानी थी उदर से, मरीचि का जीव (जो प्रथम चक्रवर्ती महाराजा भरतेश्वर का पुत्र था और भ आदिनाथ के पास से निकल कर पृथक् पथ चला रहा था) पुत्रपने उत्पन्न हुआ । उसका नाम 'विश्वभूति' रखा गया । वह सभी कलाओं में प्रवीण हुआ । यौवन-वय आने पर अनेक सुन्दर कुमारियो के साथ उसका लग्न किया गया । वहाँ 'पुष्प करडक' नाम का उद्यान बडा सुन्दर और रमणीय था । उस नगरी में सर्वोत्तम उद्यान यही था । राजकुमार विश्वभूति अपनी स्त्रियों के साथ उसी उद्यान मे रह कर विषय-सुख में लीन रहने लगा ।

एक बार महाराज विश्वनन्दी के पुत्र राजकुमार विशाखनन्दी के मन मे, इस पुष्पकरडक उद्यान

में अपनी रानियो के साथ रह कर क्रीडा करने की इच्छा हुई । किन्तु उस उद्यान में तो पहले से ही विश्वभूति जमा हुआ था । इसलिए विशाखनन्दी वहाँ जा ही नहीं सकता था । वह मन मार कर रह गया । एक बार महारानी की दासियाँ उस उद्यान मे फूल लेने गई । उन्होने विश्वभूति और उसकी रानियों को उन्मुक्त क्रीडा करते देखा । उनके मन मे डाह उत्पन्न हुई । उन्होउने महारानी से कहा -

"महारानीजी ! इस समय वास्तविक राजकुमार तो मात्र विश्वभूति ही है । यही सर्वोत्तम ऐस पुष्पकरण्डक उद्यान का उपभोग कर रहा है और अपने राजकुमार तो उससे वंचित रह कर मामूली जगह रहते हैं । यह हमें तो बहुत बुरा लगता है । महाराजाधिराज एव राजमहिषी का पाटवी कुमार साधारण ढग से रहे और छोटा भाई का लडका राजाधिराज के समान सुख-भोग करे, यह कितनी बुरी बात है ?"

महारानी को बात लग गई । उनके मन में भी द्वेष की चिनगारी पैठ गई और सुलगने लगी । महाराज अन्त पुर में आये । रानी को उदास देख कर पूछा । राजा ने रानी को समझाया - "प्रिये ! यह ऐसा बात नहीं है जिससे मन मैला किया जाय । कुछ दिन विश्वभूति रहले, फिर वह अपने आप वहा से हट कर भवन में आयगा और विशाखनन्दी वहाँ चला जायेगा । छोटी-सी बात मे कलह उत्पन्न करना उचित नहीं है ।" किन्तु रानी को सतोष नहीं हुआ । अन्त में महाराजा ने रानी की मनोकामना पूर्ण करने का आश्वासन दिया, तब सतोष हुआ ।

राजा ने एक चाल चली । उसने युद्ध की तय्यारियाँ प्रारम्भ की । सर्वत्र हलचल मच गई । यह समाचार विश्वभूति तक पहुँचा, तो वह तुरन्त महाराज के पास आया और महाराज से युद्ध की तैयारियों का कारण पूछा । महाराजा ने कहा, -

"वत्स ! अपना सामन्त पुरुषसिंह विद्रोही बन गया है । वह उपद्रव मचा कर राज्य को छिन्न-भिन्न करना चाहता है । उसे अनुशासन में रखने के लिये युद्ध आवश्यक हो गया है ।"

"पूज्यवर ! इसके लिए स्वय आपका पधारना आवश्यक नहीं है । मैं स्वय जा कर उसके विद्रोह को दबा दूँगा और उसकी उद्दडता का दण्ड दे कर सीधा कर दूँगा । आप मुझे आज्ञा दीजिए ।"

राजा यही चाहता था । विश्वभूति सेना ले कर चल दिया । उसकी पत्नियाँ उद्यान में से राज भवन में आ गई । विश्वभूति की सेना उस सामत की सीमा में पहुँची तो वह स्वय स्वागत के लिये आया और उसने कुमार का खूब आदर-सत्कार किया । कुमार ने देखा कि यहाँ तो उपद्रव का चिह्न भी नहीं है । सामन्त पूर्ण रूप से आनाकारी है । उसके विरुद्ध युद्ध करने का कोई कारण नहीं है । कदाचित् किसी ने असत्य समाचार दिये होंगे । वह सेना ले कर लौट आया और उसी पुष्पकरडक उद्यान में गया । उद्यान में प्रवेश करते उसे पहरेदार ने रोका और कहा - "यहाँ राजकुमार विशाखनन्दी अपनी रानियों के साथ रहते हैं । अतएव आपका उद्यान में पधारना उचित नहीं होगा ।"

अब विश्वभूति समझा । उसने सोचा कि 'मुझे उद्यान में से हटाने के लिए ही युद्ध का धम

चली गई ।' उसे क्रोध आया । अपने उग्र क्रोध के वश हो कर निकट ही रहे हुए एक फलों से लदे हुए सुदृढ वृक्ष पर मुक्का मारा । मुष्ठि प्रहार से उसके फल टूट कर गिर पड़े और पृथ्वी पर ढेर लग गया। फलो के उस ढेर की ओर सकेत करते हुए विश्वभूति ने द्वारपाल से कहा,-

"यदि पूज्यवर्ग की आशातना का विचार मेरे मन मे नहीं होता, तो मैं अभी तुम सब के मस्तक इन फलो के समान क्षण-मात्र मे नीचे गिरा देता ।"

"धिक्कार है इस भोग-लालसा को । इसी के कारण-कूड-कपट और ठगाई होती है । इसी के कारण पिता-पुत्र, भाई-भाई और अपने आत्मीय से छल-प्रपञ्च किये जाते हैं । मुझे पापो की खान ऐसे कामभोग को ही लात मार कर निकल जाना चाहिए" - इस प्रकार निश्चय कर के विश्वभूति वहाँ से चला गया और सभूति नाम के मुनि के पास पहुँच कर साधु बन गया । जब य समाचार महाराज विश्वनन्दी ने सुने, तो वे अपने समस्त परिवार और अन्त पुर के साथ विश्वभूति के पास आये और कहने लगे;-

"वत्स ! तेने यह क्या कर लिया ? अरे, तू सदैव हमारी आज्ञा मे चलने वाला रहा, फिर बिना हमको पूछे यह दु साहस क्यो किया ?"

महाराज ने आगे कहा - "पुत्र ! मुझे तुझ पर पूरा विश्वास था । मैं तुझे अपना कुलदीपक और भविष्य मे राज्य की धुरा को धारण करने वाला पराक्रमी पुरुष के रूप में देख रहा था । किन्तु तूने यह साहस कर के हमारी आशा को नष्ट कर दिया । अब भी समझ और साधुता को छोड कर हमारे साथ चल । हम सब तेरी इच्छा का आदर करेंगे । पुष्पकरण्डक उद्यान सदा तेरे लिए ही रहेगा । छोड़ दे इस हठ को और शीघ्र ही हमारे साथ हो जा ।"

राजा, अपने माता-पिता, पत्नियाँ और समस्त परिवार के आग्रह और स्नेह तथा करुणापूर्ण अनुरोध की उपेक्षा करते हुए मुनि विश्वभूतिजी ने कहा,-

"अब मैं ससार के बन्धनों को तोड चुका हूँ । काम-भोग की ओर मेरी बिलकुल रुचि नहीं रही । जिस काम-भोग का मैं सुख का सागर मानता था और ससार के प्राणी भी यही मान रहे हैं, वास्तव में वे दु ख की खान रूप है । स्नेही-सम्बन्धी अपने मोहपाश में बाँध कर ससार रूपी कारागृह का बन्दी बनाये रखते हैं और मोही जीव अपनी मोहजाल का विस्तार करता हुआ उसी में उलझ जाता है । मैं अनायास ही इस मोह-जाल को नष्ट कर के स्वतन्त्र हो चुका हूँ । यह मेरे लिए आनन्द का मार्ग है । अब आप लोग मुझे ससार में नहीं ले जा सकते । मैं तो अब विशुद्ध सयम और उत्कृष्ट तप की आराधना करूँगा । यही मेरे लिए परम श्रेयकारी है ।"

मुनिराज श्री विश्वभूतिजी का ऐसा दृढ निश्चय जान कर परिवार के लाग हताश हो गए और लौट कर चले गये । मुनिराज अपने तप-सयम में मग्न हो कर अन्यत्र विचरने लगे ।

मुनिराज ने ज्ञानाभ्यास के साथ बेला-तेला आदि तपस्या करते हुए बहुत वर्ष व्यतीत किये । इसके

बाद गुरु की आज्ञा ले कर उन्होंने 'एकल-विहार प्रतिमा' धारण की और विविध प्रकार के अभिग्रह धारण करते हुए वे मथुरा नगरी के निकट आये। उस समय मथुरा नगरी के राजा की पुत्री के लग्न हो रहे थे। विशाखनन्दी बरात ले कर आया था और नगर के बाहर विशाल छावनी में बरात ठहरी थी। मुनिराजश्री विश्वभूतिजी, मासखमण के पारणे के लिए नगर की ओर चले। वे बरात की छावनी के निकट हो कर जा रहे थे कि बरात के लोगों ने मुनिश्री को पहिचान लिया और एक दूसर से कहने लगे - "ये विश्वभूति कुमार हैं।" यह सुन कर विशाखनन्दी भी उनके पास आया। उसके मन में पूर्व का द्वेष शेष था। उसी समय मुनिश्री के पास हो कर एक गाय निकली। उसके धक्के से मुनिराज गिर पडे। उनके गिरने पर विशाखनन्दी हँसा और व्यंगपूर्वक बोला -"वृक्ष पर मुक्का मारकर फल गिराने और उसी प्रकार क्षणभर में योद्धाओं के मस्तक गिरा कर ढेर करने की अभिमानपूर्ण बातें करने वाले महाबली ! कहाँ गया तेरा वह बल जो गाय की मामूली-सी टक्कर भी सहन नहीं कर सका और पृथ्वी पर गिर कर धूल चाटने लगा ? वहा रे महाबली !"

तपस्वी मुनिजी, उसके मर्मान्तक व्यंग को सहन नहीं कर सके। उनकी आत्मा मे सुप्तरूप से रहा हुआ क्रोध भडक उठा। उन्होंने उसी समय उस गाय के दोनों सींग पकड कर उसे उठा ली और घास के पुले के समान चारों ओर घुमा कर रख दी। इसके बाद वे मन में विचार करने लगे कि "यह विशाखनन्दी कितना दुष्ट है। मैं मुनि हो गया। अब इसके स्वार्थ में मेरी ओर से कोई बाधा नहीं रही, फिर भी यह मेरे प्रति द्वेष रखता है और शत्रु के समान व्यवहार करता है।" इस प्रकार कषाय भाव में रमते हुए उन्होंने निदान किया कि -

"मेरे तप के प्रभाव से आगामी भव में मैं महान् पराक्रमी बनूँ।"

इस प्रकार निदान कर के और उसकी शुद्धि किये बिना ही काल कर के वे महाशुक्र नाम के सातवें स्वर्ग में महान् प्रभावशाली एवं उत्कृष्ट स्थिति वाले देव बने।

दक्षिण-भरत में पोतनपुर नाम का एक नगर था। 'रिपुप्रतिशत्रु' नामक नरेश वहाँ के शासक थे। वे न्याय नीति बल पराक्रम रूप और ऐश्वर्य से सम्पन्न और शोभायमान थे। उनकी अग्रमहिषी का नाम भद्रा था। वह पतिभक्ता शीलवती और सद्गुणों की पात्र थी। वह सुखमय शय्या मे सो रही थी। उस समय 'सुबल' मुनि का जीव अनुत्तर विमान से च्यव कर महारानी की कुक्षि में आया। महारानी ने हस्ति वृषभ चन्द्र और पूर्ण सरोवर ऐसे चार महास्वप्न देखे। गर्भकाल पूर्ण होने पर पुत्र का जन्म हुआ। जन्मोत्सवपूर्वक पुत्र का नाम 'अचल' रखा। कुछ काल के बाद भद्रा महारानी ने एक सुन्दर कन्या को जन्म दिया। वह कन्या मृग के बच्चे के समान आँखों वाली थी इसलिए उसका 'मृगावती' नाम रखा गया। वह चन्द्रमुखी यौवनावस्था में आई तब सर्वांग सुन्दरी दिखाई देने लगी। उसका एक-एक अंग सुगठित और आकर्षक था। यह देख कर उसकी माता महारानी भद्रावती को उसके योग्य वर खोजने की चिन्ता हुई। उसने सोचा - "महाराज का ध्यान अभी पुत्री के लिए वर खोजने

की ओर नहीं गया है ।" राजकुमारी यदि पिताश्री के सामने चली जाय, तो उन्हें भी वर के लिए चिन्ता होगी ।" इस प्रकार सोच कर उसने राजकुमारी को महाराजा के पास भेजी । दूर से एक अपूर्व सुन्दरी को आते देख कर राजा मोहाभिभूत हो गया । उसने सोचा – "यह तो कोई स्वर्ग लोक की अप्सरा है । कामदेव के अमोघ शस्त्र रूप में यह अवतरी है । पृथ्वी और स्वर्ग का राज्य मिलना सुलभ है, किन्तु इन्द्रानी को भी पराजित करने वाली ऐसी अपूर्व सुन्दरी प्राप्त होना दुर्लभ है । मैं महान् भाग्यशाली हूँ जो मुझे ऐसा अलौकिक स्त्री-रत्न प्राप्त हुआ है ।"

राजा इस प्रकार सोच ही रहा था कि राजकुमारी ने पिता को प्रणाम किया । राजा ने उसे अपने निकट बिठाई और उसका आलिगन और चुम्बन कर के साथ म रहे हुए वृद्ध कचुकी के साथ पुन अन्त पुर मे भेज दी । राजा उस पर मोहित हो चुका था । वह यह तो समझता ही था कि पुत्री पर पिता की कुबुद्धि होना महान् दुष्कृत्य है । यदि मैं अपनी दुर्वासना को पूरी करूँगा, तो ससार मे मेरी महान् निन्दा होगी । वह न तो अपनी वासना के वेग को दबा सकता था और न लोकापवाद की ही उपेक्षा कर सकता था । उसने बहुत सोच-विचार कर एक मार्ग निकाला ।

राजा ने एक दिन राजसभा बुलाई । मत्री-मण्डल के अतिरिक्त प्रजा के प्रमुख व्यक्तियो को भी बुलाया । सभी के सामने उसने अपना यह प्रश्न उपस्थित किया,–

"मेरे इस राज मे, नगर में गाँव में घर में या किसी भी स्थान पर कोई रत्न उत्पन्न हो, तो उस पर किसका अधिकार होना चाहिए ?"

–"महाराज ! आपके राज में जो रत्न उत्पन्न हो, उसके स्वामी तो आप ही हैं, दूसरा कोई भी नहीं" – मण्डल और उपस्थित सभी सभाजना ने एक मत से उत्तर दिया ।

"आप पूरी तरह सोच लें और फिर अपना मत बतलावें यदि किसी का भिन्न मत हो तो वह भी स्पष्ट बता सकता है" – स्पष्टता करते हुए राजा ने फिर पूछा । सभाजना ने पुन अपना मत दुहराया। राजा ने फिर तीसरी बार पूछा,–

– "तो आप सभी का एक ही मत है कि – "मेरे राज नगर गाँव या घर म उत्पन्न किसी भी रत्न का एकमात्र मैं ही स्वामी हूँ । दूसरा कोई भी उसका अधिकारी नहीं हा सकता ।"

– "हाँ महाराज ! हम सभी एक मत हैं । इस निश्चय मे किसी का भी मतभेद नहीं है" – सभा का अन्तिम उत्तर था ।

इस प्रकार सभा का मत प्राप्त कर राजा ने सभा के समक्ष कहा;–

"राजकुमारी मृगावती इस ससार मे एक अद्वितीय 'स्त्री-रत्न' है । उसके समान सुन्दरी इस विश्व में दूसरी कोई भी नहीं है । आप सभी ने इस रत्न पर मेरा अधिकार माना है । इस सभा के निर्णय के अनुसार मृगावती के साथ मैं लग्न करूँगा ।"

राजा के ऐसे उद्गार सुन कर सभाजन अवाक् रह गए । उन्हें लज्जा का अनुभव हुआ । वे सभी अपने अपने घर चले गए । राजा ने मायाचारिता से अपनी इच्छा के अनुसार निर्णय करवा कर अपनी ही पुत्री मृगावती के साथ गन्धर्व-विवाह कर लिया । राजा के इस प्रकार के अकृत्य से लोगों ने उसका

दूसरा नाम 'प्रजापति' रख दिया । राजा के इस दुष्कृत्य से महारानी भद्रा बहुत ही दु खी हुइ । वह अपने पुत्र 'अचल' को ले कर दक्षिण देश म चली गई । अचलकुमार ने दक्षिण मे अपनी माता के लिए 'माहेश्वरी' नामकी नगरी बसाई । उस नगरी को धन-धान्यादि से परिपूर्ण और योग्य अधिकारियों के सरक्षण में छोड कर राजकुमार अचल, पोतनपुर नगर में अपने पिता की सेवा में आ गया।

राजा ने अपनी पुत्री मृगावती के साथ लग्न कर के उसे पटरानी के पद पर प्रतिष्ठित कर दी और उसके साथ भोग भोगने लगा । कालान्तर मे विश्वभूति मुनि का जीव, महाशुक्र देवलोक से च्यव कर मृगावती की कुक्षि म आया । पिछली रात को मृगावती देवी ने सात महास्वप्न देखे । यथा - १ केसरीसिह २ लक्ष्मीदेवी ३ सूर्य ४ कुभ ५ समुद्र ६ रत्नो का ढेर और ७ निर्धूम अग्नि । इन सातों स्वप्नों कफल का निर्णय करते हुए स्वप्न पाठको ने कहा - 'देवी के गर्भ में एक ऐसा जीव आया है, जो भविष्य में 'वासुदेव' पद को धारण कर के तीन खण्ड का स्वामी - अर्द्ध चक्री होगा ☐ ।" यथा समय पुत्र का जन्म हुआ । बालक की पीठ पर तीन बाँस का चिह्न देख कर 'त्रिपृष्ट' नाम दिया । बालक दिन-प्रतिदिन बढने लगा । बडे भाई 'अचल' के ऊपर उसका स्नेह अधिक था । वह विशेषकर अचल के साथ ही रहता और खेलता । योग्य वय पा कर कला कौशल म शीघ्र ही निपुण हो गया । युवावस्था में पहुँच कर तो वह अचल के समान - मित्र के समान दिखाई देने लगा । दोनो भाई महान् योद्धा प्रचण्ड पराक्रमी, निर्भीक और वीर शिरोमणि थे । वे दुष्ट एव शत्रु को दमन करने तथा शरणागत का रक्षण करने में तत्पर रहते थे । दोनों बन्धुओ में इतना स्नेह था कि एक के बिना दूसरा रह नहीं सकता था । इस प्रकार दोना का सुखमय काल व्यतीत हो रहा था ।

रत्नपुर नगर में मयुरग्रीव नाम का राजा था । नीलागना उसकी रानी थी । 'अश्वग्रीव' नाम का उसके पुत्र था । वह भी महान् योद्धा और वीर था । उसकी शक्ति भी त्रिपृष्ट कुमार के लगभग मानी जाती थी । उसके पास 'चक्र' जैसा अमोघ एव सर्वोत्तम शस्त्र था । वह युद्धप्रिय और महान् साहसी था । उसने पराक्रम से भरत-क्षेत्र के तीन खण्डों पर विजय प्राप्त कर ली और उन्हे अपने अधिकार में कर लिया । सोलह हजार बडे-बडे राजा, अश्वग्रीव महाराज की आज्ञा में रहने लगे । वह वासुदेव के समान (प्रतिवासुदेव) था । वह एक छत्र साम्राज्य का अधिपति हो गया था ।

अश्वग्रीव का होने वाला शत्रु

एक बार अश्वग्रीव के मन में विकल्प उत्पन्न हुआ कि 'मैं दक्षिण भरत-क्षेत्र का स्वामी हूँ । अब तक मेरी सत्ता को चुनौती देने वाला कोई दिखाई नहीं दिया किन्तु भविष्य में मेरे साम्राज्य के लिए भय उत्पन्न करने वाला भी कोई वीर उत्पन्न हो सकता है क्या ?" इस विचार के उत्पन्न होते ही

☐ वासुदेव जैसे श्लाघनीय पुरुष की उत्पत्ति पिता-पुत्री के एकात निन्दनीय सयोग से हो यह आश्चर्य ही अशोभनीय है और मानने में हिचक होता है । किन्तु कर्म की गति भी विचित्र है ।

उसने अश्वबिन्दु नाम के निष्णात भविष्यवेत्ता को बुलाया और अपना भविष्य बताने के लिए कहा । भविष्यवेत्ता ने विचार कर के कहा - "राजेन्द्र ! जो व्यक्ति आपके चण्डवेग नाम के दूत का पराभव करेगा और पश्चिमी सीमान्त के वन मे रहने वाले सिह को मार डालेगा, वही आपके लिए घातक बनेगा ।" भविष्यवेत्ता का कथन सुन कर राजा के मन को आघात लगा । किन्तु अपना क्षोभ दबाते हुए पडित को पुरस्कार दे कर बिदा किया । उसी समय वनपालक की ओर से एक दूत आया और निवेदन करने लगा;-

"महाराजाधिराज की जय हो । मैं पश्चिम के सीमान्त से आया हूँ । यों तो आपके प्रताप से वहाँ सुख-शाति व्याप रही है, किन्तु वन में एक प्रचण्ड केसरीसिह ने उत्पात मचा रखा है । उस ओर के दूर-दूर तक के क्षेत्र में उनका आतक छाया हुआ है । पशुओ को ही नहीं, वह तो मनुष्यों को भी अपने जबडे में दबा कर ले जाता है । अब तक उसने कई मनुष्यों को मार डाला । लोग भयभीत हैं । बडे-बडे साहसी शिकारी भी उससे डरते हैं । उसकी गर्जना से स्त्रियो के ही नहीं, पशुओ के भी गर्भ गिर जाते जाते हैं । लोग घर-बार छोड कर नगर की ओर भाग रहे हैं । इस दुर्दान्त वनराज का अन्त करने के लिए शीघ्र ही कुछ व्यवस्था होनी चाहिए । मैं यही प्रार्थना करने के लिए सेवा में उपस्थित हुआ हू ।"

राजा ने दूत को आश्वासन दे कर बिदा किया और स्वय उपाय सोचने लगा । उसने विचार किया कि भविष्यवेत्ता के अनुसार शत्रु को पहिचानने का यह प्रथम निमित्त उपस्थित हुआ है । उसने उस प्रदेश की सिह से रक्षा करने के लिए अपने सामन्त राजाओ को आज्ञा दी । वे क्रमानुसार आज्ञा का पालन करने के लिए जाने लगे ।

राजा के मन मे खटका तो था ही । उसने एक दिन अपनी सभा से यह प्रश्न किया;-

"साम्राज्य के सामन्त, राजा, सेनापतियो और वीरो मे कोई असाधारण शक्तिशाली, परम पराक्रमी, महाबाहु युवक कुमार आपके देखने मे आया है ?"

राजा के प्रश्न के उत्तर में मन्त्रियो, सामन्ता और अन्य अधिकारियों ने कहा -

"नरेन्द्र ! आपकी तुलना में ऐसा एक भी मनुष्य नहीं है । आज तक ऐसा कोई देखने में नहीं आया और अब होने की सम्भावना भी नहीं है ।"

राजा ने कहा;-

"आपका कथन मिष्टभाषीपन का है, वास्तविक नहीं । ससार में एक से बढ़ कर दूसरा बलवान् होता ही है । यह बहुरत्ना वसुन्धरा है । कोई न कोई महाबाहु होगा ही ।"

राजा की बात सुन कर एक मन्त्री गम्भीरतापूर्वक बोला;-

"राजेन्द्र ! पोतनपुर के नरेश 'रिपुप्रतिशत्रु' अपर नाम 'प्रजापति' के देवकुमार के समान दो पुत्र हैं । वे अपने सामने अन्य सभी मनुष्यो को घास के तिनके के समान गिनते हैं ।"

तब त्रिपृष्ठकुमार ने उन्हे रोकते हुए कहा - "हे आर्य ! यह अवसर मुझे लेने दीजिए । आप यहा ठहरें और देखें । फिर वे रथ से नीचे उतरे । उन्होने सोचा -" सिह के पास तो कोई शस्त्र नहीं है इस नि शस्त्र के साथ शस्त्र से युद्ध करना उचित नहीं ।" यह सोच कर उन्होने भी अपने शस्त्र रख दिये और सिह को ललकारते हुए बोले - हे वनराज ! यहाँ आ ! मैं तेरी युद्ध की प्यास बुझाता हू । इस गम्भीर घोष को सुनते ही सिह ने भी उत्तर में गर्जना की और रोषपूर्वक उछला । वह पहले तो आकाश में ऊँचा गया और फिर राजकुमार पर मुँह फाड कर उतरा । त्रिपृष्ठकुमार सावधान ही थे । वे उसका उछलना और अपने पर उतरना देख रहे थे । अपने पर आते देख कर उन्होने अपने दोनों हाथ ऊपर उठाये और ऊपर आते हुए सिह के ऊपर -नीचे के दोना ओष्ठ दृढतापूर्वक पकड लिये और एक झटके मे ही कपडे की तरह चीर कर दो टुकडे कर के फक दिया । सिह का मरना जान कर लोगों ने हर्षनाद और कुमार का जयजयकार किया । विद्याधरो और व्यन्तर देवा ने पुष्प-वृष्टि की । उधर सिह के दोनो टुकडे तडप रहे थे, अभी प्राण निकले नहीं थे । वह शोकपूर्वक सोच रहा था कि -

"शस्त्र एव कवचधारी और सैकड़ों सुभटों से घिरे हुए अनेक राजा भी मेरा कुछ नहीं बिगाड़ सके । वे मुझसे भयभीत रहते थे और इस छोकरे ने मुझे चीर डाला, यही मेरे लिए महान् खेद की बात है ।"इस मानसिक दु ख से वह तडप रहा था । उसका यह खेद समझ कर रथ के सारथी ने कहा-

"वनराज ! तू चिन्ता मत कर । तू किसी कायर की तरह नहीं मरा । तुझे मारने वाला कोई सामान्य पुरुष नहीं है, किन्तु इस अवसर्पिणी काल के होने वाले प्रथम वासुदेव हैं ।"

सारथी के वचन सुन कर सिह निश्चिंत हो कर मरा और नरक में गया । मृत सिह का चर्म उतरवा कर त्रिपृष्ठकुमार ने अश्वग्रीव के पास भेजते हुए दूत से कहा - "इस पशु से डरे हुए अश्वग्रीव को, उसके वध का सूचक यह सिह-चर्म देना और कहना कि -

"आपकी स्वादिष्ट भोजन की इच्छा को तृप्त करने के लिए, शालि के खेत सुरक्षित हैं । आप खूब जी भर कर भोजन करें ।"

इस प्रकार सिह उपद्रव को मिटा कर दोनो राजकुमार अपने नगर में लौट आए । दोनों न पिता को प्रणाम किया । प्रजापति दोनों पुत्रों को पा कर बडा ही प्रसन्न हुआ और बोला-"मैं तो यह मानता हूँ कि इन दोनों का यह पुनर्जन्म हुआ है ।"

अश्वग्रीव ने जब सिह की खाल और राजकुमार त्रिपृष्ठ का सन्देश सुना तो उसे वज्रपात जैसा लगा ।

त्रिपृष्ठकुमार के लग्न

वैताढ्य पर्वत की दक्षिण श्रेणि में 'रथनूपुर चक्रवाल' नाम की अनुपम नगरी थी । विद्याधरराज 'ज्वलनजटी' वहाँ का प्रबल पराक्रमी नरेश था । उसकी अग्रमहिषी का नाम 'वायुवेगा' था । इसकी कुक्षि से सूर्य के स्वप्न से पुत्र उत्पन्न हुआ उसका नाम 'अर्ककीर्ति' था । कालान्तर में, अपनी प्रभा से सभी दिशाओं को उज्ज्वल करने वाली चन्द्रलेखा को स्वप्न में देखने के बाद पुत्री का जन्म हुआ।

उसका नाम 'स्वयप्रभा' दिया गया । अर्ककीर्ति, युवावस्था मे बडा वीर यौद्धा बन गया । राजा ने उसे युवराज पद पर स्थापित किया । स्वयप्रभा भी युवावस्था पा कर अनुपम सुन्दरी हो गई । उसका प्रत्येक अग सुगठित, आकर्षक एव मनोहर था । वह अपने समय की अनुपम सुन्दरी थी । उसके समान दूसरी सुन्दरी युवती कहीं भी दिखाई नहीं देती थी । लोग कहते थे कि 'इतनी सुन्दर स्त्री तो देवागना भी नहीं है ।'

एक बार 'अभिनन्दन' और 'गजनन्द' नाम के दो 'चारणमुनि' ▲ उस नगर के बाहर उतरे । स्वयप्रभा बडी प्रभावित हुई । उसे दृढ सम्यक्त्व प्राप्त हुआ और धर्म के रग मे रग गई । एक बार वह राजा को प्रणाम करने गई । पुत्री के विकसित अगो को देख कर राजा को चिता हुई । उसने अपने मन्त्रियो को पुत्री के योग्य वर के विषय में पूछा ।

सुश्रुत नामक मन्त्री ने कहा - "महाराज ! इस समय तो महाराजाधिराज अश्वग्रीव ही सर्वोपरि हैं । वे अनुपम सुन्दर, अनुपम वीर और विद्याधरो के इन्द्र समान हैं । उनसे बढ कर कोई योग्य वर नहीं हो सकता ।"

"नहीं महाराज ! अश्वग्रीव तो अब गत-यौवन हो गया है । ऐसा प्रौढ व्यक्ति राजकुमारी के योग्य नहीं हो सकता । उत्तर श्रेणि के विद्याधरो मे ऐसे अनेक युवक नरेश या राजकुमार मिल सकते हैं, जो भुजबल, पराक्रम एव सभी प्रकार की योग्यता से परिपूर्ण हैं । उन्हीं में से किसी को चुनना ठीक होगा"- बहुश्रुत मन्त्री ने कहा,-

"महाराज ! इन महानुभावों का कहना भी ठीक है, किन्तु मेरा तो निवेदन है कि उत्तर श्रेणि की प्रभकरा नगरी के पराक्रमी महाराजा मेघवाहन के सुपुत्र 'विद्युत्प्रभ' सभी दृष्टियो से योग्य एव समर्थ है । उसकी बहिन 'ज्योतिर्माला' भी देवकन्या के समान सुन्दर है । मेरी दृष्टि मे विद्युत्प्रभ और राजकुमारी स्वयप्रभा, तथा युवराज अर्ककीर्ति और ज्योतिर्माला की जोडी अच्छी रहेगी । आप इस पर विचार करें" - सुमति नामक मन्त्री ने कहा ।

"स्वामिन् ! बहुत सोच समझ कर काम करना है" - मन्त्री श्रुतसागर कहने लगा - "लक्ष्मी के समान परमोत्तम स्त्री-रत्न की इच्छा कौन नहींकरता ? यदि राजकुमारी किसी एक को दी गई, तो दूसरे क्रुद्ध हो कर कहीं उपद्रव खडा नहीं कर दे । इसलिए स्वयवर करना सब से ठीक होगा । इसमें राजकुमारी की इच्छा पर ही वर चुनने की बात रहेगी और आप पर कोई क्रुद्ध नहीं हो सकेगा ।"

इस प्रकार राजा ने मन्त्रियो का मत जान कर सभा विसर्जित की और मभिन्नश्रोत नाम के भविष्यवेत्ता को बुला कर पूछा । भविष्यवेत्ता ने सोच-विचार कर कहा -

"महाराज ! तीर्थंकर भगवतो के वचनानुसार यह समय प्रथम वासुदेव के अस्तित्व को बता रहा है । मेरे विचार से अश्वग्रीव की चढती के दिन बीत चुके हैं । उसके जीवन को समाप्त कर, वासुदेव

▲-आकाश में विचरने वाले ।

पद पाने वाले परम वीर पुरुष उत्पन्न हो चुके हैं । मैं समझता हूँ कि प्रजापति के कनिष्ठपुत्र त्रिपृष्ठ कुमार जिन्होंने महान् क्रुद्ध एव बलिष्ठ केसरीसिंह को कपडे के समान चीर कर फाड दिया और राजकुमारी के लिए सर्वथा योग्य हैं । उसके समान और कोई नहीं है ।"

राजा ने भविष्यवेत्ता का कथन सहर्ष स्वीकार किया और विश्वस्त दूत को प्रजापति के पास सन्देश ले कर भेजा । राजदूत ने प्रजापति से सम्बन्ध की बात कही और भविष्यवेत्ता द्वारा त्रिपृष्ठकुमार के वासुदेव होने की बात भी कही । राजा भी पत्नी को गर्भकाल में आये सात स्वप्नों के फल का स्मरण रखता था । उसने ज्वलनजटी विद्याधर का आग्रह स्वीकार कर लिया । जब दूत ने रथनूपुर पहुँच कर स्वीकृति का सन्देश सुनाया, तो ज्वलनजटी बहुत प्रसन्न हुआ । किन्तु वह प्रसन्नता थोडी देर ही रही। उसने सोचा कि - 'इस सम्बन्ध की बात अश्वग्रीव जानेगा, तो उपद्रव खडा होगा ।' अन्त में उसने यही निश्चित किया कि पुत्री को ले कर पोतनपुर जावे और वहीं लग्न कर दे । वह अपने चुने हुए सामन्ता, सरदारों और सैनिकों के साथ कन्या को ले कर चल दिया और पोतनपुर नगर के बाहर पडाव लगा कर ठहर गया । प्रजापति उसका आदर करने के लिए सामने गया और सम्मानपूर्वक नगर में लाया। राजा ने उसके निवास के लिए एक उत्तम स्थान दिया, जिसे विद्याधरा ने एक रमणीय एव सुन्दर नगर बना दिया । इसके बाद विवाहोत्सव प्रारम्भ हुआ और बड़े आडम्बर के साथ लग्नविधि पूर्ण हुई ।

पत्नी की माँग

त्रिखण्ड की अनुपम सुन्दरी विद्याधरपुत्री स्वयप्रभा को सामने ले जा कर त्रिपृष्ठ कुमार से ब्याहने का समाचार सुन कर, अश्वग्रीव आगबबूला हो गया । भविष्यवेत्ता के कथन और सिंह-वध की घटना के निमित्त से उसके हृदय में द्वेष का प्रादुर्भाव तो हो ही गया था । उसने इस सम्बन्ध को अपना अपमान माना और सोचा - "मैं सार्वभौम सत्ताधीश हूँ । ज्वलनजटी मेरे अधीन आज्ञापालक है । मेरी उपेक्षा कर के अपनी पुत्री त्रिपृष्ठ को कैसे ब्याह दी ?" उसने अपने विश्वस्त दूत को बुलाया और समझा बुझा कर ज्वलनजटी के पास पोतनपुर ही भेजा । भवितव्यता उसे विनाश की ओर धकेल रही थी और परिणति, पर-स्त्री की माँग करवा रही थी । विनाशकाल इसी प्रकार निकट आ रहा था । दूत पोतनपुर पहुँचा और ज्वलनजटी के समक्ष आ कर अश्वग्रीव का सन्देश सुनाया और कहा-

"राजन् । आपने अपने ही पैरों पर कुल्हाड़ा मारा है । आपको यह तो सोचना था कि रत्न तो रत्नाकर में ही सुशोभित होता है, डाबरे - खड्डे में उसके लिए स्थान नहीं हो सकता । महाराजाधिराज अश्वग्रीव जैसे महापराक्रमी स्वामी की उपेक्षा एव अवज्ञा कर के आपने अपने विनाश को उपस्थित कर लिया है । अब भी यदि आप अपना हित चाहते हैं, तो स्वयप्रभा को शीघ्र ही महाराजाधिराज के चरणों में उपस्थित कीजिए । दक्षिण लोकार्द्ध के इन्द्र के समान, सम्राट अश्वग्रीव की आज्ञा से मैं आपको सूचना करता हूँ कि इसी समय अपनी पुत्री को ले कर चलें ।"

दूत के कर्ण-कटु वचन सुन कर भी ज्वलनजटी ने शान्ति के साथ कहा-

"कोई भी वस्तु किसी को दे-देने के बाद देने वाले का अधिकार उस वस्तु पर नहीं रहता। फिर कन्या तो एक ही दी जाती है। मैने अपनी पुत्री, त्रिपृष्ठकुमार को दे दी है। अब उसकी माँग करना, किसी प्रकार उचित एव शोभास्पद हो नहीं सकता। मैं ऐसी माँग को स्वीकार भी कैसे कर सकता हूँ ? यह अनहोनी बात है।"

ज्वलनजटी का उत्तर सुन कर, दूत वहाँ से चला गया। वह त्रिपृष्ठकुमार के पास आया और कहने लगा,-

"विश्वविजेता पृथ्वी पर साक्षात् इन्द्र के समान महाराजाधिराज अश्वग्रीव ने आदेश दिया है कि "तुमने अनधिकारी होते हुए, चुपके से स्वयप्रभा नामक अनुपम स्त्री-रत्न को ग्रहण कर लिया। यह तुम्हारी धृष्टता है। मैं तुम्हारा, तुम्हारे पिता का और तुम्हारे बन्धु बान्धवादि का नियन्ता एव स्वामी हूँ। मैने तुम्हारा बहुत दिनो रक्षण किया है। इसलिए इस सुन्दरी को तुम मेरे सम्मुख उपस्थित करो।" आपको इस आज्ञा का पालन करना चाहिए।"

दूत के ऐसे अप्रत्याशित एव क्रोध को भडकाने वाले वचन सुन कर, त्रिपृष्ठकुमार की भृकुटी चढ गई। आँखें लाल हो गई। वे व्यगपूर्वक कहने लगे;-

"दूत ! तेरा स्वामी ऐसा नीतिमान् है ? वह इस प्रकार का न्याय करता है ? लोकनायक कहलाने वाले की कुलीनता इस माँग में स्पष्ट हो रही है। इस पर से लगता है कि तेरे स्वामी ने अनेक स्त्रियों का शील लूट कर भ्रष्ट किया होगा। कुलहीन, न्यायनीति से दूर, लम्पट मनुष्य तो उस बिल्ले के समान है जिसके सामने दूध के कुडे भरे हुए हैं। उनकी रक्षा की आशा कोई भी समझदार नहीं कर सकता। उसका स्वामित्व हम पर तो क्या परन्तु ऐसी दुष्ट नीति से अन्यत्र भी रहना कठिन है। कदाचित् वह अब इस जीवन से भी तृप्त हो गया हो। यदि उसके विनाश का समय आ गया हो, तो वह स्वय, स्वयप्रभा को लेने के लिए यहाँ आवे। बस अब तू शीघ्र ही यहाँ से चला जा। अब तेरा यहाँ ठहरना मैं सहन नहीं कर सकता।"

प्रथम पराजय

दूत सरोष वहा से लौटा। वह शीघ्रता से अश्वग्रीव के पास आया और सारा वृत्तात कह सुनाया। अश्वग्रीव के हृदय में ज्वाला के समान क्रोध भभक उठा। उसने विद्याधरों के अधिनायक से कहा,-

"देखा ! ज्वलनजटी को कैसी दुर्मति उत्पन्न हुई। वह एक कीडे के समान होते हुए भी सूर्य से टक्कर लेने को तय्यार हुआ है। वह मूर्ख शिरोमणि है। उसने न तो अपना हित देखा न अपनी पुत्री का। उसके विनाश का समय आ गया है और प्रजापति भी मूर्ख है। कुलीनता की बडी-बडी बातें करने वाला त्रिपृष्ठ नहीं जानता कि वह बाप-बेटी के भ्रष्टाचार से उत्पन हुआ है। यह त्रिपृष्ठ,

अचल का भाई है, या भानजा (बहिन का पुत्र) ? और अचल, प्रजापति का पुत्र है, या साला ? ये कितने निर्लज्ज हैं ? इन्हे बढ चढ कर बाते करते लज्जा नहीं आती । कदाचित् इनके विनाश के दिन ही आ गये हो ? अतएव तुम सेना ले कर जाओ और उन्हे पद-दलित कर दो ।"

विद्याधर लोग भी ज्वलनजटी पर क्रुद्ध थे वे स्वय भी उससे युद्ध करना चाहते थे । इस उपयुक्त अवसर को पा कर वे प्रसन्न हुए और शस्त्र-सज्ज हो कर प्रस्थान कर दिया । ज्वलनजटी ने शत्रु-सेना को निकट आया जान कर स्वय रणक्षेत्र में उपस्थित हुआ उसने प्रजापति राजकुमार अचल और त्रिपृष्ठ को रोक दिया था । घमासान युद्ध हुआ और अन्त में विद्याधरों की सेना हार कर पीछे हट गई और ज्वलनजटी की विजय हुई ।

मंत्री का सत्परामर्श

अश्वग्रीव इस पराजय को सहन नहीं कर सका । वह विकराल बन गया । उसने अपने सेनापति और सामन्तो को शीघ्र ही युद्ध का डका बजाने की आज्ञा दी । तैयारियाँ होने लगी । एकदम युद्ध की घोषणा सुन कर महामात्य ने अश्वग्रीव से निवेदन किया--

"स्वामिन् ! आप तो सर्व-विजेता सिद्ध हो ही चुके हैं । तीन खड के सभी राजाओं को जीत कर आपने अपने आधीन बना लिया है । इस प्रकार आपके प्रबल प्रभाव से सभी प्रभावित हैं । अब आप स्वय एक छोटे-से राजा पर चढाइ कर के विशेष क्या प्राप्त कर लेंगे ? आपके प्रताप में विशेषता कौन-सी आ जायगी ? यदि उस छोटे राजा का भाग्य जोर दे गया, तो आपका प्रभाव तो समूल नष्ट हो जायेगा और तीन खण्ड के राज्य पर आपका स्वामित्व नहीं रह सकेगा । रण-क्षेत्र की गति विचित्र होती है । इसके अतिरिक्त भविष्यवेत्ता के कथन और सिंह के वध से मन में सन्देह भी उत्पन्न हो रहा है । इसलिए प्रभु ! इस समय सहनशील बनना ही उत्तम है । बिना विचारे अन्धाधुन्द दौडने से महाबली गजराज भी दलदल में गढ जाता है और चतुराई से खरगोश भी सफल हो जाता है । अतएव मेरी तो यही प्रार्थना है कि आप इस बार सतोष धारण कर लें । यदि आप सर्वथा उपेक्षा नहीं कर सकें, तो सेना भेज दें परन्तु आप स्वय नहीं पधारें ।

अपशकुन

महामात्य की बात अश्वग्रीव ने नहीं मानी । इतना ही नहीं, उसने वृद्ध मन्त्री का अपमान कर दिया वह आवेश में पूर्णरूप से भरा हुआ था । उसने प्रस्थान कर दिया चलते-चलते अचानक ही उसके छत्र का दण्ड टूट गया और छत्र नीचे गिर गया । छत्र गिरने के साथ ही उसके सवारी के प्रधान गजराज का मद सूख गया । वह पेशाब करने लगा और विरस एव रुक्षतापूर्वक चिघाड़ता हुआ नतमस्तक हो गया । चारों ओर रजोवृष्टि होने लगी । दिन में ही नक्षत्र दिखाई देने लगे । उल्कापात होने लगा और

कई प्रकार के उत्पात होने लगे । कुत्ते ऊँचा मुँह कर के रोने लगे । खरगोश प्रकट होने लगे, आकाश में चिलें चक्कर काटने लगी । काकारव होने लगा, सिर पर ही गिद्ध एकत्रित हो कर मँडराने लगे और कपोत आ कर ध्वज पर बैठ गया । इस प्रकार अश्वग्रीव को अनेक प्रकार के अपशकुन होने लगे । किन्तु उसने इन अनिष्टसूचक प्राकृतिक सकेतो की चाह कर उपेक्षा की और बढता ही गया । कुशकुनो को देख कर उसके साथ आये हुए विद्याधरो, राजाओ और योद्धाओ के मन मे भी सन्देह बैठ गया । वे भी उत्साह-रहित हो उदास मन से साथ चलने लगे और रथावर्त्त पर्वत के निकट पड़ाव कर दिया ।

पोतनपुर मे भी हलचल मच गई । युद्ध की तय्यारियाँ होने लगी । विद्याधरो के राजा ज्वलनजटी ने अचलकुमार और त्रिपृष्ठकुमार से कहा,-

"आप दोनों महावीर हैं । आप से युद्ध कर के अश्वग्रीव अवश्य ही पराजित होगा । वह बल में आप में से किसी एक को भी पराजित नहीं कर सकता । किन्तु उसके पास विद्या है । वह विद्या के बल से कई प्रकार के सकट उपस्थित कर सकता है । इसलिए मैं आपसे आग्रह करता हूँ कि आप भी विद्या सिद्ध कर ले । इससे अश्वग्रीव की सभी चाले व्यर्थ की जा सकेगी ।"

ज्वलनजटी की बात दोनो वीरो ने स्वीकार की और दोनो भाई विद्या सिद्ध करने के लिए तत्पर हो गए । ज्वलनजटी स्वय विद्या सिखाने लगा । सात रात्रि तक मन्त्र साधना चलती रही । परिणामस्वरूप ये विद्याए सिद्ध हो गई –

गारुडी, रोहिणी, भुवनक्षोभिनी, कृपाणस्तभिनी स्थामशुभनी, व्योमचारिणी, तमिस्त्रकारिणी, सिह त्रासिनी, वेगाभिगामिनी, वैरीमोहिनी, दिव्यकामिनी रध्रवासिनी, कृशानुवर्सिणी, नागवासिनी, वारिशोषणी, धरित्रवारिणी, बन्धनमोचनी, विमुक्तकुतला नानारूपिणी लोहशृखला, कालराक्षसी, छत्रदशदिका, क्षणशूलिनी, चन्द्रमौली रुक्षमालिनी, सिद्धताडनिका पिगनेत्रा, वनपेशला, ध्वनिता, अहिफणा घोषिणी और भीरु-भीषणा । इन नामो वाली सभी विद्याएँ सिद्ध हो गई । इन सब ने उपस्थित हो कर कहा – 'हम आपके वश में है ।'

विद्या सिद्ध होने पर दोनो भाई ध्यान-मुक्त हुए । इसके बाद सेना ले कर दोना भाई प्रजापति और ज्वलनजटी के साथ शुभ मुहूर्त में प्रयाण किया और चलते-चलते अपने सीमान्त पर रहे हुए रथावर्त पर्वत के निकट आ कर पडाव डाला । युद्ध के शौर्यपूर्ण बाजे बजने लगे । भाट-चारणादि सुभटो का उत्साह बढाने लगे । दोना ओर की सेना आमने सामने डट गई । युद्ध आरम्भ हो गया । बाण वर्षा इतनी अधिक और तीव्र होने लगी कि जिससे आकाश ही ढँक गया, जैसे पक्षियो का समूह सारे आकाश-मडल पर छा गया हो । शस्त्रो की परस्पर की टक्कर से आग की चिनगारियाँ उड़ने लगी । सुभटों के शरीर कट कट कर पृथ्वी पर गिरने लगे । थोड़े ही काल के युद्ध में महाबाहु त्रिपृष्ठकुमार की सेना ने अश्वग्रीव की सेना के छक्के छुडा दिये । उसका अग्रभाग छिन्न-भिन्न हो गया । अपनी सेना की दुर्दशा देख कर अश्वग्रीव के पक्ष के विद्याधर कुपित हुए । उन्होने प्रचण्ड रूप धारण किये । कई

विकराल राक्षस जैसे दिखाई देने लगे, तो कई केसरी-सिंह जैसे, कई मदमस्त गजराज कई पशुराज अष्टापद, बहुत-से चिते, सिंह, वृषभ आदि रूप में त्रिपृष्ठ की सेना पर भयंकर आक्रमण करने लगे। इस अचिन्त्य एवं आकस्मिक पाशविक आक्रमण को देख कर त्रिपृष्ठ की सेना स्तंभित रह गई। सैनिक सोचने लगे कि - 'यह क्या है ? हमारे सामने राक्षसी और विकराल सिंहों की सेना कहाँ से आ गई ? ये तो मनुष्य को फाड़ ही डालेंगे। पर्वत के समान हाथी, अपनी सूँड़ों में पकड़-पकड़ कर मनुष्यों को चीर डालेंगे। उनके पैरों के नीचे सैकड़ों-हजारों मनुष्यों का कच्चर घाण निकल जायगा, अहा ! एक स्त्री के लिए इतना नरसंहार।"

सेना के मनोभाव जान कर ज्वलनजटी आगे आया और उसने त्रिपृष्ठकुमार से कहा - 'यह सब विद्याधरों का माया-जाल है। इसमें वास्तविकता कुछ भी नहीं है। जब इनकी सेना हारने लगी और हमारी सेना पर इनका जोर नहीं चला, तो ये विद्या के बल से भयभीत करने को तत्पर हुए हैं। यह इनकी कमजोरी है। ये बच्चों को डराने जैसी कायरता पूर्ण चाल चल रहे हैं। इससे भयभीत होने की जरूरत नहीं है। अतएव हे महावीर ! उठो और रथारूढ़ हो कर आगे आओ, तथा अपने शत्रुओं को मानरूपी हाथी पर से उतार कर नीचे पटको।"

ज्वलनजटी के वचन सुन कर त्रिपृष्ठकुमार उठे और अपने रथ पर आरूढ़ हुए। उन्हें सन्नद्ध देख कर सेना भी उत्साहित हुई। सेना में उत्साह भरते हुए वे आगे आये। अचल बलदेव भी शस्त्रसज्ज रथारूढ़ हो कर युद्ध-क्षेत्र में आ गये। इधर ज्वलनजटी आदि विद्याधर भी अपने-अपने वाहन पर चढ़ कर मैदान में आ गए। उस समय वासुदेव के पुण्य से आकर्षित हो कर देवगण वहाँ आए और त्रिपृष्ठकुमार को वासुदेव के योग्य 'शार्ग' नामक दिव्यधनुष 'कौमुदी' नाम की गदा, 'पांचजन्य' नामक शंख, 'कौस्तुभ' नामक मणि, 'नन्द' नामक खड्ग और 'वनमाला' नाम की एक जयमाला अर्पण की। इसी प्रकार अचलकुमार को बलदेव के योग्य - 'संवर्तक' नामक हल 'सौनन्द' नामक मुसल और 'चन्द्रिका' नाम की गदा भेंट की। वासुदेव और बलदेव को दिव्य अस्त्र प्राप्त होते देख कर सैनिकों के उत्साह में भरपूर वृद्धि हुई। वे बढ़-चढ़ कर युद्ध करने लगे। उस समय त्रिपृष्ठ वासुदेव ने पांचजन्य शंख का नाद कर के दिशाओं को गुंजायमान कर दिया। प्रलयकारी मेघ-गर्जना के समान शंखनाद सुन कर अश्वग्रीव की सेना क्षुब्ध हो गई। कितने ही सुभटों के हाथों में से शस्त्र छूट कर गिर गए। कितने ही स्वयं पृथ्वी पर गिर गए। कई भाग गए। कई आँख बन्द किये संकुचित हो कर बैठ गए, कई गुफाओं और कई थरथर धूजने लगे।

अश्वग्रीव का भयंकर युद्ध और मृत्यु

अपनी सेना को हताश एवं छिन्न-भिन्न हुई देख कर अश्वग्रीव ने सैनिकों से कहा-

"ओ, विद्याधरो ! वीर सैनिको ! एक शंख-ध्वनि सुन कर ही तुम इतने भयभीत हो गए ? कहाँ

गई तुम्हारी वह अजेयता ? कहाँ गई प्रतिष्ठा ? तुम अपनी आज तक प्राप्त की हुई प्रतिष्ठा का विचार कर के शीघ्र ही निर्भय बन कर मैदान में आओ । आकाशचारी विद्याधरगण । तुम भी भूचर मनुष्यों से भयभीत हो गए ? यदि युद्ध करने का साहस नहीं हो, तो युद्ध-मण्डल के सदस्य के समान तो डटे रहो । मैं स्वय युद्ध करता हूँ । मुझे किसी की सहायता की आवश्यकता नहीं है ।"

अश्वग्रीव के उपालम्भ पूर्ण शब्दों ने विद्याधरो के हृदय में पुन साहस का सचार किया । वे पुन युद्ध-क्षेत्र मे आ गये । अश्वग्रीव स्वय रथ मे बैठ कर, क्रूर ग्रह के समान शत्रुओ का ग्रास करने के लिए आकाश-मार्ग में चला और बाणो से, शस्त्रो से और अस्त्रो से त्रिपृष्ठ की सेना पर मेघ के समान वर्षा करने लगा । इस प्रकार अस्त्र-वर्षा से त्रिपृष्ठ की सेना घबडाने लगी । यदि भूमि-स्थित मनुष्य धीर, साहसी एव निडर हो, तो भी आकाश से होते हुए प्रहार के आगे वह क्या कर सकता है ?

सेना पर अश्वग्रीव के होते हुए प्रहार को देख कर अचल, त्रिपृष्ठ और ज्वलनजटी, रथारूढ हो कर अपने-अपने विद्याधरों के साथ आकाश में उड़े । अब दोनों ओर विद्याधर आकाशमें ही विद्याशक्ति युक्त युद्ध करने लगे । इधर पृथ्वी पर भी दोनों ओर के सैनिक युद्ध करने लगे । थोडी ही देर मे आकाश में लडते हुए विद्याधरो के रक्त से उत्पातकारी अपूर्व रक्त-वर्षा होने लगी । वीरों की हुँकार, शस्त्रों की झकार और घायलो की चित्कार से आकाश-मडल भयकर हो गया । युद्ध-स्थल में रक्त का प्रवाह बहने लगा । रक्त और मास, मिट्टी में मिल कर कीचड हो गया । घायल सैनिको के तडपते हुए शरीरों और गतप्राण हुए शरीरों को रौंदते हुए सैनिकगण युद्ध करने लगे ।

इस प्रकार कल्पात काल के समान चलते हुए युद्ध में त्रिपृष्ठकुमार ने अपना रथ अश्वग्रीव की ओर बढाया । उन्हें अश्वग्रीव की ओर जाते देख कर अचलकुमार ने भी अपना रथ उधर ही बढाया। अपने सामने दोनो शत्रुओ को देख कर अश्वग्रीव अत्यत क्रोधित होकर बोला,-

"तुम दोनों मे से वह कौन है जिसने मेरे 'चण्डसिह' दूत पर हमला किया था ? पश्चिम दिशा के वन में रहे हुए केसरीसिंह को मारने वाला वह घमड़ी कौन है ? किसने ज्वलनजटी की कन्या स्वयप्रभा को पत्नी बना कर अपने लिए विषकन्या के समान अपनाई ? वह कौन मूर्ख है जो मुझे स्वामी नहीं मानता और मेरे योग्य कन्या-रत्न को दबाये बैठा है ? किस साहस एव शक्ति के बल पर तुम मेरे सामने आये हो ? मैं उसे देखना चाहता हूँ । फिर तुम चाहों तो किसी एक के साथ अथवा दोनों के साथ युद्ध करूँगा । बोलो, मेरी बात का उत्तर दो ।"

अश्वग्रीव की बात सुन कर त्रिपृष्ठकुमार हँसते हुए बोले -

"रे दुष्ट ! तेरे दूत को सभ्यता का पाठ पढाने वाला सिह का मारक, स्वयप्रभा का पति और तुझे स्वामी नहीं मानने वाला तथा अब तक तेरी उपेक्षा करने वाला मैं ही हूँ । और अपने बल से विशाल सेना को भ्रष्ट करने वाले ये हैं -मेरे ज्येष्ठ बन्धु अचलदेव । इनके सामने ठहर सके, ऐसा मनुष्य ससार भर मे नहीं है । फिर तू है ही किस गिनती मे ? हे महाबाहु ! यदि तेरी इच्छा हो तो सेना का विनाश

रोक कर अपन दोनो ही युद्ध कर ले । तू इस युद्ध-क्षेत्र में मेरा अतिथि है । अपन दोना का द्वद युद्ध हो और दोनों ओर की सेना मात्र दर्शक के रूप में देखा करे ।"

त्रिपृष्ठकुमार का प्रस्ताव अश्वग्रीव ने स्वीकार कर लिया और दोनों ओर की सेनाओं में सन्देश प्रसारित कर के सैनिका का युद्ध रोक दिया गया । अब दोनों महावीरों त्रिपृष्ठकुमार ने भी अपना शार्ङ्ग धनुष उठाया और उसकी पणच बजा कर वज्र के समान लगने वाला और शत्रुपक्ष के हृदय को दहलान वाल गम्भीर घोष किया । बाण-वर्षा होने लगी । अश्वग्रीव ने बाण-वर्षा करते हुए एक तीव्र प्रभाव वाला बाण त्रिपृष्ठ पर छोडा । त्रिपृष्ठ सावधान ही थे । उन्होंने तत्काल ही बाणछेदक अस्त्र छोड़ कर उसके बाण को बीच में ही काट दिया और तत्काल ही चतुराई से ऐसा बाण मारा कि जिससे अश्वग्रीव का धनुष ही टूट गया । इसके बाद अश्वग्रीव ने नया धनुष ग्रहण किया । त्रिपृष्ठ ने उसे भी काट दिया। एक बाण के प्रहार से अश्वग्रीव के रथ की ध्वजा गिरा दी और उसके बाद उसका रथ नष्ट कर दिया।

जब अश्वग्रीव का रथ टूट गया तो वह दूसर रथ में बैठा और मेघ-वृष्टि के समान बाण-वर्षा करता हुआ आगे बढा । उसने इतने जोर से बाण-वर्षा की कि जिससे त्रिपृष्ठ और उनका रथ सभी ढक गये । कुछ भी दिखाई नहीं देता था । किन्तु जिस प्रकार सूर्य बादलों का भेदन कर के आगे आ जाता है, उसी प्रकार त्रिपृष्ठ ने अपनी बाण-वर्षा से समस्त आवरण हटा कर छिन्न-भिन्न कर दिये । अपनी प्रबल बाण-वर्षा को व्यर्थ जाती देख कर अश्वग्रीव के क्रोध में भयकर वृद्धि हुई । उसने मृत्यु की जननी के समान एक प्रचण्ड शक्ति ग्रहण की और मस्तक पर घुमाते हुए अपना सम्पूर्ण बल लगा कर त्रिपृष्ठ पर फेंकी । शक्ति का अपनी ओर आती हुई देख कर त्रिपृष्ठ ने रथ से यमराज के दण्ड, समान कौमुदी गदा उठाई निकट आई हुई शक्ति पर इतने जोर से प्रहार किया कि जिससे अग्नि की चिनगारियों के सैकडो उल्कापात छोडती हुई चूर-चूर हो कर दूर जा गिरी । शक्ति की विफलता देख कर अश्वग्रीव ने बडा परिघ (भाला) ग्रहण किया और त्रिपृष्ठ पर फका किन्तु उसकी भी शक्ति जैसी ही दशा हुई और वह भी कौमुदी गदा के प्रहार से टुकड़े-टुकडे हो कर बिखर गया । इसके बाद अश्वग्रीव ने घुमा कर अक गदा फैंकी, किन्तु त्रिपृष्ठ ने आकाश में ही गदा प्रहार से उसके टुकडे-टुकड़े कर दिये ।

इस प्रकार अश्वग्रीव के सभी अस्त्र निष्फल हो कर चूर-चूर हो गए, तो वह हताश एवं निराश हो गया । 'अब वह क्या करें', यह चिन्ता करने लगा । उसका 'नागास्त्र' की ओर ध्यान गया । उसने उसका स्मरण किया । स्मरण करते ही नागास्त्र उपस्थित हुआ । अश्वग्रीव ने उस अस्त्र को धनुष के साथ जोडा । तत्काल सर्प बड भयानक लग रहे थे । पृथ्वी पर और आकाश में जहाँ दखो वहाँ भयकर साँप ही साँप दिखाई दे रहे थ । त्रिपृष्ठ की सना सर्पों के भयकर आक्रमण का दख विचलित हो गई। इतने में त्रिपृष्ट ने गरुडास्त्र उठा कर छोड़ा, तो उसमें स बहुत-से गरुड प्रकट हुए । गरुडों को देखते ही सर्प-सेना भाग खड़ी हुई ।

नागास्त्र की दुर्दशा देख कर अश्वग्रीव ने अग्न्यस्त्र का स्मरण किया और प्राप्त कर छोडा, तो उससे चारों ओर उल्कापात होने लगा और त्रिपृष्ठ की सेना चारा ओर से दावानल मे घिरी हो – ऐसा दिखाई देने लगा । सेना अपने को पूर्ण रूप से अग्नि से व्याप्त मान कर घबडा गई । सैनिक इधर-उधर दुबकने लगे । यह देख कर अश्वग्रीव की सेना के सैनिक उत्साहित हो कर हँसने लगे, उछलने और खिल्ली उडाने लगे तथा तालियाँ पीट-पीट कर जिह्वा से व्यग बाण छोडने लगे । यह देख कर त्रिपृष्ठ ने रूष्ट हो कर वरुणास्त्र उठा कर छोडा । तत्काल आकाश मेघ से आच्छादित हो गया और वर्षा होने लगी । अश्वग्रीव की फैलाई हुई अग्नि शात हो गई । जब अश्ग्रीव के सभी प्रयत्न व्यर्थ गये, तब उसने अपने अन्तिम अस्त्र अमोघ चक्र का स्मरण किया । सैकडों आरों से निकलती हुई सैकडों ज्वालाओं से प्रकाशित, सूर्य-मण्डल के समान दिखाई देने वाला यह चक्र, स्मरण करते ही अश्वग्रीव के सम्मुख उपस्थित हुआ । चक्र को ग्रहण कर के अश्वग्रीव ने त्रिपृष्ठ से कहा-

"अरे ओ त्रिपृष्ठ ! तू अभी बालक है । तेरा वध करने से मुझे बाल-हत्या का पाप लगेगा इसलिए मैं कहता हूँ कि तू अब भी मेरे सामने से हट जा और युद्ध-क्षेत्र से बाहर चला जा । मेरे हृदय में रही हुई दया, तेरा वध करना नहीं चाहती । देख मेरा यह चक्र, इन्द्र के वज्र के समान अमोघ है । यह न तो पीछे हटता है और न व्यर्थ ही जाता है । मेरे हाथ से यह चक्र छुटा कि तेरे शरीर से प्राण छुटे। इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं है । इसलिए क्षत्रियत्व एव वीरत्व के अभिमान को छोड कर, मेरे अनुशासन को स्वीकार कर ले । मैं तेरे पिछले सभी अपराध क्षमा कर दूँगा । मेरे मन में अनुकम्पा उत्पन्न हुई है। यह तेरे सद्भाग्य का सूचक है । इसलिए दुराग्रह छोड कर सीधे मार्ग पर आजा ।"

अश्वग्रीव की बात सुन कर त्रिपृष्ठ हँसते हुए बोले,-

"अश्वग्रीव ! वास्तव मे तू वृद्ध एव शिथिल हो गया है । इसीसे उन्मत्त के समान दुर्वचन बोल रहा है । तुझे विचार करना चाहिए कि बाल केसरीसिह, बडे गजराज को देख कर डरता नहीं, गरुड का छोटा बच्चा भी बडे भुजग को देख कर विचलित नहीं होता और बाल सूर्य भी सध्याकाल रूप राक्षस से भयभीत नहीं होता । मैं बालक हूँ, फिर भी तेरे सामने युद्ध करने आया हूँ । मैंने तेरे अब तक के सारे अस्त्र व्यर्थ कर दिये, अब फिर एक अस्त्र और छोड़ कर उसका भी उपयोग कर ले । पहले से इतना घमण्ड क्यों करता है ?"

त्रिपृष्ठ के वचन से अश्वग्रीव भडका । उसके हृदय में क्रोध की ज्वाला सुलग उठी । उसने चक्र को ऊँचा उठा कर अपने सिर पर खूब घुमाया और सम्पूर्ण बल से उसे त्रिपृष्ठ पर फेंका । चक्र ने त्रिपृष्ठ के वज्रमय एव शिला के समान वक्षस्थल पर आघात किया और टकरा कर वापिस लौटा । चक्र

के अग्रभाग के दृढतम आघात से त्रिपृष्ठ मूर्च्छित हो कर नीचे गिर गये और चक्र भी स्थिर हो गया। त्रिपृष्ठ की यह दशा देख कर उसकी सेना म हाहाकार मच गया । अपने लघुबन्धु को मूर्च्छित देख कर अचलकुमार को मानसिक आघात लगा और वे भी मूर्च्छित हो गए । दोनों का मूर्च्छित देख कर अश्वग्रीव ने सिंहनाद किया और उसके सैनिक जयजयकार करते हुए हर्षोन्मत्त हो कर किलकारी करने लगे ।

कुछ समय बीतने पर अचलकुमार की मूर्च्छा दूर हुई । वे सावधान हुए । जब उनका ध्यान हर्षना" की ओर गया, तो उन्होने इसका कारण पूछा । सेनाधिकारियो ने कहा - "त्रिपृष्ठकुमार के मूर्च्छित हो जाने पर शत्रु-सेना प्रसन्नता से उन्मत्त हो उठी है । यह उसी की ध्वनि है ।" अचलकुमार को यह सुन कर क्रोध चढा । उन्होंने गर्जना करते हुए अश्वग्रीव से कहा -

"रे दुष्ट ! ठहर, मैं तेरे हर्षोन्माद की दवा करता हूँ ।" उन्होने गदा उठाई और अश्वग्रीव पर झपटने ही वाले थे कि त्रिपृष्ठ सावधान हो गए उन्होंने ज्येष्ठ बन्धु को रोकते हुए कहा-

"आर्य ! ठहरिये, ठहरिये, मुझे ही अश्वग्रीव को करणी का फल चखाने दीजिए । वह मुख्यत मेरा अपराधी है । आप उसके घमण्ड का अतिम परिणाम देखिये ।

राजकुमार अचल, छोटे बन्धु को सावधान देख कर प्रसन्न हुए और उसको अपनी भुजाओ में बाँध कर आलिंगन करने लगे । सेना में भी विषाद के स्थान पर प्रसन्नता व्याप गई । हर्षनाद होने लगा। त्रिपृष्ठ ने देखा कि अश्वग्रीव का फेका हुआ चक्र पास ही निस्तब्ध पडा है । उन्होंने चक्र को उठाया और गर्जनापूर्वक अश्वग्रीव से कहने लगे -

"ए अभिमानी वृद्ध ! अपने परम अस्त्र का परिणाम देख लिया ? यदि जीवन प्रिय है, तो हट जा यहाँ से । मैं भी एक वृद्ध की हत्या करना नहीं चाहता । यदि अब भी तू नहीं मानेगा और अभिमान से अड़ा ही रहेगा, तो तू समझले कि तेरा जीवन अब कुछ क्षणों का ही है ।"

अश्वग्रीव इन वचनों को सहन नहीं कर सका । वह भकुटी चढा कर बोला-

"छोकरे ! वाचालता क्यों करता है । जीवन प्यारा हो तो चला जा यहाँ से । नहीं, तो अब तू नहीं बच सकेगा । तेरा कोई भा अस्त्र और यह चक्र मेरे सामन कुछ भी नहीं है । मेरे पास आते ही मैं इसे चूर-चूर दूँगा ।"

अश्वग्रीव की बात सुनते ही त्रिपृष्ठ ने क्रोधपूर्वक उसी चक्र को ग्रहण किया और बलपूर्वक घुमा कर अश्वग्रीव पर फेंका । चक्र सीधा अश्वग्रीव की गर्दन काटता हुआ आगे निकल गया । त्रिपृष्ठ की जीत हो गई खेचरों ने त्रिपृष्ठ वासुदेव की जयकार से आकाश गुँजा दिया और पुष्प-वर्षा की । अश्वग्रीव

की सेना में रुदन मच गया । अश्वग्रीव के सबधी और पुत्र एकत्रित हुए और अश्रुपात करने लगे । अश्वग्रीव के शरीर का वहीं अग्निसस्कार किया । वह मृत्यु पा कर सातवीं नरक मे, ३३ सागरोपम की स्थिति वाला नारक हुआ ।

उस समय देवों ने आकाश में रह कर उच्च स्वर से उद्घोषणा करते हुए कहा,- "राजाओ ! अब तुम मान छोड़ कर भक्तिपूर्वक त्रिपृष्ठ वासुदेव की शरण में आओ ।इस भरत-क्षेत्र मे इस अवसर्पिणी काल के ये प्रथम वासुदेव हैं । ये महाभुज त्रिखड भरत-क्षेत्र की पृथ्वी के स्वामी होगे ।"

यह देववाणी सुन कर अश्वग्रीव के पक्ष के सभी राजाओ ने श्री त्रिपृष्ठ वासुदेव के समीप आ कर प्रणाम किया और हाथ जोड कर विनति करते हुए इस प्रकार बोले,-

"हे नाथ ! हमने अज्ञानवश एव परतन्त्रता से अब तक आपका जो अपराध किया, उसे क्षमा करें ।अब आज से हम आपके अनुचर के समान रहेगे और आपकी सभी आज्ञाओ का पालन करेंगे"

वासुदेव ने कहा - "नहीं, नहीं, तुम्हारा कोई अपराध नहीं ।स्वामी की आज्ञा से युद्ध करना, यह क्षत्रियो का कर्त्तव्य है ।तुम भय छोड कर मेरी आज्ञा से अपने-अपने राज्य मे निर्भय हो कर राज करते रहो ।"

इस प्रकार सभी राजाओ को आश्वस्त कर त्रिपृष्ठ वासुदेव इन्द्र के समान अपने अधिकारियो और सेना के साथ पोतनपुर आये ।उसके बाद वासुदेव, अपन ज्येष्ठबन्धु अचल बलदेव के साथ सातों रत्ना + को ले कर दिग्विजय करने चल निकले ।

उन्होने पूर्व में मागधपति, दक्षिण में बरदाम देव और पश्चिम मे प्रभास देव को आज्ञाधीन कर के वैयाढ्य पर्वत पर की विद्याधरो की दोनो श्रेणियों को विजय किया और दोना श्रेणियों का राज ज्वलनजटी को दे दिया ।इस प्रकार दक्षिण भरतार्द्ध को साध कर वासुदेव अपने नगर की ओर चलने लगे ।चलते-चलते वे मगधदेश में आये ।वहाँ उन्हाने एक महाशिला, जो कोटि पुरुषों से उठ सकती थी और जिसे 'कोटिशिला' कहते थे ।देखी ।उन्हाने उस कोटिशिला को बाये हाथ से उठा कर मस्तक से भी ऊपर छत्रवत् रखी ।उनके ऐसे महान् बल को देख कर साथ के राजाओं और अन्य लोगो ने उनकी प्रशसा की ।कोटिशिला को योग्य स्थान पर रख कर आगे बढे और चलते-चलते पोतनपुर के निकट आये ।उनका नगर-प्रवेश बडी धूमधाम से हुआ । शुभ मुहूर्त में प्रजापति, ज्वलनजटी, अचल-बलदेव आदि ने त्रिपृष्ट का 'वासुदेव' पद का अभिषेक किया ।बडे भारी महोत्सव से यह अभिषेक सम्पन्न हुआ ।

+ १ चक्र २ धनुष ३ गदा ४ शख ५ कौस्तुभमणि ६ खड्ग और ७ वनमाला ।ये वासुदेव के सात रत्न हैं।

भ० वासुपूज्य जी

पुष्करवर द्वीपार्द्ध के पूर्व विदेह में, 'मगलावती' नाम के विजय म 'रत्नसचया' नाम की एक विशाल एव समृद्ध नगरी थी । 'पद्मोत्तर' नरेश वहाँ का शासन करते थे । वे जिनेश्वर भगवान् का उपासना करने वाले थे । उनका राज्य समुद्र पर्यन्त फैला हुआ था ।

एक बार अनित्य भावना में लीन बने हुए महाराज पद्मोत्तर के हृदय में वैराग्य बस गया । उन्होंने वज्रनाभ मुनिवर के समीप प्रव्रज्या ग्रहण कर ली । साधना में उत्तरोत्तर वृद्धि करते हुए आपने तीर्थंकर नाम-कर्म का बन्ध कर लिया और बहुत वर्षों तक सयम का पालन करते हुए, आयु पूर्ण करके प्राणत नाम के दसवें देवलोक में महर्द्धिक देव हुए ।

जबूद्वीप के दक्षिण भरतार्द्ध मे 'चपा' नाम की एक नगरी थी । उस विशाल मनोहर एव समृद्ध नगरी के स्वामी महाराजा 'वासुपूज्य' थे । वे दानेश्वरियों में अग्रगण्य थे । उनका शासन न्याय-नीति एव सदाचा पूर्वक चल रहा था । नरेश जिनेश्वर भगवान् के सेवक थे । उनकी पटरानी का नाम 'जयादेवी' था । वह सुलक्षणी, सद्गुणों की पात्र और लक्ष्मी के समान सौभाग्यशालिनी थी । पद्मोत्तर राजा का जीव, देवलोक का सुखमय जीवन व्यतीत कर के, आयुष्य पूर्ण होने पर ज्येष्ठ-शुक्ला नौमी के दिन शतभिषा नक्षत्र के साथ चन्द्रमा का योग होने पर, जयादेवी की कुक्षि में उत्पन्न हुआ । जयादेवी ने तीर्थंकर के योग्य चौदह महास्वप्न देखे । फाल्गुन मास के कृष्ण-पक्ष की चतुर्दशी को शतभिषा नक्षत्र में पुत्र का जन्म हुआ । देव-देवियों और इन्द्रों ने जन्मोत्सव किया । पिता के नाम पर ही पुत्र का 'वासुपूज्य' नाम दिया । कुमार क्रमश वृद्धि पाने लगे ।

विवाह नहीं करूँगा

यौवन वय प्राप्त होने पर अनेक देश के राजाओं ने राजकुमार वासुपूज्य के साथ अपनी राजकुमारियों का वैवाहिक सम्बन्ध जोड़ने के सन्देश भेजे । माता-पिता ने युवराज वासुपूज्य को विवाह करने और राज्य का भार वहन करने की प्रेरणा की । किन्तु ससार से विरक्त प्रभु ने अपनी हार्दिक इच्छा व्यक्त करते हुए कहा;-

"पिताश्री ! आपका पुत्र स्नेह मैं जानता हूँ । किन्तु मैं चतुर्गति रूप ससार म भ्रमण करते हुए ऐसे सम्बन्ध अनन्त बार कर चुका हूँ । ससार-सागर में भटकते हुए मैंने जन्म-मरणादि के अनन्त दु ख भोगे । अब मैं ससार से उद्विग्न हो गया हूँ । इसलिए अब मेरी इच्छा एकमात्र मोक्ष साधने की है। आप लग्न की बात छोड़ कर प्रव्रज्या ग्रहण करने की अनुमति दीजिए ।"

पुत्र की बात सुन कर पिता ने गद्गद् स्वर से कहा--

"पुत्र ! मैं जानता हूँ कि तुम भोगार्थी नहीं हो । तुम्हारे मोक्षार्थी एव जगदुद्धारक होने की बात मैं तभी जान गया था, जब तुम गर्भ में आये थे । देवों ने तुम्हारा जन्मोत्सव किया था । किन्तु विवाह करने से और राज्य का सचालन करने से तुम्हारी मुक्ति नहीं रुकेगी । कुछ काल तक अर्थ और काम पुरुषार्थ का सेवन करने के बाद धर्म और मोक्ष पुरुषार्थ में प्रवृत्ति हो सकेगी । तुम्हारे पूर्व हुए आदि तीर्थंकर भ ऋषभदेवजी और अन्य तीर्थंकरो ने भी विवाह किया था और राज्य-भार भी उठाया था। उसके बाद वे मोक्षमार्ग मे प्रवृत्त हुए थे । इसी प्रकार तुम भी विवाह करो और राज्य का भार सम्हाल कर हमें मोक्ष-साधना में लगने दो ।"

-"पिताश्री ! आपने कहा वह ठीक है । मैं गत महापुरुषो के चरित्र जानता हूँ । सभी मनुष्यो और महापुरुषों का जीवन, समग्र दृष्टि से समान नहीं होता । जिनके भोग फल-दायक कर्मों का उदय हो, उन्हे विवाह भी करना पडता है और राज्य सचालन भी करना पडता है । जिनके ऐसे कर्मों का उदय नहीं होता, वे अविवाहित एव कुमार अवस्था मे ही त्याग-मार्ग पर चल देते हैं । भावी तीर्थंकर श्री मल्लिनाथजी और श्री अरिष्टनेमिजी भी अविवाहित रह कर ही प्रव्रजित हो जावेगे । चरम तीर्थंकर भ महावीर के भोग-कर्म स्वल्प होने से विवाह तो करेंगे किन्तु थोडे काल के बाद, कुमार अवस्था में ही प्रव्रजित हो जावेंगे । वे राज्य का सचालन नहीं करेंगे । विवाह करने और भोग-भोगने तथा राज्याधिपति बनने म वैसे भोग योग्य कर्मों का उदय कारणभूत होता है । जिनके वैसे कर्म उदय में आते हैं, वे वैसी प्रवृत्ति करते हैं । मेरी इनमे रुचि नहीं है । आप अपने मोह को त्याग कर मुझे निर्ग्रंथ दीक्षा लेने की अनुमति प्रदान करें ।"

इस प्रकार माता-पिता को समझा कर, जन्म से अठारह लाख वर्ष व्यतीत हुए बाद श्री वासुपूज्य कुमार दीक्षा लेने की भावना करने लगे । उस समय लोकान्तिक देव का आसन कम्पायमान होने से, स्वर्ग से चल कर प्रभु के समीप आये और तीर्थ-प्रवर्तन करने की विनती की । भगवान् ने तीर्थंकरो के कल्प के अनुसार वर्षीदान दिया और फाल्गुन की अमावस्या को उपवास के तप से छह सौ राजाओं के साथ प्रभु ने *प्रव्रज्या ग्रहण की । तत्काल प्रभु को मन पर्यव ज्ञान उत्पन्न हो गया ।*

द्विपृष्ट वासुदेव चरित्र

पृथ्वीपुर नगर में 'पवनवेग' नामका राजा राज करता था । बहुत वर्षों तक राज करने के बाद उन्होंने यथावसर श्रवणसिंह मुनि के समीप प्रव्रजित हो कर सयम और तप की विशुद्ध आराधना की और अप्रमत्त अवस्था में काल कर के अनुत्तर विमान में देवता हुए ।

इस जम्बूद्वीप के दक्षिण भरतार्द्ध में 'विंध्यपुर' नाम का प्रसिद्ध एव प्रमुख नगर था । वह धन-धान्य एव ऋद्धि से परिपूर्ण था । महान् पराक्रमी और सिंह के समान शक्तिशाली 'विंध्यशक्ति' नाम का प्रतापी नरेश वहाँ का शासक था । उसके प्रभाव से अन्य राजागण दबे हुए थे । वे महाराजा विंध्यशक्ति

की कृपा एव रक्षण के लिए प्रयत्नशील रहते थे । एक बार वह अपनी राज-सभा में बैठा हुआ था कि एक चर पुरुष आया और कहने लगा -

"महाराज ! साकेतपुर के अधिपति 'पर्वत' नरेश के पास 'गुणमजरी' नामकी एक अनुपम सुन्दरी वेश्या है । उसका अग-प्रत्यग सुन्दरता से परिपूर्ण है । उसकी समानता करने वाला दूसरा कोई स्त्री रत्न इस पृथ्वी पर नहीं है । वह मात्र रूप-सुन्दरी ही नहीं है, उसका नृत्य सगीत और वादन सभी उत्तमोत्तम है । वह आपके योग्य है । इसके बिना आपका राज्य फीका है ।"

चर पुरुष की बात सुन कर राजा ने गुणमजरी वेश्या की याचना करने के लिए दूत भेजा । पर्वत राजा ने इस याचना को अपमानपूर्वक ठुकरा दिया । विध्यशक्ति ने विशाल सेना ले कर साकेतपुर पर चढाई कर दी । दोनों में भीषण युद्ध हुआ । अन्त में पर्वत हार कर भाग गया और विध्यशक्ति नरेश ने नगर म प्रवेश कर के गुणमजरी वेश्या और अन्य सभी सार पदार्थ ले कर अपने स्थान पर चला गया। पराजित पर्वत नरेश ने श्री सभवाचार्य के समीप श्रमण दीक्षा स्वीकार की और कठोर साधना तथा उग्र तप करते हुए निदान किया कि - "आगामी भव मे मैं विध्यशक्ति का काल बनूँ ।" अत म अनशन कर के मृत्यु पा कर प्राणत देवलोक में देव हुआ । राजा विन्ध्यशक्ति भी भव भ्रमण करता हुआ एक भव में मुनिव्रत लिया और मृत्यु पा कर देव हुआ । वहाँ से च्यव कर विन्ध्यशक्ति का जीव, विजयपुर में श्रीधर राजा की श्रीमती रानी की उदर से 'तारक' नाम का पुत्र हुआ । वह शूर-वीर एव पराक्रमी था । उसने अर्धभरत क्षेत्र को जीत कर अपने अधिकार में कर लिया ।

सौराष्ट्र देश की प्रसिद्ध 'द्वारिका' नगरी म 'ब्रह्म' राज्याधिपति था । उसके 'सुभद्रा' और 'उमा' ये दो पटरानियाँ थीं । 'पवनवेग' का जीव, अनुत्तर विमान से च्यव कर महारानी सुभद्रादेवी की कुक्षि म आया । महारानी ने चार महास्वप्न देखे । पुत्र का नाम 'विजय' रखा । वह गौरवर्ण वाला अनेक प्रकार के सुलक्षणों से युक्त था । राजकुमार का लालन-पालन उत्तमोत्तम रीति से होने लगा । योग्य वय में सभी कलाओं में पारगत हो कर वह महान् वीर हो गया । कालान्तर स महारानी ने सात स्वप्न देखे । पुत्र का नाम 'द्विपृष्ठ' रखा । द्विपृष्ठ श्याम वर्ण वाला सुन्दर और अनेक शुभ लक्षणों से युक्त बालक था । वह क्रमश बढ़ने लगा । राजकुमार विजय को अपने छोटे भाई पर अत्यधिक प्रीति थी। वह द्विपृष्ठ के प्यार में उसे खेलाने खिलाने और प्रसन्न रखने में ही अपना विशेष समय लगा देता था । वय प्राप्त होने पर द्विपृष्ट भी सभी कलाओं म पारगत हो कर वीर-शिरोमणि एव अनुपम योद्धा हो गया । दोनों राजकुमार महाबली थे ।

द्वारिकाधिपति ब्रह्म नरेश अर्धभरत क्षेत्र के स्वामी तारक के आधीन थे । वे उसकी आज्ञा में रह कर राज करते थे । किन्तु उनके पुत्र विजय और द्विपृष्टकुमार को तारक का शासन असह्य हो रहा था। वे तारक की आज्ञा में रहना नहीं चाहते थे । वे वचन से और कार्य से तारक नरेश का विरोध तथा अवज्ञा करते रहते थे । गुप्तचरों ने तारक नरेश के सामने कुमारों की प्रतिकूलता का वर्णन करते हुए कहा-

"स्वामी ! द्वारिका के राज ब्रह्म के दोनो पुत्र बड़े ही धृष्ठ एव दुर्मद हो गए हैं । वे आपका अनुशासन नहीं मानते और निधडक निन्दा करते हैं । वे योद्धा हैं और सभी शास्त्रो के ज्ञाता हैं । उनकी बडी हुई शक्ति आपके लिए हितकारी नहीं होगी । आपको इस पर योग्य विचार करना चाहिए ।"

तारक को गुप्तचरो की बात लग गई । वह उत्तेजित हो गया । उसने अपने सेनापति को बुला कर आज्ञा दी;–

"सेनापति ! तुम अपने सामत राजाओं के साथ, सेना ले कर द्वारिका जाओ और ब्रह्म राजा को उसके पुत्रों सहित मार डालो । उनको उठते ही कुचल देना ठीक होगा । उपेक्षा करने से व्याधि के समान शत्रु भी असाध्य हो जाया है ।

राजा की आज्ञा सुन कर वृद्ध मन्त्री ने निवेदन किया –

"महाराज ! जग शाति से विचार करो । ब्रह्म राजा के विषय में यह पहली ही शिकायत है । वह आज तक आपका आज्ञाकारी सामन्त रहा है । किसी खास कारण के बिना चढाई कर देना अन्याय होगा । इससे दूसरे सामन्तो के मन मे सन्देह उत्पन्न होगा और सन्देह होने पर वे भी विश्वास के योग्य नहीं रह सकेंगे । जिनमें विश्वास नहीं होगा, वे आज्ञा का पालन कैसे कर सकेंगे और आज्ञा का पालन नहीं हुआ, तो स्वामित्व कैसे रहेगा ? इसलिए पहले उस पर किसी अपराध का आरोप लगा कर, उसके पास अपना दूत भेजना चाहिए और दण्ड स्वरूप श्रेष्ठ हाथी, घोडे और रत्नों की माग करनी चाहिए। यदि वह मार्ग अस्वीकार कर दे, तो फिर उसी अपराध में उन्हें मार देना ठीक होगा । नियमपूर्वक काम करने में अनीति का आरोप नहीं लगता और दूसरों के मन मे सन्देह उत्पन्न नहीं होता ।"

तारक नरेश ने मन्त्री की सलाह मानी और अपना विश्वस्त दूत द्वारिका ब्रह्म राजा के पास भेजा। राजा ने दूत को समानपूर्वक अपने पास बिठाया और प्रेमालाप करने के बाद आने का कारण पूछा । दूत ने कहा,–

"हे द्वारकेश ! स्वामी की आज्ञा है कि आपके पास जो भी सर्वश्रेष्ठ हाथी, घोडा और रत्नादि उत्तम सामग्री हो, वह हमारी सेवा में प्रस्तुत करो । इस अर्धभरत-क्षेत्र में जो भी सर्वश्रेष्ठ वस्तु हो, उसका भोग भरताधिपति ही कर सकते हैं । मैं यही सन्देश ले कर आया हूँ ।"

राजकुमार भी यह बात सुन रहे थे । राजा के बोलने के पूर्व ही द्विपृष्ट कुमार क्रुद्ध हो कर गर्जना करते हुए बोले;–

"तुम्हारा स्वामी तारक राजा, न तो हमारे वश का ज्येष्ठ पुरुष है और न हमारा स्वामी ही है। यह राज, तारक ने हमें या हमारे वश को दान म नहीं दिया और न वह इस राज्य का रक्षक ही है । फिर वह हमारा स्वामी कैसे बन गया ? जिस प्रकार वह अपने भुज-बल से, हम से हाथी-घोड़े और

रत्न माँगता है, उसी प्रकार हम भी अपने भुजबल से तुम्हारे राजा से ये ही वस्तुएं माँगते हैं। इसलिए हे दूत ! तुम यहाँ से चले जाओ । हम स्वयं तुम्हारे राजा से उसके मस्तक के साथ ये वस्तुएँ हस्तगत करने के लिए वहाँ आवेंगे ।"

दूत ने जा कर सारी बात तारक नरेश से कही । तारक की क्रोधाग्नि भड़की । उसने उसी समय युद्ध की घोषणा कर दी । अधिनस्थ राजागण, सामन्तगण, सेनापति और विशाल सेना सज्ज हो कर युद्ध के लिए तत्पर हो गई । प्रयाण के प्रारम्भ मे ही भूकम्प, विद्युत्पात, कौओं की कर्राहट आदि अशुभ परिणाम सूचक लक्षण प्रकट हुए । किन्तु तारक नरेश ने क्रोधावेश में इन सभी अशुभ सूचक प्राकृतिक लक्षणो की उपेक्षा कर के प्रयाण कर ही दिया और शीघ्रता से आगे बढने लगे ।

इधर ब्रह्म राजा और दोनों कुमार भी अपनी सेना ले कर आ गये । महान् सहारक युद्ध होने लगा। लाखों मनुष्य मारे गये । चारों ओर रक्त का समुद्र जैसा बन गया । उसमे कटे हुए हाथ पाँव, मस्तक आदि तैरने लगे । मनुष्यों, घोडा और हाथियो के शव के ढेर हो गये । द्विपृष्ट कुमार ने विजय-रथ पर आरूढ हो कर पाँचजन्य शख का नाद किया । इस शखनाद से तारक की सेना त्रस्त हो उठी । अपनी सेना को भयभीत देख कर तारक भी रथारूढ हो कर द्विपृष्ट कुमार के सामने आया । तारक की ओर से भयकर शस्त्र प्रहार होने लगे । द्विपृष्ट ने तारक के सभी अस्त्रा को अपने पास आते ही नष्ट कर दिये। अन्त में तारक ने चक्र उठाया और अपने सम्पूर्ण बल के साथ द्विपृष्ट कुमार पर फैंका । चक्र के आघात से द्विपृष्ट कुमार मूर्च्छित हो गये । किन्तु थोडी ही देर में सावधान हो कर उसी चक्र को ग्रहण किया और तारक को अतिम चेतावनी देते हुए कहा -

"ऐ मृत्यु के ग्रास वृद्ध तारक ! जीवन प्रिय हो, तो अब भी हट जा मेरे सामने से । अन्यथा यह तेरा सर्वश्रेष्ठ अस्त्र ही तुझे चिर निद्रा में सुला देगा ।"

तारक की मृत्यु आ गई थी । वह नहीं माना और द्विपृष्ट द्वारा फैंके हुए चक्र से ही वह मृत्यु पा कर नरक मे गया । तारक-पक्ष के सभी राजा और सामत, द्विपृष्ट के आधीन हो गए । द्विपृष्ट ने उसी स्थान से दिग्विजय प्रारम्भ कर दिया और दक्षिण भरतक्षेत्र को जीत कर उसका अधिपति हो गया। द्विपृष्ट का अर्द्धचक्री - वासुदेवपन का अभिषेक भी बडे आडम्बर के साथ हो गया ।

× × × × × ×

एक मास पर्यंत छद्मस्थ अवस्था में विचरने के बाद महाश्रमण श्री वासुपूज्य स्वामी, विहारगृह नामक उद्यान में (जहाँ दीक्षित हुए थे) पधारे और माघ मास की शुक्ल द्वितीया के दिन शतभिषा नक्षत्र में उपवास के तप से पाटल वृक्ष के नीचे ध्यानस्थ रहे हुए प्रभु ने शुक्लध्यान के दूसरे चरण में प्रवेश कर के घातिकर्मों का क्षय कर दिया और केवलज्ञान केवलदर्शन प्राप्त कर लिया । देवों ने समवसरण की रचना की । प्रभु ने धर्मोपदेश दिया ।

धर्मदेशना

धर्म-दुर्लभ भावना

इस अपार ससार रूपी समुद्र में मनुष्य-भव की प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है ।जिस प्रकार स्वयभूरमण समुद्र के एक किनारे पर, पानी में डाला हुआ जूआ और दूसरे किनारे पर डाली हुई शमिला का सयोग मिलना बहुत ही कठिन है, ठसी प्रकार मनुष्य-भव व्यर्थ अथवा पाप सञ्चय मे नहीं गँवाना चाहिए। किन्तु धर्म की आराधना कर के सार्थक करना चाहिए ।

यो तो ससार में अनेक धर्म हैं, किन्तु जिनेश्वर भगवत का बताया हुआ धर्म ही सर्व-श्रेष्ठ है। इस धर्म का अवलम्बन करने वाला, कभी ससार-सागर मे नहीं डूबता, नरक निगोद मे जा कर दु खी नहीं होता ।यह धर्म, सयम (सभी प्रकार की अहिंसा) सत्य-वचन शौच (अचौर्य रूपी पवित्रता) ब्रह्मचर्य, निष्परिग्रहता, तप और क्षमा मृदुता, सरलता निर्लोभता आदि दस प्रकार का कहलाता है ।

धर्म के प्रभाव से कल्पवृक्षादि ऐसी वस्तुएँ प्राप्त होती है, कि जो अधर्मियों की दृष्टि में भी नहीं आती ।यह धर्म, सदैव साथ रहने वाला और अत्यन्त वात्सल्यता को धारण करने वाला है ।दु ख-सागर मे डूबते हुए प्राणी को धर्म ही बचाता है ।

धर्म के प्रभाव से समुद्र, पृथ्वी में प्रलय नहीं मचाता और वर्षा पृथ्वी के प्राणियो के हृदय में आश्वासन एव शान्ति उत्पन्न करती है ।धर्म की शक्ति से अग्नि की लपटें तिरछी नहीं जाती और वायु की गति ऊर्ध्व नहीं होती ।यदि धर्म सहायक नहीं होता और अग्नि की लपटे तिरछी जाती, तो पृथ्वी पर के सभी प्राणी जल कर भस्म हो जाते ।वायु की गति ऊर्ध्व होती तो पृथ्वी पर के जीव और अन्य वस्तुएँ उड कर आकाश मे चली जाती है ।बिना किसी आधार और अवलम्बन के यह पृथ्वी ठहरी हुई है और अनन्त जीव अजीव को धारण कर रही है ।यह भी धर्म के ही प्रभाव से है ।धर्म के शासन से ही विश्व के उपकार के लिए सूर्य और चन्द्रमा का उदय होता है ।

जिसके कोई बन्धु नहीं है, उसका यह विश्व-वत्सल धर्म ही बन्धु है ।जिसके कोई मित्र नहीं उसका मित्र धर्म है ।यह अनाथों का नाथ और रक्षक-विहीन जीवों का रक्षक है ।यह नरक मे पडते हुए प्राणियो की रक्षा करने वाला है ।इसकी कृपा से जीव, उन्नत होता हुआ सर्वज्ञ-सर्वदर्शी होता है और परम सुख को प्राप्त कर लेता है ।

मिथ्यादृष्टि लोगों ने दस प्रकार के धर्म को तात्त्विक दृष्टि से कभी नहीं देखा नहीं जाना ।यदि किसी ने कहीं इनका उल्लेख किया हो तो वह केवल् वाणी का नृत्य ही है ।वाणी में तो तत्व प्राय सभी के रह सकता है और किसी-किसीके मन में भी तत्त्वार्थ रह सकता है (अविरत सम्यग्दृष्टियों

के ?) किन्तु जिन-धर्म को स्पर्श करने वाले पुरुषों के तो वाणी, मन और क्रिया में - सभी में सत्वार्थ होता है । जिनकी बुद्धि कुशास्त्रो के आधीन हो गई है वे धर्म-रत्न को बिलकुल नहीं जानते । गोमेध नरमेध और अश्वमेधादि करने वाले प्राणी-घातक जीवा को धर्म की प्राप्ति कैसे हो सकती है ? अतएव परस्पर विरोधी, अस्तित्व-हीन और जिनमें सुज्ञ पुरुषा को श्रद्धा नहीं हो सके, ऐसी कल्पित बातों को बताने वाले शास्त्र-रचयिताओ में धर्म मिले ही कैसे? धर्म को नहीं जानने वाले पुरुषो से अधार्मिक व्यवस्था होती है । जैसे-परद्रव्य को हरण करने के नियम और मिट्टी तथा पानी से आत्मा की शुद्धि होने का विधान ।

"स्त्री सेवन नहीं कर के ऋतुकाल का उल्लंघन करने वाले को गर्भहत्या का पाप लगे"- इस प्रकार कह कर, ब्रह्मचर्य का नाश करने वालो में धर्म की सम्भावना भी कैसे हो सकती है ? यजमान का सर्वस्व लेने की इच्छा करने वाले और द्रव्य के लिए प्राण त्याग करने वालों में 'निष्परिग्रहता' नहीं हो सकती । स्वल्प अपराध होने पर क्षणमात्र में शाप देने वाले लौकिक ऋषियों मे क्षमा का लेश भी दिखाई नहीं देता । जाति आदि के मद से और दुराचरण से जिनके हृदय मलाघोर रहते हैं, ऐसे चतुर्थ आश्रम वाले सन्यासियों मे कोमलता-सरलता नहीं हो सकती । हृदय में दंभ रखने वाले और ऊपर से बुगला-भक्त बनने वाले ऐसे पाखंड व्रत वाला में सरलता नहीं होती । गृह और पुत्रादि के परिग्रह वाले और लोभ के कुलग्रह रूप जीवों मे निर्लोभिता नहीं हो सकती । इस प्रकार के अनेक दोषों से युक्त लोगों का बताया हुआ मार्ग, कदापि धर्म नहीं हो सकता । वास्तविक और सर्वथा निर्दोष धर्म तो राग-द्वेष और मोह से रहित तथा केवलज्ञान से सुशोभित ऐसे अरिहंत भगवंता का ही है । इस प्रकार के विशुद्ध धर्म से जिनेश्वर भगवंतों की महानता और निर्दोषता सिद्ध होती है ।

मनुष्य राग-द्वेष के कारण असत्यवादी बनता है, किन्तु जिनेश्वर भगवंता में रागद्वेष का लेश भी नहीं है फिर उनमें असत्यवादिता कैसे आ सकती है ? जिनके चित्त रागादि दोषों से कलुषित होते हैं उनके मुँह से सत्य वाणी नहीं निकलती । जो यज्ञ-हवन आदि कर्म करते हैं वापी, कूप तालाब नदी आदि में स्नान करने से पुण्य होना मानते हैं पशु का घात कर के स्वर्ग सुख की आशा करते हैं, ब्राह्मण भोजन से पितरों को तृप्त होना मानते हैं 'घृतयोनि' ✿ आदि कर के प्रायश्चित्त करते हैं । पाँच प्रकार की आपत्तियाँ आने पर स्त्रियों का पुनर्विवाह करवाते हैं । यदि स्त्री में पुत्र को जन्म देने की शक्ति हो तो उसमें 'क्षेत्रज पुत्र' ● की उत्पत्ति करवाने का निरूपण करते हैं । दूषित स्त्रियाँ रजस्राव से शुद्ध

✿ यदि कोई पुरुष पर स्त्री संग करे, तो घी की योनि बना कर दान देने से प्रायश्चित्त हो कर शुद्धि होना माना जाता है ।

● पति के अभाव में अन्य पुरुष के संग से जो स्त्री, पुत्र उत्पन्न करती है वह पुत्र 'क्षेत्रज' कहलाता है ।

होती है - ऐसा मानते हैं । कल्याण की बुद्धि से यज्ञ में बकरो को मार कर उनके लिग से आजीविका करते हैं, सौत्रामणि और सप्ततातु यज्ञ में मदिरा का पान करते हैं । विष्टा खाने वाली गायो का स्पर्श कर के पवित्र होना मानते हैं । जल आदि के स्नान मात्र से पापो की शुद्धि होना कहते हैं । बड, पीपल, आँवली आदि वृक्षों की पूजन करते हैं । अग्नि मे किये हुए हव्य से देवों की तृप्ति होना मानते हैं । पृथ्वी पर गाय दूहने से अरिष्ट (दु ख) की शान्ति होना कहते हैं । ऐसे व्रत और धर्म का उपदेश करते हैं कि जिससे स्त्रियों को मात्र विडम्बना ही होती है । लम्बी जटा, भस्म, अगराग और कोपिन धारण करते हैं । आक, धतूरे और मालूर के फूलो से देव की पूजा करते हैं । गीत नृत्य करते हुए बार-बार अप-शब्द बोलते हैं । मुख बिगाड कर गीत नाद करते हैं । असभ्यभाषा पूर्वक देव, मुनि और लोगों को सम्बोधन करते हैं । व्रत का भग कर के दासी-दासपना करना चाहते हैं । कन्दादि अनन्तकाय और फल-मूल तथा पत्र का भक्षण करते हैं । स्त्री और पुत्र के साथ वन में जा कर बसते हैं । भक्षाभक्ष, पेयापेय और गम्यागम्य का विवेक छोड कर समान रूप से आचरण करते हैं, तथा 'योगी' के नाम से प्रसिद्ध होते हैं । कई कौलाचार्य के शिष्य होते हैं । इनके तथा अन्य कई मतावलम्बियो के मन मे जैन धर्म का स्पर्श भी नहीं हुआ हैं । उन्हे यह मालूम नहीं है कि धर्म क्या है ? धर्म का फल क्या है ? और उनके धर्म मे प्रामाणिकता कितनी है ?

श्री जिनेश्वर भगवत के बताये हुए धर्म की आराधना से इस लोक तथा तथा परलोक में जो सुखदायक फल होता है, वह तो आनुसागिक (गौण रूप) है । मुख्य फल तो मोक्ष ही है । जिस प्रकार खेती करने का मुख्य फल धान्य की प्राप्ति है । इसके साथ जो पलाल- भूसा आदि की प्राप्ति होती है, वह गौण रूप है । उसी प्रकार धर्म-करणी का मुख्य फल मोक्ष ही है । सासारिक सुख होता है, वह गौण रूप है ।

जैन-धर्म अलौकिक धर्म हैं । इसका उद्देश्य आत्मा की दबी हुई अनन्त शक्तियों का विकास कर के परमात्म-पद प्राप्त कराना है । इस धर्म की आराधना से आत्मा, अपने भीतर रहे हुए अनन्त सहज सुखो को प्रकट कर के आत्मानन्द में लीन रहती है ।

स्वाख्यात खलु धर्मोऽय, भगद्भिर्जिनोत्तमै ।
य समालबमानो हि, न मज्जेद् भवसागरे ॥ १ ॥
सयम सुनृत शौच, ब्रह्माकिचनता तप ।
क्षतिर्मार्दवमृजुता, मुक्तिश्च दशधा स तु ॥ २ ॥

केवलज्ञान-केवलदर्शन के धारक जिनेश्वर भगवत ने आत्म-कल्याणकारी धर्म का स्वरूप बहुत ही स्पष्टता से बतलाया है । जो भव्यात्माएँ इस शक्तिशाली धर्म का अवलम्बन करती है, वे ससार भ्रमण

रूपी भव सागर में नहीं डूयती, किन्तु शाश्वत सुखो की भोक्ता यन जाती है । जिनेश्वरोपदेशित धर्म, सयम (अहिंसा) सत्य, शौच (अदत्त त्याग) ब्रह्मचर्य अकिंचनता तप क्षमा नम्रता सरलता और निर्लोभता रूप दस प्रकार का है ।

आगे धर्म का महात्म्य यतलाये हुए कहा है कि -

धर्म-प्रभावत कल्पद्रुमाद्या ददतिप्सितम् ।
गोचरेपि न ते यत्स्युर धर्माधिष्ठितात्मनाम् ॥ ३ ॥
अपारे व्यसनाभोधौ पतत पाति देहिनम् ।
सदा सविधवर्त्येको यधुर्धर्मोऽतिवत्सल ॥ ४ ॥
अप्लावयति नाभोधिराश्वासयति चायुद ।
यन्महीं स प्रभावोय ध्रुव धर्मस्य केवल ॥ ५ ॥
न ज्वलत्यनलस्तिर्यग् यदूर्ध्वं याति नानिल ।
अचित्य महिमा तत्र, धर्म एव नियधनम् ॥ ६ ॥
निरालया निराधारा, विश्वाधारा वसुन्धरा ।
यच्चावतिष्ठते तत्र, धर्मादन्यन्न कारणम् ॥ ७ ॥
सूर्याचन्द्रमसावेतौ विश्वोपकृतिहेतवे ।
उदयेते जगत्यस्मिन्, नून धर्मस्य शासनात् ॥ ८ ॥

– कल्पवृक्ष जो इच्छित फल देता है, कामधेनु जो मनोकामना पूर्ण करती है और चिन्तामणि रत्न जो सभी प्रकार की चिन्ताओ को दूर कर के वैभवशाली यनाता है वह धर्म के फल स्वरूप ही मिलता है । अधर्मी – पापी मनुष्यो को तो इन उत्तम वस्तुओं का दर्शन भी नहीं होता है ।

कल्पवृक्ष का योग उन भाग्यशाली मनुष्यों को मिलता है, जिनके शुभ-कर्मों का उदय हो, जिनकी मनोवृत्ति प्रशस्त हो, जिनमें बुरी भावनाए नहीं उमडती हो। ऐसे युगलिक जीवों को कल्पवृक्ष का योग मिलता है । इन वृक्षों से उनकी सभी प्रकार की इच्छाओं की पूर्ति हो जाती है ।

कामधेनु गाय जो देवाधिष्ठित कही जाती है और चिन्तामणि रत्न भी उन्हीं भाग्यशाली को मिलता है जो धर्मसाधना कर के शुभ-कर्मों का सग्रह करते हैं ।

महान् दु खों से भरपूर ऐसे अपार ससार रूपी सागर में पडते हुए जीवों का, परम वत्सल एव बान्धव के समान रक्षा करने वाला एक मात्र धर्म ही है ।

जिसमें सारा ससार डूब कर नष्ट हो सकता है, ऐसा महासागर भी पृथ्वी को नहीं डूबाता और जो मेघ, सूर्य के प्रखर ताप से तप्त बनी हुई पृथ्वी को जल-सिचन से शीतल करके फलद्रुप बनाता है, यह भी धर्म का ही प्रभाव है ।

अग्नि का स्वभाव ऊर्ध्वगामी है, यह भी धर्म का प्रताप मानना चाहिए, अन्यथा वह तिरछी चाल चलने लगे, तो सभी को जला कर भस्म कर दे । जिनके पाप-कर्मों का उदय होता है, वहाँ जलती हुई आग, हवा के जोर से तिरछी गति कर के गाँव के गाँव भस्म कर देती है ।

वायु की गति ऊर्ध्व नहीं हो कर तिरछी गति है, यह भी धर्म के ही प्रताप से है । यदि वायु की गति ऊर्ध्व होती, तो सभी वस्तुएँ उड कर आकाश में चली जाती और हम पृथ्वी पर सुखपूर्वक नहीं रह सकते । वायु-प्रकोप से कभी मकान आदि उड जाते हैं, यह स्थिति पापोदय वालो के लिए कारणभूत होती है । यदि वायु का स्वभाव ही उस प्रकार वेगपूर्वक ऊर्ध्व गमन का होता, तो जीवो की क्या दशा होती ? वास्तव में यह धर्म का ही प्रभाव है कि जिससे महावायु और प्रतिकूल वायु पर अकुश रहता है ।

विश्वभर के लिए आधारभूत यह पृथ्वी, किसके आधार पर है ? यह घनोदधि आदि तथा आकाश पर आधारित पृथ्वी, नीचे चली जा कर सभी को नष्ट क्या नहीं कर देती ? क्या इसे कोई ईश्वर जैसी महाशक्ति उठाये हुए है ? नहीं, यह स्वभाव से है और धर्म के प्रताप से इसमें विभाव पैदा नहीं होता। जहाँ पापोदय विशेष हो, वहाँ भूकम्प आदि विभाव उत्पन्न हो कर विनाश होता है। अतएव पृथ्वी की स्वाभाविक स्थिति भी धर्म के प्रभाव से प्रभावित है ।

जीवो को सूर्य का प्रकाश और चन्द्र की ज्योति मिलती है और उससे विश्व का उपकार होता है, वह भी धर्माज्ञा से प्रभावित है । जहाँ व जब सूर्य का प्रकाश न्यूनाधिक होता है, तब लोगों के कष्ट बढते हैं ।

अबन्धूनामसौ बन्धु – रसखीनामसौ सखा ।
अनाथानामसौ नाथो, धर्मो विश्वैकवत्सल ॥ ९ ॥
रक्षोयक्षोरगव्याघ्र – व्यालानलगरादय ।
नापकर्त्तुमल तेषा, यैधर्मर्म शरण श्रित· ॥ १० ॥
धर्मो नरक पाता – पातादवति देहिन ।
धर्मो निरुपम यच्छत्यपि सर्वज्ञवैभवम् ॥ ११ ॥

जिसके कोई भाई नहीं, उसका सच्चे अर्थ में धर्म ही भाई है । धर्म अमित्र का मित्र और अनाथ का नाथ है । यह सभी का हित करने वाला है । जिसने धर्म का शरण लिया है, उसे यक्ष-राक्षस आदि

नहीं सता सकते, साँप नहीं काटता, सिंह वार नहीं करता और अग्नि तथा विष आदि कष्ट उत्पन्न नहीं कर सकते । धर्म प्राणी को नरक एवं अधोलोक में नहीं गिरने देता । यह धर्म का ही महिमा है कि जिससे जीव, सर्वज्ञता रूपी अनुपम आत्म-लक्ष्मी को प्राप्त कर परम ऐश्वर्यशाली परमात्मा बन जाता है ।

जिन्हें सद्भाग्य से ऐसे विश्वोत्तम धर्म की प्राप्ति हुई है, उन्हें इससे अधिकाधिक लाभ प्राप्त कर जीवन सफल बनाना चाहिए ।''

भगवान् ने तीर्थ स्थापना की ।'सूक्ष्म' आदि ६६ गणधर हुए ।ग्रामानुग्राम विचरते हुए प्रभु, द्वारिका नगरी के उद्यान में पधारे । द्विपृष्ट वासुदेव, भगवान् को वन्दना करने आये। भगवान् की अमोघ देशना सुन कर कई भव्यात्माओं ने संसार का त्याग कर, निर्ग्रन्थ प्रव्रज्या स्वीकार की । कई ने देशविरति ग्रहण की और वासुदेव-बलदेव आदि बहुतजनों ने सम्यक्त्व स्वीकार कर मिथ्यात्व का त्याग किया ।

भगवान् वासुपूज्य स्वामी के ७२०००साधु, एक लाख साध्वियें, १२००चौदह पूर्वधर, ५४०० अवधिज्ञानी, ६१०० मन पर्यवज्ञानी ६००० केवलज्ञानी, १०००० वैक्रिय लब्धिधारी, ४७०० वादी २१५००० श्रावक और ४३६००० श्राविकाएँ हुई ।भगवान् एक मास कम ५४००००० वर्ष तक केवल-पर्याय युक्त तीर्थंकर रहे ।आयुष्य समाप्ति का समय निकट आने पर भगवान् चम्पा नगरी पधारे ।६०० मुनियों के साथ अनशन स्वीकार किया और एक मास के बाद मोक्ष प्राप्त किया ।

प्रभु १८००००० वर्ष कुमार अवस्था में और ५४००००० वर्ष श्रमण-पर्याय में यों कुल ७२०००००वर्ष का भोगा । देवों ने प्रभु का निर्वाण महोत्सव किया ।

दूसरे वासुदेव महा आरम्भ और महा परिग्रह युक्त और देव जैसे भोग भोग कर, आयु पूर्ण होने पर, छठी नरकभूमि में उत्पन्न हुए ।कुमारपन में ७५००० वर्ष ७५००० मण्डलिक राजापने, १०० वर्ष दिग्विजय में और ७२४९९०० वर्ष वासुदेवपने रहे ।कुल आयु ७४००००० वर्ष का भोगा ।वासुदेव की मृत्यु के बाद संसार से विरक्त हो कर विजय बलदेव श्री विजयसिंह आचार्य के समीप दीक्षित हुए और कर्म क्षय कर के मोक्ष प्राप्त किया ।

बारहवें तीर्थंकर

भगवान्

।। वासुपूज्य जी का चरित्र सम्पूर्ण ।।

भ० विमलनाथ जी

धातकी-खड द्वीप के पूर्व-विदह क्षेत्र की भरत नामक विजय में महापुरी नाम की नगरी थी। पद्मसेन महाराज उस नगरी के शासक थे। वे गुणा के भण्डार और बलवानों मे सर्वोपरि थे। जैनधर्म पर उनकी प्रगाढ श्रद्धा थी। वे राज्य का सचालन अनासक्ति पूर्वक कर रहे थे। उनके हृदय में वैराग्य बसा हुआ था। श्री सर्वगुप्त आचार्य का योग पा कर वे दीक्षित हो गए और चारित्र तथा तप की उत्कृष्ट आराधना करते हुए तीर्थंकर नाम कर्म का बन्ध कर लिया। बहुत वर्षों तक विशुद्ध चारित्र पालते एव उग्र तप करते हुए आयु पूर्ण कर के वे सहस्रार देवलोक म महान् ऋद्धिशाली देव हुए।

इस जम्बूद्वीप के भरत-क्षेत्र में 'कम्पिलपुर' नामक नगर था। वह नगर धन, जन, वैभव और सुख समृद्धि से भरपूर था। 'कृतवर्मा' नाम के नरेश वहाँ के अधिपति थे। वे धीर, वीर नीतिवान् और सद्गुणी थे। महारानी श्यामादेवी उनकी अग्रमहिषी थी। महारानी भी कुल, शील, लक्षण एव वर्णादि मे सुशोभित तथा श्री-सम्पन्न थी।

पद्मसेन मुनिराज का जीव, वैशाख-शुक्ला द्वादशी को उत्तराभाद्रपद नक्षत्र में सहस्रार देवलोक से च्यव कर महारानी श्यामादेवी की कुक्षि मे उत्पन्न हुआ। महारानी ने चौदह महास्वप्न देखे। गर्भकाल पूर्ण होने पर माघ-शुक्ला तृतीया की मध्यरात्रि को उत्तराभाद्रपद नक्षत्र में महारानी ने एक परम तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया। उस समय सभी ग्रह अपने-अपने उच्च स्थान पर थे। जन्म होते ही छप्पन कुमारिका देवियाँ, सूतिका कर्म करने के लिए आ गई और अन्य देव तथा इन्द्र भी जन्मोत्सव करने आये। मेरु-पर्वत पर देवा ने जन्मोत्सव किया। प्रात काल होने पर महाराज कृतवर्मा नरेश ने भी जन्मोत्सव प्रारम्भ किया। गर्भकाल में माता, विशेष विमल (निर्मल) हो गई थी, इसलिए पुत्र का नाम 'विमलकुमार' रखा गया। यौवन-वय प्राप्त होने पर राजकुमारियों के साथ विमलकुमार का विवाह हुआ। पन्द्रह लाख वर्ष पर्यन्त कुमार अवस्था में रहने के बाद पिता ने कुमार का राज्याभिषेक कर दिया। तीस लाख वर्ष तक आप राज्य का सचालन करते रहे। इसके बाद आपने वर्षीदान दे कर ससार का त्याग कर दिया और माघ-शुक्ला चतुर्थी के दिन जन्म-नक्षत्र मे ही, बेले के तप से एक हजार राजाओ के साथ दीक्षा ग्रहण की। फिर आप ग्रामानुग्राम विचरने लगे।

स्वयंभू वासुदेव चरित्र

इस जम्बूद्वीप के पश्चिम महाविदेह क्षेत्र की आनन्दकरी नगरी में 'नन्दीसुमित्र' नाम का राजा राज करता था। वह महाबलवान् और विवेकवान् था। ससार की असारता पर उसके मन में उद्वेग था।

राज का सचालन करते हुए भी वह अलिप्त रहता था और सर्वत्यागी यनने का मनोरथ कर रहा था। श्री सुव्रताचार्य मुनिराज का योग मिलते ही वह प्रव्रजित हो गया और सयम तथा विविध अभिग्रह युक्त तप करता हुआ आयु पूर्ण कर के अनुत्तर विमान में देव हुआ।

भरत-क्षेत्र की श्रावस्तिक नगरी में धनमित्र नाम का राजा राज करता था। धनमित्र की मित्रता के वश हो कर 'यलि' नाम का एक दूसरा राजा भी श्रावस्ति में ही आकर धनमित्र के साथ रहने लगा। ये दोनो द्युतकीडा में आसक्त हो कर पासा फेंक कर खेलने लगे। वे दानों इस खेल म इतने लुब्ध रहते कि हिताहित का भी विचार नहीं करते। वे युद्ध के समान एक दूसरे को हरा कर विजय प्राप्त करने के लिए सम्पत्ति को दाँव पर लगाने लगे। होते-होते धनमित्र ने अपना सारा राज्य दाँव पर लगा दिया और हार गया। वह कगाल-के समान राज्य छोड कर चला गया और विक्षिप्त के समान भटकने लगा। भटकते हुए उसे निर्ग्रन्थ अनगार श्री सुदर्शन मुनि के दर्शन हुए। धर्मदेशना सुन कर वह दीक्षित हो गया और सयम तथा तप की आराधना करता हुआ विचरने लगा। वह चारित्र की आराधना तो करता था किन्तु 'यलि' राजा के द्वारा हुए अपने अपमान को अपने हृदय से निकाल नहीं सका। उसे रह-रह कर मित्र द्वारा हुआ विश्वासघात और अपमान खटकने लगा। अन्त में उसने निदान (दृढ सकल्प) कर ही लिया कि-"यदि मेरे तप का फल हो, तो मैं भवान्तर में उस मित्र-द्रोही 'यलिराजा' का वध करके उसके पाप का यदला लूँ" इस प्रकार तप से प्राप्त आत्मयल को दाँव पर लगा दिया और अनशन कर के मृत्यु पा कर वह यारहवें स्वग में उत्पन्न हुआ।

यलि राजा भी कालान्तर में राज का त्याग कर के साधु हो गया और सयम पाल कर देवलोक में गया। वहाँ से आयु पूर्ण कर के भरत-क्षेत्र के नन्दनपुर नगर के 'समरकेसरी' राजा की सुन्दरी रानी की कुक्षि से पुत्र के रूप में उत्पन्न हुआ। वह यडा प्रतापी और अर्ध चक्रवर्ती 'मेरक' नामक 'प्रतिवासुदेव' हुआ। उसकी समानता करने वाला उस समय दूसरा कोई भी राजा नहीं था। उसकी आज्ञा का उल्लघन करने की शक्ति किसी में नहीं थी।

द्वारिका नगरी म रुद्र नाम का राजा था। उसके 'सुप्रभा' और 'पृथ्वी' नाम की दो रानियाँ थीं। 'नन्दीसुमित्र' का जीव अनुत्तर विमान से च्यव कर सुप्रभादेवी की कुक्षि में उत्पन्न हुआ। माता ने यलदेवपद को सूचित करने वाले चार महास्वप्न देखे। जन्म होने पर पुत्र का नाम 'भद्र' रखा गया। वह अनुक्रम से यढता हुआ एक महा यलवान् योद्धा हुआ।

धनमित्र का जीव अच्युत स्वर्ग से च्यव कर पृथिवी देवी की कुक्षि में उत्पन्न हुआ और सात महास्वप्न से वासुदेव पद के धारक विशिष्ट शक्तिशाली महापुरुष के आगमन का सन्देश मिला। जन्म होने पर पुत्र का 'स्वयभू' नाम दिया गया। कुमार दिन-प्रति-दिन यढने लगा। यड़े भाई भद्र का स्वयभू पर अत्यन्त स्नेह था। स्वयभू भी अद्वितीय यलवान् और सभी कलाओं म प्रवीण हो गया।

एक यार दोनों राजकुमार मत्री-पुत्र और अन्य साथियों के साथ नगर के समीप के उपवन में

क्रीडा करने गये। उन्होंने देखा कि बहुत-से हाथी-घोडे और धन से भरपूर तथा बहुत-से सैनिकों से युक्त एक पडाव जमा हुआ है। उन्होने मत्री से पूछा। पता लगाने पर मालूम हुआ कि -

'शशिसौम्य राजा पर, महाराजाधिराज 'मेक' क्रुद्ध हो गया और दण्ड-स्वरूप उसकी सम्पत्ति की माँग की। शशिसौम्य, अपने जीवन की रक्षा के लिए यह सब सम्पत्ति दण्ड-स्वरूप भेज रहा है।'

यह बात सुनते ही स्वयभू कुमार का कोप जाग्रत हुआ। उसने गर्वपूर्वक कहा -

"तो यह रत्न-भडार और हाथी-घोडे शशिसौम्य स दण्ड में लिये जा रहे हैं? अब इनका स्वामी शशिसौम्य नहीं रहा? हम चाहते हैं कि यह सम्पत्ति मेरक की भी नहीं बने। यह सब हमारा है। हमारे सामने से-हमारे देखते, यह मेरक के पास नहीं जा सकती। यदि बलवान् ही सब सम्पत्ति का स्वामी हो सकता है, तो हम भी इसे प्राप्त कर सकत हैं।"

उन्होंने अपने सैनिकों को आज्ञा दी - 'तुम जाओ और उपवा के समीप लगे हुए पडाव में से सभी हाथी-घोडे, रत्न-भण्डार और शस्त्रादि लूट लाओ।'

सैनिक गये और धावा कर दिया। रक्षक-दल स्तब्ध रह गया। वह इस अचानक आक्रमण के लिए तैयार नहीं था। सभी भाग गये और सारी सम्पत्ति सरलता से प्राप्त हो गई। उन भागे हुए सैनिकों ने नन्दनपुर जा कर मेरक नरेश के सामने अपनी दुर्दशा और लूट का वर्णन किया। मेरक नरेश का कोप भड़का। उन्होने चढाई करने की आज्ञा दी किन्तु मत्री ने रोकते हुए कहा -

'महाराज ! यह दुर्घटना बालको की उद्दडता से हुई है। इसका दण्ड रुद्र को नहीं मिलना चाहिए। रुद्र राजा आपका आज्ञाकारी रहा है। वह सारी सम्पत्ति लौटा देगा और विशेष में कुछ भेट भेज कर क्षमा याचना करेगा। हमे उसके पास दूत भेज कर उपालभ देना चाहिए। इस प्रकार शाति से काम हो जाय तो अच्छा है। अन्यथा बाद में भी आप शक्ति का प्रयोग कर के उसे दण्ड दे सकेगे।'

मत्री का परामर्श मान्य हुआ और उसी को दूत बना कर द्वारिका भेजा गया। मत्री ने रुद्र राजा को समझाया -

"नरेश! तुम्हारे पुत्रो ने यह अनर्थ क्यों कर डाला? आप तो इसके परिणाम को जानते ही हैं। स्वामी का मान रखने के लिए उसके कुत्ते का भी अनादर नहीं होता तब इन कुमारों ने कैसा भयकर दु साहस कर डाला। अब सारी सामग्री और अपनी ओर से विशेष भेट भेज कर इस कलुष को धो डालिये। इससे शाति हो जायेगी और कुमारो के अविनय को अज्ञानता का आवरण ढँक देगा।"

मत्री की बात सुन कर राजा विचार में पड गया। इतने में राजकुमार स्वयभू कहने लगे -

- "आपकी स्वामी-भक्ति और पिताश्री के प्रति पूज्य-भाव से आपने जो परामर्श दिया वह सत्य एव उचित है। किन्तु आप भी सोचिये कि हमने जो सम्पत्ति प्राप्त की वह मेरक की ता नहीं था? यदि आपका स्वामी, अपने बल क अधिकार से दूसरों की सम्पत्ति का स्वामी हो सकता है, तो

हम क्या नहीं हो सकते? हम भी अपने भुज-बल से उसका सारा राज्य छीन सकते हैं। 'वीर-भाग्य वसुन्धरा'-जब पृथ्वी का राज्य, वीर पुरुष ही कर सकते हैं, तो अकेला मेरक ही वीर नहीं है। मेरे ज्येष्ठ बन्धु महाबाहु भद्रजी और मैं अपनी शक्ति से यह समस्त भूमि आपके राजा से छीन लेंगे और दक्षिण-भरत में निष्कंटक राज्य करेंगे। मेरक ने भी दूसरे राजाओं को जीत कर राज्य प्राप्त किया है तो हम उस अकेले को जीत कर पूरा राज्य अपने अधिकार में कर लेंगे।''

स्वयंभू कुमार की बातें सुन कर मंत्री को आश्चर्य हुआ और उनकी सामर्थ्य का अनुमान कर के भय भी लगा। वे वहाँ से लौट गये और मेरक नरेश से सभी बात स्पष्ट रूप से कह दी। मेरक की कषायाग्नि प्रज्वलित हो गई। वह विशाल सेना ले कर द्वारिका की ओर चल दिये। दोनों सेनाओं का सामना होते ही युद्ध प्रारम्भ हो गया। भयंकर नरसंहार मच गया। फिर दोनों ओर से विविध प्रकार के भयंकर अस्त्रों का प्रहार होने लगा। अन्त में मेरक द्वारा छोड़े हुए चक्र के आघात से स्वयंभू कुमार मूर्च्छित हो कर रथ में गिर गए। थोड़ी देर में सावधान हो कर उसी चक्र के प्रहार से राजकुमार स्वयंभू ने मेरक का वध कर के युद्ध का अन्त कर लिया। मेरक के अन्त के साथ ही स्वयंभू, मेरक के राज्य के स्वामी बन गए। वे दक्षिण-भरत को पूर्ण रूप से विजय कर के तीसरे वासुदेव पद पर प्रतिष्ठित हुए। बड़े आडम्बर पूर्ण उत्सव के साथ उनका राज्याभिषेक हुआ।

× × × × × × × × × × ×

दो वर्ष पर्यन्त छद्मस्थ अवस्था में रह कर भगवान् श्री विमलनाथ स्वामी को पौषशुक्ला छठ के दिन बेले के तप से उत्तराभाद्रपद नक्षत्र में केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त हो गया। देवों और इन्द्रों ने केवल-महोत्सव किया। भगवान् ने प्रथम धर्म देशना देते हुए फरमाया-

धर्मदेशना

बोधि-दुर्लभ भावना

अकाम-निर्जरा रूपी पुण्य से बढ़ते-बढ़ते जीव स्थावरकाय से छूट कर त्रसकाय में आता है। फिर बेइन्द्रिय से तेइन्द्रिय या बढ़ते-बढ़ते पंचेन्द्रिय अवस्था बड़ी कठिनाई से और बहुत लम्बे काल के बाद मिलती है। पंचेन्द्रिय अवस्था प्राप्त करने के बाद भी जब कर्म बहुत हल्के हो जाते हैं तभी मनुष्य-जन्म की प्राप्ति होती है। इस प्रकार आर्यदेश, उत्तमकुल सभी इन्द्रियों की पटुता और दीर्घ आयु की कथंचित् प्राप्ति होती है। इससे भी अधिक पुण्य का उदय होता है, तभी सद्धर्मकथक सद्गुरु का सुयोग मिलता है और शास्त्रश्रवण करने की अनुकूलता प्राप्त होती है। पुण्य का अत्यधिक उदय होता है तब धर्म में श्रद्धा होती है। इस प्रकार सभी प्रकार की अनुकूलता हो तो भी तत्त्वनिश्चय रूप 'बोधिरत्न' की प्राप्ति होना तो महान् दुर्लभ है। श्रद्धा के बाद प्रतीति और उसके बाद रुचि हो जाना महानतम पुण्योदय एवं कर्म-निर्जरा हो तभी होता है।

बोधि-रत्न की प्राप्ति जितनी दुर्लभ है, उतनी राज-सत्ता और चक्रवर्तीपन की प्राप्ति दुर्लभ नहीं है। सभी जीवों ने, ऐसे सभी भाव, पहले अनन्तबार प्राप्त किये होंगे, किन्तु जब इस ससार मे जीवा का परिभ्रमण देखने मे आवे तो विचार होता है कि जीवो ने बोधि-रत्न की प्राप्ति पहले कभी नहीं की। इस ससार म परिभ्रमण करते हुए सभी प्राणियो को पुद्गल-परावर्तन अनन्त हो गए। जब अन्त का अर्धपुद्गल परावर्तन शेष रहता है, तब सभी कर्मों की *स्थिति एक कोटाकोटी सागरोपम से कम होती है और तभी 'यथाप्रवृत्तिकरण' से आगे बढ* कर कोई प्राणी ग्रन्थी-भेद कर के उत्तम 'बोधिरत्न' को प्राप्त करता है।

कुछ जीव ऐसे भी होते हैं कि यथाप्रवृत्तिकरण कर के ग्रन्थी-भेद की सीमा तक तो आते हैं, किन्तु यहाँ आ कर रुक जाते हैं और आगे नहीं बढ कर उलटे पीछे लौट आते हैं और फिर ससार में भटकते रहते हैं।

सम्यक्त्व-रत्न प्राप्त होने में अनेक प्रकार की बाधाएँ रही हुई है। उत्थान के इस मार्ग में कुशास्त्रो का श्रवण, मिथ्यादृष्टि का समागम, बुरी वासनाएँ और प्रमाद ऐसे शत्रु हैं, जो आगे नहीं बढने दे कर पीछ धकेलते हैं। यद्यपि चारित्र-रत्न की प्राप्ति भी दुर्लभ है, किन्तु बोधि-रत्न *की प्राप्ति के बाद* चारित्र-रत्न *की प्राप्ति* की दुर्लभता बहुत कम हो जाती है और चारित्र की सफलता भी बोधि के अस्तित्व म ही होती है। अन्यथा प्राप्त चारित्र भी निष्फल हो जाता है। अभव्य प्राणी भी चारित्र ग्रहण कर के नौवे ग्रैवेयक तक उत्पन्न हो सकता है किन्तु बोधि-रत्न के अभाव में वे मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकते।

चक्रवर्ती महाराजाधिराज के पास अपार सम्पत्ति होती है किन्तु बोधि-रत्न नहीं हो तो वे एक प्रकार से रक (दरिद्र) हैं और बोधि-रत्न को जिसने प्राप्त कर लिया-ऐसा रक भी उस चक्रवर्ती सम्राट से अधिक सम्पत्तिशाली है।

जिसे बोधि-रत्न *प्राप्त हो गया*, वह इस ससार के प्रति कभी राग नहीं करता और ममत्व रहित हो कर मुक्ति-मार्ग की आराधना करता है।

अकामनिर्जरारूपात्पुण्याज्जतो प्रजायते।
स्थावरत्वात्त्रसत्व वा तिर्यक्त्व वा कथचन॥ १ ॥
मनुष्यमार्यदेशश्च, जाति सर्वाक्षपाटवम्।
आयुश्च प्राप्यते तत्र, कथचित् कर्मलाघवात्॥ २ ॥
प्राप्तेषु पुण्यत श्रद्धा, कथक श्रवणेष्वपि।
तत्त्वनिश्चयरूप तद् बोधिरत्न सुदुर्लभम्॥ ३ ॥

वास्तव में बोधि-रत्न-तत्त्व की विशुद्ध समझ, उस पर श्रद्धा रुचि और प्रतीति होना महान् दुर्लभ है - "सद्धा परम दुल्लहा" इस आगम-वाणी को ध्यान में रख कर मिथ्यात्व रूपी आकर्षक डाकू से इस महारत्न की रक्षा करनी चाहिए।

भगवान् का उपदेश सुन कर अनेक भव्यात्माएँ, मोक्षमार्ग की पथिक बनी। 'मदर' आदि ५६ गणधर हुए **। ग्रामानुग्राम विहार करते हुए भगवान् द्वारिका पधारे। समवसरण की रचना हुई। वासुदेव और बलदेव, भगवान् को वन्दना करने आये। भगवान् का धर्मोपदेश सुन कर स्वयंभू वासुदेव ने सम्यक्त्व लाभ लिया और भद्र बलदेव ने श्रावकपन स्वीकार किया।

भगवान् विमलनाथ प्रभु के ६८००० साधु, १००८०० साध्वियाँ ११०० चौदह पूर्वधर, ४८०० अवधिज्ञानी ५५०० मन पर्यवज्ञानी ५५०० केवलज्ञानी ९००० वैक्रियलब्धिधारी २०८००० श्रावक और ४२४००० श्राविकाएँ हुई।

केवलज्ञान होने के बाद दो वर्ष कम पन्द्रह लाख वर्ष तक भगवान् पृथ्वी पर विहार करते हुए विचरते रहे। फिर निर्वाण-काल निकट आने पर सम्मेदशिखर पर पधारे और छह हजार साधुओं के साथ अनशन किया। एक मास का अनशन पूर्ण कर आषाढ़-कृष्णा सप्तमी को पुष्य-नक्षत्र में मोक्ष पधारे।

भगवान् पन्द्रह लाख वर्ष कुमार अवस्था में तीस लाख वर्ष तक राज्याधिपति और पन्द्रह लाख वर्ष का त्यागी जीवन व्यतीत कर, कुल साठ लाख वर्ष का पूर्ण आयु भोग कर सिद्ध पद को प्राप्त हुए।

स्वयंभू वासुदेव महा आरम्भ महा परिग्रह तथा भोग में लुब्ध हो कर और क्रूर कर्म करते हुए अपनी साठ लाख वर्ष की आयु पूर्ण कर के छठी नरक में गये। इनकी मृत्यु के बाद भद्र बलदेव विरक्त हो कर मुनिचन्द्र अनगार के पास प्रव्रजित हो गए। संयम और तप का उत्कृष्ट रूप में पालन कर के और अपनी पैंसठ लाख वर्ष की आयु पूर्ण कर के मोक्ष पधारे।

तेरहवे तीर्थंकर

भगवान्

॥ विमलनाथ जी का चरित्र सम्पूर्ण ॥

---

* प्रवचनसार ५७ गणधर बतलाता है।

१४० अनन्तनाथजी

धातकीखड द्वीप के पूर्व-विदेह क्षेत्र के ऐरावत विजय मे अरिष्टा नामकी एक महानगरी थी । पद्मरथ नाम के महाराजा वहाँ के अधिपति थे । उन्होंने अपने सभी शत्रुओं को जीत कर विजय तथा राज्य-लक्ष्मी प्राप्त कर ली थी और अब मोक्ष-लक्ष्मी साधने में उत्सुक हो गये थे । अब वे राज्य-लक्ष्मी को तृणवत् तुच्छ मानने लगे थे । उनके भवना उपवनो और नगर में अनेक प्रकार के उत्सव नाटक, नृत्य और खेल-तमाशे हो कर मनोरजन हो रहा था किन्तु पद्मरथ महाराज की उनमे रुचि नहीं रही। वे निर्लिप्त रह कर लोक-रीति का निर्वाह करते थे । कुछ समय के बाद वे 'चित्तरक्ष' नाम के मुनिराज के पास प्रव्रजित हो गए और रत्नत्रय का विशुद्ध रीति से पालन करते हुए, तीर्थंकर नाम-कर्म का बन्ध कर लिया तथा मृत्यु पा कर प्राणत देवलोक के पुष्पोत्तरविमान में देव रूप से उत्पन्न हुए ।

जम्बूद्वीप के दक्षिण-भरत में अयोध्या नाम की नगरी थी । सिहसेन नरेश अयोध्या के स्वामी थे। वे बलवान्, प्रतापी एव सद्गुणी थे । राज्य की सीमा के समीप रहे हुए बहुत-से राज्यों के राजा उनकी प्रसन्नता एव कृपा पाने के लिए उत्तम वस्तुओ की भेंट करते रहते थे । महाराजा सिहसेन के 'सुयशादेवी' नाम की महारानी थी । वह रूप, लावण्य, कला कुल और शील से सम्पन्न थी । उसमें उत्तम गुणो का निवास था ।

प्राणत देवलोक में रहे हुए पद्मरथ देव ने अपना उत्कृष्ट आयु पूर्ण कर के श्रावण-कृष्णा सप्तमी को रेवती-नक्षत्र में च्यव कर सुयशा महारानी की कुक्षि मे उत्पन्न हुआ । महारानी ने चौदह महास्वप्न देखे । वैशाख-कृष्णा त्रयोदशी की रात्रि मे पुष्य-नक्षत्र में पुत्र का जन्म हुआ । नियमानुसार देव-देवियों और इन्द्रा ने तीर्थंकर का जन्मोत्सव किया । जब पुत्र गर्भ में थे तब महाराजा सिहसेन ने शत्रुओ के अनन्त बलयुक्त मानी जाने वाली सेना को भी जीत लिया था । इसे गर्भ का प्रताप मान कर पुत्र का नाम 'अनन्तजित' दिया । यौवनवय मे विवाह हुआ और साढे सात लाख वर्ष बीतने पर पिता ने राज्य का भार दे दिया । पन्द्रह लाख वर्ष तक राज्य का सचालन किया । इसके बाद आपके मन मे ससार का त्याग कर मोक्ष के महामार्ग पर चलने की इच्छा हुई । लोकान्तिक देवो ने आ कर, ससार का त्याग कर धर्म-तीर्थ प्रवर्तन करने की प्रार्थना की । वर्षीदान दिया । वैशाख-कृष्णा चतुर्दशी को रेवती-नक्षत्र में बेले के तप से एक हजार राजाओ के साथ, महाराजा अनन्तनाथ ने सामायिक चारित्र ग्रहण किया।

वासुदेव चरित्र

जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह में नन्दपुरी नाम की एक नगरी थी । 'महाबल' नाम का महाबली राजा था । कालान्तर में वह ससार के प्रपच से विरक्त हो गया और 'ऋषभ' नाम के मुनिवर के चरणों में

दीक्षित हो गया । शुद्धता एव भावपूर्वक सयम की आराधना करते हुए महाबली मुनि, आयु पूर्ण कर 'सहस्रार' देवलोक में देव हुए ।

जम्बूद्वीप के भरत-क्षेत्र में 'कौसम्बी' नाम की नगरी थी । 'समुद्रदत्त' वहाँ का प्रतापशाली नरेश था । 'नन्दा' नाम की अनुपम सुन्दरी उसकी रानी थी । एक समय समुद्रदत्त का मित्र मलयभूमि का राजा चण्डशासन वहाँ आया । समुद्रदत्त ने उसका सगे भाई के समान बडे हर्ष और उत्साहपूर्वक स्वागत किया । वहाँ रूपसुन्दरी नन्दा रानी, चण्डशासन की दृष्टि में आ गई । वह उसे देखते ही चकित रह गया । उसके मन में विकार जागृत हो गया – इतना अधिक कि उसकी दशा ही बदल गई । वह चिंतित स्तब्ध एव विक्षुब्ध हो गया । उसके शरीर में पसीना आ गया । वह रात को सोया, परन्तु उसे नींद नहीं आई । वह तडपता ही रहा । अब वह वहीं रह कर नन्दारानी को प्राप्त करने के उपाय सोचने लगा । वह मित्र के रूप में शत्रु बन कर समुद्रदत्त के विरुद्ध योजना बनाने लगा और एक दिन समुद्रदत्त की अनुपस्थिति में छल कर के वह दुष्ट, नन्दा का हरण कर के ले गया । समुद्रदत्त को इस मित्र-घातक कृत्य से बडा दु ख हुआ । उसने नन्दा की बहुत खोज कराई किन्तु पता नहीं लगा । वह ससार से विरक्त हो कर श्री श्रेयास मुनिराज के समीप दीक्षित हो गया और चारित्र तथा तप की उग्र आराधना करने लगा । सयमी साधु बन जाने पर भी उसके मन म से मित्र द्वारा हुए विश्वासघात और अपमान का शूल नहीं निकल सका । उसने भविष्य में चण्डशासन का वध करने का निदान कर लिया । इस प्रकार अपरिमित फलदायक तप का दुरुपयोग कर परिमित कुफल वाला बना दिया और मृत्यु पा कर सहस्रार देवलोक में देव हुआ ।

चण्डशासन भी मृत्यु पा कर भव-भ्रमण करता हुआ और भीषण दु ख भोगता हुआ मनुष्य-भव पाया और भरत-क्षेत्र म पृथ्वीपुर नगर के विलास राजा की गुणवती रानी की कुक्षि में उत्पन्न हुआ । उसका नाम 'मधु' रहा । वह उस समय का अद्वितीय महाबली योद्धा हुआ । उसने अपने बाहुबल स दक्षिण भरत के सभी राज्यों को जीत कर अपने अधिकार में कर लिया । वह चौथा प्रतिवासुदेव हुआ । उसके 'कैटभ' नाम का भाई भी था । वह भी योद्धा और प्रचण्ड शक्तिशाली था ।

द्वारिका नगरी में 'सोम' नाम का गुणवान् राजा था । उसके 'सुदर्शना' और 'सीता' नाम की दो रानियाँ थी । महाबल मुनिराज का जीव सहस्रार देवलोक स च्यव कर सुदर्शना रानी की कुक्षि में आया । रानी ने चार महास्वप्न देखे । जन्म होने पर पुत्र का 'सुप्रभ' नाम दिया । कालान्तर में समुद्रदत्त मुनि का जीव भी सहस्रार देव का आयु पूर्ण कर सीतादेवी की कुक्षि में उत्पन्न हुआ । रानी ने वासुदेव क आगमन को सूचित करने वाले सात महास्वप्न देखे । जन्म होने के बाद विधिपूर्वक पुत्र का 'पुरुषोत्तम' नाम दिया । दोनों भाइयों में अपार स्नेह था । वे समवयस्क मित्र के समान साथ ही खेलते और साथ ही रहते । उन्होंने सभी प्रकार की कला सीख ली । दोनों भाई युद्ध कला में प्रवीण हो गए और महान् बलशाली हुए । देवों ने बड़े भाई सुप्रभ को हल और पुरुषोत्तम को शारग धनुष आदि प्रभावशाली आयुद्ध भेंट किए ।

कलह एव कौतुक करने में कुशल ऐसे नारदजी, इन युगल-बन्धुओ का बल और पराक्रम देख कर चकित हुए। वे भ्रमण करते हुए प्रति वासुदेव मधु के पास आये। महाराजा मधु ने नारदजी का आदर सहित स्वागत किया और कहने लगा,-

"मैं इस दक्षिण भरत-क्षेत्र का एक मात्र स्वामी हूँ। मैने यहाँ के सभी राजाओं को जीत कर अपने आधीन कर लिया। मागध, वरदाम और प्रभास, ये तीर्थ भी मेरे शासन में है। मैं देवोपम उत्कृष्ट सुखो को भोग रहा हू। आपको जिस दुर्लभ वस्तु की आवश्यकता हो, वह नि सकोच मुझ से लीजिए। मैं आपको वह वस्तु दूँगा।"

नारदजी बोले - "राजन्! मुझे किसी भी वस्तु की आवश्यकता नहीं है, न मैं कुछ लेने के लिए यहाँ आया हूँ। मैं तो वैसे ही क्रीडा करता हुआ यहाँ चला आया। किन्तु तुम्हें अपने प्रभुत्व का अभिमान नहीं करना चाहिए। कुछ चाटुकारा की प्रशसा सुन कर और निर्बल राजाओ को वश मे कर लेने मात्र से तुम सर्वजीत नहीं हो जाते। इस पृथ्वी पर एक से एक बढ कर रत्न होते हैं।"

-"नारदजी! तुम क्या कहते हो" - जरा उत्तेजित हो कर मधु नरेश बोला- "इस दक्षिण-भरत में क्या, गगा से बढ कर भी कोई नदी है और वैताढ्य से बढ कर भी कोई पर्वत है? आप बताइए कि मुझ से बढ कर कौन योद्धा आपके देखने मे आया?"

-"द्वारिका नगरी के सोम राजा के सुप्रभ और पुरुषात्तम नाम के दो पुत्र ऐसे युद्धवीर, पराक्रमी और रिपुदमी हैं कि जिनके सामने दूसरा कोई योद्धा टिक नहीं सकता। वे युगल भ्राता ऐसे लगते हैं कि जैसे स्वर्ग से शक्र और ईशान इन्द्र उतर आये हो। वे अपने भुजबल से सागर सहित पृथ्वी पर अधिकार करने याग्य हैं। जब तक वे विद्यमान हैं, तब तक तुम्हारा यह दावा निरर्थक है कि -"मैं दक्षिण-भरत का अधिपति हूँ"- नारद ने कहा।

-"यदि आपका कहना सही है, तो मैं आज ही सोम सुप्रभ और पुरुषोत्तम को युद्ध के लिए आमन्त्रण देता हूँ और इनसे द्वारिका का राज्य अपने अधिकार मे कर लेता हूँ। आप यहीं रह कर तटस्थतापूर्वक अवलोकन करें।"

इस प्रकार कह कर मधु नरेश ने अपने एक विश्वस्त दूत को समझा कर सोम राजा के पास द्वारिका भेजा। दूत ने राज-सभा में पहुँच कर और चेहरे पर विशेष रूप से दर्प धारण कर गर्वोक्तिपूर्वक बोला -

-"राजन्! अहकारियो के गर्व को गलाने वाले विनीत पर वात्सल्य भाव रखने वाले और प्रचण्ड भुजबल से सभी पर विजय प्राप्त करने वाले त्रिखण्डाधिपति महाराजाधिराज मधुकरजी का आदेश है कि पहले तो तुम भक्तिपूर्वक हमारी आज्ञा म रहते थे, किन्तु सुना है कि तुम्हारे दोनों पुत्र बडे दुर्धर्ष हो गए और तुम भी पुत्र के पराक्रम से प्रभावित हो कर बदल गए हो। इसलिए यदि तुम्हारी भक्ति पूर्ववत् हो तो तुम्हारे पास जो कुछ सार एव मूल्यवान् वस्तु हो, वह दण्ड स्वरूप अपण करा। ऐसा करने पर तुम्हे पारितोषिक रूप म उससे भी अधिक प्राप्त होगा। यदि तुमने ऐसा नहीं किया तो सर्वस्व हरण कर लिया जायेगा।"

राजदूत के ऐसे असह्य वचन सुन कर राजकुमार पुरुषोत्तम ने तत्काल कहा -

"दूत ! तुम तो सन्देश-वाहक हो, इसलिए तुम्हें मुक्त ही रखा जाता है, किन्तु इस प्रकार निर्लज्जतापूर्वक कटुतम शब्द कहलाने वाला तेरा स्वामी उन्मत्त तो नहीं हो गया है ? उसे काई भूत-प्रेत तो नहीं लग गया है ? कौन मानता है उस घमण्डी दुर्मद को अपना स्वामी ? हमने कभी उस अपना अधिकारी नहीं माना, न अब मानते हैं । इसलिए हे दूत ! तू चला जा यहाँ से और अपने स्वामी को भेज । हम उसके घमण्ड का उपाय करेंगे । कदाचित् उसके जीवन के दिन पूरे होने आये हों ? उसकी राज्य-लक्ष्मी उससे रूठने ही वाली है और वह हमारी होगी । हम मधु का विनाश कर के उसके समस्त ऐश्वर्य के स्वामी बनेंगे ।"

दोनों के बीच युद्ध हुआ । मधु प्रतिवासुदेव मारा गया और पुरुषोत्तम वासुदेव विजयी हुए । उनका सार्वभौम अर्ध भरताधिपति के रूप में राज्याभिषेक हुआ ।

× × × ×

तीन वर्ष तक छद्मस्थ अवस्था में रहने के बाद भगवान् श्री अनन्तनाथ स्वामी को सहस्राम्रवन उद्यान में अशोकवृक्ष के नीचे बेले के तप से रहे हुए, वैशाख-कृष्णा चतुर्दशी को रेवती-नक्षत्र में केवलज्ञान-केवलदर्शन उत्पन्न हुआ । भगवान् का समवसरण हुआ । भगवान् ने धर्म देशना दी । यथा-

धर्मदेशना

तत्त्व निरूपण

भगवान् ने अपनी प्रथम धर्मदेशना में फरमाया कि-

"हे भव्य जीवो ! तत्त्व को नहीं समझने वाले जीव द्रव्य से सूझते हुए भी भाव से अन्धे हैं । जिस प्रकार मार्ग के नहीं जानने वाले, अटवी में भटकते रहते हैं उसी प्रकार तात्त्विक ज्ञान के अभाव में जीव, संसार रूपी महा भयंकर अटवी में भटकते रहते हैं । जिनेश्वरों ने जीव अजीव पुण्य पाप आस्रव संवर, निर्जरा बन्ध और मोक्ष ऐसे नौ तत्त्व कहे हैं ।

सब से प्रथम तत्त्व जीव है । इसके सिद्ध और संसारी ऐसे दो भेद हैं । ये सभी अनादिनिधन और ज्ञान-दर्शन लक्षण वाले हैं । इनमें जो मुक्त जीव हैं वे सभी एक ही स्वभाव वाले जन्म मरणादि क्लेश से रहित और अनन्त ज्ञान अनन्त दर्शन अनन्त आत्मशक्ति और अनन्त आनन्द से व्याप्त हैं। संसारी जीव स्थावर और त्रस ऐसे दो भेदों से युक्त हैं । ये दोनों पर्याप्त और अपर्याप्त हैं । पर्याप्त दशा की कारणभूत छह पर्याप्तियें हैं । यथा -

१ आहार पर्याप्ति २ शरीर पर्याप्ति ३ इन्द्रिय पर्याप्ति ४ श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति ५. भाषा पर्याप्ति और ६ मन पर्याप्ति ।

इन छह में से एकेन्द्रियों को चार पर्याप्ति विकलेन्द्रिय जीवों (असंज्ञी पंचेन्द्रिय सहित) के पाँच और संज्ञी पंचेन्द्रिय को छह पर्याप्ति अनुक्रम से होती है ।

पृथ्वीकाय, अपकाय, तेउकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय, ये एकेन्द्रिय जीव, स्थावर होते हैं। इनमें से पृथ्वीकाय से लगा कर वायुकाय तक के चार, सूक्ष्म और बादर ऐसे दो भेद वाले हैं और वनसतिकाय, प्रत्येक और साधारण ऐसे दो भेद वाली है । इसमें प्रत्येक तो बादर ही है और जो साधारण है, वह सूक्ष्म भी है और बादर भी ।

त्रस जीव चार प्रकार के हैं - १ बेइन्द्रिय २ तेइन्द्रिय ३ चौरीन्द्रिय और ४ पचेद्रिय। इनमें से बेइन्द्रिय से चौरीन्द्रिय तक के जीव तो असज्ञी हैं और पचेंद्रिय जीव असज्ञी भी हैं और सज्ञी भी हैं। सज्ञी वही है - जो शिक्षा उपदेश और आलाप का जानता है और मानसिक प्रवृत्ति से युक्त है । इसके विपरीत बिना मन के जीव असज्ञी हैं ।

इन्द्रियाँ पाँच हैं - १ स्पर्श २ रसना ३ नासिका ४ नेत्र ओर ५ श्रवण । इनके विषय अनुक्रम से १ स्पर्श २ रस ३ गध ४ रूप और ५ शब्द हैं ।

बेइन्द्रिय जीव - कृमि, शख, गडीपद जोक और शीप आदि ।

तेइन्द्रिय जीव - यूका, खटमल, मकोडे और लीख आदि ।

चौरिन्द्रिय - पतग, मक्षिका, भ्रमर और डाँस आदि ।

पचेन्द्रिय - जल, स्थल और आकाशचारी, ये तीन प्रकार के तिर्यञ्च जीव है और नारकी मनुष्य और देवता भी पञ्चेन्द्रिय हैं ।

प्राण - १-५ श्रोत्रन्द्रियादि पाँच इन्द्रिय ६ श्वासोच्छ्वास ७ आयुष्य ८ मनोबल ९ वचनवल और १० कायबल । ये दस प्राण हैं । १ कायबल २ आयुष्य ३ उच्छ्वास और ४ स्पर्शनन्द्रिय, ये चार प्राण तो सभी ससारी जीवो के होते हैं । (एकेन्द्रिय जीवो में ये चार प्राणी ही हैं) बेइन्द्रिय में १ रसनेन्द्रिय और २ वचन मिल कर ६ प्राण होते हैं । तेइन्द्रिय में घ्राण विशेष होने से ७ चौरिन्द्रिय म रसनाइन्द्रिय सहित ८ असज्ञी पचेन्द्रिय तिर्यञ्च मे श्रोत्रेन्द्रिय सहित ९ प्राण होते हैं । ये सभी असज्ञी जीव हैं । सज्ञी जीवा के विशेष मे 'मन' भी होता है । इस प्रकार उनके पूर्ण रूप से १० प्राण होते हैं ।

नारका का कुभी से और देवो का शय्या में से उपपात के रूप में उत्पत्ति होती है । मनुष्यों की उत्पत्ति माता के गर्भ से होती है । तिर्यंच, जरायु और अडे से उत्पन्न होते हैं और शेष असज्ञी पचन्द्रिय, विकलेन्द्रिय और एकेन्द्रिय जीव समूर्च्छिम रूप से उत्पन्न होते हैं। सभी समूर्च्छिम जीव और नारक जीव, नपुसक ही होते हैं । देव पुरुष तथा स्त्री-वेदी होते हैं और मनुष्य तथा तिर्यंच, पुरुष स्त्री और नपुसकवेदी होते हैं ।

सभी जीव व्यवहारी और अव्यवहारी - ऐसे दो प्रकार के हैं । अनादि सूक्ष्म-निगोद के जीव अव्यवहारी (अव्यवहार राशि वाले, जो अनादि काल से उसी रूप में जन्म-मरण करते रहते हैं । वे उस दशा को छोड कर किसी दूसरे स्थान गये ही नहीं) हैं । शेष सभी व्यवहारी (व्यवहार राशि वाले- विभिन्न गतियो मे जाने वाले) हैं ।

जीवा की उत्पत्ति नौ प्रकार की योनिया से होती हैं । १ सचित्त (जीव वाली) २ अचित्त ३ मिश्र ४ सवृत्त (ढँकी हुइ) ५ असवृत्त ६ सवृत्तासवृत्त ७ शीत ८ उष्ण और ९ शीतोष्ण ।

पृथ्वीकाय, अप्काय तेउकाय और वायुकाय इन चार स्थावर म प्रत्येक की सात लाख योनि हैं । प्रत्येक वनस्पतिकाय की दस लाख और अनन्तकाय की चौदह लाख हैं । विकलेन्द्रिय की छह लाख (प्रत्येक की दो-दो लाख) मनुष्य की चौदह लाख तथा नारक दव और तिर्यंच पचेन्द्रिय की चार-चार लाख योनि हैं । इस प्रकार सभी जीवों की मिल कर कुल चोरासी लाख योनियाँ हैं । इन्हें केवलज्ञानियों ने ज्ञान म देखा है ।

जीवा के भेद - १ एकेन्द्रिय सूक्ष्म और २ बादर ३ बेइन्द्रिय ४ तइन्द्रिय ५ चौरीन्द्रिय ६ पचेन्द्रिय असनी और ७ सज्ञी । इन सात पर्याप्त और अपर्याप्त - ऐसे मूल चौदह भेद हैं । इनकी मार्गणा भी चौदह हैं । जैसे - १ गति २ इन्द्रिय ३ काय ४ योग ५ वेद ६ ज्ञान ७ कषाय ८ सयम ९ अदर्शन १० दृष्टि ११ लेश्या १२ भव्य १३ सम्यक्त्व और १४ सज्ञी । इसी प्रकार सभी जीवों के गुणस्थान भी चौदह ही हैं । यथा-

१ मिथ्यात्व गुणस्थान २ सास्वादन गुणस्थान ३ मिश्र ४ अविरत सम्यग्दृष्टि ५ देशविरत ६ प्रमत्त-सयत ७ अप्रमत्त-सयत ८ निवृत्ति-बादर ९ अनिवृत्ति-बादर १० सूक्ष्म-सपराय ११ उपशान्तमोह १२ क्षीणमोह १३ सयोगी केवली और १४ अयोगी केवलीगुणस्थान । ये गुणस्थानो के नाम हैं । अब इनका सक्षेप में स्वरूप बताया जाता है ।

गुणस्थान स्वरूप

(१) मिथ्यात्व के उदय से जीव मिथ्यादृष्टि होता है । मिथ्यात्व कोइ गुण नहीं किन्तु मिथ्यात्व होते हुए भी भद्रिकपन आदि (सतोष सरलता और यथाप्रवृत्तिकरण से ग्रन्थीभेद तक पहुँचना और इससे आगे बढ़ कर अपूर्वकरण अवस्था को प्राप्त करने रूप) गुणों की अपेक्षा से गुणस्थान कहा जाता है । तात्पर्य यह कि इस स्थान को मिथ्यात्व के कारण गुणस्थान नहीं कहा किन्तु इस स्थान में रहे हुए अन्य गुणों के कारण गुणस्थान कहा है ।

(२) अनन्तानुबन्धी कषाय - चौक का उदय होते हुए भी मिथ्यात्व का उदय नहीं होने के कारण दूसरे गुणस्थान को 'सास्वादन सम्यग्दृष्टि' गुणस्थान कहते हैं । इसकी स्थिति अधिक से अधिक छह आवलिका की है । इस स्थिति में नष्ट होते हुए सम्यक्त्व का तनिक आस्वाद रहता है । इसी कारण यह गुणस्थान है ।

(३) सम्यक्त्व और मिथ्यात्व के मिश्रण से यह मिश्र गुणस्थान कहलाता है । इसकी स्थिति अन्तर्मुहूर्त मात्र की है ।

(४) अनन्तानुबन्धी कषाय-चौक और मिथ्यात्व-मोहनीय मिश्र-मोहनीय के क्षयोपशमादि से आत्मा सम्यग्दृष्टि प्राप्त करती है । इस गुणस्थान में अप्रत्याख्यानावरण कषायचौक का उदय रहता है जिसके कारण त्याग प्रत्याख्यान नहीं होता । अनन्तानुबन्धी कषाय के क्षय उपशम या क्षयोपशम

से यह 'अविरत सम्यग्दृष्टि' गुणस्थान होता है ।

(५) अप्रत्याख्यानावरण कषाय के क्षयोपशमादि से और प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से विरताविरत (देश-विरत) गुणस्थान होता है । (इस गुणस्थान का स्वामी सद्गृहस्थ ससार मे रहते हुए और उदयानुसार सासारिक कृत्य तथा भोगादि का आस्वाद करते हुए भी ससार-भीरु होता है और निवृत्ति-सर्वविरति को ही उपादेय मानता है ।)

(६) इस गुणस्थान का स्वामी सर्वविरत सयत होते हुए भी प्रमाद से सर्वथा वञ्चित नहीं रह सकता । पूर्व के गुणस्थानो जितना तो नहीं, किन्तु कुछ प्रमाद का असर अवश्य रहता है इस गुणस्थान का ऐसा ही स्वभाव है ।

(७) प्रमाद का सर्वथा त्याग करने वाले सर्वविरत सयत महापुरुष, सातवें गुणस्थान के स्वामी होते हैं । इस स्थान पर सूक्ष्मतम प्रमाद भी नहीं होता ।

छठे और सातवे गुणस्थान की परस्पर परावृत्ति अन्तर्मुहूर्त की स्थिति है ✿ ।

(८) अपूर्वकरण गुणस्थान - इस गुणस्थान को प्राप्त करने वाली ऊर्ध्वमुखी आत्मा के कर्मों का स्थितिघात आदि अपूर्व होता है । इस प्रकार की अवस्था आत्मा ने पहले कभी प्राप्त नहीं की । इस स्थिति को प्राप्त होने वाली आत्मा अपने कर्म-शत्रुओ का सहार करती हुई आगे बढने की तय्यारी करती है ❖ ।

(९) इस गुणस्थान में आत्मा श्रेणी का आरोहण करने की तय्यारी करती है । कोई 'उपशम श्रेणी' के लिए तत्पर होती है, तो कोई 'क्षपक श्रेणी' के लिए ☆ । इस स्थिति पर पहुँचने वालो की बादर-कषाय निवृत्त हो जाती है । इसलिए इस गुणस्थान का नाम ''निवृत्ति-बादर'' गुणस्थान कहते हैं । इस गुणस्थान पर पहुँचे हुए महात्मा या तो उपशमक होते हैं या क्षपक । इस गुणस्थान मे मोहनीय कर्म की एक सज्वलन के लोभ की सूक्ष्म प्रकृति के अतिरिक्त कोई भी प्रकृति उदय मे नहीं रहती ।

✿ या तो छठे गुणस्थान की उत्कृष्ट स्थिति देशोन पूर्वकोटि तक की है किन्तु अप्रमत्त महर्षि सातवें गुणस्थान में अन्तर्मुहूर्त तक ही रह सकते हैं क्योंकि इसकी स्थिति ही इतनी है । इसके बाद वे प्रमत्त गुणस्थान में आते हैं किन्तु भावों की उच्चता के कारण छठे गुणस्थान में अन्तर्मुहूर्त रह कर पुन सातवें में पहुँच जाते हैं । इस प्रकार चढाव-उतार की दृष्टि से दोनों गुणस्थान अन्तर्मुहूर्त रह कर पुन सातवे म पहुँच जाते हैं । इस प्रकार चढाव-उतार की दृष्टि म दोनो गुणस्थान अन्तर्मुहूर्त के बताये गये हैं।

❖ अपूर्वकरण प्रथम गुणस्थान में भी होता है किन्तु उससे दर्शन-मोहनीय कर्म और अनन्तानुबन्धी कषाय चाक का ही सम्बन्ध है । इसके बाद भी मोहनीय कर्म की २१ प्रकृतियाँ शेष रहती है । आठव गुणस्थान में मोहनीय का समूल नाश करने की तत्परता होती है । आयुष्य का बन्ध हो जाने के बाद भी प्रथम गुणस्थान वाले जीव का व आठवें के उपशमक को अपूर्वकरण हो सकता है किन्तु जो जीव क्षपक-श्रेणी का आरम्भ करता है वह तो अबद्धायु ही होता है । वह समस्त कर्मों से मुक्त हो कर सिद्ध ही होता है ।

☆ क्षपक-श्रेणी प्राप्त आत्मा कर्मों को क्षय करती जाती है और उपशम-श्रेणी वाली आत्मा मोहकर्म को दबाती जाती है । क्षपक-श्रेणी तो एक ही बार होती है किन्तु उपशम-श्रेणी किसी आत्मा का पूरे भवचक्र में पाँच बार तक हो जाती है । क्षपक-श्रेणी वालों की अपेक्षा इस गुणस्थान को 'अपूर्वकरण' कहना ठीक ही है किन्तु उपशम-श्रेणी की अपेक्षा अपूर्वकरण' कहने में मतभेद है ।

(१०) नौवें गुणस्थान में जो लोभ की सूक्ष्म प्रकृति शेष रह गई थी, उसका वेदन इस गुणस्था
में होता है । इसके अन्त म लोभ को या तो सर्वथा उपशात कर दिया जाता है या क्षय होता है ।

(११) उपशात-मोह वीतराग गुणस्थान । इस परिणति वाली आत्मा का मोहकर्म पूर्ण रूप
दय आता है ।

(१२) जिसने दसवे गुणस्थान के अन्तिम समय में लोभ (मोह) का सर्वथा क्षय कर दिया, व
दसवें से सीधा इस गुणस्थान में पहुँच कर 'क्षीण-मोह वीतराग' हो जाता है ।

(१३) क्षीण-मोह गुणस्थान के अन्तिम समय मे शेष तीन घाती-कर्मों का क्षय कर के केवलज्ञान
केवलदर्शन प्राप्त कर आत्मा सयोगी-केवली अवस्था प्राप्त कर लेती है । इस उत्तम स्थिति में आत
सर्वज्ञ-सर्वदर्शी भगवान् हा जाती है ।

(१४) अयोगी-केवली गुणस्थान - सयोगी केवली भगवान् मन, वचन और काया के योगों क
निरोध कर के नष्ट कर ने के बाद अयोगी केवली हो जाते हैं और शैलेशीकरण कर के सिद्ध भगवा
बन जाते हैं ।

इस प्रकार निम्नतम दशा से उत्थान हो कर गुणस्थान बढते-बढते आत्मा, परमात्मदशा को प्राप
कर लेती है ।

अजीव तत्त्व - द्रव्य छह हैं । इनम से जीव-द्रव्य का निरूपण हो चुका । शेष पाँच द्रव्य 'अजीव
- जड हैं । यथा - १ धर्मास्तिकाय २ अधर्मास्तिकाय ३ आकाशास्तिकाय ४ पुद्गलास्तिकाय और
काल । इन छह द्रव्यों में से काल को छोड कर शेष पाँच द्रव्य तो प्रदेशों (सूक्ष्म-विभागो) के समू
रूप हैं और काल प्रदेश रहित है । इनमें से केवल जीव ही चैतन्य (उपयोग) युक्त और कर्त्ता है, शे
पाँच द्रव्य अचेतन तथा अकर्त्ता हैं । काल को छोड़ कर शेष पाँच द्रव्य अरूपी हैं । ये छहों द्रव्य उत्पा
(नवीन अवस्था की उत्पत्ति) व्यय (भूत पर्याय का नाश) और ध्रौव्य (द्रव्य रूप से सदाकाल विद्यमान)
रूप है ।

सभी प्रकार के पुद्गल स्पर्श रस गन्ध और वर्ण युक्त हैं । इनके परमाणु और स्कन्ध ऐसे द
भेद हैं । जो परमाणु रूप हैं व तो अबद्ध हैं और जो स्कन्ध रूप हैं, वे बद्ध (परस्पर बंधे हुए) हैं

पुद्गल के जो बंधे हुए स्कन्ध हैं वे वर्ण गन्ध रस, स्पर्श, शब्द, सूक्ष्म स्थूल सस्थान अन्धकार
आतप, उद्योत प्रभा और छाया के रूप में परिणत हो जाते हैं । वे ज्ञानावरणीय आदि आठ प्रकार के
कर्म औदारिक आदि पाँच प्रकार के शरीर मन भाषा गमनादि चेष्टा और श्वासोच्छ्वास रूप बनते
हैं । ये सुख, दुःख जीवित और मृत्यु रूप उपग्रह करने वाला है ।

धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय, ये तीनों एक-एक द्रव्य हैं । ये सदा सर्वदा
अमूर्त निष्क्रिय और स्थिर हैं । धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय के प्रदेश एक जीव के आत्म-प्रदेश
जितने असख्यात हैं और समस्त लोक में व्याप्त हैं ।

धर्मास्तिकाय मे गमन सहायक गुण है-। जो जीव या अजीव अपने आप गमन करते हैं, उन्हें धर्मास्तिकाय सहायक बनती है । जिस प्रकार मत्स्य आदि जीवों की गमन करने में पानी सहायक बनता है । वे पानी के आधार से चलते हैं, उसी प्रकार धर्मास्तिकाय भी गति करने में सहायक बनती है ।

अधर्मास्तिकाय स्थिर होने में सहायक बनती है । जिस प्रकार थका हुआ पथिक, वृक्ष की शीतल छाया में ठहर कर विश्राम लेता है, उसी प्रकार स्थिर होने की इच्छा वाले जीवो और गमन क्रिया से रहित अजीवो को ठहरने मे सहायक होना, अधर्मास्तिकाय नामक अरूपी द्रव्य का गुण है ।

आकाशास्तिकाय तो पूर्वोक्त दोनो द्रव्यों से अत्यन्त विशाल है । धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय तो लोक में ही व्याप्त है किन्तु आकाशास्तिकाय तो लोक से ही अनन्तगुण अधिक ऐसे अलोक में भी सर्व व्यापक हैं । इसके अनन्त प्रदेश हैं । यह आकाशास्तिकाय सभी द्रव्यो के लिए आधार रूप है और अपने निज स्वरूप में रहा हुआ है ।

लोकाकाश के प्रदेशो में अभिन्न रूप से रहे हुए जो काल के अणु (समय रूपी सूक्ष्म भेद) हैं, वे भावों का परिवर्त्तन करते हैं । इसलिए मुख्य रूप से काल तो यही है, क्योंकि पर्याय-परिवर्त्तन (भविष्य का वर्तमान होना और वर्तमान का भूत बन जाना) ही काल है और ज्योतिष-शास्त्र में समय आदि से जो मान (क्षण, पल, घडी, मुहूर्त आदि) बताया जाता है, वह व्यवहार काल है । ससार में सभी पदार्थ नवीन और जीर्ण अवस्था को प्राप्त करते हैं । यह काल का ही प्रभाव है । काल-क्रीडा की विडम्बना से ही सभी पदार्थ वर्तमान अवस्था से गिर कर भूत अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं और भविष्य से खिंच कर वर्तमान में आ जाते हैं ।

आस्रव - जीव के मन, वचन और काया की प्रवृत्ति ही आस्रव है । क्योंकि इसीसे आत्मा में कर्म का आगमन होता है । शुभ प्रवृत्ति 'पुण्य-बन्ध' का कारण होती है और अशुभ प्रवृत्ति 'पाप बन्ध' का हेतु बनती है ।

सवर - सभी प्रकार के आस्रवों को रोक करना ही 'सवर' कहलाता है । जो विरति एव त्याग रूप है ।

निर्जरा - संसार के हेतुभूत कर्म का जिस साधना से जरना (विनाश) होता है उसे 'निर्जरा' कहते हैं ।

बन्ध - कषाय के सद्भाव से जीव, कर्म-योग्य पुद्गलों को आस्रव के द्वारा ग्रहण कर के अपने साथ बाँध लेता है उसे 'बन्ध' तत्त्व कहते हैं । यह बन्ध तत्त्व ही जीव की परतन्त्रता का कारण बनता है । इसके चार भेद हैं,-१ प्रकृति २ स्थिति ३ अनुभाग और ४ प्रदेश ।

प्रकृति - कर्म का 'स्वभाव' है । इसके ज्ञानावरणीयादि भेद से आठ प्रकार हैं । जैसे - १ ज्ञानावरणीय २ दर्शनावरणीय ३ वेदनीय ४ मोहनीय ५ आयु ६ नाम ७ गोत्र और ८ अन्तराय । ये [illegible] मूल प्रकृतियाँ हैं । (इनकी उत्तर प्रकृतियाँ १४८ हैं) ।

स्थिति – बन्धे हुए कर्म-पुद्गलो का आत्मा के साथ लगे रहने के काल को 'स्थिति' कहते हैं । जो जघन्य (कम से कम) भी होती है और उत्कृष्ट (अधिक से अधिक) भी।

अनुभाव – कर्म का विपाक (परिणाम) 'अनुभाग' कहलाता है ।

प्रदेश – कर्म के दलिक (अश) को 'प्रदेश' कहते हैं ।

कर्म बन्ध के पाँच हेतु हैं – मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद कपाय और योग ।

मोक्ष – बन्ध के मिथ्यात्वादि पाँच हेतुओ का अभाव हो जाने पर, घातिकर्मों (ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय)का क्षय हो जाता है इससे जीव का केवलज्ञान की प्राप्ति होती है । इसके बाद शेप रहे हुए चार अघाती-कर्मों का क्षय होने स जीव मुक्त हा कर परम सुखी हो जाता है ।

सभी राजाओं, नरेन्द्रों देवों और इन्द्रो को तीन भुवन मे जो सुख प्राप्त हैं, वे मोक्ष-सुख के अ न्तावे भाग में भी नहीं हैं ।

इस प्रकार तत्त्वा को यथाथ रूप मे जानने वाला मनुष्य, कभी ससार-सागर में नहीं डूबता और सम्यग् आचरण से कर्म-बन्धनो से मुक्त हो कर परम सुखी बन जाता है ।

तत्त्व का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर के उस पर श्रद्धा करनी चाहिए और हेय को त्याग कर उपादय, का आचरण करना चाहिए । इससे आत्मा मोक्ष-गति पा कर परमात्मा बन जाती है।

भगवान् के 'यश' आदि पचास गणधर हुए । भगवान् विहार करते हुए द्वारिका पधारे । पुरुषोत्तम वासुदेव आदि भगवान् को वन्दन करने आये । देशना सुनी । वासुदेव सम्यक्त्वी हुए, बलदेव व्रतधारी श्रावक हुए । कई भव्यात्माएँ दीक्षित हुई । बहुतो ने श्रावक व्रत लिया तथा बहुत-से सम्यक्त्वी बन।

भगवान् अनन्तनाथ स्वामी के ६६००० साधु, ६२००० साध्वियाँ ९०० चौदह पूर्वधर, ४३०० अवधिज्ञानी, ५००० मन पर्यवज्ञानी, ५००० केवलज्ञानी, ८००० वैक्रिय लब्धिधारी, ३२०० वादलब्धि वाले २०६००० श्रावक और ४१४००० श्राविकाएँ हुई । भगवान् तीन वर्ष कम साढ़े सात लाख वर्ष तक सयोगी केवलज्ञानी के रूप में विचरते रहे और मोक्ष-काल निकट जान कर सम्मेदशिखर पवत पर सात हजार मुनियों के साथ पधार कर अनशन किया । एक मास के बाद चैत्र-शुक्ला पचमी को पुष्य-नक्षत्र में प्रभु मोक्ष पधारे ।

प्रभु कुमार अवस्था में साढ़े सात लाख वर्ष, राज्याधिपति रूप में पन्द्रह लाख वर्ष और सयम – पर्याय में साडे सात लाख वर्ष रहे । कुल आयु तीस लाख वर्ष का था ।

पुरुषोत्तम वासुदेव अपने तीस लाख वर्ष की आयु में उग्र पापकर्म कर के छठी नक में गये । सुप्रभ बलदेव अपने भाई वासुदेव की मृत्यु के बाद विरक्त हो कर दीक्षित हो गए और चारित्र का पालन कर के कुल आयु ५५०००० वर्ष का पूर्ण कर के मोक्ष पधारे ।

।। चौदहवे तीर्थंकर भगवान् अनतनाथजी का चरित्र सम्पूर्ण ॥

भ० धर्मनाथजी

धातकीखड द्वीप के पूर्व महाविदेह मे भरत नाम के विजय में भद्दिल नाम का एक नगर था । दृढरथ नाम का राजा वहाँ का अधिपति था । वह अन्य सभी राजाओ में प्रभावशाली था और सभी पर अपना अधिपत्य रखता था । इस प्रकार विशाल अधिपत्य एव विशिष्ट सम्पदा युक्त होते हुए भी वह लुब्ध नहीं था । वह सम्पत्ति और अधिकार के गर्व से रहित था । उच्चकोटि की भोग सामग्री प्राप्त होते हुए भी वह विरक्त-सा हो गया था । उसकी विरक्ति बढ रही थी । सयोग पा कर उसने विमलवाहन मुनिराज के समीप, मुनि दीक्षा ग्रहण कर ली । चारित्र और तप की उत्तम आचरणा से तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन कर लिया और धर्म आराधना करता हुआ अनशनपूर्वक आयु पूर्ण कर के वैजयत नाम के अनुत्तर विमान मे महान् ऋद्धि सम्पन्न देव हुआ ।

इस जम्बूद्वीप के भरत-क्षेत्र में रत्नपुर नाम का एक नगर था । वह अत्यत ऋद्धि सम्पन्न और भव्यता युक्त था । 'भानु' नाम के महाराजा का उस पर शासन था । महाराजा भानु नरेश सदाचारी थे । वे अनेक उत्तम गुणा के पात्र थे । दूर-दूर तक के अनेक राजागण उनकी आज्ञा में थे । उनका शासन सभी के लिए हितकारी, सुखकारी और सतोषप्रद था । महारानी सुव्रतादेवी उनकी अर्द्धांगना थी । वह भी नारी के समस्त उत्तम गुणों से युक्त थी।

दृढरथ मुनिराज का जीव, वैजयत विमान से वैशाख-शुक्ला सप्तमी को पुष्य-नक्षत्र मे च्यव कर महारानी सुव्रता देवी की कुक्षि में उत्पन्न हुआ और माघ-शुक्ला तृतीया को पुष्य-नक्षत्र के योग में पुत्र का जन्म हुआ । देवी-देवता और इन्द्रो ने द्रव्य तीर्थंकर भगवान् का जन्मोत्सव किया । यौवन-वय प्राप्त होने पर माता-पिता ने आपका विवाह किया । जन्म से ढाई लाख वर्ष व्यतीत होने के बाद पिता के आग्रह से आपका राज्याभिषेक हुआ । पाँच लाख वर्ष तक राज्य का सचालन किया और उसके बाद आपने ससार त्याग कर मोक्ष साधना का विचार किया । अपने कल्प के अनुसार लोकान्तिक देवो ने प्रभु के समीप आ कर धर्म-प्रवर्तन का निवेदन किया । वार्षिक दान दे कर प्रभु ने माघ-शुक्ला त्रयोदशी के दिन चौथे प्रहर मे पुष्य-नक्षत्र के साथ चन्द्र का योग होते बेले के तप से प्रव्रज्या स्वीकार की ।

वासुदेव चरित्र

जम्बूद्वीप के पश्चिम विदेह में अशोका नाम की नगरी थी । पुरुषवृषभ नाम का राजा वहाँ राज करता था । उसने ससार से विरक्त हो कर प्रजापालक नाम के मुनिराज के समीप प्रव्रज्या स्वीकार कर ली और चारित्र के साथ उग्र तप करते हुए आयु पूर्ण कर के सहस्रार देवलोक म देवरूप में उत्पन्न हुआ। उसकी आयु अठारह सागरोपम प्रमाण थी । जब उस देव ने अपनी आयु के सोलह सागरोपम पूर्ण कर लिये और दो सागरोपम आयु शेष रही तब पोतनपुर नगर में विकट नाम का राजा राज करता था ।

उसे राजसिंह नाम के दूसरे राजा ने युद्ध मे हरा दिया । अपनी हार से लज्जित हुए विकट राजा ने अपने पुत्र को राज्याधिकार दे कर अतिभूति नाम के मुनि के पास चारित्र ग्रहण कर लिया और तप-संयम की कठोर साधना करने लगा । वह सयम और तप की उत्कट आराधना तो करता था किन्तु अपनी पराजय का शूल उसकी आत्मा में चुभ रहा था । उस शूल से प्रेरित हो कर उसने निदान कर लिया कि "मेरे उग्रतप के प्रभाव से मैं अगले भव मे उस दुष्ट राजसिह का घातक बनूँ ।" इस प्रकार अपने उत्तम तप के उत्तम फल को, वैर लेने के पापपूर्ण दाँव पर लगा दिया और उसी शल्य को लिए हुए मृत्यु पा कर दूसरे देवलोक में दो सागर की स्थिति वाला देव हुआ । उधर राजसिह भी चिरकाल तक संसार-परिभ्रमण करता हुआ और पाप का फल भोगता हुआ भरत-क्षेत्र के हरीपुर नगर में जन्म ले कर 'निशुंभ' नाम का राजा हुआ । वह अपने क्रूरतापूर्ण उग्र पराक्रम से दूसरे राजाओं का राज्य जीतता हुआ दक्षिण भरत का स्वामी बन गया ।

भरतक्षेत्र के अश्वपुर नाम के नगर में 'शिव' नाम के राजा राज करते थे । उनके 'विजया' और 'अम्बिका' नाम की दो रानियाँ थीं । ये दोनो रूप, उत्तम लक्षण और सद्गुणो से युक्त थीं । विजया रानी की कुक्षि में पुरुषवृषभमुनि का जीव, सहस्रार देवलोक से आ कर पुत्रपने उत्पन्न हुआ । रानी ने चार महास्वप्न देखे । गर्भकाल पूर्ण होने पर उत्तम लक्षण वाले पुत्र का जन्म हुआ । उसका 'सुदर्शन' नाम रखा । कालान्तर मे 'विकट' का जीव दूसरे स्वर्ग की अपनी स्थिति पूर्ण कर के अम्बिका रानी के गर्भ में आया । रानी ने वासुदेव के फल को सूचित करने वाले सात महास्वप्न देखे । जन्म होने पर अतिशय पराक्रम दर्शक लक्षणो को देख कर 'पुरुषसिह' नाम दिया गया । दोनों भ्राता राजकुमारों मे आलोकित होता था । ये सभी कलाओ में पारगत हुए और महाबली के रूप में विख्यात हुए।

शिव नरेश का पड़ोस के एक राजा से वैमनस्य हो गया । दोनो में शत्रुता चरम सीमा पर पहुँच गई । शिव नरेश ने अपने ज्येष्ठ पुत्र सुदर्शनकुमार को सेना ले कर युद्ध करने भेजा । राजकुमार पुरुषसिह भी साथ ही युद्ध में जाना चाहते थे, किन्तु उन्होंने रोक दिया जब ज्येष्ठ बन्धु प्रयाण कर गए, तो पीछे से पुरुषसिंह भी चल दिये और मार्ग में सेना के साथ हो लिए । जब ज्येष्ठ बन्धु को ज्ञात हुआ, तो उन्होंने उन्हें मार्ग में ही रुक जाने की आज्ञा दी । वे वहीं रुक गये और सेना आगे बढ़ गई । थोड़ी देर बाद राजधानी से शीघ्रतापूर्वक दूत ने आ कर राजकुमार पुरुषसिह को एक पत्र दिया । पत्र में पिता की ओर से राजकुमार को शीघ्र ही वापिस आने का उल्लेख था । कारण पूछने पर दूत ने कहा --"स्वामी को दाह-ज्वर रोग के कारण अत्यत पीडा हो रही है ।" पिता की पीड़ा के समाचार जान कर राजकुमार चिन्तित हुए और उसी समय लौट गए जब उन्होंने पिता को भयानक रोग से अत्यत पीडित देखा तो उसका धैर्य जाता रहा । खाना-पीना भी भूल गए । राजा ने उ[illegible] कर बड़ी कठिनाई से भोजन करने भेजा । जैसे-तैसे थोड़ा खा-पी कर पिता की सेवा में [illegible] कि दासियाँ दौड़ती हुई आई और कहने लगी--

"कुमार साहब ! आप पहले अन्त पुर मे पधारें । महारानी अनर्थ करने जा रही हैं चलिए, जल्दी चलिए ।" राजकुमार, माता के पास गये, तो क्या देखते हैं कि माता वस्त्राभूषण से सज्जित हैं और हीरे-मोती,रत्न, आभूषणादि दान कर रही है । उन्होंने माता से पूछा -

"मातेश्वरी ! आप क्या कर रही हैं ? इधर पिताश्री रोगग्रस्त हैं और आपको यह क्या सूझा ? क्या आप भी मुझे त्याग कर जाना चाहती हैं ?"

-"मैं वही कर रही हूँ जो मुझे करना चाहिए ।मैं 'विधवा' बनना नहीं चाहती ।तुम्हारे पिताश्री अब बचने वाले नहीं हैं । उनका रोग उन्हे उठाने ही आया है । मुझ में इतनी शक्ति नहीं के मैं एक क्षण के लिए भी उनका वियाग सहन कर सकूँ । यदि उनके स्वर्ग सिधार जाने के बाद, एक पलभर भी मैं जीवित रही, तो विधवा हो ही जाऊँगी ।इसलिए मैं अग्नि प्रवेश कर के स्वामी की उपस्थिति में ही प्रस्थान करना चाहती हूँ ।तुम सयाने हो, समझदार हो, तुम पर ज्येष्ठ बन्धु की कृपा है ।हमारे दिन तो अब बीत ही चुके हैं । आखिर हमे जाना तो है ही ।मृत्यु मुझे पकड कर ले जावे, इसके पूर्व ही मैं मौत का पल्ला पकड लूँ, तो यह अच्छा ही होगा ।अब तुम जाओ ।एक शब्द भी मत बोलो। तुम्हारे पिताश्री की भी तैयारी हो रही है ।"

इस प्रकार कहते ही वह झपाटे से निकल गई और पहले से तैयार कराई हुई आज्वल्यमान चिता में कूद कर प्राणान्त कर गई ।

राजकुमार माता को जाते देखते ही रहे, न तो उनके मुँह से एक शब्द ही निकला और न वे वहाँ मे हिल ही सके ।सेवक ने उन्हें चलने का कहा तब वे आगे बढे और एक अशक्त के समान कठिनाई से पिता के पास आ कर भूमि पर गिर पड़े ।रोगग्रस्त राजा ने कुमार से कहा -

"वत्स ! ऐसी कायरता मत लाओ ।तुम वीर हो ।तुम्हारा इस प्रकार भूमि पर ढल जाना शोभा नहीं देता ।तुम तो इस भूमि के एक-छत्र स्वामी होने योग्य हो ।कायरता लाने से तुम्हारा पुरुषसिह नाम कलकित होगा ।उठो ! ससार में मरना-जीना तो लगा ही रहता है ।" इस प्रकार आश्वासन देते हुए शुभ भाव वाले शिव नरेश ने देह त्याग दिया ।राजकुमार मूर्च्छित हो गए ।कुछ समय बीतने पर उनकी मूर्च्छा दूर हुई ।पिता की अग्नि-सस्कारादि उत्तर-क्रिया की गई ।बडे भाई सुदर्शनजी को पिता की मृत्यु का समाचार दिया गया ।वे भी सुन कर दु खी हुए और शीघ्रतापूर्वक शत्रु को जीत कर लौट आये ।सुदर्शनजी को देखते ही पुरुषसिह उठ कर उनके गले लग गये और दोना भाई खूब रोये ।धीरे-धीरे शोक का प्रभाव हटने लगा ।

एक दिन महाराजाधिराज निशुभ का दूत आया और दोनों राजकुमारों से कहने लगा -

"आपके पिताजी के देहावसान के समाचार सुन कर सम्राट निशुभदेव को बहुत शोक हुआ । आपके पिताजी की स्वामी-भक्त का स्मरण कर के आपके हित के लिए उन्होंने कहलाया कि -'अभी तुम दोनों बालक हो ।कोई शत्रु तुम्हे सतावे और पराभव कर दे ता यह भी दु खद होगा'।मैंने तुम्हारे

पिता को उच्च पद दिया है । तुम्हे उसका निर्वाह करने के योग्य बनाना है । इसलिए तुम दोनों यहाँ मेरे पास आ कर रहो । वहाँ के प्रबन्ध की उचित व्यवस्था हो जायगी ।''

दूत की बात सुन कर क्रोधाभिभूत हो, राजकुमार पुरुषसिंह ने कहा-

''इक्ष्वाकु वश में चन्द्र समान एव सर्वोपकारी ऐसे हमारे पिताश्री के स्वर्गवास से अनेक मित्र राजाओ को दु ख हुआ है । निशुभ को भी दु ख हुआ - तुम कहते हो, किन्तु हम भी सिंह के बच्चे हैं । सिंह किसी का दिया हुआ दान नहीं लेता । यह राज हमारा है । हम इसको सम्भाल लेंगे । यदि किसी की इस पर कुदृष्टि होगी, तो हम इसकी रक्षा का उपाय कर लेगे । इसकी चिन्ता आपके राजा को नहीं करनी चाहिए ।''

दूत ने कहा - ''तुम बच्चे हो । तुम्हे अपने स्वामी की आज्ञा का पालन करना चाहिए । इसी में तुम्हारा हित है । यदि तुम उनकी इच्छा का आदर नहीं करोगे, तो परिणाम बहुत बुरा होगा ।''

-''दूत ! विशेष बात करना उचित नहीं है । तुम अपने स्वामी से कह दो कि हम उनकी इच्छा के आधीन नहीं हैं । हमें अपनी शक्ति का भरोसा है । इसी प्रकार बल पर हम स्थिर रह कर आगे बढते जावेगे ।''

दूत की बात सुन कर निशुभ क्रोधायमान हुआ और सेना ले कर अश्वपुर पर चढाई कर दी । इधर दोनों बन्धु भी अपनी सेना ले कर अपने राज्य की सीमा पर आ पहुँचे । भयानक युद्ध हुआ । अन्त में निशुभ के छोडे हुए अन्तिम अस्त्र (चक्र) के प्रहार से ही पुरुषसिंह द्वारा निशुभ मारा गया। वह पाँचवाँ प्रतिवासुदेव कहलाया और पुरुषसिंह ने उसके समस्त राज को अपने आधीन कर लिया। उनका पाँचवें वासुदेव पद का अभिषेक हुआ । सुदर्शनजी बलदेव पद पाये ।

× × × × ×

दो वर्ष तक छद्मस्थ पर्याय मे रहने के बाद भगवान् श्री धर्मनाथस्वामी को पौषशुक्ला पूर्णिमा को पुष्य-नक्षत्र में केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त हुआ । देवों ने समवसरण रचा । तीर्थ स्थापना हुई । 'अरिष्ट' आदि ४३ गणधर हुए । भगवान् ग्रामानुग्राम विहार करते हुए अश्वपुर पधारे । वासुदेव और बलदेव भी भगवान् को वन्दन करने आये । भगवान् ने धर्मोपदेश दिया;-

धर्मदेशना

क्रोध क[illegible] नष्ट करने [illegible]

ससार में धर्म अर्थ काम अ[illegible] में [illegible] है । इस मोक्ष-वर्ग की प्राप्ति ज्ञान दर्शन और [illegible] से होती [illegible] में समर्थ है । जो तत्त्वानसारी मति [illegible] रूपी [illegible] 'दर्शन-रत्न' है [illegible] तथा दर्शन [illegible]

प्रवृत्ति का त्याग करना चारित्र है । आत्मा स्वय ही ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप है अथवा इसी रूप में शरीर में रहता है । मोह के त्याग से अपनी आत्मा के द्वारा ही जो अपने-आप को (आत्मा को) जानता है, वही उसके ज्ञान, दर्शन और चारित्र है । आत्मा ने अज्ञान के द्वारा जिन दु खा का उत्पन्न किया, उनका निवारण आत्म-ज्ञान के द्वारा ही होता है । जो आत्मज्ञान से रहित है, वह तप करते हुए भी अज्ञान-जनित दु ख का छेदन नहीं कर सकता ।

आत्मा, चैतन्य (ज्ञान)रूप है, किन्तु कर्म के योग से शरीरधारी होता है और जब ध्यान रूपी अग्नि से कर्म रूप कचरा जल कर नष्ट हो जाता है, तब आत्मा निरजन- दोष रहित, परम विशुद्ध - सिद्ध हो जाती है ।

यह ससार, कषाय और इन्द्रियो से हारे हुए आत्मा के लिए ही है । जिस आत्मा ने कषाय और इन्द्रियो को जीत लिया, वही मुक्त है ।

आत्मा को ससार में भटका कर दु खी करने वाली कषायें चार हैं - १ क्रोध २ मान ३ माया और ४ लोभ । इन चारो के चार-चार भेद हैं । यथा - १ सज्वलन २ प्रत्याख्यानावरण ३ अप्रत्याख्यानी और ४ अनन्तानुबन्धी । इनमे से सज्वलन एकपक्ष तक रहती है, प्रत्याख्यानावरण चार माह तक, अप्रत्याख्यानी वर्ष पर्यन्त और अनन्तानुबन्धी जीवन पर्यंत रहती है ॐ ।

सज्वलन कषाय, वीतरागता मे बाधक होती है । प्रत्याख्यानावरण कषाय, साधुता को रोकती है, अप्रत्याख्यानी कषाय, श्रावकपन मे रुकावट डालती है और अनन्तानुबन्धी कषाय, सम्यग्दृष्टि का घात करती है । इनमें से सज्वलन कषाय देवत्व, प्रत्याख्यानावरण तिर्यञ्चपन और अनन्तानुबन्धी कषाय नरक भव प्रदान करती है ▲ ।

क्रोध कषाय आत्मा को तप्त कर देती है । वैर एव शत्रुता इसी कषाय से होती है । यह दुर्गति में धकेलने वाली है और समता रूपी सुख रोकने वाली है । क्रोध कषाय उत्पन्न होते ही आग की तरह सब से पहले अपने आश्रय-स्थल को जलाती हैं । इसके बाद दूसरो को जलाती हैं । कभी वह दूसरों को नहीं भी जलाती, किन्तु अपने आश्रय-स्थल को तो जलाती ही रहती है ।

यह क्रोध रूपी आग, आठ वर्ष कम करोडपूर्व तक पाले हुए सयम और आचरे हुए तप रूपी धन को क्षण भर में जला कर भस्म कर देती है । पूर्व के पुण्य-भण्डार में सचित किया हुआ समता रूपी यश, इस क्रोध रूपी विषय के सम्पक से तत्काल अछूत - असेव्य हो जाता है । विचित्र गुणों की धारक ऐसी चारित्र रूपी चित्रशाला क्रोध रूपी धूम्र, अत्यन्त मलिन कर देता है । वैराग्य रूपी शमीपत्र

ॐ यह कथन व्यवहार दृष्टि से है । अन्यथा प्रज्ञापना पद १८ में चारो कषाय के उदय की स्थिति अन्तर्मुहूर्त की बताई है । सज्वलन की स्थिति देशोनक्रोड पूर्व भी होती है - जितनी छठे गुणस्थान की स्थिति है ।

▲ यह कथन भी अपेक्षापूर्वक है । अन्यथा अनन्तानुबन्धी कषाय वाले देव भी होते हैं । अभव्य के अनन्तानुबन्धी होती है परन्तु वह चारों गति में जाता है । उसके परिवर्तित रूप में अन्य चौक भी होते हैं ।

पिता को उच्च पद दिया है । तुम्हे उसका निर्वाह करने के योग्य बनाना है । इसलिए तुम दोनों यहाँ मेरे पास आ कर रहो । वहाँ के प्रबन्ध की उचित व्यवस्था हो जायगी ।''

दूत की बात सुन कर क्रोधाभिभूत हो, राजकुमार पुरुषसिह ने कहा-

''इक्ष्वाकु वश में चन्द्र समान एव सर्वोपकारी ऐसे हमारे पिताश्री के स्वर्गवास से अनेक मित्र राजाओ को दु ख हुआ है । निशुभ को भी दु ख हुआ - तुम कहते हो, किन्तु हम भी सिह के बच्चे हैं । सिह किसी का दिया हुआ दान नहीं लेता । यह राज हमारा है । हम इसको सम्भाल लेंगे । यदि किसी की इस पर कुदृष्टि होगी, तो हम इसकी रक्षा का उपाय कर लेंगे । इसकी चिन्ता आपके राजा को नहीं करनी चाहिए ।''

दूत ने कहा - ''तुम बच्चे हो । तुम्हें अपने स्वामी की आज्ञा का पालन करना चाहिए । इसी में तुम्हारा हित है । यदि तुम उनकी इच्छा का आदर नहीं करोगे, तो परिणाम बहुत बुरा होगा ।''

-''दूत ! विशेष बात करना उचित नहीं है । तुम अपने स्वामी से कह दो कि हम उनकी इच्छा के आधीन नहीं हैं । हमें अपनी शक्ति का भरोसा है । इसी प्रकार बल पर हम स्थिर रह कर आगे बढ़ते जावेंगे ।''

दूत की बात सुन कर निशुभ क्रोधायमान हुआ और सेना ले कर अश्वपुर पर चढाई कर दी । इधर दोनों बन्धु भी अपनी सेना ले कर अपने राज्य की सीमा पर आ पहुँचे । भयानक युद्ध हुआ । अन्त मे निशुभ के छोडे हुए अन्तिम अस्त्र (चक्र) के प्रहार से ही पुरुषसिह द्वारा निशुभ मारा गया। वह पाँचवाँ प्रतिवासुदेव कहलाया और पुरुषसिह ने उसके समस्त राज को अपने आधीन कर लिया। उनका पाँचवें वासुदेव पद का अभिषेक हुआ । सुदर्शनजी बलदेव पद पाये ।

× × × × ×

दो वर्ष तक छद्मस्थ पर्याय मे रहने के बाद भगवान् श्री धर्मनाथस्वामी को पौषशुक्ला पूर्णिमा को पुष्य-नक्षत्र में केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त हुआ । देवों ने समवसरण रचा । तीर्थ स्थापना हुई । 'अरिष्ट' आदि ४३ गणधर हुए । भगवान् ग्रामानुग्राम विहार करते हुए अश्वपुर पधारे । वासुदेव और बलदेव भी भगवान् को वन्दन करने आये । भगवान् ने धर्मोपदेश दिया,-

धर्मदेशना

क्रोध कषाय को नष्ट करने की प्रेरणा

ससार में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इस चतुर्वर्ग में मोक्ष वर्ग का स्थान सर्वोपरि है । इस मोक्ष-वर्ग की प्राप्ति ज्ञान दर्शन और चारित्र रूपी तीन रत्नों से होती है । वह ज्ञान मोक्षवर्ग को साधने में समर्थ है । जो तत्त्वानुसारी मति - बुद्धि से युक्त है । उस तत्त्वानुसारी मति में श्रद्धा रूपी शक्ति का नाम 'दर्शन-रत्न' है और ज्ञान तथा दर्शन युक्त हेय का त्याग कर उपादेय का सेवन करना अर्थात् सावद्य

प्रवृत्ति का त्याग करना चारित्र है । आत्मा स्वय ही ज्ञान दर्शन और चारित्र रूप है अथवा इसी रूप में शरीर में रहता है । मोह के त्याग से अपनी आत्मा के द्वारा ही जो अपने-आप को (आत्मा को) जानता है, वही उसके ज्ञान, दर्शन और चारित्र है । आत्मा ने अज्ञान के द्वारा जिन दु खा को उत्पन्न किया, उनका निवारण आत्म-ज्ञान के द्वारा ही होता है । जो आत्मज्ञान से रहित है, वह तप करते हुए भी अज्ञान-जनित दु ख का छेदन नहीं कर सकता ।

आत्मा, चैतन्य (ज्ञान)रूप है, किन्तु कर्म के योग से शरीरधारी होता है और जब ध्यान रूपी अग्नि से कर्म रूप कचरा जल कर नष्ट हो जाता है, तब आत्मा निरजन- दोष रहित, परम विशुद्ध - सिद्ध हो जाती है ।

यह ससार, कषाय और इन्द्रियो से हारे हुए आत्मा के लिए ही है । जिस आत्मा ने कषाय और इन्द्रियो को जीत लिया, वही मुक्त है ।

आत्मा को ससार मे भटका कर दु खी करने वाली कषायें चार हैं - १ क्रोध २ मान ३ माया और ४ लोभ । इन चारो के चार-चार भेद हैं । यथा - १ सज्वलन २ प्रत्याख्यानावरण ३ अप्रत्याख्यानी और ४ अनन्तानुबन्धी । इनमे से सज्वलन एकपक्ष तक रहती है प्रत्याख्यानावरण चार माह तक, अप्रत्याख्यानी वर्ष पर्यन्त और अनन्तानुबन्धी जीवन पर्यंत रहती है ॐ ।

सज्वलन कषाय, वीतरागता मे बाधक होती है । प्रत्याख्यानावरण कषाय, साधुता को रोकती है, अप्रत्याख्यानी कषाय, श्रावकपन में रुकावट डालती है और अनन्तानुबन्धी कषाय, सम्यग्दृष्टि का घात करती है । इनमें से सज्वलन कषाय देवत्व, प्रत्याख्यानावरण तिर्यञ्चपन और अनन्तानुबन्धी कषाय नरक भव प्रदान करती है ▲ ।

क्रोध कषाय, आत्मा को तप्त कर देती है । वैर एव शत्रुता इसी कषाय से होती है । यह दुर्गति में धकेलने वाली है और समता रूपी सुख रोकने वाली है । क्रोध कषाय उत्पन्न होते ही आग की तरह सब से पहले अपने आश्रय-स्थल को जलाती हैं । इसके बाद दूसरो को जलाती हैं । कभी वह दूसरा को नहीं भी जलाती, किन्तु अपने आश्रय-स्थल को तो जलाती ही रहती है ।

यह क्रोध रूपी आग, आठ वर्ष कम करोडपूर्व तक पाले हुए सयम और आचरे हुए तप रूपी धन को क्षण भर में जला कर भस्म कर देती है । पूर्व के पुण्य-भण्डार में सचित किया हुआ समता रूपी यश इस क्रोध रूपी विषय के सम्पक से तत्काल अछूत - असेव्य हो जाता है । विचित्र गुणों की धारक ऐसी चारित्र रूपी चित्रशाला क्रोध रूपी धूम्र, अत्यन्त मलिन कर देता है । वैराग्य रूपी शमीपत्र

ॐ यह कथन व्यवहार दृष्टि से है । अन्यथा प्रज्ञापना पद १८ मे चारो कषाय के उदय की स्थिति अन्तर्मुहूर्त की बताई है । सज्वलन की स्थिति देशोनक्रोड पूर्व भी होती है - जितनी छठे गुणस्थान की स्थिति है ।

▲ यह कथन भी अपेक्षापूर्वक है । अन्यथा अनन्तानुबन्धी कषाय वाले देव भी होते है । अभव्य के अनन्तानुबन्धी होती है परन्तु वह चारों गति में जाता है । उसके परिवर्तित रूप में अन्य चौक भी होते हैं ।

के दाने (पात्र) मे जो समता रूपी रस भरा है, वह क्रोध के द्वारा बने हुए छिद्र में से निकल जाता है।

वृद्धि पाया हुआ क्रोध, इतना विकराल हो जाता है कि वह बडे भारी अनर्थ कर डालता है। भविष्य काल में द्वैपायन की क्रोध रूपी आग में, अमरापुरी के समान भव्य ऐसी द्वारिका नगरी ईंधन के समान जल कर नष्ट हो जायेगी।

क्रोधी को अपने क्रोध के निमित्त से जो कार्य-सिद्धि होती दिखाई देती है वह फल सिद्धि क्रोध स सम्बन्धित नहीं है किन्तु पूर्व-जन्म में प्राप्त की हुई पुण्य रूपी लता के फल है।

जो प्राणी इस लोक और परलोक तथा स्वार्थ और परार्थ का नाश करने वाले क्रोध को अपन शरीर म स्थान देते हैं, उन्हें बार-बार धिक्कार है।

क्रोधान्ध पुरुष, माता, पिता, गुरु, सुहृद मित्र सहोदर और स्त्री की तथा अपनी खुद की आत्मा की भी निर्दयतापूर्वक घात कर देता है। उत्तम पुरुष को ऐसी क्रोध रूपी आग को बुझाने के लिए, सयम रूपी बगीचे मे क्षमा रूपी जलधारा का सिचन करना चाहिए। अपकार करने वाले पुरुष पर उत्पन्न हुए क्रोध को रोकन की दूसरी कोई विधि नहीं है। वह तो सत्त्व के माहात्म्य (आत्म-शक्ति) से ही रोकी जा सकती है। अथवा तथा प्रकार की भावना के सहारे से क्रोध के मार्ग को अवरुद्ध किया जा सकता है।

"जो व्यक्ति स्वय पाप स्वीकार कर के मेरे लिए बाधक बनना चाहता है, वह तो अपने दुष्कृत्य से अशुभ कर्म कर के खुद अपनी ही आत्मा की हिसा कर रहा है। ऐसे व्यक्ति पर मैं क्यो क्रोध करूँ? वह तो स्वय दया का पात्र है।"

"हे आत्मन्! यदि तू चाहती है कि मेरा बुरा चाहने वाले – मुझे दु ख देने वाले पर मैं क्रोध करूँ, तो तेरे वास्तविक शत्रु तो खुद के किये हुए कर्म ही हैं। इन्ही के कारण तुझे दु ख होता हैं। यदि तुझे क्रोध करना ही है, तो अपने कर्म-बन्धन पर ही कर। तू कुत्ते जैसा स्वभाव छोड कर सिह के समान मूल को ही पकड। कुत्ता, पत्थर मारने वाले को नहीं पकड़ता किन्तु पत्थर को काटता है, और सिह बाण को नहीं पकडकर बाण मारने वाले की ही खबर लेना चाहता है। तुझे जो कष्ट या बाधा उत्पन्न करते हैं, वे गुप्तशत्रु तेरे कर्म ही हैं। दूसरे तो कर्म-प्रेरित बाण के समान हैं। इसलिए तुझे कर्म की ही ओर ध्यान दे कर इस अन्तर्शत्रु को नष्ट करने का प्रयत्न करना चाहिए।"

भविष्य काल में होन वाले अतिम शासनपति भगवान् महावीर अपने को उपसर्ग करने वाले पापियो को क्षमा प्रदान करेंगे। जो उत्तम पुरुष होते हैं, वे तो ऐसे अवसर के लिए तत्पर रहते हैं। बिना प्रयास के ही स्वयमेव प्राप्त हुई क्षमा को सफल करने के लिए तत्पर रहते हैं।

महाप्रलय के भयकर उपसर्ग से तीन लोक की रक्षा करने में समर्थ – ऐसे महापुरुष भी जब क्षमा को धारण करते हैं, तो तू कदलि के पेड के समान अल्प सत्व वाला हो कर भी क्षमा नहीं करता, यह तेरी कैसी बुद्धि है? यदि तुने पूर्व-जन्म में दुष्कृत्य नहीं किये होते और शुभ कृत्यों के द्वारा पुण्य का

सचय किया होता, तो तुझे आज दु खी होने का अवसर ही नहीं आता - कोई भी तुझे दु खी नहीं करता। इसलिए हे प्राणी ! तू अपने प्रमाद की आलोचना कर के क्षमा करने के लिए तत्पर हो जा । तू समझ ले कि क्रोध मे अन्ध बने हुए मुनि और प्रचण्ड चाण्डाल में कोई अन्तर नहीं है । इसलिए क्रोध का त्याग कर के शुभ एव उज्ज्वल बुद्धि को ग्रहण कर । एक महर्षि क्रोधी थे, किन्तु कुरगडु क्रोधी नहीं था, तो देवता ने ऋषि को नमस्कार नहीं किया, किन्तु कुरगडु को नमस्कार किया और स्तुति की ।

यदि कोई मर्म पीडक वचन कहे, तो विचार करना चाहिए कि - यदि इसके वचन असत्य हैं, तो क्रोध करने की आवश्यकता ही नहीं, क्योंकि उसकी बात ही झूठी एव पागल प्रलाप है । यदि उसकी बात सही है, तो उन दुर्गुणों को निकाल देना चाहिए । यदि कोई क्रोधित हो कर मारने के लिए आवे, तो हँसना चाहिए और मन में सोचना चाहिए कि - 'मेरा मरना तो मेरे कर्मों के आधीन है । यह मूर्ख व्यर्थ ही कारण बन रहा है ।' यदि कोई प्राण रहित करने के लिए ही उद्यत हो जाय, तो सोचना चाहिए कि - 'मेरा आयुष्य ही पूरा होने आया होगा, इसलिए यह दुष्ट निर्भय हो कर पाप-कर्म बाध रहा है और मरे हुए को ही मार * रहा है ।

समस्त पुरुषार्थ का अपहरण करने वाले क्रोध रूपी चोर पर ही तुझे क्रोध नहीं आता तो अल्प अपराध करने वाले ऐसे दूसरे निमित्त पर क्रोध कर के तू खुद धिक्कार का पात्र बन रहा है ।

जो बुद्धिमान् पुरुष हैं, वे समस्त इन्द्रियों को क्षीण करने वाले और चारों ओर फैले हुए क्रोध रूपी विषधर, को क्षमा रूपी गारुडी मन्त्र के द्वारा जीत लेते हैं ।

मान-कषाय का स्वरूप

मान कषाय, विनय, श्रुत, शील तथा धर्म-अर्थ एव मोक्ष रूप त्रिवर्ग का घात करने वाला है और प्राणियों के विवेक रूपी नेत्रो को बन्द कर देता है । जहाँ मान की प्रबलता होती है, वहाँ विवेक दृष्टि बन्द हो कर अन्धता आ जाती है । जाति, कुल, लाभ, ऐश्वर्य बल, रूप तप और श्रुत का मद करने वाला मानव अभिमान के चलते ऐसे कर्मों का सचय कर लेता है कि जिससे उसे उसी प्रकार की हीनता प्राप्त होती है, जिसके कारण अभिमान किया ।

प्रत्यक्ष में जाति के ऊँच, नीच,और मध्यम ऐसे अनेक भेद देख कर कौन बुद्धिमान जाति-मद को अपना कर अपने लिए भविष्य में नीच जाति प्राप्त करने वाले कर्मों का सचय करेगा ? जाति की हीनता अथवा उत्तमता कर्मों के फलस्वरूप मिलती है और जीव की जाति सदा एक नहीं रहती, किन्तु कर्मानुसार बदलती रहती है, फिर थोडे दिनो के लिए ऊँच जाति पा कर कौन समझदार ऐसा होगा जो अशाश्वत और नाशवान् जाति का अहकार करेगा ? --

* क्योंकि उसका आयु-कर्म तो पूर्ण होने वाला है इसलिए वह तो मरा हुआ है और मारने वाला उसे मार कर व्यर्थ ही पाप-भार से अपनी आत्मा को भारी बना रहा है ।

लाभ जो होता है, यह अन्तराय कर्म के क्षय से होता है । बिना अन्तराय कर्म क्षय हुए लाभ नहीं हो सकता । जो पुरुष इस वस्तु तत्त्व को जान लेता है, वह तो लाभ का मद कभी नहीं करता । राज्याधिपति या सत्ताधारियो की प्रसन्नता और किसी प्रकार की शक्ति आदि का विशेष लाभ पा कर भी महात्मा पुरुष मद नहीं करते ।

कई मनुष्य नीच कुल के हो कर भी बुद्धि, लक्ष्मी और शील से सुशोभित हैं । उन्हें देख कर उत्तम कुल वालो को कुल का मद नहीं करना चाहिए । (नीच कुल का अर्थ है- हीनाचार प्रधान वर्ग। जिसे लोग नीच कुल का कहते हैं, उनमें से भी कई उत्तम आचार का पालन करते हैं, तब उत्तम कुल के लिए मद करने का अवकाश ही कहाँ रहा ?) और जिस मनुष्य ने उत्तम कुल में जन्म ले लिया, परन्तु उत्तम आचार का पालन नहीं कर के दुराचार का सेवन करता है, तो उसके लिए उत्तम कुल में जन्म होने मात्र से क्या लाभ हुआ ? (वह खुद तो दुराचार के कारण नीच बन चुका, उसके लिए कुल का मद, लज्जा की बात है) और जो स्वय ही सुशील एव सदाचारी है, उसे कुल की अपेक्षा ही क्या ? वह तो अपने सदाचार के कारण आप ही उच्च है । इस प्रकार प्रशस्त विचार से कुल-मद का निवारण करना चाहिए ।

अपने सामान्य धन के कारण मद करने वाला मनुष्य यह नहीं सोचता कि मेरे पास कितना धन है ? स्वर्ग के अधिपति वज्रधारी इन्द्र के यहाँ रहे हुए त्रिभुवन के ऐश्वर्य के आगे मनुष्य का धन किस गिनती म है ? किसी नगर, ग्राम और धन आदि का मद करना क्षुद्रता ही तो है ? सम्पत्ति कुलटा स्त्री के समान है । वह कभी उत्तम गुणवान् पुरुष के पास से निकल कर दुर्गुणी - दुराचारी के पास भी चली जाती है और वहाँ रह जाती है । इसलिए जो विवेकशील हैं उन्हें ऐश्वर्य की प्राप्ति से मद कभी नहीं होता ।

बलवान् योद्धा को भी जब रोग लग जाता है, तो वह निर्बल हो जाता है । इससे प्रत्यक्ष सिद्ध होता है कि बलवान् व्यक्ति भी रोग, जरा, मृत्यु और कर्म-फल के सामने निर्बल ही हैं । बल अनित्य एव अस्थायी है । ऐसे नाशवान् शारीरिक बल का मद करना भी अविवेकी और अनसमझ का काम है ।

सात घृणित धातुओं से बने हुए शरीर में हानि और वृद्धि होती रहती है । पुद्गल मय शरीर हानि-वृद्धि धर्म से युक्त है । जरा और रोग से शरीर का पराभव होना भी प्रत्यक्ष है । जो आज सुन्दर दिखाई देता है वह रोग-जरा आदि से असुन्दर-कुरूप भी हो जाता है । इस प्रकार विद्रूप बनने वाले रूप का मद कौन बुद्धिमान करेगा ? भविष्य में सनत्कुमार नाम के एक चक्रवर्ती होंगे । वे मनुष्यों में बड़े सुन्दर रूप वाले माने जावेंगे । किन्तु उनके उस रूप का क्षण मात्र में परिवर्तन हो जायेगा । इस प्रकार सुन्दर रूप की विडम्बना सुन कर, रूप का मद नहीं करना चाहिए ।

भूतकाल में प्रथम जिनेश्वर श्री ऋषभदेवजी ने घोर तप किया था और भविष्य में चरम तीर्थाधिपति

श्री वीरप्रभु घोर तप करेंगे । उनके तप की उग्रता को जानने वाले को अपने मामूली तप का मद नहीं करना चाहिए । मद-रहित विशुद्ध भाव से तप करने से कर्म टूटते हैं । किन्तु तप का मद करने से तो उल्टा कर्म का विशेष सचय और वृद्धि ही होती है ।

पूर्व के महापुरुषो ने अपने बुद्धि-बल से जिन शास्त्रों की रचना की उन्हें पढ कर जो "मैं सर्वज्ञ हूँ"- इस प्रकार मद करता, वह तो अपने अग को ही खाता है * । श्री गणधरो की शास्त्र निर्माण और धारण करने की शक्ति को सुन कर ऐसा कौन श्रवण (कान) और हृदय वाला मनुष्य है, जो अपने किंचित् शास्त्र का मद करे ?

दोष रूपी शाखाओं का विस्तार करने वाले और गुणरूपी मूल को नीचे दबाने वाले-ऐसे मान रूपी वृक्ष को मृदुता रूपी नदी की वेगदार बाढ से उखेड कर फेंक देना चाहिए। उद्धतता (अक्खडपन) का निषेध मृदुता अथवा मार्दवता का स्वरूप है और उद्धतता, मान का स्पष्ट स्वरूप है ।

जिस समय जाति आदि का उद्धतपन मन में आने लगे, उस समय उसे हटाने के लिए मृदुता का अवलम्बन लेना चाहिए और मृदुता को सर्वत्र बनाए रखना चाहिए, उसमें भी जो पूज्य वर्ग है, उनके प्रति विशेष रूप से मृदुता रहनी चाहिए, क्योंकि पूज्य की पूजा से पाप से मुक्ति होती है । मान के कारण ही बाहुबीलजी, पाप रूपी लता से बन्ध गये थे। वे मृदुता का अवलम्बन ले करके पाप से मुक्त भी हो गए और केवलज्ञान केवलदर्शन प्राप्त कर लिया । चक्रवर्ती महाराजाधिराज भी चारित्र ले कर और नि सग हो कर शत्रुओं के घर भिक्षा मागने जाते हैं । मान को मूल से उखाड फेंकने की उनकी कैसी कठोर मृदुता है ? चक्रवर्ती सम्राट जैसे भी मान का त्याग कर तत्काल के दीक्षित एक रक साधु को नमन करते हैं और चिरकाल तक उसकी सेवा करते हैं । इस प्रकार मान और उसे दूर करने के विषय को समझ कर, मान को हृदय से निकालने के लिए सदैव मृदुता को धारण करना चाहिए । इसी में बुद्धिमानी है।

माया-कषाय का स्वरूप

माया, असत्य की माता है । शील (सदाचार) रूपी कल्पवृक्ष को काटने वाली कुल्हाडी है और अविद्या की आधार-भूमि है । यह दुर्गति मे ले जाने वाली है । कुटिलता मे चतुर और कापट्ययुक्त बकवृत्ति वाले पापी मनुष्य जगत् को ठगने के लिए माया का सेवन करते हैं । किन्तु वे स्वय अपनी आत्मा को ही ठगते हैं ।

राज्यकर्त्ता, अर्थ-लोभ के लिए खोटे षड्गुण+ के योग से छल-प्रपञ्च और विश्वासघात कर के ससारको ठगते हैं । ब्राह्मण वर्ग अन्तर से सद्गुण शून्य ऊपर से गुणवान् होने का ढोंग कर के और तिलक-मुद्रा मन्त्र और दीनता बता कर ठगाई करता है । वैश्य वर्ग तो माया का भाजन बन गया है।

* गणधर महाराज मात्र त्रिपदी सुन कर ही समस्त श्रुत-सागर के पारगामी हो जाते हैं ।

+ १ सधि २ विग्रह ३ यान ४ आसन ५ द्विधाभाव और ६ समाश्रय - ये राज्यनीति के षड्गुण हैं ।

यह खोटे तोल-नाप से और राज्यकर की चोरी आदि से लोगो को ठगता है । पाखण्डी और नास्तिक लोक जटा, मौंजी, * शिखा, भस्म, वल्कल और अग्नि (धुनी) आदि धारण कर के श्रद्धालु मुग्धजनों को ठगते हैं × । गणिकाएँ, बिना स्नेह के ही हाव-भाव दिखा कर, लीला, गति और कटाक्ष के द्वारा कामीजना को मुग्ध कर के ठगती है । धूर्त लोग और जिनकी आजीविका सुखपूर्वक नहीं चलती ऐसे लोग, झूठी शपथ खा कर और खोटे तथा जाली सिक्के से धनवानों को ठगते हैं । स्त्रीपुरुष, पिता-पुत्र, भाई-भाई, मित्र, स्वामी सेवक और अन्य सभी लोग, एक दूसरे को माया के द्वारा ठगते रहते हैं।

चोर लोग, धन के लिए दिन-रात चौकन्ने रह कर, असावधान लोगो को निर्दयता पूर्वक लूटते हैं । शिल्पी और किसी भी प्रकार की कला के सहारे से आजीविका करने वाले, सीधे और सरल जीवों को भी ठगते रहते हैं ।

व्यन्तर जैसी हलकी योनि के क्रूर देव, अनेक प्रकार के छल कर के प्राय प्रमादी पुरुषों तथा पशुओं को दु खी करते हैं । मत्स्यादि जलचर जीव भी छल से अपन बच्चा का ही भक्षण कर लेते हैं । धीवर लोग उन्हे छलपूर्वक अपनी जाल में फँसा लेते हैं और उनका प्राण हरण कर लेते हैं । शिकारी लोग, अनेक प्रकार के छल से थलचर पशुओं को मार डालते हैं । मास-लोलुप जीव, लावक आदि कितने ही प्रकार के पक्षियों को पकड कर मार डालते हैं और खा जाते हैं ।

इस प्रकार मायाचारी जीव, मायाचार से अपनी आत्मा को ही ठग कर स्वधर्म और सद्गति का नाश करते हैं । यह माया तिर्यञ्च जाति में उत्पन्न होने का बीज, मोक्षपुरी के द्वार को दृढता से बन्द करने वाली अर्गला और विश्वास रूपी वृक्ष के लिए दावानल के समान है । विद्वानों के लिए यह त्याग करने योग्य है ।

भविष्य म होने वाले मल्लिनाथ तीर्थङ्कर पूर्व-भव की सूक्ष्म माया के शल्य के कारण स्त्री-भाव को प्राप्त होगे । इसलिए जगत् का द्रोह करने वाली माया रूपी नागिन को सरलता रूपी औषधि से जीत लेना चाहिए । इसस आनन्द की प्राप्ति होती है ।

सरलता मुक्तिपुरी का सरल एव सीधा मार्ग है । इसके अ[illegible] रिक्त तप दान आदि लक्षण वाला जो मार्ग है, वह तो अवशेष मार्ग हैं - सरलता रूपी धोरी-मार्ग के सा[illegible] रहने वाले हैं । जो सरलता का सेवन करते हैं वे लोक में भी प्रीति-पात्र बनते हैं और जो माया[illegible]ारी कुटिल पुरुष हैं उनसे तो सभी लोग डरते हैं । जिनकी मनोवृत्ति सरल है, उन महात्माओ का भव-वास में रहते हुए भी स्वत के अनुभव में आवे-ऐसा अकृत्रिम मुक्तिसुख मिलता है ?

जिनके मन में कुटिलता रूपी काँटा (खीला) खटक कर क्लेश किया करता है और जो दूसरों

---

* मुंज की रस्सी का कदोरा ।

× इसी प्रकार ढोंगी साधु भी सुगाधु का स्वाँग धर के ठगते हैं । जो जिस रूप में अपने को प्रसिद्ध करता है पर उसके विपरीत आचरण करे, तो ठग ही है ।

को हानि पहुँचाने में ही तत्पर रहते हैं, उन वञ्चक पुरुषो को सुख-शाति कहाँ से मिलेगी ?

सभी विद्याएँ प्राप्त करने पर और सभी कलाओ की उपलब्धि होने पर भी, बालक जैसी सरलता तो किसी विरले भाग्यशाली पुरुष को ही प्राप्त होती है । अज्ञ होते हुए भी बालको की सरलता सभी के मन में प्रीति उत्पन्न करती है, तो जिस भव्यात्मा का चित्त सभी शास्त्रो के अर्थ में आसक्त है, उनकी सरलता जन-मन में प्रीति उत्पन्न करे, उसमे तो आश्चर्य ही क्या है ?

सरलता स्वाभाविक होती है और कुटिलता मे कृत्रिमता होती है ।इसलिए स्वभाव धर्म को छोड कर कृत्रिम (बनावटी) धर्म को कौन ग्रहण करेगा ?

ससार म प्राय सभी जन छल, पिशुनता, वक्रोक्ति और पर-वञ्चन में तत्पर रहते हैं । ऐसे लोक-समूह में रहते हुए भी शुद्ध स्वर्ण के समान निर्मल एव निर्विकार करने वाला तो कोई धन्य पुरुष ही होगा ।

जितने भी गणधर होते हैं, वे सभी श्रुत-समुद्र के पारगामी होते हैं, तथापि वे शिक्षा प्राप्त करने के लिए तीर्थंकर भगवान् की वाणी को सरलतापूर्वक सुनते हैं ।

जो सरलतापूर्वक अपने दोषो की आलोचना करते हैं, वे सभी प्रकार के दुष्कर्मों का क्षय कर देते हैं और जो कुटिलतापूर्वक आलोचना करते हैं, वे अपने छोटे दुष्कर्म को भी मायाचार के कारण बढा कर बडा कर देते । जो मन से भी कुटिल हैं और वचन तथा काया से भी कुटिल हैं, उस जीव की मुक्ति नहीं हो सकती । मुक्त वे ही होते हैं, जो मन वचन और काया मे सरल हो ।

इस प्रकार मायाचारी कुटिल मनुष्यो को प्राप्त होने वाली उग्र कर्मो की कुटिलता का विचार कर के जो बुद्धिमान् हैं, वे तो मुक्ति प्राप्त करने के लिए सरलता का ही आश्रय लेते हैं।

लोभ-कषाय का स्वरूप

लोभ, समस्त दोषों की खान है, गुणों को भक्षण करने वाला राक्षस है । यह व्यसन रूपी लता का मूल है और सभी प्रकार के अर्थ की प्राप्ति मे बाधक होने वाला है । निर्धन व्यक्ति, सौ सिक्का का लोभी है तो सौ वाला हजार चाहता है । हजार वाला लाख, लखपति, कोट्याधिपति होना चाहता है, वो कोट्याधिपति, राज्याधिपति होने की आकाक्षा रखता है और राज्याधिपति चक्रवर्ती समाट बनने का लोभ करता है । चक्रवर्ती हो जाने पर भी लोभ नहीं रुकता । फिर वह दव और देव से बढ कर देवेन्द्र बनने की तृष्णा रखता है। इन्द्र हो जाने पर भी इच्छा की पूर्ति नहीं होती । लोभ की सतति उपरोत्तर बढती ही रहती है ।

जिस प्रकार समस्त पापो में हिसा समस्त कर्मों मे मिथ्यात्व और सभी रोगा में राज्यक्षमा (क्षय) बड़े हैं उसी प्रकार सभी कषायो में लाभ-कषाय बडी है । इस पृथ्वी पर लोभ का एक

छत्र साम्राज्य है । यहाँ तक कि जिस वृक्ष के नीचे धन होता है उस धन को वृक्ष की जड़ें आदि लिपट कर आच्छादित कर देती है (ढक देती है) । धन के लोभ से बेइन्द्रिय तेइन्द्रिय, चौरीन्द्रिय प्राणी, अपने पूर्व-भव में जमीन में गाडे हुए धन पर मूर्च्छित हो कर बैठते हैं । साँप और छिपकली जैसे पचेन्द्रिय जीव भी लोभ से, अपने पूर्वभव के अथवा दूसरे के रखे हुए धन वाली भूमि पर आ कर लीन हो जाते हैं ।

पिशाच, मुद्‌गल (व्यन्तर विशेष) भूत, प्रेत और यक्षादि देव भी लोभ के वश हो कर अपने या दूसरो के निधान (पृथ्वी में डटे हुए धन) पर स्थान जमा कर अधिकार करते हैं। आभूषण उद्यान और वापिकादि जलाशयों मे मूर्च्छित देव भी वहाँ से च्यव कर पृथ्वीकाय, अप्काय और वनस्पतिकाय मे उत्पन्न होते हैं । जो मुनि महात्मा, क्रोधादि कषाय पर विजय पा कर "उपशान्त-मोह" नाम के ग्यारहवें गुणस्थान पर आरूढ हो जाते हैं, वे भी एक लोभ के अश मात्र से पतित हो जाते हैं ※ । थोडे से धन के लोभ से दो सहोदर भाई कुत्ते के समान आपस में लडते हैं । ग्राम्यजन, अधिकारी वर्ग और राजा, खेत गाँव और राज्य की सीमा के लोभ से पारस्परिक सौहार्द भाव छोड कर एक दूसर से वैर रखते हैं ।

लोभी मनुष्य, नाटक करने म भी बडे ही कुशल होते हैं । स्वामी या अधिकारी का प्रसन्न करने के लिए, मन मे हर्ष, शोक, द्वेष एव हास्य कारण नहीं होने पर भी, उनके सामने नट क समान हर्ष-शोकादि बतलात हैं ।

दूसरे खड्डे तो पूरने से भर जाते हैं, किन्तु लोभ का खड्डा इतना गहरा और विचित्र है कि इस जितना भरा जाय, उतना ही अधिक गहरा होता जाता है । ऊपर से समुद्र में जल डालने से वह परिपूर्ण नहीं होता । यदि दवयोग या अन्य कारण से समुद्र भी परिपूर्ण रूप से भर जाय किन्तु लोभ रूपी महासागर तो ऐसा है कि तीन लोक का राज्य मिल जाय तो भी पूरा नहीं होता । क्या इस जीव ने कभी भोजन नहीं किया ? बढिया वस्त्र नहीं पहने ? विषयो का सेवन नहीं किया और धन-सम्पत्ति का सचय नहीं किया ? किया अनन्त बार किया, फिन्तु लोभ का अश कम नहीं किया । वह तो बढता ही रहा । यदि लोभ का त्याग कर दिया तो फिर तप करने की आवश्यकता नहीं रहती (क्योंकि लोभ का त्याग कर देने वाला तो स्वय पवित्र आत्मा है । उसकी मुक्ति तो होती है) और जिसने लोभ त्याग नहीं किया तो उसे भी तप करने की आवश्यकता नहीं (क्योंकि उसका तप भी तृष्णा की पूर्ति के लिए ही होता है । उस तप से निदानादि द्वारा ऐसी स्थिति प्राप्त होती है कि जिसके कारण भविष्य में वह नरकादि दु खों का निर्माण कर लेता है) ।

※ ग्यारहवें गुणस्थान की स्थिति पूर्ण होने हो दबे हुए मोह में से सब से पहले सूक्ष्म लोभ का उदय होता है।

समस्त शास्त्रो का सार यही है कि -"बुद्धिमान् मनुष्य लोभ को त्यागने का ही प्रयत्न करे ।" जिसके हृदय मे सुमति का निवास होता है, वह लोभ रूपी महासागर की चारों ओर फैलती हुई प्रचण्ड तरगो पर, सतोष का सेतु बाँध कर रोक देता है । जिस प्रकार मनुष्यों में चक्रवर्ती और देवो मे इन्द्र सर्वश्रेष्ठ है, उसी प्रकार समस्त गुणों मे सन्तोष महान् गुण है ।

सन्तोषी मुनि और असन्तोषी चक्रवर्ती के सुख-दु ख की तुलना की जाय, तो दोनों के सुख- दु ख का उत्कर्ष समान होता है, अर्थात् सन्तोषी मुनिवर जितने अशों मे सुखी है, उतने ही अशों में असन्तोषी चक्रवर्ती दु खी है । इसलिए चक्रवर्ती सम्राट भी अपने राज्य का त्याग कर के तृष्णा का त्याग करते हैं और नि सगता के द्वारा सन्तोष रूपी अमृत का प्राप्त करते हैं ।

जिस प्रकार कानों को बन्द किया जाता है, तो भीतर से शब्दाद्वैत अपने आप बढता है, उसी प्रकार जब धन की इच्छा का त्याग किया जाता है तब सम्पत्ति अपने आप आ कर उपस्थित होती है। जिस प्रकार आँखे बन्द कर लेने से सारा विश्व ढक जाता है (दिखाई नहीं देता) उसी प्रकार एक सन्तोष को ही धारण कर लिया जाय, तो प्रत्येक वस्तु मे विरक्ति आ जाती है । फिर इन्द्रिय-दमन और काय-क्लेश तप की क्या आवश्यकता रहती है ? मात्र सन्तोष धारण कर लिया जाय, वा ऐसे महापुरुष की ओर मोक्ष-लक्ष्मी अपने आप आकर्षित होती है । जो भव्यात्मा सन्तोष के द्वारा तुष्ट हैं और मुक्ति जैसा सुख भोगते हैं, वे जीवित रहते हुए भी मुक्त हैं ।

राग-द्वेष से युक्त और विषयो से उत्पन्न हुआ सुख किस काम का ? मुक्ति तो सन्तोष से उत्पन सुख से ही मिल सकती है । उन शास्त्रो के वे सुभाषित किस काम के जो दूसरो को तृप्त करने का विधान करते हैं । जिनकी इन्द्रियाँ मलिन है, जो विषया का मन मे बसाये हुए हैं, उन्हें मन को स्वच्छ करके सतोष के स्वाद से उत्पन्न सुख की ही खोज करनी चाहिए ।

हे प्राणी ! यदि तेरा यह विश्वास हो कि "जो कार्य होते हैं, वे कारण के अनुसार ही होते हैं" इस प्रकार सन्तोष के आनन्द से ही मोक्ष के अपार आनन्द की प्राप्ति होती है। इस सिद्धान्त की भी मान्यता करनी चाहिए ।

जो उग्र तप कर्म को निर्मूल करने में समर्थ है, वही तप यदि सन्तोष से रहित हा, तो निष्फल जाता है । सन्तोषी आत्मा को न तो कृषि करने की आवश्यकता रहती है न नौकरी, पशु-पालन और व्यापार करने की ही जरूरत है । क्योंकि सन्तोषामृत का पान करने से उसकी आत्मा निवृत्ति के महान् सुख को प्राप्त कर लेती है । सन्तोषामृत का पान करने वाले मुनियों को तृण पर सोते हुए भी जो आनन्द आता है, वह रुई के बडे-बडे गद्दा पर सोने वाली असन्तोषी धनवान् को नहीं होता । असन्तोषी धनवान् सन्तोषी समर्थ पुरुषो के आगे तृण के समान लगते हैं

चक्रवर्ती और इन्द्रादि की ऋद्धि तो प्रयासजन्य और नश्वर है, परन्तु सन्तोष से प्राप्त हुआ सुख अनायास और नित्य होता है । इसलिए बुद्धिमान् पुरुषों का कर्तव्य है कि समस्त दोष के स्थान रूप लोभ को दूर करने के लिए अद्वैत सुख के धाम रूप सन्तोष का आश्रय करना चाहिए ।

इस प्रकार कषायो को जीतने वाली आत्मा, इस भव मे भी मोक्ष-सुख का आनन्द लेती है और परलोक में अवश्य ही अक्षय आनन्द को प्राप्त कर लेती है ।"

प्रभु की धर्मदेशना सुन कर बहुतो ने दीक्षा ली । बलदेव आदि बहुत- से व्रतधारी श्रावक हुए और वासुदेव आदि सम्यग्दृष्टि बने । केवलज्ञान प्राप्त करने के बाद दो वर्ष कम ढाई लाख वर्ष तक तीर्थंकर देवाधिदेवपने विचरते रहे । उनके ६४००० साधु, ६२४०० साध्वियाँ, ९०० चौदह पूर्वधर, ३६०० अवधिज्ञानी, ४५०० मन पर्यवज्ञानी, ४५०० केवलज्ञानी, ७००० वैक्रिय-लब्धि वाले, २८०० वाद-लब्धि वाले, २४०००० श्रावक और ४१३००० श्राविकाएँ हुई । मोक्ष समय निकट आने पर भगवान् सम्मेदशिखर पर्वत पर पधार और १०८ मुनियो के साथ अनशन किया । ज्येष्ठ-शुक्ला पचमी को पुष्य-नक्षत्र में एक मास का अनशन पूर्ण कर उन मुनियो के साथ भगवान् मोक्ष पधारे ।

भगवान् कुमार अवस्था में ढाई लाख, राज्य सचालन में पाँच लाख और चारित्र अवस्था मे ढाई लाख, यों कुल दस लाख वर्ष का आयु भोग कर मोक्ष प्राप्त हुए ।

पाँचवें पुरुषसिंह वासुदेव भी महान् क्रूर-कर्म करते हुए आयु पूर्ण करके छठे नरक में गए । सुदर्शन बलदेव ने भ्रातृ-वियोग से दु खी हो कर सयम स्वीकार किया और विशुद्ध आराधना से समस्त कर्मों का क्षय कर के मोक्ष पधारे ।

पन्द्रहवें तीर्थंकर

भगवान्

।। धर्मनाथजी का चरित्र सम्पूर्ण ।।

चक्रवर्ती मघवा

भगवान् श्री वासुपूज्य स्वामी के तीर्थ मे, भरत-क्षेत्र के महिमडल नामक नगर में नरपति नामक राजा राज करता था । वह सदाचारी,न्यायी और अनाथो का नाथ था । वह किसी भी जीव का अनिष्ट नहीं करता था और सभी का उचित रीति से पालन करता था। वह महानुभाव अर्थ और काम-पुरुषार्थ में अरुचि रखता हुआ धर्म-पुरुषार्थ का सेवन करने वाला था । वह देव-गुरु और धर्म की आराधना करने में तत्पर रहता था । धर्म-भावना में विशेष वृद्धि होने पर नरेश ने ससार त्याग कर सर्व-सयम स्वीकार कर लिया और चिरकाल तक उत्तम रीति से आराधना कर के मृत्यु पा कर मध्य ग्रैवेयक में अहमिन्द्र हुआ ।

इसी भरत-क्षेत्र में श्रावस्ती नाम की एक श्रेष्ठ नगरी थी ।'समुद्रविजय' नाम का राजा वहाँ राज करता था । वह प्रतापी, विजयी और सदाचारी था ।'भद्रा' नाम की सुलक्षणी एव उत्तम शील-सम्पन्न महारानी थी ।नरपति मुनिराज का जीव ग्रैवेयक की अपनी आयु पूर्ण कर के महारानी भद्रा के गर्भ में उत्पन्न हुआ । महारानी ने चौदह महास्वप्न देखे । जन्म होने पर मघवा (इन्द्र) के समान पराक्रम वाले लक्षण देख कर पिता ने पुत्र का 'मघवा' नाम रखा । वय प्राप्त होने पर राजकुमार महान् योद्धा एव पराक्रमवान् हुआ । महाराजा समुद्रविजय के बाद वह राज्य का सचालन करने लगा । कालान्तर में राज्य के शस्त्रागार म 'चक्ररत्न' प्रकट हुआ तथा अनुक्रम से 'पुरोहित रत्न' आदि चक्रवर्ती महाराजा के योग्य सभी रत्न अपने-अपने स्थान पर उत्पन्न हुए और सभी नरेश के अनुशासन में आ गये ।इसके बाद चक्ररत्न आयुधशाला में से निकल कर चलने लगा ।उसके पीछे महाराजा मघवा भी चलने लगे। उन्होंने पूर्व के भरत और सगर चक्रवर्ती के समान छह खड का विजय किया और राज्याभिषेक कर के 'तीसरे चक्रवर्ती महाराजाधिराज' के रूप मे प्रसिद्ध हुए ।

चक्रवर्ती सम्राट के सामने मनुष्य सम्बन्धी सभी प्रकार की देवोपम उत्कृष्ट भोग सामग्री विद्यमान थी, किन्तु आप भोग में अत्यत लुब्ध नहीं हुए और धर्म-भावना वृद्धिगत करते रह । अन्त में राज्य-सम्पदा और सभी प्रकार के काम-भोगों का त्याग कर के आपने श्रमण धर्म स्वीकार कर लिया और चारित्र का पालन करते हुए समस्त कर्मों को क्षय कर के मोक्षगामी हुए * ।

मघवा चक्रवर्ती २५००० वर्ष कुमारवय में, २५०००माडलिक नरेश, १०००० दिग्विजय म, ३९०००० वर्ष चक्रवर्ती पद म और ५०००० वर्ष सयम साधना में, इस प्रकार ५००००० वर्ष का कुल आयु भोग कर मुक्त हुए ।

---

* ग्रन्थकार लिखते हैं कि य तीसर देवलाक में गये । पू श्री घासीलालजी म सा. भी उत्तराध्ययन की अपनी टीका - भाग ३ पृ १८० में ऐसा ही उल्लख करते हैं, परन्तु उत्तराध्ययन सूत्र अ १८ का अभिप्राय मोक्ष प्राप्ति का लगता है । इसके विषय का स्पष्टीकरण आगे सनतकुमार चक्रवर्ती के प्रकरण म किया जाएगा ।

चक्रवर्ती सनत्कुमार

काचनपुरी नाम की एक अत्यत समृद्ध और विशाल नगरी थी । 'विक्रय यश' नाम का राजा वहाँ राज करता था । वह महाप्रतापी था । अनेक राजा उसके आधीन थे । उसके अन्त पुर में ५०० रानियाँ थी । उस नगरी में नागदत्त नाम का ऋद्धि सम्पन्न सार्थवाह था । 'विष्णुश्री' उसकी अत्यत सुन्दर पत्नी थी । दम्पत्ति में परस्पर प्रगाढ प्रेम था। वे सारस पक्षी के समान निरन्तर रसिकतापूर्वक जीवन व्यतीत करते थे । सयोगवशात् विष्णु श्री पर राजा की दृष्टि पडी । उसे देखते ही राजा मोहित हो गया। उनकी विवेक-बुद्धि नष्ट हो गई । उसने विष्णुश्री का हरण कर के अपने अत पुर में मगवा लिया और उसके साथ अत्यन्त गृद्ध हो कर भोग भोगने लगा । पत्नी का हरण होने पर नागदत्त विक्षिप्त हो गया। वह प्रेतग्रस्त व्यक्ति के समान सुध-बुध भूल कर भटकने लगा । उधर विष्णुश्री का स्वास्थ्य बिगड़ा। वह रोग-ग्रस्त हो गई और अन्त में उसकी जीवन-लीला समाप्त हो गई । उसके मरने से राजा को भी गम्भीर आघात लगा और वह भी विक्षिप्त हो गया । उसकी दशा भी नागदत्त जैसी हो गई । राजा उसकी मृत-देह को छोड़ता ही नहीं था । मन्त्रियों ने भुलावा दे कर विष्णुश्री के शव का वन में डलवा दिया । राजा विक्षिप्त के समान इधर-उधर भटकने लगा । अन्न-पानी लिये उसे तीन दिन हो गए । मन्त्री-मण्डल चिन्तित हो उठा । राजा को विष्णुश्री का वन में पड़ा हुआ क्षत-विक्षत शव बताया गया। उस सुन्दर देह की एसी दुर्दशा देख कर राजा विचार-मग्न हो गया । सुन्दरता में छुपी हुई बीभत्सता उसके आगे प्रत्यक्ष हो रहीं थी । राजा विरक्त हो गया और राज्यादि का त्याग कर श्री सुव्रताचार्य के समीप जा कर प्रव्रजित हो गया । वह राजर्षि चारित्र ग्रहण कर के अपनी देह के प्रति भी उदासीन हो गया । उसे अपने शरीर में भी वैसी ही बीभत्सता लग रही थी । वह मासक्षमणादि लम्बी तपस्या कर के शरीर और कर्मों का शोषण करने लगा । आयु पूर्ण होने पर वह सनत्कुमार देवलोक मे देवता हुआ । देवायु पूर्ण होने पर रत्नपुर नगर में ''जिनधर्म'' नाम का श्रेष्ठि-पुत्र हुआ । वह बचपन से ही धर्मानुरागी था और बारह प्रकार के श्रावक-धर्म का पालन करने लगा था । वह साधर्मियो की सेवा भी उत्साहपूर्वक करता था ।

नागदत्त सार्थवाह,पत्नी-वियोग से दु खी हो कर और आर्तध्यानयुक्त मृत्यु पा कर तिर्यंच-योनि में भ्रमण करने लगा । चिरकाल तक जन्म-मरण करते हुए सिंहपुर नगर में एक ब्राह्मण के घर जन्म लिया । उसका नाम ''अग्निशर्मा'' था । वह त्रिदण्डी सन्यासी बन कर अज्ञान तप करने लगा । इधर-उधर भ्रमण करता हुआ वह रत्नपुर नगर में आया । वहाँ हरिवाहन नामक अन्यधर्मी राजा था । राजा ने अग्निशर्मा त्रिदण्डी तापस को अपने यहाँ पारणा करने का निमन्त्रण दिया । अग्नि शर्मा राजभवन में

आया । उसने वहाँ अचानक श्रेष्ठिपुत्र जिनधर्म को देखा । देखते ही सत्ता में रहा हुआ पूर्वजन्म का वैर जाग्रत हुआ । उसने राजा से कहा -

"राजन् ! यदि आप मुझे पारणा कराना चाहते हैं, तो इस सेठ की पीठ पर गरमागरम खीर का पात्र रख कर भोजन करावे । ऐसा करने पर ही मैं भोजन करूँगा, अन्यथा बिना पारणा किये ही लौट जाऊँगा ।"

राजा, अग्निशर्मा का पूरा भक्त बन गया था । उसने अग्निशर्मा की बात स्वीकार कर ली । राजाज्ञा के अनुसार जिनधर्म ने अपनी पीठ झुका दी । इसकी पीठ पर अतिउष्ण ऐसा पात्र रख कर, तापस भोजन करने लगा । जिनधर्म को इससे वेदना हुई, किन्तु वह शात-भाव से अपने अशुभ कर्म के विपाक का परिणाम मान कर सहन करता रहा । तापस का भोजन पूरा हुआ, तब तक वह खीर पात्र जिनधर्म सठ के रक्त और मास से लिप्त हो गया था । जिनधर्म ने घर आ कर अपने सभी सम्बन्धियों को खमाया और गृह त्याग कर मुनि के पास सयम स्वीकार किया । उसने एक पर्वत के शिखर पर जा कर पूर्व-दिशा की ओर अपनी पीठ का खुली रख कर कायोत्सर्ग किया । पीठ पर खुले हुए मास को देख कर गिद्धादि पक्षी आकर्षित हुए और अपनी चोच से मास नोच-नोच कर खाने लगे । इस असह्य वेदना को शातिपूर्वक सहन करते हुए और धर्म-ध्यान मे लीन रहते हुए आयु पूर्ण कर के जिनधर्म मुनिजी, सौधर्मकल्प में इन्द्र के रूप में उत्पन हुए । वह अग्निशर्मा अज्ञान तप करता हुआ, आयु पूर्ण कर उसी देवलोक में आभियोगिक देव के रूप में उत्पन्न हुआ और हाथी के रूप में उस इन्द्र की स्वारी के काम में आने लगा । वहाँ का आयु पूर्ण कर अग्निशर्मा का जीव, जन्म-मरण करता हुआ असित नामक यक्ष हुआ ।

इस जम्बूद्वीप के भरत-क्षेत्र मे हस्तिनापुर नाम का नगर था । वहाँ अश्व की विशाल सना से पृथ्वी को प्रभावित करने वाला व शत्रुआ पर विजय प्राप्त करने वाला "अश्वसेन' नाम का राजा था। वह सदाचारी सद्गुणी और ऋद्धि-सम्पन्न था । याचकों के मनोरथ पूर्ण करने में वह तत्पर रहता था। उसके सहदेवी नाम की महारानी थी । रूप एव लावण्य म वह स्वर्ग की देवी के समान थी । जिनधर्म का जीव, प्रथम स्वर्ग की इन्द्र सम्बन्धी ऋद्धि भोग कर आयु पूर्ण होने पर महारानी सहदेवी की कुक्षि में उत्पन्न हुआ । महारानी ने चौदह महास्वप्न देखे । गर्भकाल पूर्ण होने पर एक स्वर्ण-सी काति वाला एव अनुपम रूप-सम्पन्न पुत्र का जन्म हुआ । उस बालक का 'सनत्कुमार' नाम दिया गया । वह विना विशेष प्रयत्न के ही समस्त विद्याओं और कलाओ में पारगत हा गया । अनुक्रम से वह यौवन वय को प्राप्त हुआ ।

सनत्कुमार के महन्द्रसिह नाम का एक मित्र था । वह योद्धा बलवान् और अपने विशिष्ट पराक्रम

से विख्यात था । सनत्कुमार अपने मित्र महेन्द्रसिंह और अन्य कुमारो के साथ मकरन्द नामक उद्यान में क्रीडा करने गया । वहाँ उसे कुछ घोडे दिखाई दिये । किसी राजा ने ये उत्तम घोडे महाराज अश्वसेन को भेंट के रूप में भेजे थे । वे घोडे पचधारा में चतुर और उत्तम लक्षण वाले थे । सनत्कुमार ने उन घोडों का अवलोकन किया । उनमें से 'जलधिकल्लोल' नाम का एक घोडा, जल-तरंग के समान चपल और सभी अश्वों मे उत्तम था । सनत्कुमार को उस अश्व ने आकर्षित कर लिया । वह उसी समय उसकी लगाम पकड कर, उस पर सवार हो गया । उसके सवार होते ही घोडा एकदम भागा और आकाश में उड रहा हो - इस प्रकार शीघ्र-गति से दौडा । राजकुमार लगाम खिच कर अश्व को रोकने का प्रयत्न करने लगा, किन्तु ज्यों-ज्यो लगाम खिचता, त्यो-त्यो अश्व की गति विशेष तीव्र बनती । सनत्कुमार के साथ महेन्द्रसिंह और अन्य राजकुमार भी घोडों पर सवार हो कर चले थ । किन्तु सभी साथी पीछे रह गए और सनत्कुमार उन सभी की आँखो से ओझल हो गया । सनत्कुमार का एकाका अदृश्य होना सुन कर महाराज अश्वसेन चिन्तित हुए और स्वय सेना ले कर खोज करन निकल गए। वे घोडे क चरण-चिह्न और मुँह मे से झरते हुए फेन (झाग) का अनुसरण करते हुए खोज करने लगे। अचानक आँधी चली और धूल उडी । खोज करने वालों का आगे बढना रुक गया । उनकी आँखें धूल उड़ कर गिरने के कारण बन्द हो गई थी । जब आँधी थमी और धूल उडनी बन्द हुई तो उन्होंने देखा कि घोडे के पाँवों के चिह्न मिट चुके थे । उडी हुई धूल ने सभी चिह्न मिटा दिये । अब उनकी खोज का मार्ग विशेष कठिन हो गया । सभी इधर-उधर बिखर कर खोज करने लगे । महेन्द्रसिंह ने महाराजा अश्वसेन को समझा कर लौटा दिया और स्वय खोज करने के लिए आगे बढा । उसमें मित्र को खोजने की एक-मात्र धुन थी । अन्य खोज करने वाले तो इधर-उधर भटक कर लौट गए, किन्तु महेन्द्रसिंह आगे बढता ही गया । भूख लगती तो वृक्षों के फल खा लेता पानी पी लेता कहीं कुछ विश्राम करता और आगे बढता । वह आस-पास की झाड़ी गुफाएँ, टेकरे वनवासियो के झोपड़ आदि में खोज करता और विशाल वृक्षों पर चढ कर इधर-उधर देखता हुआ आगे बढने लगा । सघन अटवी में भयानक हिंस्र-पशुओं से बचता और आक्रमणकारी पशुओ को खदेड़ता हुआ वह आगे बढता ही रहा । उसे न गर्मी का भय रोक सका न सर्दी का । वह सभी प्रकार के कष्टों को सहता हुआ मित्र की खोज निकालने की ही धुन लिए भटकने लगा । उसकी दशा बिगड़ गई । काँटों और कंकरों ने पाँवों में छेद कर दिये चलना दुभर हो गया, कपडे फट गये बाल बढ गए, फिर भी वह चलता ही रहा । इस प्रकार भटकते हुए उसे एक वर्ष बीत गया ।

एक बार वह एक वन में भटक रहा था कि उसे हस सारस आदि पक्षियों का स्वर सुनाई दिया कमल के पुष्पों की गंध आने लगी और उसके मन में भी प्रसन्नता उत्पन्न होने लगी और साथी ही मित्र

के शीघ्र मिलने की आशा जोर पकडने लगी । वह उसी दिशा मे आगे बढा । थोडी दूर चलने पर उसे गान्धार राग म गाया जाता हुआ मधुर गीत और वीणा का स्वर सुनाई दिया । उसके हृदय की आशा-लता हरी हो गई । वह शीघ्रता से आगे बढा । दूर से उसने देखा कि विचित्र वेश धारण करने वाली कुछ रमणियों के बीच एक पुरुष बैठा है । उसका हर्ष उमडने लगा । निकट आने पर उसने अपने प्रिय मित्र को पहिचान लिया । उसका मनोरथ पूर्णरूप से सफल हो गया । वह दौडता हुआ सनत्कुमार के पास पहुँचा और तत्काल उनके चरणों में गिर गया । अचानक महेन्द्रसिह को आया जान कर सनत्कुमार भी प्रसन्न हुआ और मित्र को छाती से लगा लिया । दोनो के हर्षाश्रु बहने लगे ।

जब दोनों मित्रा का हर्षावेग कम हुआ, आनन्दाश्रु थमे, तब सनत्कुमार ने महेन्द्रसिह से यहाँ तक पहुँचने मे उत्पन्न कठिनाइयों का हाल पुछा, तो महेन्द्रसिह ने विस्तारपूर्वक अपनी कष्ट-कहानी सुनाई। मित्र के भीषण कष्टा और आपदाओ को सुन कर बहुत खेद हुआ । विद्याधरी ललनाओं ने महेन्द्र को स्नानादि करा कर भोजन कराया । इसके बाद महेन्द्र ने सनत्कुमार का हाल पूछा । सनत्कुमार ने सोचा - 'मेरी इस अवस्था की बात मैं स्वय कहू - यह शोभनीय नहीं होगी ।' उसने अपनी बायीं ओर बैठी हुई विद्याधर सुन्दरी बकुलमति से सारा वृत्तान्त सुनाने का कहकर शयन करने के बहाने वहाँ से हट गया । उसके जान के बाद बकुलमति ने सनत्कुमार का वृत्तान्त बताते हुए कहा,-

"महानुभाव ! तुम सभी के देखते ही देखते अश्व द्वारा तुम्हारे मित्र का हरण होने के बाद अश्व ने एक भयानक अटवी में प्रवेश किया । वह दौडता ही रहा । दूसरे दिन मध्याह्न काल मे वह क्षुधा-पिपासा और गभीर थाक से अकड कर खडा रह गया । उसके खडे रहते ही कुमार घोडे पर से नीचे उतरे और साथ ही घोडा भींत के समान नीचे गिर कर प्राण-रहित हो गया ।

आपके मित्र भी प्यास से व्याकुल हो रहे थे । वे पानी की खाज मे इधर-उधर भटकने लगे। उन्हें पानी मिलना कठिन हो गया । वे व्याकुल हो गए और एक सप्तपर्ण वृक्ष के नीचे आ कर उसकी शीतल छाया में लेट गए । वे पुण्यवान् एव भाग्यशाली हैं । सद्भागी पर आपत्ति के बादल अधिक समय तक नहीं ठहर सकते । उनके लिए जगल म भी मगल का वातावरण बन सकता है । पुण्ययोग से उस वन के अधिष्ठायक यक्ष को कुमार की विपत्ति का भान हुआ । तत्काल यक्ष न शीतल जल स आर्य-पुत्र के शरीर का सिचन किया । शरीर में शीतलता पहुँचते ही वे सचेत हो गए और यक्ष द्वारा दिया हुआ पानी पी कर तृप्त हुए । उन्होंने यक्ष से पूछा - "तुम कौन हो और यह स्वादिष्ट एव सुगन्धित जल कहा से लाये ?" यक्ष ने कहा -

" मैं इस वन में रहने वाला यक्ष हू । यह उत्तम जल तुम्हारे लिए मानसरोवर से लाया हूँ ।"

-"यदि आप मुझे मानसरोवर ले चलें और मैं उसमें स्नान कर लूँ, तो मेरा शरीर स्वस्थ और

स्फूर्तिदायक हो सकता है । मेरी सभी पीडाएँ दूर हो सकती है"- कुमार ने यक्ष से अनुरोध किया ।

यक्ष ने आर्य-पुत्र का अनुरोध स्वीकार किया और उन्हें उठा कर बात-की बात में मानसरोवर ले गया । आर्य-पुत्र ने वहाँ जी-भर कर जलक्रीड़ा की ।

वे जलक्रीडा कर ही रहे थे कि उनका पूर्वभव का शत्रु "असिताक्ष" नामक यक्ष वहाँ आ पहुँचा। आर्यपुत्र को देखते ही उसका वैर जाग्रत हुआ । उसने उन पर आक्रमण कर दिया किन्तु आर्यपुत्र ने साहस के साथ उसका सामना किया और उसे परास्त कर के भगा दिया ।उसकी सभी चालें व्यर्थ हुई। उनके युद्ध-कौशल को देखने के लिए मानसरोवर मे क्रीडा करने को आई हुई देवियाँ और विद्याधरियाँ एकत्रित हो गई थीं ।आर्यपुत्र की विजय पर प्रसन्न हुई और उन्हाने आर्यपुत्र पर पुष्प-वर्षा की ।इसके बाद आर्यपुत्र वहाँ से चले ।उधर से ये विद्याधर-कन्याएँ नन्दन वन में से मानसरोवर की ओर आ रही थीं । ये सुन्दरियें आर्यपुत्र को देख कर मोहित हो गई और कामदेव के अवतार समान आर्यपुत्र को एकटक निरखने लगी । आर्यपुत्र ने इनके निकट आ कर परिचय पूछा ।उन्होंने अपना परिचय देते हुए कहा -

"विद्याधरों के राजा भानुवेग की हम आठों पुत्रियाँ हैं ।हम सब वन-विहार एव जलक्रीड़ा करने आई हैं । हमारी नगरी निकट ही है । हम पर अनुग्रह कर के आप वहाँ पधारने का कष्ट करें ।"

उनके साथ आर्यपुत्र नगरी में आये । विद्याधराधिपति महाराज भानुवेग अपनी इन पुत्रियों के लिए वर प्राप्त करने की चिन्ता में ही थे ।राजकुमार का देख कर वे अत्यत प्रसन्न हुए ।उनका सत्कार किया । राजा ने समझ लिया कि यह पुरुष महान् भाग्यशाली,पराक्रमी और वीर है । ऐसा उत्तम वर दूसरा कोई हो ही नहीं सकता । राजा ने अपनी आठों पुत्रियो का विवाह उसके साथ कर दिया ।वे वहीं रह कर अपनी पत्निया के साथ सुख भोग में समय बिताने लगे ।

वह मार खाया हुआ असिताक्ष यक्ष वैर का डक लिए हुए अवसर की ताक में लगा हुआ था। जब उसने देखा कि उस पर विजय पाने वाला सुख की नींद सोया हुआ है, तो उसने निद्रित अवस्था में ही आर्यपुत्र का हरण किया और अटवी में जा कर फेंक दिया। जब वे जागे, तो अपने को वन में एकाकी देख कर विस्मित हुए ।उन्हें विचार हुआ कि यह परिवर्तन कैसे हुआ ? वे अटवी में इधर-उधर भटकने लगे । थोडी देर के बाद उन्हें एक सतखण्डा भव्य भवन दिखाई दिया ।उन्होंने सोचा -"क्या यह भी किसी मायावी का कौतुक है ?" वे साहस कर के उस भवन के निकट पहुँचे ।उनके कानों में किसी स्त्री के रुदन का करुण स्वर सुनाई दिया । आर्यपुत्र के मन मे दया का सचार हुआ । वे उस भवन में चले गये ।जब वे ऊपरी मजिल पर पहुँचे तो उन्हें देखते ही एक स्त्री बोल उठी:-

"हे कुरुवश के तिलक सनत्कुमार ! आप ही मेरे पति होवें," इस प्रकार कहती हुई वह अनुपम

करती थी । उनका अनुपम रूप और लावण्य देख कर आर्यपुत्र चकित हुए । उन्हे विचार हुआ कि 'यह सुन्दरी मुझे कब से व कैसे पहिचानती है ।' वे उसके निकट गए और पूछा -

"भद्रे ! तुम कौन हो ? यहाँ क्यो आई ? तुम्हे किस बात का दु ख है और वह सनत्कुमार कौन है जिसे तुम याद कर रही हो ?"

"महानुभाव ! मैं साकेतपुर के अधिपति महाराज सुराष्ट्र की पुत्री हूँ । मेरा नाम "सुनन्दा' है। कुलवश रूपी आकाश मे सूर्य के समान और कामदेव से भी अत्यन्त रूप सम्पन्न महाभुज सनत्कुमार, महाराजा अश्वसेन के पुत्र हैं । मैंने उन्हे मन से ही अपना पति बनाया है और मेरे माता-पिता ने भी मेरा सकल्प स्वीकार किया है । एक विद्याधर मुझे देख कर मोहित हो गया और उसने मेरा हरण कर लिया । उसने इस भवन की विकुर्वणा की और मुझे इसमे बिठा कर चला गया है । आगे क्या होगा यह मैं नहीं जानती ।"

-"सुन्दरी ! तू जिसका स्मरण कर रही है, वह सनत्कुमार मैं ही हूँ । तू अब प्रसन्न हो कर स्वस्थ हो जा । अब तुझे किसी का भय नहीं रखना चाहिए ।"

रमणी प्रसन्न हो गई । इतने में वज्रवेग नाम का विद्याधर वहाँ आया और आर्यपुत्र को देख कर क्रोधान्ध बन गया । उसने तत्काल उन्हे पकड कर आकाश में उछाल दिया । यह देख कर वह महिला भयभीत हुई और मूर्च्छित हो कर भूमि पर गिर गई । उधर आर्यपुत्र ने नीचे उतर कर वज्रवेग पर ऐसा मुष्टि प्रहार किया कि वह प्राण रहित हो गया। विघ्न टल जाने के बाद उस रमणी को सावधान कर के आर्यपुत्र ने वहीं उसका पाणिग्रहण कर लिया । यही सुनन्दा सनत्कुमार चक्रवर्ती का 'स्त्री-रत्न' बनी ।

वज्रवेग की मृत्यु का हाल जान कर उसकी बध्यावली बहिन, क्रोध एव शोक से सतप्त हो कर वहाँ आई । किन्तु वह ज्ञानियो के इस कथन का स्मरण कर के शात हो गई कि -"तेरे भाई का वध करने वाला ही तेरा पति होगा ।" वह आर्यपुत्र को देखते ही मोहित हो गई । सुनन्दा के अनुरोध पर सनत्कुमार ने उसका भी पाणिग्रहण कर लिया ।

आर्यपुत्र अपनी दोनों पत्नियों के साथ वार्तालाप कर ही रहे थे कि इतने में दो विद्याधरो ने वहाँ आ कर, आर्यपुत्र को कवचयुक्त महारथ दे कर कहा -

"आपने वज्रवेग को मार डाला, इसका बदला लेने के लिए उसके पिता अशनिवेग अपनी सेना ले कर आ रहा है । वह स्वय भी महान् योद्धा और विद्याधरों का राजा है ।

हमें ये शस्त्र और रथ ले कर आपको देने के लिए हमारे पिता श्री चन्द्रवेग और भानुवेग ने भेजा है । हम आपके श्वसुरपक्ष के हैं । हमारे पिता भी सेना सज्ज कर के आपकी सहायता के लिए आ

रहे हैं ।" आर्यपुत्र शस्त्र-सज्ज होने लगे । इतने में ही शत्रु-सेना आ गई । दूसरी ओर चन्द्रवेग और भानुवेग भी सेना ले कर आ गये । आर्यपुत्र को रानी वन्ध्यावली ने 'प्रज्ञप्ति' नाम की विद्या दी । यद्यपि आर्यपुत्र उसके भाई को मारने वाले थे और उसके पिता तथा समस्त पितृकुल के विरुद्ध युद्ध करने जा रहे थे, तथापि 'स्त्रियाँ स्वभाव से ही पति के वश में होती हैं, उनका सर्वस्व पति ही होता है।' तदनुसार वन्ध्यावली ने भी आर्यपुत्र की सहायता में प्रज्ञप्ति विद्या दी । प्रियतम शस्त्र-सज्ज हो कर शत्रुसैन्य की प्रतीक्षा करने लगे । इतने में सहायक-सेना आ पहुँची और शत्रु सेना भी आ गई युद्ध छिड़ गया । दोनों पक्ष जम कर लडने लगे । जब दोनों ओर की सेना क्षतविक्षत हो गई तब अशनिवेग और सनत्कुमार स्वय भिड गये । विविध प्रकार के शस्त्रा से दोनों का युद्ध होने लगा । अन्त में आर्यपुत्र के शस्त्र-प्रहार से अशनिवेग मारा गया और उसका राज्य आर्यपुत्र के अधिकार में आ गया । ये विद्याधरों के अधिपति बने । इसके बाद विद्याधरो के शिरोमणि ऐसे मेरे पिता चन्द्रवेग ने आर्यपुत्र से कहा -"मुझ ज्ञानी मुनिराज ने कहा था कि तुम्हारी पुत्रियों का पति सनत्कुमार होगा ।" यह भविष्यवाणी सफल करें और मेरी बकुलमति आदि सौ पुत्रियों को स्वीकार करें । उसी समय मेरा और मेरी बहिनों का विवाह आपके मित्र के साथ हुआ । हमसभी आर्यपुत्र के साथ विविध प्रकार के भोग भोगती रहीं । आज हम सभी यहाँ क्रीडा करने आये थे । सद्भाग्य से आपका यहाँ शुभागमन हो गया ।"

बकुलमति से मित्र के पराक्रम और सद्भाग्य की कथा सुन कर महेन्द्रसिंह प्रसन्न हुआ। इतने में सनत्कुमार भी रतिगृह से निकल कर मित्र के समीप आये । कुछ काल व्यतीत होने के बाद महेन्द्र ने सनत्कुमार से निवेदन किया कि 'अब अपने नगर को चल कर माता-पिता के वियोग-दु ख को मिटाना चाहिए ।' राजकुमार ने मित्र की सलाह मान कर तत्काल प्रस्थान की तैयारी कर दी । रानियों अनेक विद्याधराधिपतियों अनुचरा और साज-सामान के साथ विमान द्वारा चल कर वे हस्तिनापुर आये । माता-पिता के हर्ष का पार नहीं रहा । नगर भर में उत्सव मनाया गया । महाराज अश्वसेन ने पुत्र के प्रबल पराक्रम को देख कर, अपने राज्य का भार कुमार सनत्कुमार को दिया और महेन्द्रसिंह को उनका सेनापति बनाया । इसके बाद वे स्थविर मुनिराज क पास दीक्षित हो गए ।

सनत्कुमार चक्रवर्ती का अलौकिक रूप

नीतिपूर्वक राज्य का सचालन करते हुए महाराज सनत्कुमार को चक्र आदि चौदह महारत्न प्राप्त हुए । उन्होंने षट्खड पर विजय प्राप्त की । जब उन्होंने विजयी बन कर गजारूढ हो अपनी राजधानी हस्तिनापुर में प्रवेश किया, तो शक्रेन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने श्रीसनत्कुमार के चक्रवर्तीपन का राज्याभिषेक किया । राज्याभिषेक के उपलक्ष में चक्रवर्ती सम्राट ने बारह वर्ष तक प्रजा को सभी प्रकार के कर से मुक्त कर दिया और प्रजा का पुत्रवत् पालन किया ।

महाराजाधिराज सनत्कुमार अप्रतिम रूप सम्पन्न थे । उनका रूप देवोपम था । उनके समान दूसरा कोई रूप-सम्पन्न नहीं था । एक बार सौधर्म स्वर्ग में शक्रेन्द्र की सभा भरी हुई थी । दिव्य नाटक चल रहा था । उस समय ईशान देवलोक का सगम नामक देव, कार्यवश सौधर्म सभा में आया । उसका रूप इतना उत्कृष्ट था कि शक्रेन्द्र की सभा के सभी देव चकित रह गये । उसके रूप के आगे सभी देवों का रूप फीका और निस्तेज हो गया । सभी देव, उस सगम के रूप पर विस्मित हो गए । उसके जाने के बाद देवों ने इन्द्र से पूछा कि –''इस देव को ऐसा अलौकिक रूप किस प्रकार प्राप्त हुआ ''

सौधर्मेन्द्र ने कहा - ''उसने पूर्वभव में आयम्बिल-वर्द्धमान तप किया था । इससे उसे ऐसा रूप और तेज प्राप्त हुआ है ※।''

देवों ने फिर पूछा - ''क्या इस देव जैसा उत्कृष्ट रूप जगत् मे और भी किसी का है ?''

-''इससे भी अधिक रूप तो भरत-क्षेत्र के चक्रवर्ती सम्राट सनत्कुमार का है । उनके जैसा उत्तम रूप अन्यत्र किसी मनुष्य या देव का भी नहीं है''- शक्रेन्द्र ने कहा ।

इन्द्र की यह बात विजय और वैजयत नाम के दो देवो को नहीं रुची । उन्होने सोचा – 'इन्द्र अतिशयोक्ति कर रहे हैं । कहीं औदारिक-शरीरधारी मनुष्य का भी इतना उत्तम रूप हो सकता है ?' वे दोनो देव सनत्कुमार का रूप देखने के लिए पृथ्वी पर आये और ब्राह्मण के वेश में द्वारपाल के पास आ कर राजा के दर्शन करने की इच्छा व्यक्त की । उस समय महाराजाधिराज शरीर पर से वस्त्र उतार कर, मर्दन एव स्नान करने की तैयारी कर रहे थे । जब समाट को ब्राह्मणों के आगमन की सूचना मिली, तो उन्होंने उन्हें शीघ्र उपस्थित करने की आज्ञा दी । दोना ब्राह्मणों ने जब महाराजा सनत्कुमार का रूप देखा, तो चकित रह गए । उनके मन में विचार हुआ कि - ''अहो ! कितना सुन्दर रूप है। इनका सुन्दर ललाट, अष्टमी के चन्द्रमा का तिरस्कार करता है । इनके नेत्र कान तक खिचे हुए नील-कमल की कान्ति को भी जीत लेते हैं । ओष्ठ लाल रग के पक्व बिंवफल की कान्ति का पराभव करते हैं, कान शीप की शोभा को लज्जित करते हैं । गर्दन पाचजन्य शख को जीत लेती है, भुजाएँ गजराज की सूँड से भी अधिक सुशोभित हैं । वक्षस्थल स्वर्णमय शिला से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है । इस प्रकार

※ तप से आत्मा पर लगे हुए कर्मों की निर्जरा होती है । बाह्याभ्यतर तप से आत्मा तो प्रभावित होती ही है किन्तु शरीर पर भी उसका प्रभाव पडता है । यद्यपि तप से देह निर्बल अशक्त एव जर्जरित हो जाती है फिर भी तपस्वी के श्रीमुख पर एक तेज एक दीप्ति प्रकट होती है । आगमा में कई स्थाना पर ऐसा उल्लेख आया है –

''तवेण तेएण तवतेयसिरीए अईव अईव उवसोभेमाणे चिट्ठइ ।'' (भगवती २-१)

उपरोक्त आगमिक शब्द तपस्वी के चेहरे पर प्रकट होने वाली तप के तेज की शोभा और उससे उसकी आत्माकर्षकता प्रकट करते हैं । यह दीप्ति उसे भावी जन्म में भी प्राप्त होती है । निर्जरा क साथ शुभ कर्म का जो बन्ध होता है उसके उदय का यह उत्तम फल है ।

उनके शरीर के प्रत्येक अग और उपाग अनुपम, आकर्षक एव सुन्दरतम है । इस अपूर्व स्वरूप का वर्णन करने मे वाणी भी असमर्थ है । वास्तव मे सम्राट सनत्कुमार का रूप उत्कृष्ट एव अलौकिक है । देवेन्द्र ने जो प्रशसा की, वह यथार्थ ही थी ।"

ब्राह्मणो को विचारमग्न देख कर सम्राट ने पूछा -

"हे द्विजोत्तम ! तुम्हारे आगमन का क्या प्रयोजन है ?"

-"नरेन्द्र ! हम बहुत दूर देश से आये हैं । जनता में आपके रूप की अत्यधिक प्रशसा सुन कर हम मात्र दर्शन के लिए ही यहा आये हैं और हम कृतार्थ हुए हैं - आपके दर्शन पा कर । हमने जो कुछ सुना था उससे भी अत्यधिक एव अलौकिक रूप आपका हमारे देखने में आया" - विप्रो ने कहा।

"अरे विप्रों ! तुमने क्या रूप देखा है मेरा ? अभी तो मेरा शरीर उबटन से व्याप्त है । स्नान भी अब तक नहीं किया और वस्त्राभूषण भी नहीं पहने । तुम थोडी देर ठहरो। जब मैं सुसज्जित होकर राज-सभा में आऊँ तब तुम मेरे उत्कृष्ट रूप को देखना ।"

इस प्रकार कह कर नरेश स्नानादि से निवृत्त हुए और सुसज्जित हो कर राज-सभा में आये । तत्काल दोनों ब्राह्मणों को बुलाया गया । ब्राह्मण, राजा का विकृत रूप देख कर खेद करने लगे - "अहो ! यह क्या हो गया ? जो रूप हमने थोडी देर पहले देखा था वह कहा चला गया ? वास्तव में औदारिक-शरीरी मानव का सुख सुन्दरता और आरोग्यता क्षणिक होती है । इस प्रकार वे मन ही मन खेदित हो रहे थे । उन्हें विचार-मग्न एव खिन्न मुख देख कर नरेश ने पूछा-

-"पहले तुम मुझे देख कर प्रसन्न हुए थे । किन्तु अभी तुम्हारे चेहरे पर विषाद झलकता है । क्या कारण है इसका ?"

-"नरेन्द्र ! सत्य यह है कि हम सौधर्म कल्पवासी देव हैं । सौधर्मेन्द्र से आपके रूप की प्रशसा सुन कर यहाँ आये हैं । उस समय आपका रूप देख कर हम प्रसन्न हुए थे । वास्तव में आपका रूप वैसा ही था । किन्तु अभी इस रूप में अनिष्ट परिवर्त्तन हो गया । इस समय आपके रूप के चार ऐसे कई रोगों ने इस अनुपम रूप को घेर लिया है । इससे आपका वह अलौकिक रूप नहीं रहा और विद्रूप हो गया है ।" इतना कह कर देव अन्तर्धान हो गए ।

देवों की बात सुनते ही नरेन्द्र ने अपने शरीर को ध्यानपूर्वक देखा । उन खुद को अपना शरीर तेजहीन फीका एव म्लान दिखाई दिया । उन्होंने विचार किया -

"रोग के घर इस शरीर को धिक्कार है । ऐसे सरलता से बिगडने वाले शरीर पर मूर्ख लोग ही गर्व करते हैं । जिस प्रकार दीमक काष्ठ को भीतर ही भीतर खा कर खोखला बना देती है, उसी प्रकार शरीर में से उत्पन्न रोग, सुन्दर शरीर को भी विद्रूप बना देते हैं । जिस प्रकार वट-वृक्ष के फल बाहर

से ही सुन्दर दिखाई देते हैं, परन्तु भीतर तो वह कुरूप और कीडो का निवास बना होता है, उसी प्रकार मनुष्य का शरीर कभी ऊपर से सुरूप दिखाई दे, तो भी उसके भीतर तो कुरूपता ही भरी हुई है । उसमें कीडे कुलबुला रहे हैं । रोग एव वृद्धावस्था से शरीर शिथिल हो जाता है, फिर भी आशा और तृष्णा ढीली नहीं होती । रूप चला जाता है, परन्तु पाप-बुद्धि नहीं जाती । इस ससार में रूप-लावण्य, काति शरीर और द्रव्य, ये सभी कुशाग्र पर रही हुई जल-बिन्दु के समान अस्थिर है । इसलिए इस नाशवान् शरीर से सकाम-निर्जरावाला तप करना ही उत्तम है ।" इस प्रकार चिन्तन करते हुए महाराजा सनत्कुमार विरक्त हो गए और अपने पुत्र को राज्यभार सौंप कर श्री विनयधर आचार्य के समीप प्रव्रजित हुए। श्री सनत्कुमार के दीक्षित हो कर जाते ही उनके पीछे उनका परिवार भी चल निकला । लगभग छह महीने तक पीछे-पीछे फिरने के बाद परिवार के लोग हताश हो कर लौट आये । उन सब-विरत ममत्व-त्यागी, विरक्त महात्मा ने उनकी ओर स्नेहयुक्त दृष्टि से देखा ही नहीं । दीक्षित होते ही महात्मा सनत्कुमार बेले-बेले पारणा करने लगे । अरस, विरस एव तुच्छ आहार के कारण शरीर में विविध प्रकार की व्याधि उत्पन्न हो गई । व्याधियों के प्रकोप से भी वे उत्तममुनि विचलित नहीं हुए और बिना औषधोपचार के ही समभावपूर्वक रोगातक को सहन करने लगे । इस प्रकार रोग-परीषह को सहन करते हुए सात सौ वर्ष व्यतीत हो गए । तप के प्रभाव से उन महर्षि को अनेक प्रकार की लब्धियाँ प्राप्त हो गई ।

तपस्वीराज श्री सनत्कुमार के विशुद्ध तप के प्रति शक्रेन्द्र के हृदय में भक्ति उत्पन्न हुई । उन्होंने अपनी देव-सभा में महर्षि की प्रशसा करते हुए कहा कि-

"अहो श्री सनत्कुमार कितने उत्तम-कोटि के त्यागी हैं । चक्रवर्ती की राज्य-लक्ष्मी को धूल के समान त्याग कर वे साधु बने । उग्र तप करते हुए शरीर मे बडे-बडे असह्य रोग उत्पन्न हो गए, किन्तु वे उनका प्रतिकार नहीं करते । उनके खुद के पास ऐसी अनेक लब्धियाँ हैं कि जिनके प्रयोग से क्षणभर में सभी रोग नष्ट हो कर शरीर नीरोग बन जाय, फिर भी वे राग का परीषह बडी धीरता के साथ सहन कर रहे हैं ।"

शक्रेन्द्र स्वय धर्मात्मा है । उन्होने खुद ने पूर्वभव में धर्म की उत्तम आराधना की थी । उनमें धर्मात्माओं के प्रति अनुराग है । जब उनके अवधि-पथ में किसी विशिष्ट गुणसम्पन्न आत्मा के उत्तम गुण आ जाते हैं, तो वे उनका अनुमोदन करते हैं । आज भी उन्होंने गुणानुराग से प्रेरित हो कर महामुनि [illegible]मार जी के गुणगान किये थे । किन्तु उन्हीं विजय और वैजयत देव को यह बात नहीं रुची । [illegible] -"महारोगों से पीडित व्यक्ति के सामने यदि कोई अमोघ औषधि ले कर उपस्थित हो [illegible] जँचती नहीं ।" वे दोनों वैद्य का रूप बना कर तपस्वीराज श्री सनत्कुमार [illegible] का आग्रह करने लगे । तपस्वीराज ने उनसे कहा,-

"वैद्यों ! मुझे द्रव्य-रोग की चिन्ता नहीं है । यदि तुम भाव-रोग की चिकित्सा कर सकते हो तो करो । ये भाव-रोग जन्मान्तर तक पीछा नहीं छोडते हैं । द्रव्य-रोग की दवा तो मेरे पास भी है । लो देखो" - यों कह कर महर्षि न अपनी अगुली अपने कफ से लिप्त की । वह तत्काल नीराग एव स्वर्ण के समान कान्ति वाली बन गई । यह देख कर दोनों देव महर्षि के चरणो में झुके । वन्दन करने के बाद बोले -

"ऋषीश्वर ! हम वे ही देव हैं जो इन्द्र की प्रशसा से अविश्वासी बन कर आपका रूप देखने आये थे । आज भी इन्द्र द्वारा आपकी उत्तम साधना की प्रशसा सुन कर हम आये हैं और आपकी परीक्षा कर के पूर्ण सतुष्ट हो कर जा रहे हैं ।" वन्दना कर के देव चले गये ।

सनत्कुमार ५०००० वर्ष कुमारपने ५०००० वर्ष माडलिक राजापने, १०००० वर्ष दिग्विजय में, ९०००० वर्ष चक्रवर्ती-सम्राटपने और १००००० वर्ष सयम-पर्याय में, इस प्रकार कुल ३००००० वर्ष का आयु पूर्ण कर के मुक्ति को प्राप्त हुए ❀ ।

❀ त्रि श. पु और 'चउप्पन्न महापुरिस चरिय' आदि में सनत्कुमार चक्रवर्ती के लिए भी सनत्कुमार नामक तीसरे देवलोक मे जाने का उल्लेख है । पूज्यश्री घासीलालजी म सा ने भी उत्तराध्ययन सूत्र अ १८ भा ३ की टीका पृ १८० में चक्रवर्ती मघवा की और पृ २११ म सनत्कुमार की गति तीसरे देवलोक की ही बताई है । पूज्य आचार्य श्री हस्तीमल जी म सा. ने भी अपने "जैन धर्म के मौलिक इतिहास प्रथम भाग पृ ११० और ११२ में इसी मान्यता का अनुसरण किया है । किन्तु दूसरी धारणा के अनुसार ये दोनो चक्रवर्ती भी उसी भव में मोक्षगामी हुए हैं । उत्तराध्ययन अ १८ में जिन राजर्षियों का उल्लेख हुआ वे सभी तद्भव मोक्षगामी माने जाते हैं । स्थानांगसूत्र ४-१ में अतक्रिया के निरूपण में तीसरी अतक्रिया के उदाहरण में श्री सनत्कुमार चक्रवर्ती को उपस्थित किया है । मूलपाठ में उनके लिये स्पष्टाक्षरों में लिखा है कि -"दीहेणं परियाएणं सिज्झइ जाव सव्वदुक्खाणमंतं करेइ" - दीर्घ-पर्याय (लम्बे काल तक) सयम का पालन कर के सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हुए और समस्त दुखों का अन्त किया ।

यह मूलपाठ श्री सनत्कुमार चक्रवर्ती को उसी भव में मुक्त होने वाले बतलाता है और 'अतक्रिया' शब्द भी अपना अर्थ "भवान्त कर्मों का अन्त एव ससार का अन्त करने वाली क्रिया' होता है । यों तो विरति मात्र भव का अन्त करने वाली है भले ही अनेक भव के बाद अन्त हो । किन्तु स्थानांग का पाठ उसी भव में अन्त करने वाली क्रिया से सम्बन्धित लगता है । अन्य तीन क्रियाओं के उदाहरण भी उसी भव में मुक्ति पाने वाली भव्यात्माओं के हैं । इस सूत्र के टीकाकार ने जो -"दीर्घपर्यायेण च सिद्धत्वपक्षे सिद्धत्वभावेन भवान्तरे सेत्स्यमानत्वादिति लिखा है । वह उनकी धारणा होगी सूत्र का अर्थ नहीं । बाद के कुछ विद्वानों ने भी उन्हीं का अनुसरण किया लगता है ।

पू श्री जयमलजी म. सा. ने अपनी 'अनन्त चौबीसी' में - 'चला दसे चक्रवर्ती राज-रमणी ऋद्धि छोड़ । दसे मुक्ति पहोंच्या, कुल ने शोभा चहोड़ ।' लिखा है ।

'जैन सिद्धात बोल सग्रह' भाग १ पृ २३१ में भी तीसरी अन्तक्रिया करने के उदाहरण में श्री सनत्कुमार चक्रवर्ती को 'मोक्षगामी' लिखा है ।

उत्तराध्ययन सूत्र का तात्पर्य एवं स्थानांग सूत्र की अन्तक्रिया देखते हुए हमें तो श्री सनत्कुमार चक्रवर्ती का उसी भव में मुक्ति पाना सगत लगता है ।

भ० शांतिनाथ जी

भरत-क्षेत्र के दक्षिणार्द्ध मे रत्नपुर नाम का भव्य नगर था । श्रीसेन नाम का प्रतापी राजा राज करता था । वह स्वय धर्मप्रिय, दानेश्वर एव प्रजापालक था । दुष्टो और दुराचारियो को दण्ड देते हुए भी वह दयालु था । उस आदर्श नरेश के 'अभिनन्दिता' नाम की सुन्दर एव शीलवती रानी थी । वह अपने उत्तम गुणो से मातृकुल, पितृकुल और श्वशुरकुल को सुशोभित एव प्रशसित करती थी । महाराज श्री सेन के एक दूसरी रानी भी थी, जिसका नाम 'शिखिनन्दिता' था ।

कालान्तर में राजमहिषी अभिनन्दिता गर्भवती हुई । उसे स्वप्न में अपनी गोद मे चन्द्र और सूर्य खेलते दिखाई दिये । गर्भ स्थिति पूर्ण होने पर दो सुन्दर पुत्रो का जन्म हुआ । उनका नाम 'इन्दुसेन' और 'बिन्दुसेन' रखा । योग्य वय होने पर विद्याध्ययन कराया । वे सभी कलाओं मे पारगत हुए । उनकी इन्द्रियाँ सबल हुई और वे यौवन-वय को प्राप्त हुए ।

दासी-पुत्र कपिल

मगध देश के अचलग्राम मे 'धरणीजट' नाम का एक ब्राह्मण रहता था । वह सागोपाग चार वेद और अनेक शास्त्रो का ज्ञाता था तथा अपनी ज्ञाति में सर्वमान्य था । 'यशोभद्रा' नाम की सर्वांग सुन्दरी उसकी पत्नी थी । वह उत्तम गुणो से युक्त गृहलक्ष्मी थी । उससे उसके 'नन्दीभूति' और 'शिवभूति' नाम के दो पुत्र हुए । नन्दीभूति ज्येष्ठ पुत्र था । उनके यहाँ 'कपिला' नामकी एक दासी थी । धरणीजट का उस दासी के साथ अनैतिक सम्बन्ध था । उस दासी के गर्भ से एक पुत्र का जन्म हुआ, जिसका नाम 'कपिल' रखा था । यशोधरा से उत्पन्न दोनों पुत्रो को तो धरणीजट, वेदाध्ययन कराने लगा, परन्तु कपिल को वह नहीं पढाता था, क्योंकि वह दासीपुत्र था । किन्तु कपिल तीव्र बुद्धि वाला था । जब धरणीजट अपने दोनों पुत्रों को पढाता, तब वह पास बैठ कर देखता व सुनता रहता और मन-ही-मन उस पाठ को याद करता रहता । इस प्रकार मौनपूर्वक अध्ययन से वह भी वेदो का सागोपाग ज्ञाता एव पारगत हो गया । अपने को योग्य एव समर्थ जान कर, कपिल घर छोड कर विदेश चला गया और अपने गले में दो यज्ञोपवित धारण कर के अपने-आपको उत्तम ब्राह्मण बतलाने लगा। वह घूमता हुआ रत्नपुर नगर में आया और अपनी विद्वत्ता तथा जातीय-उच्चता बताता हुआ महोपाध्याय 'सत्यकी' के महाविद्यालय में आया । महापडित सत्यकी सभी प्रकार की विद्या और कला का भडार था । कपिल इस विद्यालय मे प्रतिदिन आ कर विद्यार्थियों एव विद्वानो की शकाओ का समाधान करता। उसके समझाने का ढग हृदयस्पर्शी था । उसकी विशेषता से विद्यार्थी ही नहीं, आचार्य सत्यकी भी प्रभावित

हुआ । स्वय सत्यकी ने कपिल को इतने कठिन प्रश्न पूछे कि जिनका उत्तर वह स्वय भी सरलतापूर्वक नहीं दे पाता था । कपिल के पाण्डित्य पर सत्यकी मुग्ध हो गया और उसे सम्मान पूर्वक अपने विद्यालय में नियुक्त कर दिया । इसके बाद कपिल आचार्य का काम करने लगा और सत्यकी निश्चिंत हो कर रहने लगा । कपिल की भक्ति ने सत्यकी को बहुत प्रभावित किया । अन्त में सत्यकी ने अपनी उत्तम गुणों वाली सर्वांग सुन्दरी युवा पुत्री 'सत्यभामा' के लग्न भी कपिल के साथ कर दिये । इस लग्न-सम्बन्ध से कपिल की प्रतिष्ठा में विशेष वृद्धि हुई । महोपाध्याय का जमाई होना साधारण बात नहीं थी । कपिल के दिन सुखपूर्वक व्यतीत होने लगे ।

कालान्तर म रात के समय कपिल नाटक देखने गया । वर्षा का समय था । लौटते समय वर्षा होने लगी । कपिल को अपने मूल्यवान् कपडे भींगने का भय था । कुछ देर तो वह किसी घर की छाया में खडा रहा किन्तु वर्षा नहीं रुकी । उसका घर पहुँचना आवश्यक था । उसने सोचा - 'अंधेरी रात में कौन देखता है, फिर क्या मूल्यवान् वस्त्रों को भिगोकर खराब करूँ ?' उसने वस्त्र उतार कर बगल में दबा लिए और नगधडग ही भींगता हुआ घर पहुँचा, फिर कपड़े पहिन कर किवाड खटखटाये । सत्यभामा उसकी राह देख रही थी । उसने किवाड़ खोले और शीघ्र ही पति के लिये दूसरे वस्त्र लाई किन्तु पति के सूखे वस्त्र देख कर वह अवाक् रह गई । उसने पूछा-

"इस जोरदार वर्षा में भी आपके वस्त्र सूखे कैसे रह गए ?"

-"प्रिये ! मन्त्र के प्रभाव से मेरे वस्त्र भीग नहीं सके ।"

सत्यभामा ने विचार किया - "यदि मन्त्र के प्रभाव से वर्षा से इनके वस्त्र बच गए, तो शरीर क्यों नहीं बचा ? इनका शरीर तो पूरा पानी से तर हो रहा है । इसलिए लगता है कि ये वस्त्र-रहित-नग्न ही आये और कपड़ों को वर्षा से बचा लिया ।" यह विचार आते ही उसके मन में सन्देह उत्पन्न हुआ कि इस प्रकार वस्त्र बचाने के लिए नग्न हो कर आने वाला मेरा पति, किसी हीन कुल का होना चाहिए । ऐसी निर्लज्जता स्वार्थवश कुलहीन ही कर सकता है । इस विचार के साथ ही उसके मन में चिन्ता लग गई । वह अपने को हतभागिनी मान कर मन-ही-मन घुलने लगी और सत्य बात का पता लगाने की इच्छुक बनी ।

उधर कपिल का पिता धरणीजट ब्राह्मण निर्धन हो गया । उसने सुना कि कपिल रत्नपुर के महोपाध्याय सत्यकी का जामाता है और आचार्य भी । उसके पास धन की कमी नहीं है । अतएव वह धन प्राप्त करने की इच्छा से कपिल के पास आया । कपिल ने पिता का सत्कार किया । कपिल ने पिता के भोजन के विषय में पत्नी को बताया कि - 'मेरे शरीर में व्याधि है, इसलिए मैं साधारण-सा भोजनकर लूँगा पहले तुम पिताजी के लिए उत्तम भोजन बना कर उन्हें आदर-सहित भोजन करा दो ।"

पिता और पुत्र का पृथक् भोजन देख कर सत्यभामा की शंका दृढ़तर हो गई । उसने समझ लिया कि - मेरा श्वसुर तो उत्तम कुल का ब्राह्मण है परन्तु पति की उत्पत्ति हीन-स्थान पर हुई है । इसीसे

भोजन में भेद हो रहा है । उसने श्वशुर को आदरपूर्वक भोजन कराया । वह पिता के समान श्वशुर की शुश्रूषा करने लगी । अवसर देख कर सत्यभामा ने, ब्रह्महत्या की शपथ देते हुए श्वशुर से पूछा,-

"पूज्य ! आपके पुत्र की उत्पत्ति उभय-पक्ष की शुद्धतापूर्वक हुई है, या किसी एक पक्ष में कोई दोष है ?"

धरणीजट विचार मे पड गया । शपथपूर्वक पूछने के कारण उसे सत्य बात कहनी ही पडी । धरणीजट अपने गाँव चला आया । सत्यभामा को अपने पति की उत्पत्ति में हीनता जान कर बडा दु ख हुआ । वह महाराजा श्रीसेन के पास गई और निवेदन किया कि -

"महाराज ! भाग्य-योग से मेरा पति कुलहीन है । मुझ अबला को इससे मुक्त कर दीजिए । मैं जीवन-पर्यन्त ब्रह्मचारिणी रह कर सुकृत करते हुए जीवन व्यतीत करूँगी ।"

नरेश ने कपिल को बुला कर कहा;-

"सत्यभामा अब धर्माचरण कर के पवित्र जीवन बिताना चाहती है । अब यह तुझसे और ससार से विरक्त हो गई है, इसलिये इसे मुक्त कर दे ।"

- "राजन् ! मैं सत्यभामा के बिना जीवित नहीं रह सकता । यह मुझे अपने प्राणों के समान प्रिय है । मैं इसे कैसे मुक्त कर दूँ ?"

-"यदि मुझे मुक्त नहीं किया गया, तो मैं आत्मघात कर के मर जाऊँगी, किन्तु अब तुम्हारे साथ ससार मे नहीं रहूँगी" - सत्यभामा ने अपना निर्णय सुनाया ।

राजा ने मार्ग निकालते हुए कहा;-

"कपिल ! यह बाई कुछ दिन मेरे अत पुर में रहेगी और महारानी इसकी देखभाल करेगी । बाद में जैसा उचित होगा, वैसा किया जायगा ।"

महाराजा का निर्णय कपिल को मान्य हुआ । वह चला गया । सत्यभामा महारानी के पास रह कर तपमय जीवन बिताने लगी ।

इन्दुसेन और बिन्दुसेन का युद्ध

उस समय कौशाबी नगरी में बल राजा की पुत्री राजकुमारी श्रीकान्ता यौवन-वय को प्राप्त हो चुकी थी । उसके योग्य अच्छा वर सरलता से प्राप्त नहीं हो रहा था । इसलिए बल राजा ने अपनी पुत्री को श्रीसेन नरेश के पुत्र इन्दुसेन को स्वयवर से वरने के लिए बहुत धन और अन्य अनेक प्रकार की ऋद्धि सहित रत्नपुर भेजी । राजकुमारी के पास 'अनन्तमति' नाम की एक वेश्या भी आई थी । वह अत्यत सुन्दरी थी । उसका उत्कृष्ट रूप देख कर राजकुमार इन्दुसेन और बिन्दुसेन - दोनों भाइयों में विवाद खडा हो गया । तलवारें खिच गई । जब महाराज श्रीसेन ने यह समाचार सुना, तो तत्काल वहाँ आये और दोनों को समझाने लगे, किन्तु उनका समझाना व्यर्थ गया । महाराज निराश हो अन्त पुर मे आये । उन्हे पुत्रो की दुर्मदता, भ्रातृ-वैर और निर्लज्जता से बड़ा आघात लगा । नरेश अब जीवित रहना नहीं चाहते थे । उन्होने तालपुट विष से व्याप्त कमल को सूँघ कर प्राण त्याग कर दिया।

उनका अनुसरण दोनों रानिया ने किया । जब यह बात सत्यभामा ने सुनी, तो उसने सोचा कि - "अब कपिल मुझे छोड़ने वाला नहीं है ।" अतएव वह भी उस विषैले कमल को सूँघ कर मृत्यु को प्राप्त हो गई। ये चारों जीव मृत्यु पा कर जम्बूद्वीप के उत्तरकुरु क्षेत्र में युगल मनुष्य के रूप में उत्पन्न हुए। श्रीसेन और अभिनन्दिता तथा शिखिनन्दिता और सत्यभामा, इस प्रकार दो युगल सुखपूर्वक जीवन बिताने लगे।

इधर देवरमण उद्यान में इन्दुसेन और बिन्दुसेन का युद्ध चल रहा था । इतने में एक विद्याधर, विमान द्वारा वहाँ आ पहुँचा । उसने दोनों भाइयों को लड़ते देखा । वह दोनों के बीच में खड़ा रह कर बोला,-

"मूर्खो ! तुम आपस म क्यों लड़ते हो ? तुम्हें मालूम नहीं कि यह सुन्दरी कौन है ? मैं जानता हूँ - यह तुम्हारी बहिन है । तुम दोनों अपनी बहिन को पत्नी के रूप मे प्राप्त करने के लिए लड़ो, यह कितनी लज्जा की बात है ? इस भेद को तुम, मुझ से शांतिपूर्वक सुनो ।"

विद्याधर ने कहा - "इस जम्बूद्वीप के महाविदेह क्षेत्र में, सीता नदी के उत्तर तट पर पुष्कलावती नाम का विस्तृत विजय है । उसके मध्य में विद्याधरों के आवास वाला ऊँचा वैताढ्य नाम का पर्वत है । उस पर्वत की उत्तर की श्रेणी में 'आदित्याभ' नाम का नगर था और 'सुकुण्डली' नाम का राजा राज करता था । उसके अजितसेना नामकी रानी थी । मैं उसका पुत्र हूँ । मेरा नाम 'मणिकुण्डली' है। मैं एक बार आकाश म उड़ता हुआ, जिनेश्वर को वन्दने के लिए पुंडरिकिनी नगरी में गया । वहाँ अमितयश नाम के केवलज्ञानी भगवंत को वन्दना कर के मैंने धर्मोपदेश सुना । देशना पूर्ण होने क बाद मैंने प्रभु से पूछा-

"भगवन् ! मैं किस कर्म के उदय से विद्याधर हुआ ?"

प्रभु ने फरमाया - "पुष्कर-वर द्वीप के पश्चिम द्वीपार्ध में शीतोदा नदी के दक्षिण किनारे सलिलावती विजय में 'वितशोका' नाम की नगरी थी । उसमें रत्नध्वज नाम का महाबली और रूप-सम्पन्न राजा राज करता था । उसके 'कनकश्री' और 'हेममालिनी' नाम की दो रानियाँ थीं । कनकश्री के दो पुत्रियाँ हुई । उनका नाम 'कनकलता' और 'पद्मलता' रखा । दूसरी रानी हेममालिनी के एक कन्या हुई जिसका नाम 'पद्मा' रखा गया । ये तीनों कन्याएँ अनेक प्रकार की कलाओं का अभ्यास करती हुई यौवनवय को प्राप्त हुई । वे तीनों युवतियें अनुपम सुन्दर थी । इनमें से राजकुमारी पद्मा, महासती श्री अजितसेना के पास वैराग्य प्राप्त कर प्रव्रजित हो गई । वह तप का आचरण करती हुई विचरती थी । एक दिन वह स्थंडिल भूमि जा रही थी, तब उसने देखा कि मदनमंजरी नाम की एक वेश्या पर लुब्ध हो कर दो कामान्ध राजकुमार युद्ध कर रहे हैं । उन्हें देखने पर उसके मन में विचार हुआ कि - " अहा ! यह वेश्या कितनी सौभाग्यशाली है कि इसके रूप पर मुग्ध हो कर ये दोनों राजकुमार युद्ध कर रहे हैं । यदि मेरे तप-संयम का फल हो

तो मैं भी ऐसा सौभाग्य प्राप्त करूँ ।'' इस प्रकार निदान कर के, उसकी शुद्धि किये बिना ही मर कर सौधर्म कल्प में विपुल समृद्धि वाली देवी हुई ।

रानी कनकसुन्दरी का जीव, भव-भ्रमण करता हुआ, दानादि शुभ योग के फलस्वरूप तुम मणिकुण्डली नाम क राजा हुए हो । कनकलता और पद्मलता भी भव-भ्रमण करती हुई रत्नपुर नरेश के इन्दुसेन और बिन्दुसेन नाम के राजकुमार हुए और निदान करने वाली साध्वी पद्मा, प्रथम स्वर्ग से च्यव कर कौशाम्बी की अनन्तमतिका वेश्या हुई । उस वेश्या के लिए इस समय रत्नपुर के देवरमण उद्यान में इन्दुसेन और बिन्दुसेन आपस में युद्ध कर रहे हैं ।''

इस प्रकार भगवत के मुँह से पूर्वभव का वृत्तात सुन कर पूर्व-स्नेह के कारण तुम्हें युद्ध से विमुख करने के लिए मैं यहाँ आया हूँ । मैं तुम्हारे पूर्वभव की माता हूँ और यह अनन्तमतिका तुम्हारी पूर्वभव की बहिन है । इस ससार में मोह का ऐसा खेल है । जन्मान्तर के पर्दे मे छुपा हुआ प्राणी, अपने पूर्वभव के माता, पिता, भाई, भगिनी आदि को नहीं पहिचान सकता और मोह के अन्धकार मे ही भटकता रहता है । अब तुम इस अन्धकार से निकलो और निर्वाण की ओर ले जाने वाली दीक्षा ग्रहण करो''

राजकुमार उपरोक्त कथन सुन कर स्तभित रह गए । उनके मोह का क्षयोपशम हुआ । इधर माता-पितादि की मृत्यु के आघात ने भी ससार के प्रति घृणा जाग्रत कर दी । वे चार हजार राजाओं के साथ धर्मरुचि अनगार के पास दीक्षित हो गए । चारित्र और तप का उत्कृष्ट पालन कर के वे मोक्ष प्राप्त हुए और श्रीसेन आदि चारो युगलिक, मनुष्य भव पूर्ण कर के प्रथम स्वर्ग में देव हुए ।

वैताढ्य पर्वत पर 'रथनूपुर चक्रवाल' नाम का नगर था । ज्वलनजटी यहाँ का राजा था । 'अर्ककीर्ति' नाम का युवराज, वीर एव योद्धा था । 'स्वयप्रभा' उसकी छोटी बहिन थी । वह अनुपम सुन्दरी थी । उसका लग्न त्रिपृष्ठ वासुदेव के साथ हुआ था । वासुदेव ने इस उपलक्ष में ज्वलनजटी को विद्याधरो की दोनों श्रेणियों का राज्य दे कर अधिपति बना दिया था । विद्याधर नरेश मेघवन की ज्योतिर्माला नाम की पुत्री, युवराज अर्ककीर्ति को ब्याही गई थी । श्रीसेन राजा का जीव प्रथम स्वर्ग से च्यव कर ज्योतिर्माला की कुक्षि में आया और पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ । उसका अप्रतिम तेज देख कर उसका नाम 'अमिततेज' रखा । अर्ककीर्ति को राज्यभार दे कर महाराज ज्वलनजटी ने चारण मुनि के पास मुनि-दीक्षा ग्रहण कर ली । 'सत्यभामा' (जो कपिलशर्मा की पत्नी थी और पति की कुलहीनता के आघात से रानियो के पास रहती थी तथा उन्हीं के साथ मर कर युगलिनी हुई थी)का जीव प्रथम स्वर्ग से च्यव कर ज्योतिर्माला की कुक्षि से पुत्रीपने उत्पन्न हुई । उसका नाम 'सुतारा' रखा । महारानी अभिनन्दिता का जीव भी सौधम स्वर्ग से च्यव कर त्रिपृष्ठ वासुदेव की स्वयप्रभा रानी के गर्भ से पुत्रपने जन्मा। 'श्रीविजय' उसका नाम दिया गया। इसका परिणय सुतारा के साथ हुआ। श्रीविजय के छोटे भाई का नाम 'विजयभद्र' था । शिखिनन्दिता रानी का जीव भी वासुदेव की स्वयप्रभा महारानी की कुक्षि से 'ज्योतिप्रभा' नाम की पुत्रीपने उत्पन्न हुआ। इसका विवाह अर्ककीर्ति के पुत्र अमिततेज से हुआ।

सत्यभामा ब्राह्मणी का जो 'कपिल' नाम का पति था वह तिर्यंचादि गति में चिरकाल परिभ्रमण करता हुआ मनुष्य-जन्म पा कर चमरचचा नगरी का 'अशनिघोष' नाम का विद्याधरों का राजा हुआ।

एक बार रथनूपुर चक्रवाल नगर के उद्यान में श्री अभिनन्दन, जगनन्दन और ज्वलनजटी मुनिवर पधारे। महाराज अर्ककीर्ति ने अपने पिता मुनि और उनके गुरु को वन्दना की, धर्मोपदेश सुना और वैराग्य उत्पन्न होने पर अपने पुत्र अमिततेज को राज्याधिकार दे कर दीक्षित हो गये।

भविष्य वाणी

त्रिपृष्ठ वासुदेव के मरने पर युवराज श्री विजय राज्यासीन हुआ। कालान्तर में महाराजा अमिततेज, पत्नी ज्योतिप्रभा के साथ अपनी बहिन सुतारा और बहनोई श्रीविजय से मिलने क लिए पोतनपुर आये। उन्होंने देखा कि पोतनपुर नगर, भीतर और बाहर से पूर्णरूप से सजाया गया है। नरेश अपनी बहिन और बहनोई से मिल कर बहुत प्रसन्न हुए। श्रीविजय ने अमिततेज का बहुत सत्कार किया। दोनों सिंहासन पर बैठे। अमिततेज ने श्रीविजय से पूछा,-

"अभी कौन-सा उत्सव हो रहा है, जिसके लिए यह तय्यारी हुई है ?"

-"आठ दिन पूर्व यहाँ एक भविष्यवेत्ता आया था। उसने कहा था कि - "मैं आपके हित के लिए यह सूचना देने के लिए आया हूँ कि आज के सातवें दिन राजा पर बिजली गिरेगी।"

भविष्यवेत्ता की बात सुन कर, क्रोधायमान बने हुए मेरे मुख्यमन्त्री ने उससे कहा;-

"महाराज पर बिजली पड़ेगी, तब तुझ पर क्या पड़ेगी ?"

- "मन्त्रीवर ! आप मुझ पर क्रोध क्या करते हैं। मैंने तो वही कहा जो भविष्य बतलाता है। महाराज को सावधान करने और धर्माचरण कर के सुकृत करने के लिए ही मैंने कहा है। किसी प्रकार की स्वार्थ-बुद्धि से नहीं कहा। फिर भी मैं कहता हूँ कि उस समय मुझ पर वसुधारा के समान स्वर्ण, माणिक्य, आभूषण और वस्त्रों की वृष्टि होगी"- भविष्यवेत्ता ने कहा।

मैंने मुख्यमन्त्री को समझाया कि भविष्यवेत्ता पर क्रोध नहीं करना चाहिए। ये तो यथार्थ कह कर सावधान करने वाले हैं। मैंने उस भविष्यवेत्ता से पूछा-

"तुमने भवितव्यता जानने की विद्या किस के पास से पढ़ी ?"

-"महाराज ! वासुदेव के देहावसान के बाद बलदेव प्रव्रजित हुए। उनके साथ मेरे पिता भी दीक्षित हो गए थे और पितृस्नेह के कारण मैं भी उनके साथ लघुवय में ही दीक्षित हो गया था। मैंने उसी साधु अवस्था में ज्ञानी गुरुवर के पास से यह विद्या सीखी थी यद्यपि निमित्त-ज्ञान, अन्य परम्परा में भी है, तथापि पूर्णरूप से सत्य होने की विद्या तो एकमात्र जिनशासन में ही है। मैं लाभ-हानि, सुख-दु ख, जीवन-मरण और जय-पराजय या आठ प्रकार का भविष्य जानता हूँ। संयम का पालन करते

हुए मैं यौवनवय में आया । हम सब विहार करते हुए 'पद्मिनी खड' नामक नगर में गये । वहाँ मेरी फूफी रहती थी । उसके चन्द्रयशा नाम की यौवन-प्राप्त पुत्री थी । बालवय मे मेरे साथ उसका वाग्दान हो चुका था । किन्तु मेरे दीक्षा लेने के कारण विवाह नहीं हो सका । उस सुन्दरी को देखते ही मैं मोहित हो गया । मोह के जोर से सयम भावना नष्ट हो गई । अन्तम में मैंने उस युवती के साथ लग्न कर लिए । सयमी अवस्था मे गुरुदेव से प्राप्त भविष्य ज्ञान से मैं आपका भविष्य जान कर सावधान करने क लिए ही आया हू, स्वार्थ साधने के लिए नहीं ।''

भविष्यवेत्ता की बात सुन कर सभी चिन्तित हो गए । एक मन्त्री ने कहा -

''समुद्र मे बिजली नहीं गिरती, इसलिए महाराज सात दिन पर्यन्त जलयान मे बैठ कर समुद्र में रहें ।''

दूसरे मन्त्री ने कहा - ''यह उपाय निरापद नहीं, वहाँ भी बिजली गिर सकती है । मेरे विचार से वैताढ्य पर्वत पर रहने से रक्षा हो सकती है । क्योंकि इस अवसर्पिणी काल मे वहाँ विद्युत्पात नहीं होता । इसलिए महाराज उस गिरि की किसी गुफा में सात दिन रहें तो रक्षा हो सकती है ।''

तीसरे मन्त्री को यह उपाय पसन्द नहीं आया । उसने कहा - ''जो भवितव्यता - होनहार है - निश्चित है, वह तो होगा ही । वह रुक नहीं सकता, न उसमें परिवर्त्तन ही हो सकता है । इस बात को समझाने के लिए मैं एक कहानी सुनाता हूँ । आप ध्यानपूर्वक सुनें ।''

मन्त्री जी कथा कहने लगे - ''एक नगर में एक ब्राह्मण रहता था । उसके वर्षों तक कोई सतान नहीं हुई । उसने अनेक देवी-देवता मनाए और कई यन्त्र-मन्त्र-औषधादि का प्रयोग किया । बाद में ढलती उम्र में उसके यहाँ पुत्र का जन्म हुआ । दुर्दैव के योग से एक नरभक्षी राक्षस उस नगर में उपद्रव करने लगा । वह प्रतिदिन बहुत से मनुष्यों का हरण कर जाता और उन्हें मार डालता । फिर प्रत्येक मनुष्य में से थोडा-थोडा मास खा कर बाकी सब को फेंक देता । राक्षस की इस प्रकार की क्रूरता से सर्वत्र हाहाकार मच गया । राजा के भी सभी प्रयत्न व्यर्थ गए । अन्त में राजा ने राक्षस को समझाया कि 'तू रोज इतने मनुष्यों को क्यों मारता है, तेरे खाने के लिए तो एक मनुष्य पर्याप्त है और वह तेरे स्थान पर चला आया करेगा । तुझे यहाँ आने का कष्ट नहीं करना चाहिए ।' राक्षस मान गया । नगर निवासियों के सब के नाम की चिट्ठियाँ बना कर एकत्रित की गई । उन सब चिट्ठियों में से जिसके नाम की चिट्ठी निकलती, उन्हे राज्य के सैनिक पकड कर राक्षस के स्थान पर ले जाते और राक्षस उसे मार कर खा जाता । कालान्तर में उस ब्राह्मण के पुत्र के नाम की चिट्ठी निकली और सैनिक उसे लेने को आये, तो उसकी माता को बडा भारी आघात लगा । वह पछाड खा कर रोने लगी । उसके करुण क्रन्दन से आस-पास के लोग भी द्रवित हो गए । उस ब्राह्मण के घर के निकट एक भूतघर था जिसमें बहुत से भूत रहते थे । जब भूतो ने ब्राह्मणी का रुदन सुना तो उनके मन म भी करुणा भर आई । एक बडे भूत ने ब्राह्मणी से कहा -

"तू रो मत और तेरे पुत्र को राक्षस के पास ले जाने दे । मैं उसके पास से छिन कर तेरे पुत्र को ला कर तुझे दे दूँगा । इससे राजाज्ञा का उल्लंघन भी नहीं होगा और तेरा पुत्र भी बच जायगा ।"

ब्राह्मणी को सतोष हो गया । सैनिक, ब्राह्मण-पुत्र को राक्षस के पास छोड कर लौट आए । जब राक्षस उस लडके को मारने आया, तो भूत ने उसका सहरण कर के उसकी माता के पास पहुँचा दिया। ब्राह्मणी, पुत्र की रक्षा के लिए उसे ले कर एक पर्वत की गुफा में छिप गई । उस गुफा में एक अजगर रहता था । वह उस लडके को निगल गया। वह लडका राक्षस से बचा, तो अजगर ने खा लिया । इस प्रकार हे महाराज ! जो भवितव्यता होती है, वह तो हो कर ही रहती है । इसलिए मेरा तो यही निवेदन है कि आप तपस्या करें । तपस्या से कठिन कर्म भी क्षय हो जाते हैं ।"

चौथे मन्त्री को यह उपाय भी ठीक नहीं लगा । उसने कहा -

"इस भविष्यवेत्ता ने तो यही कहा है कि -'पोतनपुर के राजा पर बिजली गिरेगी ।' इसने यह नहीं कहा कि - 'महाराज श्रीविजय पर बिजली गिरेगी ।' यदि राजा पर ही बिजली गिरने वाली है, तो एक सप्ताह के लिए किसी दूसरे व्यक्ति को राजा बना दिया जाय और तब तक महाराज पौषधयुक्त रह कर धर्म साधना करें । इसप्रकार महाराज पर का भय दूर हो सकता है ।"

मन्त्री की उपरोक्त बात सुन कर भविष्यवेत्ता प्रसन्न हुआ । उसने मन्त्री की बुद्धिमत्ता की प्रशसा की और कहा कि -"मेरे भविष्य ज्ञान से भी आपका मतिज्ञान बहुत ऊँचा है । इस दुरित के परिहार के लिए यह उपाय बहुत उत्तम है । यही होना चाहिए और शीघ्र होना चाहिए ।

-"अपने जीवन के लिए किसी निरपराध मनुष्य की हत्या करवाना उचित है क्या ? मैं दूसरे का जीवन नष्ट करके जीवित रहना नहीं चाहता" - मैने (राजाने) भविष्यवेत्ता और मन्त्री से कहा।

-"महाराज ! इसका भी उपाय है । अपन किसी जीवित प्राणी को राजा नहीं बना कर 'वैश्रमण देव की मूर्ति' का ही राज्याभिषेक कर दें । सप्ताहपर्यन्त उसका राज्य रहे । यदि विद्युत्पात हुआ और मूर्ति भग होगई, तो अपन विशेष मूल्यवान् मूर्ति बनवा कर प्रतिष्ठित कर देंगे । अपना काम भी बन जायेगा और किसी मनुष्य का जीवन भी नष्ट नहीं होगा" - उसी बुद्धिमान मन्त्री ने कहा ।

मन्त्री की योजना सभी ने स्वीकार कर ली । वैश्रमण देव की मूर्ति, राजसिहासन पर स्थापित की गई । मैं धर्म-स्थान पर जा कर पौषध व्रत ले कर धर्म साधना करने लगा। जब सातवाँ दिन आया तब मध्याह्न के समय आकाश में बादल छा गए । घनघोर वर्षा होने लगी और घोर गर्जना के साथ इतने जोर से बिजली कडकी कि जैसे आकाश को फोड रही हो । और एक ऐसी अग्निशिखा उतरी - जिसका प्रकाश, अग्नि और सूर्य के तेज से भी सैकडों गुना अधिक था । वह अग्निशिखा - विद्युत्लहर सीधी राजसिहासन पर उतरी और वैश्रमण की मूर्ति के कई टुकडे हो गए । उपद्रव दूर हुआ जान कर मन्त्रियों, राजकुटुम्बियों और अन्त पुर ने भविष्यवेत्ता पर स्वर्ण, रत्न आदि की वृष्टि की । मैंने भी उसे पद्मिनीखड नगर प्रदान किया और वैश्रमण की रत्नमय नई प्रतिमा बना कर प्रतिष्ठित कर दी । भयकर विघ्न टल

जाने से मन्त्री, अधिकारीगण एव प्रजाजन यह महोत्सव मना रहे हैं ।"

श्रीविजय नरेश से उपरोक्त वृत्तान्त सुन कर अमिततेज हर्षित हुआ । उसने अपनी बहिन को वस्त्रालकार का प्रीतिदान दे कर सतुष्ट किया और कुछ दिन रह कर अपनी राजधानी मे लौट आया।

सुतारा का हरण

एक बार श्रीविजय नरेश, रानी सुतारा के साथ वनविहार के लिए ज्योतिर्वन मे गए । वे वहाँ क्रीडा कर ही रहे थे कि कपिल का जीव अशनिघोष विद्याधर आकाश मार्ग से कहीं जा रहा था । उसकी दृष्टि सुतारा पर पडी । पूर्व का स्नेहानुबन्ध जाग्रत हुआ । यद्यपि अशनिघोष, यह नहीं जानता था कि यह सुन्दरी मेरी पूर्वभव की पत्नी है, तथापि अदृश्य मोह-प्रेरणा से वह सुतारा पर पूर्ण रूप से आसक्त हो गया और उसका हरण करने का निश्चय किया । विद्याएँ उसकी सहायक हा गई । उसने एक सुन्दर मृग की विकुर्वणा की । वह मृग नाचता-कूदता और चौकडी भरता हुआ क्रीडारत राजा और रानी क निकट हो कर निकला । मृग को देख कर रानी मोहित होगई और राजा से उस मृग को पकड लाने के लिए आग्रह किया । राजा, मृग के पीछे भागा, बहुत भागा, किन्तु वह तो छल मात्र था । वह भुलावा दे कर भागता रहा । इधर वह विद्याधर सुतारा को उठा कर ले उडा । उस दुरात्मा ने राजा का जीवन नष्ट करने के लिए प्रतारिणी विद्या का सहारा लिया और सुतारा का दूसरा रूप बना कर उससे जोर की चिल्लाहट करवाते हुए कहलाया - "मुझे कुक्कुट सर्प डस गया । हाय मैं मरी ।" यह आवाज सुनते ही राजा घबडाया और शीघ्रता से दौड कर वहाँ आया । उन्हान देखा उसकी प्राणप्रिय रानी छटपटा रही है । राजा ने वहाँ जितना भी हो सका उपचार किया, किन्तु कोई लाभ नहीं हुआ और रानी मर गई। रानी का वियोग राजा सह नहीं सका और सज्ञा-शून्य हो गया । थोडी देर बाद राजा उठा । उसने लकडियाँ एकत्रित कर के चिता रची और अपनी प्रिया का शव गोदी मे ले कर चिता में बैठ गया, तथा अग्नि प्रज्वलित करने का प्रयत्न करने लगा । इतने मे दो विद्याधर वहाँ आये । उनमे से एक ने अभिमन्त्रित जल चिता पर छिडका । जल छिटकना था कि मृत सुतारा के रूप म रही हुई प्रतारिणी विद्या अट्टहास करती हुई पलायन कर गई। राजा दिग्मूढ हो गया । वह सोचने लगा - "वह प्रज्वलित अग्नि कैसे बुझ गयी ? मेरी प्रिया कहाँ ? अट्टहास करती हुई चली जाने वाली यह स्त्री कौन थी ? क्या यह कोई इद्रजाल या देवमाया तो नहीं है ?" उसने अपने सामने दो पुरुषा को देखा । राजा ने पूछा - "तुम कौन हो ? यह सारा भ्रम-जाल किसने रचा ?"

आगत पुरुषों ने राजा को प्रणाम किया और कहने लगे - "हम महाराज अमिततेज (श्री विजय नरश के साले) के सेवक हैं । हम पिता-पुत्र हैं । हम इधर आ रहे थे कि हमारे कानों में एक महिला की चित्कार और करुण पुकार पडी । वह इस प्रकार चिल्ला रही थी -

"हे प्राणनाथ ! हे महाराज श्रीविजय ! यह दुष्ट विद्याधर मुझे आप से चुराकर ले जा रहा है।

मेरी रक्षा करो । हे बन्धुवर अमिततेज ! बहिन सुतारा को यह चोर ले जा रहा है । मुझे बचाओ छुड़ाओ ।''

इस प्रकार आक्रन्द पूर्ण पुकार सुनते ही हम दोनों उस दुष्ट पर झपटे और उससे युद्ध करने को तत्पर हुए । किन्तु हम युद्ध से रोकते हुए सुतारा ने कहा--

'' भाई ! अभी तुम लड़ना रहने दो और शीघ्र ही ज्योतिर्वन मे जा कर मेर प्राणेश्वर महाराज श्रीविजय को सभालो । कहीं मेरे वियोग में वे कुछ अनर्थ नहीं कर बैठें । उनके जीवन से ही मेरा जीवन रहेगा । वे जीवित रहेगे, तो मुझे मुक्त करा ही लेगे ।''

''देवी की बात हमारी समझ में आई और हम शीघ्र ही यहाँ आये और मन्त्रित जल छिड़का, जिससे अग्नि बुझी और सुतारा के रूप में रही हुई प्रतारिणी विद्या का प्रभाव हटा और वह अट्टहास करती हुई भाग गई । वह एक छल ही था और आपके विनाश के लिए ही उस चोर विद्याधर ने रचा था । देवी सुतारा को तो वह ले गया है । अब आप हमारे साथ वैताढ्य पर चलिए । वहाँ महाराजा अमिततेज से मिल कर देवी को मुक्त कराने का प्रयत्न करेंगे ।''

महाराज श्रीविजय, उन विद्याधरा के साथ वैताढ्य पर्वत पर गए । महाराज अमिततेज, अपनी बहिन सुतारा के सहरण की बात सुन कर क्रोधित हुए । उन्होंने योद्धाओ की एक बड़ी सेना अपने वीर पुत्रों सहित श्रीविजय को दी और श्रीविजय को शस्त्रावरणी, बन्धनी और विमोचनी विद्याएँ दीं। सेना चमरचचा की ओर बढी । अमिततेज जानता था कि अशनिघोष के पास कई प्रकार की विद्याएँ हैं । इसलिए उसकी समस्त विद्याओ पर विजय पाने के लिए 'महाज्वाला' नाम की विद्या साधना आवश्यक है । वह अपने पराक्रमी पुत्र सहस्त्ररश्मि के साथ हिमवत पर्वत पर गया । वहाँ महर्षि जयत कायोत्सर्ग कर ध्यानस्थ थे। महर्षि को वन्दना कर के वह मास पर्यन्त चलने वाली साधना में लग गया और सहस्त्ररश्मि उसकी रक्षा करने लगा ।

श्रीविजय, उस विशाल सेना के साथ अमिततेज की राजधानी चमरचचा पहुँचा । उसने अपना दूत भेज कर अशनिघोष को भर्त्सनापूर्वक सुतारा को अर्पण करने की माँग की । अशनिघोष कब मानने वाला था ? उसने दूत को तिरस्कार पूर्वक निकाल दिया और युद्ध के लिए सेना सहित अपने पुत्रों को भेजा । युद्ध आरम्भ हो गया । घमासान युद्ध में हजारों मनुष्य मारे गय । जब अशनिघोष के पुत्र और सेना हार गई तो स्वय अशनिघोष रणभूमि में आया । उसने पराक्रम से अमिततेज के पुत्रों का बल क्षीण कर दिया । वे घायल और सुस्त हो गए । यह दशा देख कर श्रीविजय नरेश आगे आये और अशनिघोष से युद्ध करने लगे । दोनो वीरो का युद्ध अनेक प्रकारके घात-प्रत्याघात से चलता रहा । दोनों योद्धा अपनी-अपनी शस्त्र-शक्ति और विद्या-शक्ति का प्रयोग करने लगे । अन्त में श्रीविजय ने अशनिघोष के शरीर के दो टुकड़े कर दिये तो विद्या-शक्ति स दोनों टुकडो के दो अशनिघोष बन कर लड़ने लगे । उन दो के चार टुकडे हुए, तो चारों वैसे ही बन कर लड़ने लगे । होते-होते शत्रु की सख्या

हजारों तक पहुँच गई । श्रीविजय के लिए अब युद्ध करना असंभव हो गया । इतने में अमिततेज विद्या सिद्ध कर के आ पहुँचा । उसने महाज्वाला विद्या छोडी । इस विद्या का तेज सहन नहीं कर सकने के कारण शत्रु-सेना शस्त्र डाल कर अमिततेज की शरण में आ गई और अशनिघोष भाग गया । अमिततेज ने महाज्वाला विद्या को अशनिघोष के पीछे, उसे पकड लाने के लिए लगा दिया ।

आगे-आगे अशनिघोष और पीछे महाज्वाला नाम की विद्या – जो अन्य सभी विद्याओं का पराभव कर के विजयी होती है । अशनिघोष को कहीं भी शरण नहीं मिली । अन्त में वह दक्षिण-भरत में पहुँचा । सीमान्त के निकट ही एक पर्वत पर महर्षि अचल मुनि, एक रात्रि की भिक्षु-प्रतिमा धारण कर शुक्ल-ध्यान मे लीन थे । उन्होने घातिकर्मों को नष्ट कर के केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त कर लिया। देवगण उनके केवलज्ञान की महिमा करने के लिए वहाँ आये । अभिनन्दन, जगनन्दन, ज्वलनजटी, विजटी अर्ककीर्ति, पुष्पकेतु और विमलमति आदि चारण मुनि भी केवलज्ञानी भगवान् की वन्दना करने के लिए आये और प्रदक्षिणा एव नमस्कार कर के बैठे । उस समय अशनिघोष भी भयभीत दशा में भागता हुआ वहाँ आया और केवली भगवान् की शरण में बैठ गया । महाज्वाला से बचने के लिए अशनिघोष को केवली भगवान् का शरण, शीतल अमृतमय जल से भरे हुए द्रह के समान रक्षक हुआ। जहाँ द्रव्य और भाव सभी प्रकार की ज्वालाएँ शात होती है । केवली भगवान् की सभा में इन्द्र के वज्र की भी गति नहीं हो सकती, तो मानवी विद्याएँ क्या कर सकती थी ? वह लौट गई और अमिततेज को अपनी असफलता का कारण बताया । अमिततेज और श्रीविजय यह वृत्तात सुन कर अत्यत प्रसन्न हुए । उन्होने मरीचि को आज्ञा दी कि वह नगर में से सुतारा को ले आवे । दोनों नरेश शीघ्र ही विमान द्वारा केवली भगवान् की सेवामें पहुँचे और वन्दना नमस्कार कर बैठ गए ।

मरीचि अन्त पुर में पहुँचा । उसने देखा – सुतारा अत्यत दु खी, मुरझाई हुई लता जैसी और तप से कृश बनी हुई है । उसने अशनिघोष की माता से अमिततेज की आज्ञा सुना कर सुतारा को ले जाने की बात कही, तो वह स्वय सुतारा को साथ ले कर केवलज्ञानी भगवत के समीप आई । वहाँ उसके पति मुनिजी भी उपस्थित थे ।

अशनिघोष ने महाराज श्रीविजय और अमिततेज से अपने अपराध की क्षमा माँगी । उन्होंने भी उसे क्षमा कर दिया । वीतरागी भगवान् की सभा में वे अपना वैरविरोध भूल कर प्रशस्त परिणाम वाले हो गए । भगवान् ने धर्मोपदेश दिया । धर्मोपदेश पूर्ण होने पर अशनिघोष ने सर्वज्ञ-सर्वदर्शी भगवान् से पूछा –

"प्रभो ! ऐसा कौन-सा कारण था कि जिससे मैने अचानक सुतारा का हरण कर लिया ? मैं तो श्री जयत मुनि के दर्शनार्थ गया था और वहाँ सात उपवास कर के भ्रामरी विद्या की साधना की थी। वहाँ से लौटते समय ज्योतिर्वन मे सुतारा को देखते ही मेरे मन में एकदम स्नेह उमड आया । मैने स्नेहाधीन हो कर प्रतारिणी विद्या से श्रीविजय को छला और सुतारा को अपने घर ले आया । मेरे मन

में कोई दुष्ट भावना नहीं थी । मैने सुतारा को अपनी माता के पास रखा और उससे एक भी कुवचन नहीं कहा। सुतारा निष्कलक है, किन्तु मैंने बिना दुष्ट-भावना के स्नेहवश हो कर सुतारा का हरण क्यों किया ? मेरे मन में बिना पूर्व परिचय के, देखने-मात्र से ही ऐसा प्रबल स्नेह क्यों जाग्रत हुआ ?''

केवली भगवान् ने उसके कपिल के भव और सुतारा क, सत्यभामा के भव तथा श्रीसेन, उसकी दोनों रानियाँ - अभिनन्दिता और शिखिनन्दिता के पूर्वभव की कथा सुनाई और कहा कि ''सुतारा ही सत्यभामा का जीव है और तुम कपिल के जीव हो । तुम आर्त्तध्यानपूर्वक मृत्यु पा कर अनेक यानियों में परिभ्रमण करते रहे, फिर धर्मिल नाम के तापस-पुत्र हुए । बड़े होने पर अपने तापस-पिता से ही तापसी दीक्षा ले कर बाल-तप करने लगे । कई प्रकार से अज्ञान कष्ट सहन किये । कूँए, बावडी और सरोवर बनाए । तापसों के समिधा के लिए कुल्हाडे से वृक्ष काटे, घास आदि काट कर स्थान साफ किये धुनी यज्ञ और मार्ग मे दीप-दान कर के अनेक पतगादि जीवों का सहार किया । भोजन के समय कौए आदि दुष्ट तिर्यंचो को पिण्ड-दान किया । यड-पीपल आदि वृक्षो को देव के समान पूजा गाय की पूजा की, इत्यादि अनेक प्रकार से, धर्म-बुद्धि से बहुत काल तक कार्य करते रहे । एक बार एक विद्याधर को विमान में बैठ कर आकाश मार्ग से जाते देख कर तुमने सकल्प किया कि 'यदि मेरी साधना का फल हो, तो मैं भी ऐसा विद्याधर बनूँ ।' तापस का भव पूर्ण कर के तुम विद्याधर हुए और सुतारा को देखते ही पूर्व-स्नेह के गाढरूप से उदय होने के कारण तुमने उसका हरण कर लिया ।''

केवली भगवान् की देशना से जन्म-मरण सम्यन्धी विडम्बना और मोह का महा भयानक परिणाम जान कर श्रीविजय, अमिततेज, सुतारा और अशनिघोप परम सवेग को प्राप्त हुए । अमिततेज ने सर्वज्ञ-सर्वदर्शी भगवान् से पूछा -

''जगदुद्धारक ! मैं भव्य हूँ या अभव्य ?'' भगवान् ने कहा -

''इस भव से नौवे भव में तू पाँचवाँ षट्खण्डाधिपति चक्रवर्ती सम्राट होगा और चक्रवर्ती की ऋद्धि का त्याग कर के 'शातिनाथ' नाम का सोलहवाँ तीर्थंकर हो कर मोक्ष प्राप्त करेगा । ये श्रीविजय नरेश, तुम्हारे प्रथम पुत्र और प्रथम गणधर होंगे ।''

अपना उज्वल भविष्य जान कर दोनों नरेश प्रसन्न हुए और भगवान् से श्रावक के बारह व्रत धारण किये । अशनिघोष तो ससार से एकदम उद्विग्न हो गया था । उसने उसी समय सर्वस्व का त्याग कर निर्ग्रन्थ-प्रवज्या स्वीकार की । श्रीविजय की माता 'स्वयप्रभा' (जो त्रिपृष्ठ वासुदेव की पटरानी) भी प्रव्रजित हो गई ।

श्रीविजय और अमिततेज श्रावक-व्रत की आराधना करने लगे । एक बार मासखमण तप वाले एक तपस्वी श्रमण चमरचचा नगरी में आये । अमिततेज नरेश ने उन्हे अत्यत भक्तिपूर्वक प्रतिलाभे । चित्त वित्त और पात्र की उत्कृष्टता से वहाँ पच-दिव्य प्रकट हुए ।

वासुदेव अनन्तवीर्यजी

दोनों नरेश, श्रावक व्रत का हजारो वर्षों तक पालन करते रहे । एक बार दोनो नरेश, अवधिज्ञानी मुनिवर की पर्युपासना कर रहे थे । धर्मोपदेश के पश्चात् अपनी शेष आयु के विषय म प्रश्न किया। मुनिवर ने छब्बीस दिन की उनकी शेष आयु बतलाई । दोनो नरेश अपनी स्वल्प आयु जान कर चौंक गए । तत्काल राजधानी मे आ कर उन्होने अपने पुत्रो को राज्याधिकार दिया और प्रव्रजित हो कर पादपोपगमन अनशन कर लिया । अनशन के चलते श्रीविजयमुनिजी के मन मे अपने पिता का स्मरण हुआ । सोचते हुए उनकी विचारधारा, अमर्यादित हो गई । उन्हे विचार हुआ - मेरे पिता तो तीन खण्ड के अधिपति थे । उन्हें 'वासुदेव' पद प्राप्त था । वे तीनो खण्ड में एक-छत्र राज करते रहे । हजारों राजा उनकी आज्ञा के पालक थे । किन्तु मैं तो मनुष्य-भव पा कर वैसा कोई उत्तम पद प्राप्त नहीं कर सका और एक साधारण राजा ही रहा । अब यदि मेरी साधना का उत्तम फल हो तो मैं भी वैसी ही उत्तम कोटि का नरेश बनूँ - इस प्रकार निदान कर लिया । मुनिवर अमिततेज ने अपनी भावना नहीं बिगड़ने दी । दोनो मुनिवर आयु पूर्ण कर के प्राणत नाम के दसवें स्वर्ग के 'सुस्थितावर्त' और 'नन्दितावर्त' नाम के विमान के स्वामी 'मणिचूल' और 'दिव्यचूल' नाम के देव हुए । उनकी आयु बीस सागरोपम प्रमाण थी ।

जम्बूद्वीप के पूर्व-विदेह की रमणीय विजय में 'शुभा' नाम की एक नगरी थी । उसके राजा का नाम 'स्तिमितसागर' था । उसके 'वसुन्धरा' और 'अनुद्धरा' (अनगसेना) - ये दो सुन्दर और सुशील रानियाँ थीं । अमिततेज का जीव देवलोक से च्यव कर रानी वसुन्धरा की कुक्षि मे उत्पन्न हुआ । रानी के बलदेव के योग्य गर्भ होने के सूचक चार महास्वप्न देखें । पुत्र जन्म हुआ और उसका अपराजित नाम रखा गया । कालान्तर में श्री विजय का जीव भी देवलोक से च्यव कर रानी अनुद्धरा के गर्भ में आया । उसने वासुदेव के योग्य सात महास्वप्न देखे । गर्भ-काल पूर्ण होने पर पुत्र का जन्म हुआ । उसका नाम 'अनन्तवीर्य' रखा । योग्य वह होने पर दोनों भाई समस्त कलाओं में पारगत हुए ।

एक बार महाराजा स्तिमितसागर अश्वारूढ हो कर वन म गए । वहाँ एक वृक्ष के नीचे विविध अतिशय सम्पन्न प्रतिमाधारी मुनिराज स्वयप्रभ को ध्यानारूढ देखा । राजा घोडे स नीचे उतर कर मुनिराज क निकट गया और वन्दना कर के बैठ गया । मुनिराज न राजा को धर्मोपदश दिया । राजा धर्मोपदेश सुन कर ससार से विरक्त हो गया । वह राजधानी में आया और अपने राज्य का भार राजकुमार अनन्तवीर्य को द कर प्रव्रजित हो गया । उसने बहुतकाल तक सयम और तप की आराधना की किन्तु बाद में मानसिक विराधना से चलित हो कर मृत्यु पाया और भवनपति देवो में चमरेन्द्रपने उत्पन्न हुआ ।

नारद-लीला निमित्त बनी

राजा अनन्तवीर्य अपने बडे भाई अपराजित के साथ राज्य का सचालन कर रहा था । कालान्तर में एक विद्याधर के साथ मित्रता हो गई । उस विद्याधर ने प्रसन्न हो कर महाविद्या प्रदान की । राजा के बर्बरी और किराती नाम की दो दासियाँ थीं । वे रूप मे अत्यत सुन्दर और गायन तथा नृत्य-कला मे अत्यत निपुण थीं । वे अपनी कला का प्रदर्शन कर के राजा के मन को आनन्दित करती रहती थीं एक बार वे राज-सभा में नृत्य कर रही थी इतने में कौतुक-प्रिय एव भ्रमणशील नारदजी वहाँ आ पहुँचे। उस समय दोनो नृत्यागनाओं का उत्कृष्ट नृत्य देखने मे अनन्तवीर्य महाराज और उनके ज्येष्ठ-भ्राता तल्लीन हो गए थे । उन्हे नारदजी के आने का आभास भी नहीं हुआ, इसलिए वे उनका आदर नहीं कर सके । अपना सम्मान नहीं होने के कारण नारदजी क्रोधित हो गए । उन्होंने सोचा - ''इन घमडी लोगो को मेरी परवाह ही नहीं है । अपने अभिमान में वे इतने अन्धे हो गए कि इन नाचनेवाली दासियों ने भी मेरी इज्जत नहीं की । ठीक है मैं अपने अनादर का मजा चखाता हूँ । इन्हें मालूम हो जायगा कि नारद के अनादर का क्या परिणाम होता है ।'' इस प्रकार सोच कर वे वहाँ से लौट गए और वैताढ्य पर्वत पर विद्याधरों के अधिपति राजा दमितारि की राज-सभा में पहुँचे । उस समय वह सैकडो विद्याधरों की सभा म बैठा था । नारदजी को आते देख कर वह सिहासन से नीचे उतरा और उन्हें सत्कारपूर्वक सिहासन पर बैठने का आग्रह किया । किन्तु नारद अपना दर्भासन बिछा कर बैठ गए । उन्हें केवल योग्य सत्कार की ही चाह थी । उन्होने राजा का कुशल-क्षेम पूछा । राजा ने योग्य शिष्टाचार के बाद पूछा -

ऋषिवर ! आपका भ्रमण तो सर्वत्र होता रहता है । विश्व की अनोखी वस्तुएँ आपके देखने में आती है । यदि कोई आश्चर्यजनक वस्तु आपके देखने में आई हो, तो हमे भी सुनाइय ।''

नारदजी का मनोरथ सफल होने का अवसर उपस्थित हो गया । वे मन मे प्रसन्न हुए और कहने लगे;-

''राजन् ! मैं आज ही एक अद्भुत आश्चर्य देख कर आ रहा हूँ । मैं 'शुभा' नाम की नगरी में गया था । अनन्तवीर्य राजा की सभा में मैंने बर्बरिका और किराती नाम की दो रमणियाँ नृत्य-कला में इतनी प्रवीण देखी कि उनके जैसा नृत्य तो कदाचित् स्वर्ग मे भी नहीं होगा । मैं स्वर्ग म भी गया हूँ, किन्तु मैने ऐसा उत्कृष्ट नृत्य तो वहाँ भी नहीं देखा ।''

''नराधिप ! जिस प्रकार देवों में इन्द्र सर्वोत्तम ऋद्धि का स्वामी है उसी प्रकार इस पृथ्वी पर एक आप ही ऐसे नरेन्द्र हैं कि जहाँ सर्वोत्तम वस्तु सुशोभित होती है । मेरे विचार से वे उत्कृष्ट नृत्यागनाए आपके ही योग्य हैं । जब तक आप उन्हें यहाँ ला कर अपनी सभा का गौरव नहीं बढ़ाते, तब तक आपकी समृद्धि में न्यूनता ही रहेगी ।''

वस, लगा दी चिनगारी - नारदजी ने । यह नहीं सोचा उन्होने कि मेरी इस बात से कितना अनर्थ हा जायगा । अनजान में आदर नहीं हाना, अपमान नहीं है । किन्तु उन्हें इस बात का विवेक नहीं था। वे विष का बीज बो कर चले गए ।

नारदजी की बात सुनते ही तीन खड के अधिपति (प्रतिवासुदेव) पन का गर्व दमितारि के मन में ठठ खडा हुआ । उसने अपना राजदूत अनन्तवीर्य नरेश के पास भेजा । दूत ने वडी शिष्टता के साथ नृत्यागना की माँग की । राजा ने दूत से कहा -

"तुम जाओ । हम बाद मे विचार कर के दासियों को भेज देगे ।"

दूत चला गया उसके बाद दोनो भाइयो ने परामर्श किया कि दमितारि विद्या के बल से हम पर शासन करता है । हम भी विद्याधर मित्र की दी हुई महाविद्या को सिद्ध कर लें तो फिर हम उसस टक्कर ले सकेंगे । इस प्रकार निश्चय करके वे विद्या सिद्ध करने को तत्पर हुए । उनके निश्चय करते ही प्रज्ञप्ति आदि विद्याएँ स्वत प्रकट हुई और उनके शरीर मे समा गई । दोनों भाई बलवान् तो थे ही, इन विद्याओं की प्राप्ति से कवचधारी सिंह की भाँति अधिक बलवान हो गए ।

जब दोनों नर्त्तकियाँ दमितारि के पास नहीं पहुँची तो उसने पुन दूत भेजा । दूत ने तिरस्कारपूर्वक कठोर शब्दो में नर्त्तकियों की माँग की और यहाँ तक कहा कि - "यदि तुमने दासियो को भेजने में विलम्ब किया तो यह मृत्यु को निमन्त्रण देने के समान होगा और तुम राज्य-भ्रष्ट किये जा कर निकाल दिये जाओगे ।"

दूत की बात सुन कर दोना भ्राताओ को क्रोध तो आया, किन्तु उन्होंने उसे प्रकट नहीं होने दिया और हँसते हुए राजदूत से कहने लगे,-

"महाराजा दमितारि की भेंट के योग्य तो मूल्यवान् रत्न, उत्तम जाति के अश्व और गजराज हो सकते हैं, दासियाँ नहीं । किन्तु महाराज यही चाहते हैं, तो हम दे देगे । तुम अभी विश्राम करो । सध्या के समय दोनो दासियाँ तुम्हारे पास आ जायेगी ।"

वासुदेव-बलदेव नर्त्तकियों के रूप में

दोनों बन्धु महाराजा दमितारि और उसके वैभव को प्रत्यक्ष देखना चाहते थे । उन्होंने तत्काल योजना बनाई और राज्य-भार मन्त्रियों को सौंप दिया । फिर दोनो ने विद्याबल से बर्बरी और किराती का रूप बनाया और दूत के पास आ कर कहने लगी-

"हमें आपके साथ, महाराजा दमितारि की सेवा मे पहुँचने के लिए महाराजा ने भेजा है । अतएव चलिए । हम तैयार हैं ।"

राजदूत प्रसन हुआ और दासी रूपधारी दोना महाभुज योद्धाओं को ले कर रवाना हुआ । राजधानी में पहुँचते ही महाराजा के सामने उपस्थित किये गये । दमितारि, सुन्दरतम नृत्यागना रूपी योद्धाओं को देख कर सतुष्ट हुआ और शीघ्र ही नाटक का आयोजन करने की आज्ञा दी । महाराजा की आज्ञा

होते ही नाट्य-सुन्दरी बने हुए दोनो भ्राता रगभूमि मे आये और प्रत्याहारादि अग से नाटक का पूर्वरग जमाने लगे । रगाचार्य ने पुष्पाजलि से रग पूजा की । गायिकादि परिजन यथास्थान बैठे । नट ने आ कर नन्दी-पाठ किया और अभिनय का प्रारम्भ किया गया । विविध रसो के जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट रूप चेष्टा एव वचनो से हास्य की सरिता बहाने लगे । कोई बड़े पेट वाला, बडे दात वाला, लगडा, कूबडा आदि विविध रूप लिये हुए, कोई बगल बजा कर निरक्षरी ध्वनि निकालता है, तो कोई नासिका बजाता है । दूसरों की नकल कर के हँसाने वाले रूप भी दर्शक-सभा का भरपूर मनोरजन करने लगे। यो विविध प्रकार के उत्तमोत्तम अभिनय से दोनो छद्मवेशी नटसुन्दरिया न महाराजाधिराज को मोह लिया। नरेश मानने लगे कि ये दोनो दासियाँ कला में पारगत हैं और ससार म रत्न के समान है ।

महाराजा दमितारि के 'कनकश्री' नाम की वय-प्राप्त कन्या थी । नरेश ने सोचा कि उच्च शिक्षा देने मे ये दोना नट-सुन्दरियाँ पूर्ण समर्थ है । उसने दूसरे दिन से ही दोना को पुत्री की शिक्षिका के रूप में नियुक्त कर दिया । यौवनवय को प्राप्त, परम सुन्दरी कनकश्री का देख कर अनन्तवीर्य मुग्ध हो गए । वे दोनों भ्राता उसे शिक्षा देते और प्रसगोपात महाराज अनन्तवीर्य का यशोगान भी करते रहते थे । उनके रूप, शौर्य्य औदार्य आदि गुणो का वर्णन सुन कर राजकुमारी का मन उनकी ओर फिराया। बार-बार अनन्तवीर्य की प्रशसा सुन कर एक दिन कनकश्री ने पूछा - 'जिनकी तुम बार-बार प्रशसा करते हो, वह अनन्तवीर्य कौन है ?' नटी रूपधारी महाबाहु अपराजित बोले-

"शुभा नगरी के महाप्रतापी स्वर्गीय नरेश स्तिमितसागर के पुत्र और महाबाहु अपराजित के कनिष्ट भ्राता, महाराज अनन्तवीर्य, इस सृष्टि मे अद्वितीय योद्धा, मदनावतार एव महामानव हैं । वह महाबली शत्रुआ के गर्व को नष्ट करने वाला तथा शरणागतवत्सल है । अधिक क्या कहूँ, उसके समान इस पृथ्वी पर दूसरा कोई नहीं है । वह पुरुषोत्तम है । हम दोनो वहीं से आई हैं ।"

अनन्तवीर्य की कीर्तिकथा सुन कर कनकश्री आकर्षित हो गई । उसके मन म रहा हुआ मोह जाग्रत हो गया । वह उन्हीं के विचार करने लगी । उसे विचार-मग्न देख कर अपराजित ने कहा -

"आप चिता क्यों करती है ? यदि आपकी इच्छा इन्हें देखने की हागी तो मैं तुम्हें उनके दर्शन करा दूँगी । मेरी विद्या-शक्ति से मैं दोना बन्धुओं को यहाँ उपस्थित कर के उनसे तुम्हें मिला दूँगी "

कनकश्री यही चाहती थी । उस आशा नहीं थी कि वह कभी उस पुरुषोत्तम को देख सकगी। उसने कहा - "यदि आप उनके दर्शन करा दें, तो बड़ा उपकार होगा । मुझे विश्वास है कि जिस प्रकार आप कला में सर्वश्रेष्ठ हैं, उसी प्रकार अन्य विद्याओं मे भी सर्वोत्तम हैं । आप मेरी मनोकामना शीघ्र पूर्ण करेंगे ।"

कनकश्री की बात सुनते ही दोना भ्राताओं ने अपना निज-स्वरूप प्रकट किया । राजकुमारी स्तभित रह गयी । अपराजित ने कहा - "भद्रे ! यह मेरा छोटा भाई और शुभा नगरी का नरेश महाराज अनन्तवीर्य है ।"

राजकुमारी दिग्मूढ हो गई । उसके मन में विस्मय, लज्जा, प्रमोद आदि कई प्रकार के भाव आ-जा रहे थे । क्षणभर बाद ही उसके हृदय म से अन्योन्य भाव निकल कर एक मात्र मोह-आसक्ति भाव स्थायी रह गया । अनन्तवीर्य भी उस रति-रूपा राजकुमारी को निरख कर विशेष रूप से रोमाचित हो गया । राजकुमारी स्वस्थ हो कर कहने लगी ।

"आर्य पुत्र ! यह नाटक भी अच्छा रहा । भाग्य के खेल विचित्र प्रकार के दृश्य उपस्थित कर के विचित्र परिणाम लाते हैं । किस प्रयोजन से नारदजी ने मेरे पिताजी के सामने आपकी दो चेटियो की प्रशसा की और उन्हें प्राप्त करने की भावना उत्पन्न की । किस इच्छा से आप छद्म-वेश में यहाँ पधारे और अब क्या परिणाम आ रहा है । कदाचित् मेरे सद्भाग्य ने फल देने के लिए ही यह सारी परिस्थिति उत्पन्न की हो । अब आप शीघ्र ही मेरा पाणिग्रहण कर के मुझे कृतार्थ करें ।"

"शुभे ! यदि तुम्हारी ऐसी ही इच्छा है, तो चलो । अपन राजधानी में चलें और अपने मनोरथ पूर्ण करें" – अनन्तवीर्य ने कहा ।

–"मैं तो समर्पित हो चुकी । अब आपकी जैसी आज्ञा होगी, वैसा करूँगी । मैं चलने को तय्यार हूँ । किन्तु मुझे भय है कि कहीं मेरे पिताश्री, किसी प्रकार का अनर्थ खडा कर के आपका अहित करें। उनके पास अनेक प्रकार की विद्याए हैं, जिनके बल से वे जिस पर रुष्ट होते हैं, उसका अनिष्ट करते देर नहीं करते । यद्यपि आप समर्थ हैं फिर भी एकाकी और शस्त्रास्त्र से रहित हैं । इसलिए भय लगता है " – राजकुमारी ने परिस्थिति का भान कराया ।

"भयभीत होने की बात नहीं है – प्रिये ! तुम्हारे पिता में चाहे जितनी शक्ति हो, यह हमारा कुछ भी नहीं बिगाड सकेगा । यदि उन्होंने युद्ध की स्थिति उत्पन्न की तो इसका परिणाम उन्हें ही भोगना पडेगा । तुम निर्भय हो कर हमारे साथ चलो ।"

युद्ध की घोषणा और विजय

राजकुमारी उनके साथ हो गई । वहाँ से प्रस्थान करते समय अनन्तवीर्य ने मेघ गर्जना स्वर में गम्भीर वाणी से कहा–

"महाराजाधिराज दमितारि ! मन्त्रियो ! सेनापतियो कुमारो ! सामतो ! सुभटा एव पुराध्यक्षो ! आप सब स्वस्थ हो कर सुनो ।"

"मैं महावीर अपराजित के प्रताप से सुशोभित अनन्तवीर्य राजकुमारी कनकश्री को ले कर जा रहा हूँ । यदि किसी की इच्छा मुझे रोकने की हो या राजकुमारी को मुझ से लेने की हो तो वह मेरे सामने आवे । मेरे जाने क बाद यह कहने की आवश्यकता नहीं रहनी चाहिए कि – "अनन्तवीर्य, राजकुमारी को चुरा कर ले गया ।"

इस प्रकार उद्घोषणा कर के वैक्रिय-शक्ति से विमान बना कर उसमें बैठे और तीनों आकाश-

मार्ग से प्रस्थान कर गए । जब दमितारि ने यह उद्घोषणा सुनी, तो सन्न रह गया । उसने तत्काल अपने योद्धाओं को उनके पीछे भेजा । सेना को अपनी ओर आते देख दोनों भ्राता सावधान हो कर युद्ध के लिए जम गए । अचानक ही उन्हें हल, शार्ङ्ग धनुष आदि दिव्य-शस्त्र स्वत प्राप्त हो गए । दमितारि की सेना शस्त्र-वर्षा करने लगी । किन्तु जब महाराज अनन्तवीर्य ने शस्त्र-प्रहार प्रारभ किया, तो दमितारि की सेना भाग खडी हुई । सेना के भागते ही दमितारि स्वय युद्ध करने आया । उसके आते ही सेना भी पुन आ डटी । इधर अनन्तवीर्य भी विद्या-शक्ति से सेना तय्यार कर के युद्ध-क्षेत्र में डट गया । विद्या के बल से दुर्मद हुए दमितारि के सुभट जब पुन युद्ध-रत हुए, तो वीरवर अनन्तवीर्य ने पचजन्य शख का नाद किया । इस भयकर नाद को सुन कर सभी सुभट धसका खा कर भूमि पर गिर पड । यह दशा देख कर दमितारि स्वय रथारूढ हो कर आगे आया और शस्त्र-प्रहार करने लगा । अन्त में अपने ही चक्ररत्न नामक महाशस्त्र से दमितारि मारा गया और उसके समस्त राज्य के स्वामी महाराजाधिराज अनन्तवीर्य हुए । वे अर्धचक्री - वासुदेव पद पाये ।

पूर्वभव वर्णन

दमितारि पर विजय प्राप्त करके महाराजा अनन्तवीर्य, ज्येष्ठ-बन्धु और राजकुमारी कनकश्री के साथ रवाना हुए । मार्ग में प्रतिमाधारी मुनिराज श्री कीर्तिधर स्वामी के दर्शन हुए । उन्होंने उसी दिन घातिकर्मों को क्षय कर के केवलज्ञान केवलदर्शन प्राप्त किया था और देवगण केवल-महोत्सव कर रहे थे । वासुदेव को यह देख कर परम प्रसन्नता हुई । वे और बलदेव आदि केवली भगवान् की प्रदक्षिणा और नमस्कार कर के बैठ गए । भगवान् ने धर्मदेशना दी । उपदेश पूर्ण होने पर राजकुमारी कनकश्री ने पूछा - "भगवन् ! मेरे निमित्त से मेरे पिताजी का वध और बन्धु-वर्ग का वियोग क्यों हुआ ? यह दु खदायक घटना क्यों घटी ? इसका पूर्व और अदृश्य कारण क्या है ?"

केवलज्ञानी भगवत ने फरमाया -

"शुभे ! धातकीखड नामक द्वीप के पूर्व-भरत में शखपुर नाम का एक समृद्ध गाँव था । उसमें 'श्रीदत्ता' नाम की एक गरीब स्त्री रहती थी । वह बहुत ही दीन दरिद्र और अभाव पीड़ित थी और दिनभर परिश्रम और कठोर काम कर के कठिनाई से अपना जीवन चला रही थी । एक बार वह भटकती हुई देवगिरि पर्वत पर गई । एव वृक्ष की छाया में शिलाखड पर बैठे हुए तपोधनी सत सत्यपश स्वामी दिखाई दिये । श्रीदत्ता ने तपस्वी सत को वन्दना की और निकट बैठ कर निवेदन किया:-

"भगवत ! मैं बडी दुर्भागिनी हूँ । मैने पूर्वभव में धर्म की आराधना नहीं की । इसी लिए मेरी यह दीन-हीन और अनेक प्रकार से दु खदायक दशा हुई । अब दया कर के मुझे कोइ ऐसा उपाय बताइये कि जिससे फिर कभी ऐसी दुर्दशा नहीं हो ।"

मुनिराज ने उसे 'धर्मचक्र' नाम का तप बताते हुए कहा कि - "देवगुरु की आराधना में लीन

हो कर दो और तीन रात्रि के क्रम से सेंतीस उपवास करने पर तेरे वैसे पाप कर्मों का क्षय हो जायगा। जिससे तुझे भवान्तर में इस प्रकारकी दुरवस्था नहीं देखनी पडेगी ।''

श्रीदत्ता, मुनिराज के वचनो को मान्य कर के अपने स्थान पर आई और धर्मचक्रतप करने लगी। उसे पारणे मे स्वादिष्ट भोजन मिला और धनवानो के घर मे सरल काम तथा अधिक पारिश्रमिक तथा पारितापिक मिलने लगा । श्री दत्ता थोडे ही दिनों में कुछ द्रव्य सचय कर सकी । अब उसका मन भी प्रसन्न रहने लगा । वह कुछ दानादि भी करने लगी । एक बार वायु के प्रकोप से उसके घर की भींत का कुछ भाग गिर गया और उसमें से धन निकल आया । उसकी प्रसन्नता का पार नहीं रहा । अब वह विशेषरूप से दानादि सुकृत्य करने लगी । तपस्या के अतिम दिन वह सुपात्र दान के लिए किसी उत्तम पात्र की प्रतीक्षा करने लगी । अचानक उसने सुव्रत अनगार को देखा । वे मासखमण पारणे के लिए निकले थे । श्रीदत्ता ने भक्तिपूर्वक सुपात्रदान का लाभ लिया और धर्मोपदेश के लिए प्रार्थना की । मुनिराज ने कहा – ''भिक्षा के लिए गये हुए मुनि धर्मोपदेश नहीं देते । योग्य समय पर उपाश्रय मे उपदेश सुन सकती हो ।' मुनिराज पधार गए और पारणा कर के स्वाध्याय करने लगे । इतने में नगर के लोग और श्रीदत्ता उपाश्रय मे आये । मुनिराज ने उपदेश दिया । श्रीदत्ता ने सम्यक्त्वपूर्वक व्रत धारण किया और आराधना करने लगी । उदयभाव की विचित्रता से एक बार उसके मन मे धर्म के फल में सन्देह उत्पन्न हुआ । एक दिन वह मुनिराज श्रीसुयशजी को वन्दने गई । वहा उसने विमान से आये हुए दो विद्याधरों को देखा । वह उनके रूप पर मोहित हो गई और बिना शुद्धि किये ही आयुष्य पूर्ण कर गई ।

जम्बूद्वीप के पूर्व-विदेह की रमणीय विजय में शिवमन्दिर नामका नगर था । कनकपूज्य वहाँ के राजा थे । उनकी वायुवेग रानी से मेरा जन्म हुआ । मेरे अनिलवेगा नाम की महारानी थी । उनकी कुक्षि से दमितारि का जन्म हुआ । वह यौवनवय को प्राप्त हुआ । एक बार ग्रामानुग्राम विहार करते भ शान्तिनाथ हमारे नगर में पधारे । भगवान् का धर्मोपदेश सुन कर, मैने दमितारि को राज्य का भार दे कर निर्ग्रन्थ दीक्षा अगीकार की और चारित्र तथा तप की आराधना करते हुए मुझे अभी केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त हुआ । दमितारि प्रतिवासुदेव हुआ । उस श्रीदत्ता का जीव दमितारि की मदिरा रानी की कुक्षि से, पुत्री के रूप में तू (कनकश्री) उत्पन्न हुई । पूर्वभव के धर्म में सन्देह तथा मोहोदय के कारण तू स्त्री रूप में उत्पन्न हुई और बन्धु-बान्धवों का वियोग हुआ, धर्म में किञ्चित् कलक भी महा दु खदायक होता है ।''

कनकश्री विरक्त हो गई और उसने वासुदेव तथा बलदेव से निवेदन कर दीक्षा लेने की आज्ञा माँगी । उन्होने राजधानी में चल कर उत्सवपूर्वक दीक्षा देने का आश्वासन दिया और महर्षि को वन्दना कर के रवाना हो गए ।

शुभा नगरी के बाहर युद्ध चल रहा था । दमितारि के पहले से भेजे हुए कुछ वीर और सेना शुभानगरी मे आ कर वासुदेव के पुत्र अनन्तसेन के साथ युद्ध कर रहे थे । अनन्तसेन को शत्रुओं से

घिर कर युद्ध करते देखते ही बलदेव को क्रोध आ गया । वे अपना हल ले कर शत्रुसेना पर झपटे । बलदेव के प्रहार से दिग्मूढ बनी हुई शत्रु सेना अन्धाधुन्ध भागी। नगर प्रवेश के बाद अन्य राजाओ ने शुभ मुहूर्त में महाराजा अनन्तवीर्य का वासुदेव पद का अभिषेक किया । कालान्तर में केवली भगवान् स्वयभव स्वामी शुभानगरी पधारे । कनकश्री ने प्रव्रज्या स्वीकार की और आत्मोत्थान कर मोक्ष प्राप्त किया ।

बलदेव श्री अपराजितजी के 'सुमति' नाम की पुत्री थी । वह बालपन से ही धर्मरसिक था । वह जीवादि तत्त्वो की ज्ञाता और विविध प्रकार के व्रत तथा तप करती रहती थी । एक बार वह उपवास का पारणा करने के लिए बैठी थी । उसके मन मे सुपात्रदान की भावना जगी । उसने द्वार की ओर देखा। सुयोग से तपस्वी मुनिराज का द्वार मे प्रवेश हुआ । चित्त, वित्त और पात्र की शुद्धता से वहाँ पच दिव्य की वृष्टि हुई । अद्भुत चमत्कार को देख कर बलदेव और वासुदेव वहाँ आये और सुपात्रदान की महिमा सुन कर विस्मित हुए । उनके मन में राजकुमारी सुमति के प्रति आदर भाव उत्पन्न हुआ । वे सोचने लगे कि हमारी ऐसी उत्तम बालिका के योग्य पति कौन होगा ? उन्होंने अपने इहानन्द मन्त्री से परामर्श कर के स्वयवर का आयोजन किया और सभी राजाओ को सूचना भेज कर आमन्त्रित किया । निश्चित दिन स्वयवर मडप मे सभी राजा और राजकुमार बडे ठाठ से आ कर बैठ गए । निश्चित समय पर राजकुमारी सुमति सुसज्जित हो कर अपनी सखिया और सेविकाओं के साथ मडप में आई । उसके हाथ में वरमाला थी । वह आगे बढ ही रही थी कि इतने मे उस सभा के मध्य में एक देव विमान आया। उसमें से एक देवी निकली और एक सिहासन पर बैठ गई । राजकुमारी और सारी सभा इस दृश्य को देखकर चकित रह गई । इतने में देवी ने राजकुमारी से कहा -

"मुग्धे ! समझ ! यह क्या कर रही है ? तू अपने पूर्व भव का स्मरण कर । पुष्करवर द्वीपार्द्ध के पूर्व-भरत क्षेत्र में श्रीनन्दन नाम का नगर था । महाराज महेन्द्र उस नगर के स्वामी थे । अनन्तमति उनकी महारानी थी । उनकी कुक्षि से हम दोनों युगलपुत्रियें उन्पन्न हुई । मेरा नाम कनकश्री और तेरा नाम धनश्री था । अपन दोनो साथ ही बढी, पढ़ी और यौवन-वय को प्राप्त हुई । हम दोनो ने एकबार वन में नन्दन मुनि के दर्शन किये । उनसे धर्मोपदेश सुन कर श्रावक व्रत ग्रहण किये और उनकी आराधना करने लगी । एक बार अपन अशोक वन में गई और वहाँ वनक्रीड़ा करने लगी । इतने म एक विद्याधर युवक वहाँ आया और अपना हरण कर के उसके नगर में ले गया । किन्तु उसकी सुशीला पत्नी ने हमारी रक्षा की । वहाँ से हम दोना एक अटवी मे आई और नवकारमन्त्र का स्मरण कर के अनशन व्रत लिया । वहाँ का आयु पूर्ण कर के मैं तो सौधर्म स्वर्ग के अधिपति की अग्रमहिषी हुई और तू कुबेर लोकपाल की मुख्य देवी हुई । तू वहाँ का आयुष्य पूर्ण कर के यहाँ जन्मी और अब ससार के प्रपञ्च में पड रही है । अपन दोना ने देवलोक म निश्चय किया था कि जो देवलोक से च्यव कर पहले मनुष्य-भव प्राप्त करे उसे दूसरी देवी देवलोक से आ कर प्रतिबोध दे । छोड इस फन्द को और दीक्षा ग्रहण कर के मानव जैसे दुर्लभ भव को सफल कर ले ।"

इतना कह कर देवी चली गई । सुमति विचार-मग्न हुई । उसे जातिस्मरण ज्ञान हो गया । वह मूर्च्छित हो गई । सावधान होने पर उसने दीक्षा लेने की आज्ञा माँगी । उसकी माँग का सारी सभा ने अनुमोदन किया । वह दीक्षा ले कर तप सयम की आराधना करती हुई कर्मों का क्षय कर के सिद्ध गति को प्राप्त हुई ।

अनन्तवीर्य वासुदेव, काम-भोग म आसक्त हो, मर कर प्रथम नरक मे गये । बलदेव अपराजित, बन्धु-विरह से शोकाकुल होने के बाद विरक्त हो गए और गणधर जयस्वामी के पास, सोलह हजार राजाओ के साथ दीक्षित हो कर सयम का पालन किया । वे अनशन कर के आयु पूर्ण कर अच्युतेन्द्र हुए ।

वासुदेव का जीव प्रथम नरक से निकल कर भरतेक्षेत्र में वैताढ्य पर्वत पर के गगनवल्लभपुर के विद्याधर राजा मेघवान की पत्नी के गर्भ से उत्पन्न हुआ । उसका नाम 'मेघनाद' दिया गया । यौवनवय प्राप्त होने पर पिता ने उसे राज्य का भार दे कर प्रव्रज्या ले ली । मेघनाद बढते-बढते वैताढ्य पर्वत की दोनो श्रेणियो का शासक हो गया ।

एक बार अच्युतेन्द्र ने अपने पूर्वभव के भाई को देखा और प्रतिबोध करने आया । मेघनाद ने अपने पुत्र को राज्य दे कर दीक्षा ले ली । एक बार वे एक पर्वत पर ध्यान कर रहे थे, उस समय उनके पूर्वभव के बेरी अश्वग्रीव प्रतिवासुदेव के पुत्र ने - जो इस समय दैत्य था, उन्हे देखा और द्वेषाभिभूत हो कर उपसर्ग करने लगा, किन्तु वह निष्फल रहा मुनिराज उग्र तप का आचरण करते हुए अनशन कर के अच्युत देवलोक मे इन्द्र के सामानिक देवपने उत्पन्न हुए ।

इस जम्बूद्वीप के पूर्व महाविदेह में सीता नदी के दक्षिण किनारे मगलावती विजय में रत्नसचया नाम की नगरी थी । क्षेमकर महाराज वहाँ के अधिपति थे । उनके रत्नमाला नाम की रानी थी । अपराजित का जीव - जो अच्युतेन्द्र हुआ था, वह अच्युत देवलोक से च्यव कर महारानी रत्नमाला की कुक्षि में उत्पन्न हुआ । महारानी ने गर्भ धारण करने के बाद चौदह महास्वप्न और १५ वाँ वज्र देखा । गर्भकाल में महारानी ने स्वप्न में वज्र भी देखा, इसलिए पुत्र का जन्म होने पर उसका नाम 'वज्रायुध' रखा । वज्रायुध बडा हुआ और सभी कलाओं म पारगत हुआ । उसका विवाह 'लक्ष्मीवती' नाम की राजकुमारी के साथ हुआ । कालान्तर मे अनन्तवीर्य का जीव, अच्युतकल्प से च्यव कर रानी लक्ष्मीवती की कुक्षि से पुत्र के रूप में उत्पन्न हुआ । उसका नाम 'सहस्रायुध' दिया गया । वह बडा हुआ । कला-कौशल में प्रवीण हुआ । उसका विवाह कनकश्री नाम की एक राजकुमारी के साथ हुआ । कनकश्री की कुक्षि से एक महान् पराक्रमी पुत्र का जन्म हुआ । उसका नाम 'शतबल' रखा गया । वह महाबली था ।

एक समय महाराजा क्षेमकर अपने पुत्र पौत्र प्रपौत्र मन्त्री और सामन्तों के साथ सभा में बैठे थे । उस समय ईशानकल्प वासी चित्रचूल नाम का एक मिथ्यात्वी देव उस सभा में प्रकट हुआ । देव-सभा में वज्रायुध के सम्यक्त्व की दृढता की प्रशसा हुई थी । किन्तु चित्रचूल का यह प्रशसा सहन नहीं

हुई, न विश्वास ही हुआ । वह तत्काल महाराज क्षेमकर की राजसभा मे उपस्थित हुआ । उसने आते ही सभा को सम्बोधित करते हुए कहा,-

"राजेन्द्र और सभासदो ! ससार में न पुण्य है, न पाप । स्वर्ग, नर्क जीव, अजीव और धर्म-अधर्म कुछ भी नहीं । मनुष्य आस्तिकता के चक्कर मे पड कर व्यर्थ ही क्लेश एव कष्ट भोगता है । इसलिए धर्म पुण्य और परलोक की मान्यताओ को त्याग देना चाहिए ।"

देव के ऐसे नास्तिकता पूर्ण वचन सुन कर वज्रायुध बोला;-

"अरे देव ! तुम ऐसी मिथ्या बातें क्या कह रहे हो ? यह तो प्रत्यक्ष से भी विरुद्ध है । तुम स्वय अवधिज्ञान से अपने पूर्वभव के सुकृत के फल को देखो । तुम्हारा यह देव सम्बन्धी वैभव, तुम्हारी बात को मिथ्या सिद्ध कर रही है । तुमने पूर्व के मनुष्य-भव का छोड कर यह देव-भव प्राप्त किया है । यदि जीव नहीं हो तो भव किसका ? पूर्व का मनुष्य-भव और वर्त्तमान देवभव, परलोक होने पर ही हुआ । यदि परलोक नहीं होता, तो यह देवभव भी नहीं होता । इस प्रकार मनुष्य-लोक रूपी यह भव और परलोक रूपी देव-भव प्रत्यक्ष ही सिद्ध है और यह सभी सुकृत का फल है । इसलिए ऐसा नास्तिकता पूर्ण मिथ्यात्व छोड देना चाहिए ।"

वज्रायुध की सम्यक् वाणी सुन कर देव निरुत्तर हुआ और प्रतिबोध पाया । देव ने पूछा;-

"महानुभाव ! आपने ठीक ही कहा है । बहुत ठीक कहा है । आपने मेरा मिथ्यात्व छुडा कर मेरा उद्धार किया । आपने मुझ पर एक पिता और तीर्थंकर के समान उपकार किया है । मैं चिरकाल से मिथ्यात्वी था । आपके दर्शन मेरे लिए अमित लाभकारी हुए । अब आप मुझे सम्यक्त्व दान कर उपकृत करें ।"

वज्रायुध ने उस देव को धर्म का स्वरूप समझाया और सम्यक्त्वी बनाया । चित्रचूल देव अत्यत प्रसन्न हुआ और इच्छित वस्तु माँगने का निवेदन किया । वज्रायुध ने कहा - "मैं आपसे यही माँगता हूँ कि आप दृढ एव अविचल सम्यक्त्वी रहें ।" देव ने कहा - "यह तो मेरे ही हित की बात है । आप अपने लिए कुछ लीजिए ।" वज्रायुध ने कहा - "मुझे और कुछ भी नहीं चाहिए ।" फिर भी देव ने वज्रायुध को दिव्य अलकार दिये और चला गया । उसने ईशानेन्द्र की सभा में आ कर वज्रायुध की प्रशसा की । ईशानेन्द्र ने कहा - "महानुभाव वज्रायुध भविष्य में तीर्थंकर होंगे ।"

एक बार वसन्तऋतु में वनविहार करने के लिए वज्रायुध अपनी लक्ष्मीवती आदि ७०० रानिया के साथ सुरनिपात उद्यान में आया और एक जलाशय में क्रीड़ा करने लगा । वह जलक्रीड़ा में मग्न था और रानियो के साथ विविध प्रकार के जलपात के खेल खेल रहा था । उधर पूर्वजन्म का शत्रु, दमितारि प्रतिवासुदेव का जीव भवभ्रमण करता हुआ देवभव प्राप्त कर चुका था । वह विद्युद्दष्ट नाम का देव वहाँ आया । वज्रायुध को देखते ही उसका दबा हुआ वैर जाग्रत हो गया । उसने परिवार सहित वज्रायुध को नष्ट करने के लिए उस जलाशय पर एक पर्वत ला कर डाल दिया और चला गया । वज्रायुध,

इस आकस्मिक विपत्ति से घबडाया नहीं, किन्तु अपने प्रबल पराक्रम से उस पर्वत को तोड कर परिवार सहित बाहर निकल आया । उधर प्रथम स्वर्ग का सौधर्मेन्द्र महाविदेह मे जिनेश्वर की पर्युपासना कर क लौट रहा था । उसने महानुभाव वज्रायुध को देखा । उसने सोचा -"यह वज्रायुध इस भव में चक्रवर्ती सम्राट होगा और बाद के भव मे तीर्थंकर होगा"- ऐसा सोच कर इन्द्र वज्रायुध से मिला । उन्हें आदर सम्मान दे कर कहा - "आप धन्य हैं । भविष्य मे आप ही भरतक्षेत्र के 'शातिनाथ' नाम के सोलहवें तीर्थंकर बनेगे ।" यो कह कर इन्द्र प्रस्थान कर गया और वज्रायुध अपने अन्त पुर के साथ नगर में आये ।

महाराजा क्षेमकर ने लोकान्तिक देवो के स्मरण कराने से वार्षिक दान दे कर प्रव्रज्या स्वीकार की । वज्रायुध को राज्यभार प्राप्त हुआ । मुनिराज क्षेमकर ने विविध प्रकार के तप से घातिकर्मों का क्षय कर के केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त किया ।

एक समय अस्त्रागार के अधिपति ने महाराजा वज्रायुध को शस्त्रागार में चक्ररत्न के प्रकट होने की बधाई दी । महाराजा ने चक्ररत्न प्रकट होने का महोत्सव किया । इसके बाद अन्य तेरह रत्न भी प्रकट हुए । उन्होने छह खण्ड की साधना की और अपने पुत्र सहस्रायुध को युवराज पद पर प्रतिष्ठित किया ।

एक बार महाराजा राजसभा मे बैठे थे । महामन्त्री, अधीनस्थ राज्यों के सम्बन्धो और समस्याओ पर निवेदन कर रहे थे कि इतने ही मे एक विद्याधर युवक भयभीत दशा में भागता हुआ आया और चक्रवर्ती सम्राट से रक्षा करने की प्रार्थना की । उसके पीछे एक सुन्दर युवती हाथ में ढाल और तलवार ले कर क्रोध में धमधमती हुई आई और सम्राट से कहने लगी -

"महाराज ! आप इस अधमाधम को यहा से निकालिये । मैं इस दुष्ट को इसके दुराचरण का मजा चखाने आई हूँ ।" वह आगे कुछ और कह रही थी कि यमदूत के समान एक भयकर विद्याधर हाथ से गदा घुमाता हुआ आया और उसने सम्राट से कहा,-

"महाराजाधिराज ! इस नीच की नीचता देखिये कि - मेरी यह पुत्री, मणिसागर पर्वत पर भगवती प्रज्ञप्ति विद्या साध रही थी । इस दुष्ट ने उसकी साधना मे विघ्न डाला और उसे उस स्थान से उठा लिया । मैं उस समय विद्या की पूजा के लिए सामग्री लेने गया था । पुत्री को विद्या सिद्ध हो गई थी। इसलिए यह कुछ अनिष्ट नहीं कर सका और भयभीत हो कर उसे वहाँ छाड कर भाग गया । इसे अपनी रक्षा का अन्य कोई स्थान नहीं मिलने से यह आपकी शरण में आया है । इस दुष्ट से बदला लेने के लिए मेरी पुत्री इसके पीछ-पीछे आई । जब मैं पूजा की सामग्री ले कर साधनास्थल पर आया, तो वहाँ पुत्री दिखाई नहीं दी । अन्त म मैने इनके चरण-चिह्न का अनुसरण किया और यहाँ तक आया । आप इसे निकाल दीजिये । मेरी यह गदा इसके मस्तक का चूर्ण बनाने के लिए तत्पर है । मैं शुक्लनगर के शुक्लदत्त नरेश का 'पवनवेग' नाम का पुत्र हूँ । मेरा विवाह किन्नरगीत नगर के दीपचूल नरश की पुत्री सुकान्ता से हुआ और उसकी कुक्षि से इस शातिमति का जन्म हुआ ।"

महाराज वज्रायुध ने पवनवेग का वृत्तात सुन कर अवधिज्ञान का उपयोग लगाया और उसके पूर्वभव का वृत्तात जान कर यों कहने लगे,-

"पवनवेग ! शान्त होओ और इस घटना के मूल कारण को देखो । जम्बूद्वीप के ऐरावत क्षेत्र में विध्यपुर नाम का नगर था । वहाँ विध्यदत्त नाम का राजा था । उसकी सुलक्षणा रानी से 'नलिनकेतु' नाम का पुत्र हुआ । उसी नगर में धर्ममित्र नाम का एक सार्थवाह था । उसके 'दत्त' नाम का पुत्र था। उस दत्त के 'प्रभकरा' नाम की अत्यन्त रूपवाली पत्नी थी । एक बार बसतऋतु में दत्त अपनी पत्नी के साथ उद्यान मे क्रीड़ा कर रहा था । उसी उद्यान मे राजकुमार नलिनकेतु भी आया और प्रभकरा को देखते ही मुग्ध हो गया । उसने दत्त को भुलावे में डाल कर प्रभकरा का हरण कर लिया और उसक साथ स्वच्छन्द हो कर भाग भोगने लगा । दत्त, प्रभकरा का वियोग सहन नहीं कर सका। वह उसी के ध्यान में भटकता रहा । कालान्तर में उसे मुनिराज श्री सुमनजी के दर्शन हुए। उन्होंने उसी दिन घातिकर्मों का क्षय कर के केवलज्ञान प्राप्त किया था । केवली भगवान् की धर्मदेशना सुन कर दत्त ने पत्नी-विरह से उत्पन्न मोह का त्याग किया और शुभ भावो से दान-धर्म करता हुआ काल कर के जम्बूद्वीप के पूर्व-विदेह में स्वर्णतिलक नगर के नरेश महेन्द्रविक्रम के यहा पुत्रपने उत्पन्न हुआ । 'अजितसेन' उसका नाम दिया गया । यौवनवय मे अनेक विद्याधर कन्याओं के साथ उसका लग्न हुआ। वह काम-भोग मे काल व्यतीत करने लगा ।

राजा विध्यदत्त के मरने पर राजकुमार 'नलिनकेतु' राजा हुआ । प्रभकरा उसकी प्रिया थी ही। एक बार वे दोनों महल की छत पर चढ कर प्रकृति की शोभा देख रहे थे कि अचानक ही आकाश में बादल घिर आये । काली घटा छा गई । गर्जना होन लगी । बिजली चमकने लगी और थोड़ी ही देर में वह सारा ही दृश्य बिखर कर आकाश साफ हो गया । नलिनकेतु का इस दृश्य ने विचार में डाल दिया । उसने सोचा-"जिस प्रकार आकाश में यह मेघ-घटा उत्पन्न भी हो गई और थोड़ी देर में नष्ट भी हो गई उसी प्रकार ससार म सभी पदार्थ अस्थिर हैं । मनुष्य एक जन्म में ही बचपन युवावस्था, बुढ़ापा आदि विभिन्न अवस्थाए प्राप्त करता है । ऐसे क्षणस्थायी दृश्यों पर मुग्ध होना भूल है - बड़ी भारी भूल है ।" इस प्रकार विचार करता हुआ वह विरक्त हो गया और पुत्र को राज्य द कर क्षेमकर तीर्थंकर के पास दीक्षित हो गया तथा उग्रतप करते हुए सभी कर्मों को नष्ट करके अव्यय पद का प्राप्त हुआ ।

सरल एव भद्र स्वभाव वाली रानी प्रभकरा ने प्रवर्तिनी सती सुव्रता के पास चान्द्रायण तप किया। सम्यक्त्व रहित उस तप के प्रभाव से आयु पूर्ण होने पर वह तुम्हारी पुत्री के रूप में यह शातिमति हुई। इनके पूर्वभव के पति दत्त का जीव यह अजितसेन है । पूर्वभव के स्नेह के कारण ही इसने इसे उठाई थी । वर्तमान की इस घटना के मूल में पूर्व का स्नेह रहा हुआ है । तुम्हे क्रोध त्याग कर बन्धु-भाव धारण करना चाहिए ।

उपरोक्त वृत्तांत सुन कर उनका द्वेष दूर हुआ । ज्ञानबल से चक्रवर्ती नरेश ने कहा - "तुम तीनो तीर्थंकर भगवान् क्षेमकरजी के पास प्रव्रजित होंगे । यह शातिमति रत्नावली तप करगी और अनशन कर के आयुपूर्ण होने पर ईशानेन्द्र बनेगी । तुम दोनो कर्म क्षय कर के मुक्ति प्राप्त करोगे । शातिमति, ईशानेन्द्र का भव पूर्ण कर के मनुष्य भव प्राप्त करेगी और सयम तप की आराधना कर के मुक्त हो जायगी ।"

चक्रवर्ती की बात सुन कर तीनो प्रतिबोध पाये और ससार का त्याग कर सयम स्वीकार किया। साध्वी शातिमति, ईशानेन्द्र और मनुष्य-भव प्राप्त कर मोक्ष गई और क्षेमकर तथा अजितसेन मुनि उसी भव में सिद्ध हो गए ।

चक्रवर्ती सम्राट के पुत्र सहस्त्रायुध की रानी जयना ने गर्भ धारण किया । गर्भ के प्रभाव से उसने स्वप्न मे प्रकाशमान स्वर्ण-शक्ति देखी । पुत्र का जन्म होने पर 'कनकशक्ति' नाम दिया गया । यौवनवय प्राप्त होने पर सुमन्दिरपुर की राजकुमारी कनकमाला के साथ उसका लग्न हुआ ।

श्रीसार नगर मे अजितसेन राजा था । उसकी प्रियसेना रानी से वसतसेना कुमार का जन्म हुआ। यह कनकमाला की प्रिय सखी थी । उसका पिता उसके लिए किसी योग्य वर की खोज कर रहा था। किन्तु योग्य वर नहीं मिला । उसने पुत्री को कनकशक्ति के पास स्वयवरा के रूप में भेजी और कनकशक्ति ने उसके साथ भी विधिपूर्वक लग्न किया। इस लग्न से वसतसेना की बूआ के पुत्र को बडा आघात लगा । वह क्रोध से जल उठा।

एक बार कनकशक्ति उद्यान में घूम रहा था कि उसने देखा - एक व्यक्ति मुर्गे की तरह उछलता गिरत-पडता भटक रहा था । उसने उसकी ऐसी दशा का कारण पूछा । उसने कहा - 'मैं विद्याधर हू । मैं कार्यवश अन्यत्र जा रहा था । यहाँ रमणीय उद्यान देख कर रुक गया। यहाँ कुछ समय रुक कर जाने लगा । मैने अपनी आकाशगामिनी विद्या का स्मरण किया, किन्तु बीच का एक पद मैं भूल गया । इससे मैं पूर्व की तरह उड नहीं सका और उछल कर नीचे गिर रहा हूँ ।' राजकुमार ने कहा -"यदि आप मेरे समक्ष आपकी विद्या का उच्चारण करें, तो सम्भव है विस्मृत पद जोडने मे मैं आपकी कुछ सहायता कर सकूँ ।" विद्याधर ने विद्या का उच्चारण किया । राजकुमार ने अपनी पदानुसारिणी बुद्धि से भूले हुए पद को पूर्ण कर दिया । विद्याधर प्रसन्न हुआ और उसने राजकुमार को भी वह विद्या दी। दोनो अपने-अपने स्थान पर आये ।

वसतसेना की बूआ का पुत्र अपने क्रोध में ही जलता रहा । वह कनकशक्ति की कुछ भी हानि नहीं कर सका और मृत्यु पा कर देवलोक में गया ।

एक बार कनकशक्ति अपनी दोनों रानिया के साथ विद्याधर से प्राप्त विद्या से गगन-विहार करता हुआ हिमवत पर्वत पर आया । वहाँ विपुलमति नाम के चारणमुनि के दर्शन हुए । उपदेश सुन कर कनकशक्ति त्यागी बन गया । दोनो रानिये भी विमलमती साध्वीजी के समीप दीक्षित हो गई । कालान्तर

में मुनि कनकशक्ति उसी पर्वत पर आ कर एक रात्रि की भिक्षु प्रतिमा का धारण कर के ध्यानस्थ रहे। मुनिवर को ध्यानस्थ देख कर पूर्वभव का द्वेषी वह हिमचूल देव उपसर्ग करने लगा। जब विद्याधरों ने उस देव को उपसर्ग करते देखा, तो उन्होंने उसकी भर्त्सना की। कालान्तर में मुनिराज रत्नसचया नगरी के बाहर उद्यान मे आ कर ध्यानस्थ हुए। वहाँ उनके घातिकर्म नष्ट हो कर केवलज्ञान केवलदर्शन की प्राप्ति हुई।

कालान्तर मे तीर्थंकर भगवान् क्षेमकर महाराज वहाँ पधारे। वज्रायुध अपने पुत्र सहस्रायुध को राज्य दे कर दीक्षित हो गया। उसके साथ चार हजार राजा, चार हजार रानियें और सात सौ पुत्रों ने दीक्षा ली। श्री वज्रायुध विविध प्रकार के अभिग्रह युक्त तप करते हुए सिद्धि पर्वत पर पधारे और प्रतिमा धारण कर के ध्यानस्थ हो गए। इस समय अश्वग्रीव प्रतिवासुदेव के पुत्र मणिकुभ और मणिकेतु भव-भ्रमण करते हुए बालतप के प्रभाव से असुरकुमार देव हुए थे। वे इस पर्वत पर आये और ऋषिश्वर को देख कर पूर्वभव के वैर से अभिभूत हो उपद्रव करने लगे। सिंह का रूप धारण कर के अपने वज्र के समान कठोर एव तीक्ष्ण नख गड़ा कर दोनो देव, दोनों ओर से उन्हे चीरने लगे। उसके बाद हाथी का रूप धारण कर सूँड, दाँत और पैरों के आघात से महान् वेदना उत्पन्न करने लगे। इसके बाद भयानक भुजग के रूप मे ऋषिवर के शरीर पर लिपट कर शरीर को बलपूर्वक कसने लगे। इसके बाद राक्षसी रूप से भयानक उपद्रव करने लगे। इस प्रकार विविध उपद्रव करने लगे। इतने में इन्द्र की रभा-तिलोत्तमादि अप्सराएँ जिनेश्वर भगवान् को वन्दन करने के लिए उधर हो कर जा रही थी। उन्होंने मुनि पर होता हुआ महान् उपसर्ग देखा। वे बोली – "अरे, ओ पापियो! तुम ऐसे उत्तम और महान् संत के शत्रु क्यों बने हो? ठहरो।" इतना कह कर वे उनके पास पहुँचने लगी। यह देख कर वे दोनों दुष्ट देव भाग गए। अप्सराएँ मुनिराज श्री को वन्दन नमस्कार कर के चली गई।

वज्रायुध मुनि वार्षिकी प्रतिमा पूर्ण कर विशिष्ट तप करते हुए विचरने लगे। राजा सहस्रायुध राज्य चला रहे थे। एक बार यहा गणधर महाराज पिहिताश्रवजी पधारे। उनके उपदेश से वैराग्य पा कर सहस्रायुध अपने पुत्र शतबल को राज्य का भार सौंप कर दीक्षित हो गया। ग्रामानुग्राम विहार करते हुए उन्हें ऋषिवर वज्रायुध अनगार से मिलना हो गया। अब दोनों पिता-पुत्र साथ रह कर साधना करने लगे। अन्त में अनशन कर के आयु पूर्ण कर तीसरे ग्रैवेयक में उत्पन्न हुए।

मेघरथ नरेश

जम्बूद्वीप के पूर्व-महाविदेह में पुष्कलावती नाम का विजय था। सीता नदी के तीर पर पुडरीकिनी नाम की नगरी थी। धनरथ नाम का महाबली राजा वहाँ राज करता था। प्रियमती और मनोरमा ये दो महारानियाँ थीं। वज्रायुध मुनि का जीव ग्रैवेयक से च्यव कर महादेवी प्रियमती की कुक्षि में उत्पन्न हुआ। महारानी ने स्वप्नावस्था में गर्जन करता बरसता और विद्युत् प्रकाश फैलाता हुआ एक मेघ-

खण्ड अपने मुँह में प्रवेश करता हुआ देखा । स्वप्न का फल बतलाते हुए महाराज ने कहा – 'तुम्हारे गर्भ में कोई उत्तम जीव, आया है । वह मेघ के समान पृथ्वी के ताप को मिटा कर शाति करने वाला होगा ।' सहस्रायुद्ध का जीव भी ग्रैवेयक से च्यव कर महादेवी मनोरमा की कुक्षि में उत्पन्न हुआ । उसके प्रभाव से महारानी ने स्वप्न में एक ध्वजापताका से युक्त सुसज्जित रथ, मुँह मे प्रवेश करता हुआ देखा । महारानी ने अपने स्वप्न की बात महाराज को सुनाई, तो उन्होंने स्वप्न का फल बतलाते हुए कहा –' आपका पुत्र महारथी–महान् योद्धा होगा ।'यथासमय दोनो महारानियो ने पुत्र को जन्म दिया। महाराज ने महारानी प्रियमती के पुत्र का नाम 'मेघरथ' और महारानी मनोरमा के पुत्र का नाम 'दृढरथ' रखा । दोनो भाई क्रमश बढने लगे । उनमें आपस मे गहरा स्नेह था । वे यौवनवय को प्राप्त हुए । वे रूप, तेज और कला मे सर्वोत्तम थे । एक बार सुमन्दिरपुर के महाराजा निहतशत्रु का मन्त्री महाराजा धनरथ की राजसभा मे आया और निवेदन किया – 'महाराजा निहतशत्रु, आपसे निकट का सम्बन्ध स्थापित करना चाहते हैं । उनके तीन पुत्रियाँ हैं । वे तीना ही बडी गुणवती, विदुषी एव देवकन्या के समान हैं। मेरे स्वामी आपसे निवेदन करते हैं कि – मेरी दो पुत्रियाँ राजकुमार मेघरथ के लिए और एक राजकुमार दृढरथ के लिए स्वीकार कीजिये।' महाराज धनरथ ने सम्बन्ध स्वीकार कर लिया और शुभ मुहूर्त मे आगत मन्त्री के साथ अगरक्षक सेना और मन्त्री आदि सहित दोनो राजकुमारो को भेज दिया । मार्ग में सुरेन्द्रदत्त राजा के राज्य की सीमा पडती थी । जब सुरेन्द्रदत्त को दोनो राजकुमारों के सेना सहित राज्य की सीमा में होकर सुमन्दिरपुर जाने की बात मालूम हुई, तो उसने अपने सीमारक्षक को भेज कर उनका प्रवेश रोकना चाहा और अन्य मार्ग से हो कर जाने का निर्देश दिया । राजकुमारा ने कहा – "हमारे लिए ही मार्ग अवरुद्ध करना न ता मैत्रीपूर्ण है, न नैतिक ही । यह सार्वजनिक मार्ग है । इनकी किसी व्यक्ति विशेष के लिए रोक नहीं की जा सकती ।" वे नहीं माने और युद्ध खडा हो गया। राजा सुरेन्द्रदत्त और उसका युवराज बड़ी सेना ले कर आ गये । भयानक मारधाड प्रारम्भ हो गई । युद्ध की विकरालता बढते ही राजकुमारो के अगरक्षकों का टिकना असभव हो गया । वे युद्ध म ठहर नहीं सके और भाग खडे हुए । यह देख कर दोनो राजकुमार युद्ध–रत हो गए और शत्रु–सेना का सहार करने लगे । उन दोनो बलवीरों की मार, सुरेन्द्रदत्त की सेना सहन नहीं कर सकी और युद्धस्थल से भाग गई । यह देख कर राजा सुरेन्द्रदत्त और उसका राजकुमार भी मैदान में आ गया । दोनों का जम कर युद्ध हुआ, किन्तु वे सफल नहीं हो सके । दोनों राजकुमारों ने उन्हें हरा कर अपना बन्दी बना लिया और उस राज्य पर अपनी आज्ञा चला कर आगे बढ गए । जब वे सुमन्दिरपुर के निकट पहुँचे, तो महाराजा निहतशत्रु, उनके स्वागत के लिए सामने आया और दोनों राजकुमारो का आलिगन कर के मस्तक पर चुम्बन किया। शुभ मुहूर्त में राजकुमारी प्रियमित्रा और मनोरमा इन दो बडी पुत्रियो का लग्न मेघरथ कुमार के साथ और छोटी पुत्री राजकुमारी सुमति का लग्न राजकुमार दृढरथ के साथ किया। दोनों राजकुमार अपनी पत्नियों और विपुल समृद्धि के साथ अपने नगर की ओर चले । मार्ग में उन्होंने

पराजित राजा सुरेन्द्रदत्त और उसके पुत्र को राज्याधिकार प्रदान कर दिया और अपने नगर में आये । वे सुखोपभोग पूर्वक जीवन व्यतीत करने लगे । कालान्तर में राजकुमार मेघरथ की रानी प्रियमित्रा ने नन्दीसेन नामक पुत्र को और रानी मनोरमा ने मेघसेन नामक पुत्र को जन्म दिया । राजकुमार दृढ़रथ की पत्नी सुमति ने भी एक पुत्र को जन्म दिया । उसका नाम रथसेन रखा गया ।

कुर्कुट कथा

एक दिन महाराजा धनरथ अपने अन्त पुर मे रानियों, पुत्रो और पौत्रो के साथ विविध प्रकार के विनोद कर रहे थे कि सुरसेना नाम की गणिका, हाथ में एक कुर्कुट ले कर आई और निवेदन करने लगी,-

''देव मेरा यह मुर्गा अपनी जाति मे सर्वोत्तम है, मुकुट क समान है । इसे दूसरा कोई भी मुर्गा जीत नहीं सकता । यदि किसी दूसरे व्यक्ति का मुर्गा, मेरे मुर्गे को जीत ले, तो मैं उसे एक लाख स्वर्ण-मुद्रा देने को तत्पर हूँ । यदि किसी के पास ऐसा मुर्गा हो, तो वह मेरे इस दाव को जीत सकता है ''

गणिका की उपरोक्त प्रतिज्ञा सुन कर युवराज्ञी मनोरमा ने कहा– ''मेरा मुर्गा, सुरसेना के मुर्गे के साथ लडेगा ।'' महाराज ने स्वीकृति दे दी । युवराज्ञी ने दासी को भेज कर अपना वज्रतुड नामक कुर्कुट मँगाया । दोनों कुर्कुट आमने-सामने खडे किये गये । वे दोनो आपस म लडने लगे । बहुत देर तक लडते रहे, परन्तु दोनो मे से न तो कोई विजयी हुआ न पराजित । तब महाराज धनरथ ने कहा – 'इन दोनों में से कोई एक किसी दूसरे पर विजय प्राप्त नहीं कर सकेगा ।''

''क्यो नहीं जीत सकेगा ? क्या कारण है – पिताश्री इसका '' – युवराज मेघरथ ने पूछा ।

''इसका कारण इनके पूर्व-भव से सम्बन्धित है''–महाराजा धनरथ, अपने विशिष्ट ज्ञान से उन कुर्कुटो के पूर्वभव का वृत्तात सुनाने लगे;–

''इस जम्बूद्वीप के ऐरवत क्षेत्र मे रत्नपुत्र नाम का समृद्ध नगर था । वहाँ 'धनवसु' और 'दत्त' नाम के दो व्यापारी रहते थे । उनमें परस्पर गाढ-मैत्री थी । उन दोनों में धनलोलुपता बहुत अधिक थी । वे व्यापारार्थ गाडिया मे सामान भर कर विदेशो में भटकते ही रहते थे । वे भूखे प्यासे, शीत, ताप आदि सहते हुए और बैलो पर अधिक भार भर कर उन्हे ताडना-तर्जना करते हुए, उनकी पीठ पर शूल भोकते हुए फिरते रहते थे । वे शाति से भोजन भी नहीं कर सकते थे । चलते-चलते खाते और रूखा सूखा खा कर मात्र धन के लोभ में ही लगे रहते । खोटे तोल-नाप करते । कपट और ठगाई उनके रगरग में भरी रहती थी । वे मिथ्यात्व में रत रहते थे । धर्म की ओर उनका ध्यान ही नहीं जाता था। वे आर्त्तध्यान में ही लगे रहते थे । अपने ऐसे दुष्कर्म से वे तिर्यंच गति का आयुष्य बाध कर मरे और सुवर्णकूला नदी के किनारे दो हाथी के रूप में पृथक्-पृथक् उत्पन्न हुए । एक का नाम 'ताम्रकलश' और दूसरे का 'काचनकलश' था । व दोनों यौवनवय प्राप्त होने पर नदी किनारे के वृक्षों को तोडते-

गिराते हुए और अपने यूथ के साथ घूमते-फिरते तथा विहार करते रहते थे । एक दिन दोनों यूथपति गजेन्द्रो का मिलना हो गया । वे दोनो एक दूसरे को देखने लगे । उनके मन में रोप की भावना प्रज्वलित हुई । दोनों आपस मे लडने लगे और एक दूसरे को मार डालने के लिए प्रहार करने लगे । अन्त में दोनों हाथी लडते-लडते मर गये । मृत्यु पा कर वे अयोध्या नगरी के पशु-पालक नन्दीमित्र के यहाँ महिपी के गर्भ से उत्पन्न हुए । यौवनवय मे वे बलवान और प्रचण्ड भैंसे दिखाई देने लगे । वे विशाल डीलडौल वाले और आकर्षक थे । एक बार वहाँ के राजकुमार धनसेन और नन्दीसेन ने उन यमराज जैसे भेसे को देखा । उन्होंने दोनों महिषो को लडाया । वे दोनो लडते-लडते मर कर उसी नगरी में मेंढे जन्में। वहाँ भी वे दोनों आपस मे लड कर मरे और कुर्कुट योनि में जन्मे । ये दोनो वे ही मुर्गे हैं।

महाराज की बात पूर्ण होने पर युवराज मेघरथ ने कहा – "ये दोनो पूर्वभव के शत्रु तो हैं ही, विशेष में विद्याधरो से अधिष्ठित भी हैं ।" राजा ने युवराज को विद्याधरा से अधिष्ठित होने का वृत्तात कहने का सकेत किया । युवराज कहने लगे,–

"वैताढ्य पर्वत की उत्तर क्षेणी के स्वर्णनाभ नगर मे 'नरुडवेग' नाम का राजा था, धृतिसेना उसकी रानी थी । उनके चन्द्रतिलक और सूर्यतिलक नाम के दो पुत्र थे । यौवनवय में वे कुमार, वन-विहार करते हुए उस स्थान पर पहुँचे गए जहाँ मुनिराज श्रीसागरचन्दजी एक शिला पर ध्यानस्थ बैठे हुए थे । मुनिराज को वन्दना नमस्कार कर के दोनों राजकुमार बैठ गए । मुनिराज ने ध्यान पालने के बाद दोनो राजकुमारों को धर्मोपदेश दिया । मुनिराज विशिष्ट ज्ञानी और लब्धिधारी थे । राजकुमारों के अपने पूर्वभव सम्बन्धी पृच्छा करने पर मुनिराजश्री कहने लगे –

"धातकीखण्ड के पूर्व ऐरवत क्षेत्र में वज्रपुर नगर था । वहाँ अभयघोष नाम का दयालु राजा था । स्वर्णतिलका उसकी रानी थी । विजय और वैजयत नाम के उसके दो कुमार थे । वे शिक्षित एव कलाविद हो कर यौवनवय को प्राप्त हुए । उस समय उसी क्षेत्र के स्वर्णद्रुम नगर में शख राजा की पृथ्वीसेना नाम की पुत्री थी । वह भी रूप गुण और अनेक प्रकार की विशेषताओं से युक्त थी । उसका विवाह महाराज अभयघोष के साथ हुआ । एकबार राजा, रानियो के साथ वन-विहार कर रहे थे । रानी पृथ्वीसेना वन की शोभा देखती हुई कुछ आगे निकल गई । उसने वहाँ एक तपस्वी ज्ञानी मुनि को वृक्ष के नीचे ध्यानस्थ बैठे देखा । वह उनके समीप गई और भक्तिपूर्वक वन्दना की । मुनिराज का उपदेश सुन कर वह ससार से विरक्त हो गई और राजा की आज्ञा ले कर सयम स्वीकार कर लिया।

कालान्तर में महाराज अजयघोष के यहाँ छद्मस्थ अवस्था में विचरते हुए श्रीअनन्त अरिहत पधारे। राजा ने उत्कट भाव-भक्तिपूर्वक आहार दान दिया और अरिहत न वहीं अपनी तपस्या का पारणा किया । पच दिव्य की वृष्टि हुई । कालान्तर में वे ही अरिहत भगवान् केवली अवस्था मे वहाँ पधारे और धर्मोपदेश दिया । महाराज विरक्त हो गए । उन्हाने राजकुमारों को राज्य का भार ग्रहण करने के लिए कहा । किन्तु वे भी प्रव्रजित होन के लिए तत्पर थे । अतएव उन्होंने राज्य भार ग्रहण नहीं किया।

अन्त में अन्य योग्य व्यक्ति को राज्यभार सौंप कर महाराजा और दोनों राजकुमार निर्ग्रन्थ हो गए। मुनिराज श्री अभयघोषजी ने दीक्षित होने के बाद उग्र तप एवं उच्च आराधना प्रारंभ कर दी। उन्होंने भावों की विशिष्टता से तीर्थङ्कर नामकर्म का बन्ध कर लिया और आयु पूर्ण कर तीनों पिता-पुत्र अच्युतकल्प में २२ सागरोपम की स्थिति वाले देव हुए।

इस जम्बूद्वीप के पूर्वमहाविदेह के पुष्कलावती विजय में पुंडरीकिनी नगरी थी। हेमांगद राजा राज करता था। वज्रमालिनी नामक महारानी उनकी हृदयेश्वरी थी। मुनिराज श्री अभयघोषजी का जीव, अच्युतकल्प से च्यव कर चौदह महास्वप्न पूर्वक महारानी वज्रमालिनी की कुक्षि में उत्पन्न हुआ। जन्म होने पर इन्द्रों ने उनका जन्मोत्सव किया। उनका नाम 'घनरथ' रखा गया। वे द्रव्य-तीर्थंकर अभी गृहवास में विद्यमान हैं। तुम विजय और वैजयंत के जीव देवलोक में च्यव कर चन्द्रतिलक सूर्यतिलक नाम के विद्याधर हुए हो।

"दोनों राजकुमार अपना पूर्वभव जान कर प्रसन्न हुए और मुनिवर को नमस्कार कर के अपने पूर्वजन्म के पिता (आप) को देखने के लिए भक्तिपूर्वक यहां आये। उन्होंने कौतुकपूर्वक इन मुर्गों में प्रवेश कर के युद्ध का आयोजन किया। यह आपके दर्शन के लिए किया है। यहाँ से मुनिश्री भोगवर्द्धनजी के पास जा कर दीक्षा लेंगे और कर्म क्षय कर मोक्ष जावेंगे।

उपरोक्त वृत्तांत सुन कर वे दोनों विद्याधर कुमार प्रकट हुए और अपने पूर्वभव के पिता महाराज घनरथजी को नमस्कार कर के अपने स्थान पर चले गये।

दोनों कुर्कुट ने भी उपरोक्त वृत्तांत सुना और विचार करने लगे। उन्हें जातिस्मरण ज्ञान हुआ। उन्होंने अपने पूर्वभव देखे और सोचने लगे कि;-

"अहो! यह संसार कितना भय और क्लेश से परिपूर्ण है। हमने मनुष्य-जन्म पा कर पापों के संग्रह में ही समाप्त कर दिया और पुनः मनुष्य-भव पाना भी दुर्लभ बना दिया।" उन्हें बहुत पश्चात्ताप हुआ। वे अपनी भाषा में घनरथ महाराज से कहने लगे;-

"हे देव! कृपया बताइये कि हम अपनी आत्मा का उद्धार किस प्रकार करें।"

द्रव्य तीर्थंकर महाराजा घनरथजी ने कहा -

"तुम अरिहंत देव, निर्ग्रन्थ गुरु और जिन प्ररूपित दयामय धर्म का शरण ग्रहण करो। इसी से तुम्हारा कल्याण होगा।"

महाराजा घनरथजी का वचन सुन कर वे संवेग को प्राप्त हुए। उनके मन में धर्मभाव उत्पन्न हुआ और उसकी समय अनशन कर लिया। वे मृत्यु पा कर भूतरत्ना नाम की अटवी में 'ताम्रचूल' और 'स्वर्णचूल' नाम के दो महर्द्धिक भूतनायक देव हुए। अवधिज्ञान से अपने पूर्वभव को देख कर वे अपने उपकारी महाराजा मेघरथजी के पास आये और भक्तिपूर्वक प्रणाम कर के कहने लगे;-

- "महाराज! आपकी कृपा से हम तिर्यंच की दुर्गति को छोड़ कर व्यन्तर देव हुए हैं। यदि आपकी

कृपा नहीं होती, तो हम पाप मे ही पडे रहते और प्रतिदिन हजारो कीडा का भक्षण कर के पाप का भार बढाते ही रहते और दुर्गति की परम्परा चलती रहती । आप हमारे परम उपकारी हैं । हमारी प्रार्थना है कि आप हमें कुछ सेवा करने का अवसर प्रदान करें । आप तो ज्ञान से सब जानते हैं, किन्तु हम पर अनुग्रह कर के विमान पर बैठ कर पृथ्वी के विविध दृश्यों का अवलोकन करें ।" युवराज मेघरथ ने उनकी प्रार्थना स्वीकार की और परिवार सहित विमान मे बैठ कर रवाना हुए । वे वन उपवन पर्वत, नदिया, समुद्र, नगर और सभी रमणीय स्थानो को देखते हुए मानुषोत्तर पर्वत तक गये । देवो ने उन्हें प्रत्येक क्षेत्र और स्थान का वर्णन कर के परिचय कराया । वे मनुष्य-क्षेत्र को देख कर अपनी पुडरीकिनी नगरी में लौट आए ।

कालान्तर में लोकान्तिक देवो ने आ कर महाराजा धनरथजी से निवेदन किया - "स्वामिन् ! अब धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करें ।" वे तो प्रथम से ही बोधित थे । योग्य अवसर भी आ गया था । अतएव महाराजा ने युवराज मेघरथ को राज्यभार सौंपा और राजकुमार दृढरथ को युवराज पद प्रदान कर वर्षीदान दिया और ससार त्याग कर घातिकर्मों को क्षय कर के केवलज्ञान केवलदर्शन प्राप्त किया तथा तीर्थ-स्थापन कर भव्य जीवों का उद्धार करने लगे ।

मेघरथ राजा का वृत्तांत

महाराजा मेघरथ, राज्य का सचालन करने लगे । अनेक राजा उनकी आज्ञा में थे । एक बार वे क्रीडा करने के लिए देवरमण उद्यान मे गये । वे महारानी प्रियमित्रा के साथ अशोकवृक्ष के नीचे बैठ कर मधुर सगीत सुनने लगे । उस समय उनके समाने हजारा भूत आ कर नृत्य, नाटक और सगीत करने लगे । कोई लम्बोदर बन कर अपना नगाडे जैसा मोटा पेट हिला कर अट्टहास करने लगा कोई दुबला-पतला कृशोदर हो कर मिमियाने लगा कोई ताडवृक्ष से भी अधिक लम्बतडग हो कर लम्बे-लम्बे डग भरने लगा किसी की भुजा बहुत लम्बी, तो किसी का सिर मटके से भी बढा, कोई गले में साँपों की माला पहने हुए, जिनकी फणें इधर-उधर उठी हुई लपलपा रही है । नेवला के भुजबन्ध अजगर का कन्दोरा पहन कर, बीभत्स रूप धारण कर के उछल कूद करने लगे । कोई घोडे के समान हिनहिनाने लगा, तो कोई हाथी-सा चिघाडने लगा, इत्यादि अनेक प्रकार के ताण्डव करने लगे । वे सभी महाराजा का मनोरजन करने लगे । इतने ही में आकाश में एक उत्तम विमान प्रकट हुआ, जिसमें एक पुरुष और एक युवती स्त्री बैठी थी । वे दोनो कामदेव और रति के समान सुन्दर थे । उन्ह देख कर महारानी ने महाराजा से पूछा - 'इस विमान में यह युगल कौन है ?' महाराज कहने लग-

"वैताढ्य पर्वत की उत्तरश्रेणी में अलका नाम की उत्तम नगरी है । यहाँ विद्याधरपति विद्युद्रथ शासक है । मानसवेगा उसकी रानी हैं । उसके 'सिहरथ' नाम का पराक्रमी पुत्र हुआ । उस राजकुमार के वेगवती युवराज्ञी है । युवराज सिहरथ प्रिया के साथ जलाशयों, उपवनों और उद्याना में क्रीडा करने

लगा । कालान्तर में विद्युद्रथ राजा, युवराज को राज्यभार दे कर सर्व त्यागी निर्ग्रन्थ बन गया और ज्ञान, ध्यान, तप और समाधि से समवहत हो, कर्म काट कर मुक्ति को प्राप्त हुए । सिंहरथ की नींद खुल जाने पर विचार हुआ - 'मैंने अपना अमूल्य मानव-भव यों ही गँवा दिया । मैंने न तो जिनेश्वर भगवत के दर्शन किये, न उनका धर्मोपदेश सुना । अब मुझे सब से पहले यही करना चाहिए ।' ऐसा सोचकर प्रातःकाल होते ही तय्यारी कर दी और महारानी सहित धातकी-खंड द्वीप के पश्चिम विदेह में सूत्र नाम के विजय में खड्गपुर नगर में गया और वहाँ रहे हुए तीर्थंकर भगवान् अमितवाहन स्वामी के दर्शन किये । धर्मदेशना सुनी और भगवान् को वन्दन नमस्कार कर वापिस लौटा । वह अपनी राजधानी में जा ही रहा था कि यहाँ आते उसके विमान की गति स्खलित हो गई । अपने विमान् की गति रुकते देख कर उसने नीचे देखा । मैं उसकी दृष्टि में आया । मुझे देख कर वह क्रोधित हुआ और मुझे उठा कर ले जाने की इच्छा से यहाँ मेरे पास आया । मैंने अपने बायें हाथ से उसके बायें हाथ पर प्रहार किया । इससे वह चिल्लाने लगा । अपने पति को कष्ट में देख कर उसकी पत्नी परिवार सहित मेरी शरण में आई । इसलिए मैंने उसे छोड़ दिया । छुटने के बाद वह विविध रूपों की विकुर्वणा करके यहाँ संगीत करने लगा ।"

यह सुन कर महारानी प्रियमित्रा ने पूछा - "प्रियतम ! यह पूर्वभव में कौन था ? इसने कौनसी शुभ करणी की थी कि जिससे इतनी बड़ी ऋद्धि प्राप्त हुई ?" महाराजा ने कहा -

"पुष्करार्द्ध द्वीप के पूर्व-भरत क्षेत्र में संघपुर नाम का एक बड़ा नगर था । वहाँ राज्यगुप्त नाम का एक गरीब कुलपुत्र रहता था । वह दूसरों की मजदूरी कर के पेट भरता था । उसके शंखिका नाम की पतिभक्ता पत्नी थी । वे दोनों मजदूरी कर के आजीविका चलाते थे । एक बार वे दोनों पति-पत्नी फल लेने के लिए वन में गये । वहाँ उन्हें मुनिराज सर्वगुप्तजी धर्मोपदेश देते हुए दिखाई दिये । वे भी धर्मसभा में बैठ गए और उपदेश सुनने लगे । उपदेश पूर्ण होने के बाद उन्होंने मुनिराज से निवेदन किया कि - "हम गरीब हैं । हमें ऐसी तप-विधि बताइए कि जिससे हमारे पाप-कर्मों का विच्छेद हो । " मुनिराज ने उन्हें सम्यग् तप का उपदेश दिया । वे घर आ कर तप करने लगे । तप के पारणे के दिन वे किसी उत्तम त्यागी संत की प्रतीक्षा करने लगे । इतने में मुनिवर धृतिधरजी भिक्षार्थी के लिए पधारे । उन्होंने उन्हें भावपूर्वक प्रतिलाभित किये । कालान्तर में श्रीसर्वगुप्त मुनिराज वहाँ पधारे । प्रतिबोध पा कर दोनों ने श्रमणदीक्षा स्वीकार कर ली । राजगुप्त मुनि ने गुरु की आज्ञा से आयंबिल वर्द्धमान तप किया और अन्त में अनशन करके ब्रह्मदेवलोक में गए। वहा से च्यव कर यह सिंहरथ हुआ और शंखिका भी संयम तप की आराधना कर के ब्रह्मलोक में देव हुई । वहाँ से च्यव कर यह सिंहरथ की पत्नी हुई । अब यहाँ से अपने नगर में जायेंगे और पुत्र को राज्यभार सौंप कर मेरे पिताश्री के पास दीक्षा लेंगे । फिर चारित्र की विशुद्ध आराधना कर के मोक्ष प्राप्त करेंगे ।

उपरोक्त वचन सुन कर महाराजा सिंहरथजी ने महाराजा मेघरथजी को नमस्कार किया और

राजधानी में आ कर पुत्र को राज्य का भार दिया । फिर भगवान् धनरथजी के पास प्रव्रजित हो कर सिद्धपद को प्राप्त हुए ।

यह सब बात देवरमण उद्यान मे होती रही । इसके बाद महाराजा मेघरथजी उद्यान म से चल कर राजभवन में आये ।

कबूतर की रक्षा में शरीर-दान

एक दिन महापराक्रमी दयासिन्धु महाराजा मेघरथजी पौषधशाला में पौषध अगीकार कर के बैठे थे और जिनप्ररूपित धर्म का व्याख्यान कर रहे थे । उस समय एक भयभीत कबूतर आ कर उनकी गोद मे बैठ गया । वह बहुत ही घबडाया हुआ था और काँप रहा था । उसका हृदय जोर-जोर से धडक रहा था । वह मनुष्यो की बोली में करुणा पूर्ण स्वर से बोला -"**मुझे अभयदान दो, मुझे बचाओ,**" इससे आगे वह नहीं बोल सका । यह सुन कर नरेश ने कहा -"**तू निर्भय होजा । यहा तुझे किसी प्रकार का भय नहीं होगा ।**" इस शब्दो ने कबूतर के मन में शान्ति उत्पन्न कर दी । वह पिता के समान रक्षक नरेश की गोद म एक बालक के समान बैठा रहा । क्षणभर बाद ही एक बाज पक्षी आया और कबूतर को राजा की गोद में बैठा देख कर मानव भाषा मे बोला -

"महाराज ! इस कबूतर को छोड दीजिए । यह मेरा भक्ष्य है । मैं इसे ही खोजता हुआ आ रहा हूँ ।"

"अरे बाज ! अब यह कबूतर तुझे नहीं मिल सकता । यह मेरी शरण में है । क्षत्रिय-पुत्र शरणागत की रक्षा एव प्रतिपालना करते हैं । तुझे भी ऐसा निन्दनीय कृत्य नहीं करना चाहिए । किसी प्राणी का भक्षण करना कभी हितकर नहीं होता । क्षणिक सुख में लुब्ध हो कर तू मास-भक्षण करता है, किन्तु यह क्षणिक सुख, भवान्तर में हजारा-लाखो वर्षों पल्योपमा और साग्रोपमों तक नरक के भीषण दु ख का कारण बन जाता है । क्षणिक सुख के लिए निरपराध - अशक्त प्राणियो के प्राण हरण कर के दीर्घकालीन महादु ख का महाभार बढाना मूर्खता है । जैसे तुझे दु ख अप्रिय है, वैसे ही इस कबूतर को भी दु ख अप्रिय है । यदि तेरा एक पख उखाड लिया जाय, तो तुझे कितना कष्ट होगा ? तब विचार इस कबूतर का जीवन ही समाप्त करने पर इसे दु ख नहीं होगा क्या ? तू बुद्धिमान है । तुझे विचार करना चाहिए कि पूर्वभव में किये हुए पाप के कारण तो तू देव और मनुष्य जैसी उत्तम गति से वचित रह कर तिर्यंच की अशुभ गति पाया और अब भी पापकर्म करता रहेगा, तो भविष्य में तेरा क्या होगा? सोच, समझ और दुष्कर्म का त्याग कर अपने शेष जीवन को सुधार ले ।

यदि तुझे क्षुधा मिटाना है, तो दूसरा निर्दोष भोजन तुझे मिल सकता है । पित्ताग्नि का दूध से भी शमन होता है और मिश्री आदि से भी । इसलिए तुझे निर्दयता छोड़ कर अहिंसक वृत्ति अपनानी चाहिए" - महाराजा मेघरथजी ने बाज को समझाते हुए कहा ।

"महाराज ! आप विचार करें" – बाज राजा को सम्बोधन कर कहने लगा – "जिस प्रकार यह कबूतर मृत्यु के भय से बचने के लिए आपके पास आया, उसी प्रकार मैं भी क्षुधा से पीड़ित हो कर इसे खाने के लिए आया हूँ । यदि मैं इसे नहीं खाऊँ, तो किसे खाऊँ ? अपने जीवन को कैसे बचाऊँ? आप कबूतर की रक्षा करते हैं, तो मेरी भी रक्षा कीजिए । मुझे भूख से तड़पते हुए मरने से बचाइए। प्राणी जब तक भूखा रहता है, तब तक वह धर्म-पुण्य का विचार नहीं कर सकता । क्षुधा शांत होने पर ही धर्मकर्म का विचार होता है । इसलिए धर्माधर्म की बातें छोड़ कर मेरा भक्ष्य – यह कबूतर मुझे दीजिए । मैं क्षुधा मिटाने के बाद आपका धर्मोपदेश अवश्य सुनूँगा । आप एक की रक्षा करते हैं और दूसरे को भूख से मरने का उपदेश करते हैं यह कैसा न्याय है ? यह कबूतर मेरा भक्ष्य है । मैं ताजा मास ही खाता हूँ । इसीसे मेरी तृप्ति होती है । दूसरी कोई वस्तु मुझे रुचि कर नहीं होती । इसलिए निवेदन है कि यह कबूतर मुझे सौंप कर मुझ पर उपकार कीजिए ।"

"क्या तू मास ही खाता है ? दूसरा कुछ भी नहीं खा सकता ? यदि ऐसा ही है, तो ले, मैं तेरी इच्छा पूरी करने को तत्पर हूँ । मैं मेरे शरीर का ताजा मास इस कबूतर के बराबर तुझे देता हू । तू अपनी इच्छा पूरी कर" – महाराजा मेघरथजी ने धैर्य और शातिपूर्वक कहा ।

बाज ने नरेश की बात स्वीकार कर ली । छुरी और तराजु मँगवाया । तराजु के एक पल्ले में कपोत को बिठाया और महाराज स्वय अपने शरीर का मास काट कर दूसरे पल्ले में रखने लगे । यह देख राज्य-परिवार हाहाकार कर उठा । रानियाँ, राजकुमार आदि आक्रन्द करने लगे । मन्त्रीगण, सामन्त और मित्रगण नरेश से प्रार्थना करने लगे, –

"हे, प्रभो ! हे नाथ ! आप यह क्या अनर्थ कर रहे हैं । आपका यह देवोपम शरीर, एक क्षुद्र प्राणी का ही रक्षक नहीं है, इससे तो सारी पृथ्वी का रक्षण होता है । आप इस एक के लिए अपने मूल्यवान् प्राणों को क्यो नष्ट कर रहे हैं ? सोचो प्रभु ! हम सब के दु ख को देखो । हम पर दया करो । हम भी आप से दया की भीख माँगते हैं । हमें आपके इस दु साहस से महान् दु ख हो रहा है ।"

नरेश ने शात और गभीर वाणी से कहा –

"आत्मीयजनो ! यह कबूतर मृत्युभय से भयभीत हो कर मेरी शरण में आया । मैंने इसे शरण दी । इसकी रक्षा करना मेरा आवश्यक कर्तव्य है । यद्यपि मैं इस बाज की उपेक्षा कर के या बन्दी बना कर भी कबूतर को बचा सकता था, किन्तु यह भी भूखा है और अपना भोजन चाहता है । यदि यह केवल वैर या शत्रुता से ही इसे मारने के लिए आता, तो वह बात दूसरी थी । यह मासभक्षी है । इसे मास चाहिए । यदि मैं कबूतर की रक्षा करना चाहता हू, तो इसकी भूख को दूर करना भी आवश्यक है । यह मास के बिना दूसरी कोई वस्तु नहीं खाता । अब इसे भूख से तड़पने देना भी मुझे इष्ट नहीं है । इसके अतिरिक्त इसका पेट भरने के लिए मैं दूसरे पशु को मार कर उसका मास खिलाना भी उचित नहीं समझता, तब दूसरा मार्ग ही क्या है ?

आप सब अपने मोह एव स्नेह से प्रेरित हैं और इसीसे आपको यह दु ख हो रहा है । मैं अपने कर्त्तव्य का पालन कर रहा हू । आप धैयपूर्वक मुझे अपने कर्त्तव्य का पालन करने द ।"

मन्त्रीगण समझ गये कि महाराज अपने कर्त्तव्य से डिगने वाले नहीं हैं । अब क्या करें । वे यह सोच ही रहे थे कि बाज बोल उठा,-

"महाराज ! मेरे पेट मे दर्द हो रहा है । शीघ्रता कीजिए । मुझे जोरदार भूख लगी है । विलम्ब होने पर तेज हुई मेरी जठराग्नि, कहीं मेरे जीवन को समाप्त कर देगी । आह !"

मन्त्रीगण बाज को समझाने लगे – "अरे बाज ! तू तो कुछ दया कर – हम सब पर । हम तुझे मेवा-मिष्ठान्न आदि जो कुछ तू माँगे वह देने को तैयार हैं । तू उत्तम वस्तु खा ले – उम्रभर खाता रह । परन्तु महाराज का मास खाने की हठ छोड दे । हम सब पर तेरा बडा उपकार होगा ।"

"मुझे तो ताजा मास चाहिए, फिर चाहे वह कबूतर का हो, दूसरे किसी प्राणी को हो या महाराज का हो । मास के अतिरिक्त मेरे लिए कोई भी वस्तु न तो रुचिकर है, न अनुकूल ही । अब आप बातें करना बन्द कर दें । भूख की ज्वाला में मेरा रक्त जल रहा है । आह, महाराज ! बडा दर्द हो रहा है पेट में" – बाज भूमि पर लौटने लगा ।

महाराजा मेघरथजी अपने हाथ से अपने शरीर का माँस काट कर तराजु में धरते जाते किन्तु तराजु का पलड़ा ऊँचा ही रहने लगा । कबूतर का पलडा ऊपर उठा ही नहीं । वे छुरे से अपना मास काट कर रखते जाते और जनसमूह आक्रन्द करता जाता, परन्तु कबूतर का पलडा भारी ही रहा । शरीर के कई भागो का मास काट-काट कर रख दिया । इससे महाराजा को तीव्र वेदना हुई ही होगी, किन्तु वे निरुत्साह नहीं हुए । उनके भावो में विचलितता नहीं आई । एक मन्त्री बोल उठा –

"महाराज ! धोखा है । कोई मायावी शत्रु देव, षड्यन्त्र रच कर आपका जीवन समाप्त करना चाहता है । यदि ऐसा नहीं होता तो क्या इतना मास काट कर रख देने पर भी कबूतर का पलडा भारी रह सकता है ?"

मन्त्री यो कह रहा था कि वहाँ एक दिव्य मुकुट-कुडलादि आभूषणधारी देव प्रकट हुआ और महाराज का जय-जयकार करता हुआ बोला –

"जय हो, शरणागत-रक्षक महामानव नरेन्द्र मेघरथ की जय हो विजय हो । आपकी गुणगाथा दक्षाधिपति ईशानेन्द्र महाराज ने दूसरे देवलोक की देव-सभा में गाई । आप देवेन्द्र द्वारा प्रशसित हैं । मैं भी उस देव-सभा म था । मुझे आपकी प्रशसा सुन कर देवेन्द्र की बात पर विश्वास नहीं हुआ । इसलिए परीक्षा करने के लिए यहाँ आया । मार्ग में मैने इन दोनों पक्षियों को लडते हुए देखा तो मैं उनमें प्रवेश कर आपके पास आया और आपकी महान् अनुकम्पा, शरणागत प्रतिपालकता एव दृढ आत्मबल की परीक्षा की । इससे आपको कष्ट हुआ । मैं आपसे क्षमा चाहता हूँ । आप मुझे क्षमा करें ।"

इस प्रकार देव ने निवेदन किया और राजेन्द्र को स्वस्थ बना कर स्वर्ग में चला गया।

देव के चले जाने के बाद सामंतो ने महाराजा से पूछा -''स्वामिन् ! यह कबूतर और बाज परस्पर वैर क्यों रख रहे हैं ? ये पूर्वभव में कौन थे?'' महाराजा मेघरथ, अवधिज्ञान से उनका पूर्वभव जान कर कहने लगे ।

''ये दोनों ऐरवत क्षेत्र के पद्मिनीखंड नगर के सेठ सागरदत्त के पुत्र थे । ये व्यापारार्थ विदेश गये। विदेश में इन्हें एक बहुमूल्य रत्न प्राप्त हुआ । उस रत्न को लेने के लिए ये नदी के किनारे लड़ने लगे। लडते-लडते वे दोनों नदी मे गिर पडे और मर कर पक्षी हुए। अब भी दोनों आपस में लड रहे हैं । अब उस देव का वृत्तांत सुनो ।

इस जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह में रमणीय नाम का विजय है । उसमे शुभा नाम की नगरी है । स्तिमितसागर नाम का राजा वहाँ राज करता था । मैं पूर्व के पाँचवें भव में 'अपराजित' नाम का उनका पुत्र था और बलदेव पद पर अधिष्ठित था । यह दृढरथ उस समय मेरा छोटा भाई 'अनन्तवीर्य' नाम का वासुदेव था । उस समय दमितारि नाम का प्रतिवासुदेव था । उसकी कनकश्री कन्या के लिए हमने उसे युद्ध में मार डाला था । वह भव भ्रमण करता हुआ सोमप्रभ नामक तापस का पुत्र हुआ । वह बाल-तप करता रहा और मर कर सुरूप नाम का देव हुआ । ईशानेन्द्र ने मेरी प्रशसा की । उस प्रशसा ने सुरूप देव की आत्मा में रहा हुआ पूर्वभव का वैर जाग्रत कर दिया । वह देव यहाँ आया और इन पक्षियों में अधिष्ठित हो कर मेरी परीक्षा लेने लगा ।''

महाराजा मेघरथ की बात सुन कर बाज और कबूतर को जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ। वे मूर्च्छित हो कर भूमि पर गिर पडे । राज-सेवकों ने उन पर हवा की और पानी के छींटे दिये । वे होश में आये और अपनी भाषा मं बोले;-

''स्वामिन् ! आपने हमें अन्धकार में से निकाला और प्रकाश में ला कर रख दिया। हमारे पूर्वभव के पाप ने ही हमें इस दुर्दशा में डाला था । और यहाँ भी हम नरक में जाने की तय्यारी कर रहे थे । किन्तु आपने हमें नरक की गहरी खाड़ म पड़ने से बचा लिया । अब हमें कुमार्ग से बचा कर सन्मार्ग पर लगाने की कृपा करें, जिससे हमारा उत्थान हो ।''

महाराजा ने अवधिज्ञान से उसका आयुष्य और योग्यता जान कर अनशन करने की सूचना की। वे दोनों अनशन करके मृत्यु पा कर भवनपति देव हुए ।

इन्द्रानियों ने परीक्षा ली

महाराजा मेघरथजी कालान्तर में शात रस में लीन हो कर पौषध युक्त अष्टम तप कर रहे थे । वे धर्मस्थान में निमग्न थे । उनकी परम वैराग्यमय दशा की ओर ईशानेन्द्र का ध्यान गया । वे तत्काल बोल उठे - ''हे भगवन् ! आपको मेरा नमस्कार हो''- यों कहते हुए नमस्कार करने लगे । यह देख कर इन्द्रानिया ने पूछा - ''स्वामिन् ! आपके सम्मुख असख्य देव नमस्कार करते हैं, फिर ऐसा कौन भाग्यशाली है कि जिन्हें आप नमस्कार कर रहे हैं ?''

-"वे महापुरुष कोई देव नहीं, किन्तु एक भाग्यशाली मनुष्य है । तिरछे लोक मे पुण्डकिनी नगरी के नरेश मेघरथजी को मैंने नमस्कार किया है । वे अभी धर्मध्यान में लीन हैं । ये महापुरुष आगामी मानव-भव मे तीर्थंकर पद प्राप्त करेंगे । उनका ध्यान इतना निश्चल, अडोल एव दृढ है कि उन्हे चलायमान करने में कोई भी देव समर्थ नहीं है । वे महापुरुष विश्वभर के लिए वदनीय हैं ।"

इन्द्र की बात सुन कर अन्य देवागनाओ के मन मे भी भक्ति उत्पन्न हुई, किन्तु सुरूपा और प्रतिरूपा नाम की दो इन्द्रानियो को यह बात नहीं रुचि । वे मेघरथजी को चलायमान करने के लिए उनके पास आई । उन्होंने वैक्रिय से परम सुन्दरी एव देवागना जैसी कुछ युवतियाँ तय्यार की । वे हाव-भाव, तथा कामोद्दीपक विकारी-चेष्टाएँ करने लगीं । किन्तु महान् आत्मा मेघरथजी अपने ध्यान मे अडोल ही रहे । अन्त में दोनों इन्द्रानियाँ हारी और वन्दना-नमस्कार कर के चली गई । कालान्तर में तीर्थंकर भगवान् धनरथजी ग्रामानुग्राम विहार करते वहाँ पधारे । महाराजा मेघरथजी सपरिवार भगवान् को वन्दन करने गए । भगवान् की धर्मदेशना सुन कर उनकी विरक्ति विशेष बलवती हुई । वे युवराज दृढरथ को शासन का भार सौंपने लगे, किन्तु वह भी ससार से विरक्त हो गया था । उसने भी उन के साथ ही प्रव्रजित होने की इच्छा व्यक्त की । छोटे राजकुमार मेघसेन को शासन का भार दिया और युवराज दृढरथ के पुत्र रथसेन को युवराज पद दिया । इसके बाद राजा मेघसेन ने, मेघरथ नरेश का निष्क्रमणोत्सव किया। श्री मेघरथजी के साथ उनके भाई दृढरथ, सात सौ पुत्र और चार हजार राजाओं ने भी निर्ग्रन्थ-प्रव्रज्या ग्रहण की । विशुद्ध सयम और उग्र तप करते हुए उन्हाने एक लाख पूर्व तक चारित्र का पालन किया तथा विशुद्ध भावो से आराधना करते हुए तीर्थंकर नामकर्म को निकाचित किया । वे अनशन युक्त आयु पूर्ण कर के सर्वार्थसिद्ध महाविमान मे ३३ सागरोपम की स्थिति वाले देव हुए । मुनिराज श्री दृढरथजी भी वहीं उत्पन्न हुए ।

भगवान् शान्तिनाथ का जन्म

इस जम्बूद्वीप के भरत-क्षेत्र मे कुरुदेश में हस्तिनापुर नाम का नगर था । वह विशाल नगर उच्च भवनों और ध्वजा-पताकाओ से सुशोभित था । सुशोभित बाजारों, बाग-बगीचों, उद्यानों और स्वच्छ जलाशयों की शोभा से दर्शनीय था और धन-धान्य से परिपूर्ण था ।

उस नगर पर इक्ष्वाकु वश के महाराजा 'विश्वसेनजी' का राज्य था । वे प्रतापी शूरवीर न्यायप्रिय और राजाओं के अनेक गुणो से युक्त थे । उनके प्रखर तेज के आगे अन्य राजा और शक्तिमान् ईर्षालु सामन्त दबे रहते और नत-मस्तक हो कर उनकी कृपा के इच्छुक रहते थे । उनके आश्रय मे आये हुए लोग निर्भय और सुखी रहते थे । महाराजा विश्वसेनजी के 'अचिरादेवी' नाम की रानी थी । वह रूप लावण्य एवं सुलक्षणों से युक्त तो थी ही साथ ही सद्गुणा की खान भी थी । वह सती शीलवती अपने उच्च राजवश को सुशोभित करती थी । महाराजा और महारानी में प्रगाढ प्रीति थी । उन दोना का समय

सुखपूर्वक व्यतीत हो रहा था । उस समय अनुत्तर विमानों में मुख्य ऐसे सर्वार्थसिद्ध महाविमान में मेघरथजी का जीव अपनी तेतीस सागरोपम की सुखमय आयु पूर्ण कर चुका था । वह वहाँ से भाद्रपद कृष्णा सप्तमी को भरणी नक्षत्र में च्यव कर महारानी अचिरादेवी की कुक्षि में उत्पन्न हुआ । महारानी ने चौदह महास्वप्न देखे । महारानी ने स्वप्नो की बात महाराजा से कही । स्वप्न सुन कर महाराज बड़े प्रसन्न हुए । उन्हाने कहा – 'महादेवी ! आपकी कुक्षि मे कोई लोकोत्तम महापुरुष आया है । वह त्रिलोक-पूज्य और परम रक्षक होगा ।' प्रात काल भविष्यवेत्ता – स्वप्न-शास्त्रियों को बुलाया गया। उन्होंने स्वप्न-फल बतलाते हुए कहा –

"महाराज ! आपके इक्ष्वाकु वश को पहले आदि जिनेश्वर और आदि चक्रवर्ती, आदि लोकोत्तम महापुरुषों ने सुशोभित किया । अब फिर कोई चक्रवर्ती सम्राट अथवा धर्म चक्रवर्ती – तीर्थंकर पद को सुशोभित करने वाली महान् आत्मा का पदार्पण हुआ है। आप महान् भाग्यशाली हैं – स्वामी !"

स्वप्न पाठको का सत्कार कर के और बहुत-सा धन दे कर विदा किया । उस समय पहले से ही कुरुदेश मे महामारी फैल रही थी । उग्र रूप से रोगातक फैल चुका था । उस व्यापक महामारी का शमन करने के लिए बहुत-से उपाय किये, किन्तु सभी उपाय व्यर्थ गये । महारानी अचिरादेवी की कुक्षि में आये गर्भस्थ उत्तम जीव के प्रभाव से महामारी एकदम शान्त हो गई । सर्वत्र ही शान्ति व्याप्त हो गई ।

गर्भ स्थिति पूर्ण होने पर ज्येष्ठ मास के कृष्णपक्ष की त्रयोदशी के दिन भरणी नक्षत्र में – जब सभी ग्रह उच्च स्थान पर थे, पुत्र का जन्म हुआ । उस समय तीनो लोक में उद्योत हुआ और नारकी जीवो को भी कुछ देर के लिए सुख का अनुभव हुआ । दिशाकुमारियें आई, इन्द्र आये और मेरुगिरि पर जन्मोत्सव किया । महाराजा विश्वसेनजी ने भी जन्मोत्सव मनाया । पुत्र के गर्भ में आते ही महामारी एकदम शात हो गई । इसलिए पुत्र का नाम 'शातिनाथ' दिया गया । यौवनवय प्राप्त होने पर राजकुमार शातिनाथ का अनेक राजकन्याओं के साथ विवाह किया । राजकुमार पच्चीस हजार वर्ष की वय में आये, तब महाराजा विश्वसेन जी ने राज्य का भार पुत्र को दे दिया और अपना आत्महित साधने लगे। श्री शातिनाथजी यथाविधि राज्य का सचालन करने लगे और निकाचित कर्मों के उदय से रानियो के साथ भोग भोगने लगे । सभी रानिया में अग्र स्थान पर महारानी यशोमती थी । उसने एक रात्रि मे स्वप्न में सूर्य के समान तेजस्वी ऐसे एक चक्र को आकाश से उतर कर मुख मे प्रवेश करते हुए देखा । दृढरथ मुनि का जीव, अनुत्तर विमान से च्यव कर उनकी कुक्षि में उत्पन्न हुआ । महारानी ने स्वप्न की बात स्वामी से निवेदन की । महाराजा शातिनाथजी अवधिज्ञान से युक्त थे । उन्हाने कहा, – 'देवी ! मेरे पूर्वभव का दृढरथ नाम का मेरा छोटा भाई सर्वार्थसिद्ध महाविमान से च्यव कर तुम्हारी कुक्षि में आया है ।' गर्भकाल पूर्ण होने पर पुत्र का जन्म हुआ । स्वप्न में चक्र देखा था, इसलिए पुत्र का नाम 'चक्रायुध' रखा । यौवन वय प्राप्त होने पर अनेक राजकुमारियों के साथ राजकुमार का विवाह किया ।

पॉचवें चक्रवर्ती सम्राट

न्याय एव नीतिपूर्वक राज्य का सचालन करते हुए महाराजा शातिनाथजी को पच्चीस हजार वर्ष व्यतीत होने पर, अस्त्रशाला में चक्ररत्न का प्रादुर्भाव हुआ । महाराजा ने चक्ररत्न का अठाई महोत्सव किया । इसके बाद एक हजार देवों सेअधिष्ठित चक्ररत्न, अस्त्रशाला से निकल कर पूर्व-दिशा की ओर चला । उसके पीछे महाराजा शातिनाथजी सेना सहित दिग्विजय करने के लिए रवाना हुए । समुद्र के किनारे सेना का पडाव डाला गया । महाराजा मागध-तीर्थ की दिशा की ओर मुँह कर के सिहासन पर बैठे । मागधदेव का आसन चलायमान हुआ । अवधिज्ञान से देव ने महाराजा को देखा और भावी चक्रवर्ती तथा धर्मचक्रवर्ती जान कर हर्षयुक्त, बहुमूल्य भेट ले कर सेवा मे उपस्थित हुआ और प्रणाम कर भेट अर्पण करता हुआ बोला;- "प्रभो ! मैं मागधदेव हूँ । आपने मुझ पर कृपा की । मैं आपका आज्ञाकारी हूँ और पूर्व दिशा का दिग्पाल हू । मैं आपकी आज्ञा का पालन करता रहूँगा ।" महाराजा शातिनाथजी ने देव की भेट स्वीकार की और योग्य सत्कार कर के बिदा किया । वहाँ से चक्ररत्न - दक्षिण-दिशा की ओर गया । वहा वरदाम तीर्थ के देव ने भी उस प्रकार आज्ञा शिरोधार्य की । उसी प्रकार पश्चिम-दिशा का प्रभास तीर्थपति देव भी आज्ञाधीन हुआ। इस प्रकार चक्रवर्ती परम्परानुसार दिग्विजय करते हुए और किरातो के उपद्रव का सेनापति द्वारा युद्ध से पराभव करते और आज्ञाकारी बनाते हुए सम्पूर्ण छह खड की साधना की । दिग्विजय का कार्य आठ सौ वर्षों में पूर्ण कर के महाराजा हस्तिनापुर पधारे । आपको चौदह रत्न और नवनिधान की प्राप्ति हुई । देवों और राजाओ ने महाराजा का चक्रवर्तीपन का उत्सव किया और महाराज शातिनाथजी को इस अवसर्पिणी काल के पाँचवें चक्रवर्ती घोषित किया । इसके बाद आठ सौ वर्ष कम पच्चीस हजार वर्ष तक आपने चक्रवर्ती पद का पालन किया ।

अब चक्रवर्ती सम्राट श्री शातिनाथजी के ससार त्याग का समय निकट आ रहा था । लोकान्तिक देव आपकी सेवा में उपस्थित हो कर अपने कल्प के अनुसार निवेदन करने लगे,- "हे भगवन् ! अब धर्मतीर्थ का प्रवर्त्तन करिये," इतना कह कर और प्रणाम कर के वे चले गए । इसके बाद प्रभु ने वर्षीदान दिया और पुत्र राजकुमार चक्रायुद्ध को राज्य का भार सौंप कर प्रव्रजित होने के लिए तत्पर हो गए । इन्द्रादि देवों और महाराजा चक्रायुद्ध आदि मनुष्यों ने दीक्षा-महोत्सव किया और ज्येष्ठ-कृष्णा चतुर्दशी के दिन भरणी नक्षत्र मे दिन के अन्तिम प्रहर में बेले के तप से एक हजार राजाओं के साथ, सिद्ध को नमस्कर कर के प्रव्रज्या ग्रहण की । उसी समय भगवान् को मन पर्यवज्ञान उत्पन्न हुआ ।

महर्षि शातिनाथजी ग्रामानुग्राम विहार करते हुए एक वर्ष के बाद हस्तिनापुर पधारे और सहसाम्र वन उद्यान में ठहरे । वहाँ नन्दी वृक्ष के नीचे बेले के तप से प्रभु शुक्ल ध्यान मे लीन थे । पौष मास क शुक्लपक्ष की नौमी का दिन था । चन्द्र भरणी नक्षत्र में आया था कि भगवान् के अनादिकाल से लगे

आये घाती-कर्म सर्वथा नष्ट हो गए और प्रभु को केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त हो गया । प्रभु सर्वज्ञ-सर्वदर्शी हो गए । इन्द्रा ने प्रभु का केवल महोत्सव किया । समवसरण की रचना हुई । भगवान् ने धर्मदेशना दी । यथा -

धर्मदेशना - इन्द्रिय-जय

जीवों के लिए अनेक प्रकार के दु खो का मूल कारण यह चतुर्गति रूप ससार है । जिस प्रकार विशाल भवन के लिए स्तभ आधारभूत होते हैं, उसी प्रकार क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषाय रूपी चार स्तभ भी चतुर्गति रूप ससार के आधार के समान हैं । मूल सूख जाने पर वृक्ष अपने-आप सूख जाता है, उसी प्रकार कषायो के क्षीण होते ही ससार अपने-आप क्षीण हो जाता है । किन्तु इन्द्रियों पर अधिकार किये बिना कषायो का क्षय होना अशक्य है । जिस प्रकार सोने का शुद्धिकरण, बिना प्रज्वलित अग्नि के नहीं हो सकता उसी प्रकार इन्द्रिय-दमन के बिना कषायो का क्षय नहीं हो सकता।

इन्द्रिय रूपी चपल एव दुर्दान्त अश्व, प्राणी को बलपूर्वक खींच कर नरक की ओर ले जाता है। इन्द्रियो के वश मे पड़ा हुआ प्राणी, कषायों से भी हार जाता है । ये इन्द्रियाँ, प्राणी को वश में कर के उनका पतन, बन्धन, वध और घात करवा देती है । इन्द्रियों के आधीन बना हुआ ऐसा कौन पुरुष है जो दु ख परम्परा से बच गया हो ?

बहुत से शास्त्रों और शास्त्र के अर्थों को जानने वाला भी इन्द्रियों के वश हो कर बालक के समान चेष्टा करता है । यह कितनी लज्जा की बात है कि इन्द्रिय के वश हो कर भरत महाराज ने अपने भाई बाहुबली पर चक्र चलाया । बाहुबली की जीत और भरतजी की पराजय में भी इन्द्रिया का ही प्राबल्य था । अरे, जो चरम-भव में रहे हुए हैं, जिनका यह भव ही अन्तिम है और जो इसी भव में केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त कर मुक्त होने वाले हैं, वे भी शस्त्रास्त्र ले कर युद्ध करें । क्या यह इन्द्रियो की दुरन्त महिमा नहीं है ?

प्रचण्ड शक्तिशाली इन्द्रियो से पशु और सामान्य मनुष्य दण्डित हो जाय, तो यह फिर भी समझ में आ सकता है, किन्तु जो महान् आत्मा, मोह को दबा कर शात कर देते हैं (उपशात-मोह वीतराग भी बाद में) और जो पूर्वों के श्रुत के पाठी हैं, वे भी इन्द्रियों से पराजित हो जाते हैं, तब दूसरो का तो कहना ही क्या ? यह आश्चर्यजनक बात है । इन्द्रियों के वश में पड़े हुए देव-दानव मनुष्य और तपस्वी भी निन्दित कर्म करते हैं । यह कितने खेद की बात है ?

इन्द्रियो के वश हो कर ही तो मनुष्य अभक्ष्य भक्षण, अपेय पान और अगम्य के साथ गमन करता है । निर्दय इन्द्रियों द्वारा घायल हुए जीव, अपने उत्तम कुल और सदाचार से भ्रष्ट हो कर वेश्याओ का दासत्व करते हैं । उनके नीच काम करते हैं । मोह मे अन्धे बने हुए पुरुषों की परद्रव्य और परस्त्री में जो प्रवृति होती है, वह जाग्रत इन्द्रियों का विलास है, अर्थात् इन्द्रियाँ जाग्रत हो कर तभी विलास

कर सकती है, जब कि मनुष्य मोह में अन्धा बन जाता है । ऐसे दुराचार के कारण मनुष्य के हाथ पाँव तथा इन्द्रियों का छेद किया जाता है और मृत्यु को भी पाप्त हो जाता है ।

समझदार लोग उन्ह देख कर हँसते हैं - जो दूसरों को तो विनय, सदाचार, धर्म और सयम का उपदेश करते हैं, किन्तु स्वय इन्द्रियों से पराजित हो चुके हैं । एक वीतराग भगवत के बिना इन्द्र से ले कर एक कीडे तक सभी प्राणी इन्द्रियों से हारे हुए हैं ।

हथिनी के स्पर्श से उत्पन्न सुख का आस्वादन करने की इच्छा से, हाथी अपनी सूँड को फैलाता हुआ धँसता है और बन्धन में पड जाता है । अगाध जल में विचरण करने वाले मत्स्य, धीवर के द्वारा काँटे में लगाये हुए मास मे लुब्ध हो कर फँस जाते हैं और अपने प्राण गँवा देते हैं । मस्त गजेन्द्र के गडस्थल पर रहे हुए मद के गन्ध पर आसक्त, भ्रमर गजेन्द्र के कर्णताल के आघात से तत्काल मृत्यु को प्राप्त करता है । स्वर्ण-शिखा जैसी दीपज्वाला के दर्शन से मोहित हो कर पतगा, दीपक पर झपट कर जल मरता है । मनोहर गायन सुनने मे लुब्ध हुआ हिरन, शिकारी के बाण से घायल हो कर जीवन से हाथ धो बैठता है । इस प्रकार एक-एक इन्द्रिय के विषय में लुब्ध बनने से मृत्यु को प्राप्त होना पडता है, तो एक साथ पाँचों इन्द्रियो के वश में हो जाने वाले का तो कहना ही क्या ? इसलिए बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिए कि मन को विषय के विष से मुक्त रख कर इन्द्रियों का दमन करना चाहिए । बिना इन्द्रिय-दमन के यम-नियम और तपस्या के द्वारा शरीर को कृश करना व्यर्थ ही है । जो इन्द्रियों के समूह को नहीं जीतता, उसका प्रतिबोध पाना कठिन है । इसलिए समस्त दु खो से मुक्त होने के लिए इन्द्रियो का दमन करना चाहिए ।

इन्द्रिय जय करन का मतलब यह नहीं कि इन्द्रियों की सभी प्रवृत्ति को सर्वथा बन्द कर देना। ऐसा करने से इन्द्रियो का जय नहीं होता । अतएव इन्द्रिय की स्वाभाविक प्रवृत्ति में होने वाले राग-द्वेष से मुक्त रहना चाहिए । इससे इन्द्रियो की प्रवृत्ति भी उनके जय के लिए होती है । ऐसी स्थिति में इन्द्रियों के पास, उनके विषय रहते हुए भी स्पर्श करना अशक्य हो जाता है । बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिए कि इन्द्रियों के विषय में राग-द्वेष का त्याग कर दे ।

सयमी योगिया की इन्द्रिये सदा पराजित एव दबी हुई ही रहती है । इन्द्रियो के विषय नष्ट हो जाने से आत्मा का हित नहीं मारा जाता बल्कि अहित मारा जाता है । इन्द्रियो को जीतने का परिणाम मोक्ष रूप होता है और इन्द्रियो के वश में होना ससार के लिए है । इन्द्रियो के विषय और इनके वश में पडने से होने वाले परिणाम का विचार कर के उचित एव हितकारी मार्ग को ग्रहण करना चाहिए। रुई, मक्खन आदि कोमल और पत्थर आदि कठोर स्पर्श मे जो प्रीति और अप्रीति होती है वह हेय है । ऐसा सोच कर रागद्वेष का निवारण कर के स्पर्शनेन्द्रिय को जीतना चाहिए । भक्ष्य पदार्थों के स्वादिष्ट रस और कटु रस में रुचि और अरुचि का त्याग कर के रसना इन्द्रिय को जीतना चाहिए । घ्राणेन्द्रिय में सुगन्ध और दुर्गन्ध प्रवेश होते वस्तु के परिणाम का विचार कर के राग-द्वेष रहित होना । मनोहर

सुन्दर रूप अथवा कुरूप को देख कर, होते हुए हर्ष और विषाद को रोक कर चक्षु इन्द्रिय को जीतना चाहिए । वीणादि के मधुर स्वर में और गधे आदि के कर्ण-कटु स्वर में, रति-अरति नहीं करने से श्रोत्रेन्द्रिय वश में होती है ।

इन्द्रियो का ऐसा कोई अच्छा या बुरा विषय नहीं है - जिसका जीव ने अनेक बार उपभोग नहीं किया हो । जीव सभी विषयो का पहले अनेक बार भोग कर चुका और भोग कर दु खी हुआ, तो अब इनकी अधीनता त्याग कर स्वाधीनतापूर्वक वीतराग भाव का सेवन क्यों नहीं किया जाय ? शुभ विषय, कभी अशुभ हो जाते हैं और अशुभ विषय शुभ हो जाते हैं, फिर राग और द्वेष किस पर करना ?

भले ही कोई विषय रुचिकर लगे या अरुचिकर, किन्तु तात्त्विक दृष्टि से देखने पर पदार्थों में कभी शुभत्व अथवा अशुभत्व नहीं होता ● । इसलिए जो प्राणी मन को शुद्ध रख कर इन्द्रियों को जीतता है और कषायों को क्षीण करता है, वह स्वल्पकाल में ही अक्षीण सुख के स्थान ऐसे मोक्ष को प्राप्त कर लेता है ।"

महाराजा चक्रायुध, अपने पुत्र कुरुचन्द्र को राज्य दे कर अन्य पैंतीस राजाओं के साथ दीक्षित हुए । इस देशना के बाद भगवान् के चक्रायुध आदि ९० गणधर हुए और भी बहुत से नर-नारी दीक्षित हुए । बहुतों ने श्रावक व्रत ग्रहण किये और बहुत-से सम्यग्दृष्टि हुए।

महाराजा कुरुचन्द्र का पूर्वभव

कालान्तर में भगवान् विचरते हुए पुन हस्तिनापुर पधारे । महाराजा कुरुचन्द्र प्रभु के दर्शनार्थ आये । धर्मदेशना सुनने के बाद महाराजा ने जिनेश्वर भगवान् से पूछा;-

" भगवन् ! मैं पूर्वभव के किस पुण्य के उदय से यहाँ राजा हुआ ? यह किस कर्म का फल है कि मुझे प्रतिदिन पाँच वस्त्र और फल आदि भेंट स्वरूप प्राप्त होते हैं और मैं इन वस्तुओं का उपभोग नहीं कर के अन्य प्रियजनों को देने के लिए रख छोड़ता हूँ, परन्तु दूसरों को दे भी नहीं सकता ? यह किस कर्म का उदय है - प्रभो !"

भगवान् ने फरमाया - "कुरुचन्द्र !, पूर्वभव मे किये हुए मुनि-दान का फल यह राज्य - लक्ष्मी है । नित्य पाँच वस्तु की भेंट भी इसी का परिणाम है, किन्तु तुम इसका

● जो पदार्थ लोक दृष्टि से शुभ माने जाते हैं, वे ही परिस्थिति विशेष में अशुभ माने जाते हैं । विवाहोत्सव के समय मंगलगान वादित्र और कुंकुमादि शुभ माने जाते हैं, किन्तु मृत्यु प्रसंग पर ये ही वस्तुएँ अप्रिय एवं त्याज्य होती हैं । स्वस्थ और बलवान् मनुष्य के लिए पौष्टिक मिष्टान्न शुभ और चिरायता तथा कुनैन अशुभ होता है किन्तु ज्वर पीड़ित के लिए चिरायता और कुनैन शुभ और गरिष्ट भोजन अशुभ हो जाता है । तीर्थस्थल का जल पवित्र माना जाता है किन्तु वही जल अस्पृश्य स्थल में अस्पृश्य समझा जाता है । पर्याय परिवर्तन से शुभ वस्तु स्वयं अशुभ बन जाती है और अशुभ शुभ के रूप में आ जाती है । अतएव तात्त्विक दृष्टि से शुभत्व नहीं है ।

उपभोग नहीं करते - यह साधारण पुण्य का फल है । जो वस्तु बहुतजनों के उपभोग के योग्य हो, उसका एक व्यक्ति से भोग नहीं हो सकता । इसीसे तुझे विचार होता रहता है कि 'मैं यह वस्तु दूसरो को दूँगा ।' अब तुम अपना पूर्वभव सुनो ।''

इसी जम्बूद्वीप के भरत-क्षेत्र में, कोशल देश के श्रीपुर नगर में चार वणिक-पुत्र रहते थे । उनके नाम थे -सुधन, धनपति, धनद और धनेश्वर । चारो में गाढ मैत्री-भाव था। एक बार चारों मित्र धनोपार्जन के लिए रत्नद्वीप की ओर चले । उनके साथ 'द्रोण' नाम का एक सेवक था। वह भोजन सामग्री उठा कर चलता था । मार्ग में एक महावन पडता था। अटवी का बहुत सा भाग लांघ जाने पर इनके पास की भोजन-सामग्री कम हो गई । चलते-चलते वृक्ष के नीचे एक ध्यानस्थ मुनि दिखाई दिये । उनके मन में भक्ति उत्पन्न हुई। उन्होंने सोचा -''इन महात्मा को कुछ आहार देना चाहिए''- यह सोच कर उन्होंने द्रोण से कहा - ''भद्र ! इन मुनिजी को कुछ आहार दे दो ।'' द्रोण ने श्रद्धापूर्वक उच्च भावों से मुनि को प्रतिलाभित किया और महा भोग-फल वाला पुण्य उपार्जन किया । वहाँ से सभी लोग रत्नद्वीप गए और व्यापर से बहुतसा धन सग्रह कर के लौट कर अपने घर आ गए । वे सुखपूर्वक रहने लगे। उन चारो मित्रों मे धनेश्वर और धनपति मायावी थे और द्रोण की भावना उन चारा से विशेष शुद्ध थी। वह द्रोण, आयु पूर्ण कर के तू कुरुचन्द्र हुआ । सुधन मर कर कम्पिलपुर में 'वसतदेव' नामक वणिक-पुत्र हुआ धनद,कृतिकापुर मे 'कामपाल' नाम का व्यापारी हुआ, धनपति, शखपुर में 'मदिरा' नाम की वणिक-कन्या हुई और धनेश्वर जयती नगरी मे 'केसरा' नाम की कन्या हुई ।

सुधन का जीव वसतदेव, यौवन वय मे व्यापार के लिए जयती नगरी में आया । एक बार चन्द्रोत्सव के समय, केसरा को देख कर वह मोहित हो गया । केसरा भी उस पर मोहित हुई । दोनों में पूर्वभव का स्नेह जाग्रत हुआ । वसतदेव ने केसरा के भाई जयतदेव से मैत्री सम्बन्ध जोडा और दोनों का एक दूसरे के घर आना जाना और खाना-पीना होने लगा । एक बार वसतदेव को, कामदेव की पूजा करती हुई केसरा दिखाई दी। जयतदेव ने स्नेह सहित वसतदेव को पुष्पमाला अर्पण की । यह दख कर केसरा पुलकित हो गई । उसने इसे अच्छा शकुन समझा । केसरा के चेहरे पर के भाव वहाँ खड़ी हुई धायपुत्री प्रियकरा ने देखा और केसरा से कहा-

''तेरे भाई, मित्र का सत्कार करते हैं, तो तू भी उनका सत्कार कर ।'' यह सुन कर केसरा हर्षित होती हुई बोली, - ''तू ही सत्कार कर ले ।''

प्रियकरा ने पुष्पादि ग्रहण कर वसतदेव को देते हुए कहा -''लीजिए, मेरी स्वामिनी की ओर से यह प्रेमपुष्प स्वीकार कीजिए ।''

वसतदेव ने सोचा -'यह युवती भी मुझे चाहती है ।' उसने पुष्पादि भेंट स्वीकार की और अपने नाम की अगूठी देते हुए कहा-

आपकी सखी को मेरी यह तुच्छ भेंट दे कर कहो कि -"वे मुझ पर अपना पूर्ण एव अटूट स्नेह रखे और ऐसी चेष्टा करे कि जिससे दिनोदिन स्नेह यढता रहे ।"

केसरा यह यात सुन कर यडी प्रसन्न हुई । उसने यडे आदर के साथ अगूठी ग्रहण की । रात को वह इन्हीं विचारो को लिए सो गई । स्वप्न में उसने वसतदेव के साथ अपनी लग्न-विधि होती हुई देखी । वह हर्षावेश में रोमाचित हो गई । प्रात काल होने पर उसने अपने स्वप्न की बात प्रियकरा से कही । इसी प्रकार का स्वप्न वसतदेव ने भी देखा । प्रात काल होने पर प्रियकरा ने वसतदेव के पास जा कर केसरा के स्वप्न की यात सुनाई । वसंतदेव को निश्चय हो गया कि अब मेरे मनोरथ सिद्ध हो जावेंगे । उसने प्रियकरा का सत्कार किया । अय प्रियकरा दोनो के सन्देश लाती ले जाती थी । इस प्रकार दानो का काल व्यतीत होने लगा ।

एक यार यसतदेव को पचनन्दी सेठ के यहाँ से मगल बाजे बजने की ध्वनि सुनाई दी। वह चौंका। पता लगने पर मालूम हुआ कि पचनन्दी सेठ की पुत्री केसरा का सम्बन्ध, कान्यकुब्ज के निवासी सुदत्त सेठ के पुत्र वरदत्त के साथ हुआ । इसी निमित्त वादिन्त्र बज रहे हैं । यह सुनते ही वसतदेव हताश हो गया । किन्तु उसी समय प्रियकरा आई और कहने लगी,-

"आप घयड़ाइये नहीं । मेरी सखी ने कहलाया है कि -'मेरे पिताजी ने मेरी इच्छा को जाने विना ही जो यह सम्यन्ध किया है, वह व्यर्थ रहेगा । मैं आप ही की बनूँगी । यदि मेरा मनोरथ सफल नहीं हुआ, तो मैं प्राण त्याग दूँगी, परन्तु आपके अतिरिक्त किसी दूसरे स लग्न नहीं करूँगी । आप मुझ पर पूर्ण विश्वास रखें ।"

प्रियकरा की यात सुन कर वसतदेव को सतोष हुआ । उसने भी कहा कि 'मैं भी केसरा के लिए ही जीवित रहूँगा । यदि केसरा मेरी नहीं हो कर दूसरे की यनेगी, तो मैं भी प्राण त्याग दूँगा ।'

इस प्रकार दोनो का कुछ काल व्यतीत हुआ, किन्तु उनका मनोरथ सफल नहीं हो रहा था । एक दिन वसतदेव ने देखा कि केसरा के साथ लग्न करने के लिए वरदत्त बरात ले कर आ गया । यह देख कर वह एकदम निराश हो गया और शीघ्रता से भाग कर नगर बाहर एक उद्यान में आया । वह एक वृक्ष पर चढ गया और उसकी डाल पर रस्सी बाँध कर गले में फन्दा डालना ही चाहता था कि लतागृह में से एक मनुष्य निकला और फन्दा काटते बोला,-

"अरे ओ साहसी ! यह क्या कर रहे हो ? मरने से क्या होगा ? ऐसा दुष्कृत्य कर क मनुष्य भव को समाप्त नहीं करना चाहिए । शान्त होओ और समझबूझ से काम लो ।"

वसतदेव चौंका । उसने कहा – "महानुभाव ! मैं हताश हो गया हू । मेरी प्रिया मुझे प्राप्त नहीं हो कर दूसरे को दी जा रही है । अपने मनोरथ में सर्वथा विफल रहने के बाद जीवित रहने का सार ही क्या है ? मृत्यु से तो मैं इस दु ख से मुक्त हो जाऊँगा । दु ख से मुक्त होने के लिए मैं मर रहा था। आपने इसमे विघ्न खडा कर दिया" इस प्रकार कह कर उसने अपने मरने का कारण बताया । वसतदेव की बात सुन कर वह पुरुष बोला–

भद्र तेरा दु ख तो गहरा है, किन्तु मरना उचित नहीं है । मर कर तू क्या प्राप्त कर लेगा ? यदि जीवित रहेगा, तो इच्छित कार्य की सिद्धि के लिए कुछ प्रयत्न कर सकेगा । यदि प्रयत्न सफल नहीं हो, तो भी मरना उचित नहीं है । इस प्रकार मरने से बुरे कर्मों का बन्ध होता है और दूसरी गति में चले जाने से प्रिय के दर्शन से भी वचित हो जाता है । मैं स्वय भी दु खी हूँ । मेरी इच्छित वस्तु प्राप्त होने योग्य होते हुए भी उपाय के अभाव मे भटक रहा हूँ – इसी आशा पर कि जीवित रहा, तो कभी सफल हो सकूँगा । मैं अपनी बात तुझे सुनाता हूँ ।"

"मैं कृतिकापुर का रहने वाला हूँ और मेरा नाम कामपाल है । मैं देशाटन के लिए निकला था। घूमता हुआ शखपुर आया । वहाँ यक्ष का उत्सव हो रहा था । मैं भी उत्सव देखने गया । वहाँ मुझे एक सुन्दर युवती दिखाई दी । मैं उसके सौन्दर्य को स्नेहयुक्त निरखता ही रहा । उस युवती ने भी मुझे देखा । वह भी मुझे देख कर मुग्ध हो गई । उसने मेरे लिए अपनी सखी के साथ पान भेजा । पान ले कर बदले मे कुछ देने की बात मैं सोच ही रहा था कि इतने मे एक उन्मत्त हाथी स्तभ तुडा कर भागता हुआ उस कन्या की ही ओर आया । भयभीत हो कर उस सुन्दरी का सारा परिवार भाग गया । वह युवती भयभ्रान्त एव दिग्मूढ हो कर वहीं खडी रही । हाथी उसे सूँड से पकडने ही वाला था कि मैंने हाथी के मर्मस्थान पर लकडी से चोट की । उस चोट से वह हाथी मेरी आर घुमा । किन्तु मैं तत्काल चतुराई से हाथी को भुलावे म डाल कर और उस सुन्दरी को उठा कर निर्विघ्न स्थान पर चला गया। थोडी दर में उसका परिवार भी वहाँ आ गया और मुझे सुन्दरी 'मदिरा' का रक्षक जान कर सभी मेरी स्तुति करने लगे । उधर मदिरा की सखियें उसे पुन आम्रकुज में ले गई । किन्तु वहाँ भी हाथी के उपद्रव से हलचल हुई और भगदड मची । इससे सभी बिखर कर इधर-उधर हो गए । खोज करने पर भी मैं उस सुन्दरी को नहीं पा सका और भटकता हुआ यहाँ आया । तुम्हारा हमारा दु ख समान है । प्रयत्न करने पर सफलता मिल सकती है । मैं तुम्हे एक उपाय बतलाता हूँ । रीति के अनुसार तुम्हारी प्रिया केसरा, लग्न के पूर्व कामदेव की पूजा करने क लिए आवेगी ही । अपन दोनों कामदव के मन्दिर में

छिप जावें। जब केसरा आवे, तो उसके वस्त्र, मैं पहन कर केसरा के रूप में चला जाऊँगा और तुम केसरा को ले कर दूर चले जाना । इस प्रकार तुम्हारा कार्य सरलता से सफल हो जायगा ।"

वसतदेव को इस बात से सतोष हुआ । उसने इस योजना को क्रियान्वित करने का निश्चय किया, किन्तु इसमे रहे हुए खतरे का विचार कर के वह चौंका । उसने पूछा -"महानुभाव ! फिर आप उस जाल से कैसे निकलेंगे ?"

"मैं अपने बचाव की युक्ति निकाल लूँगा । मुझे आशा है कि तुम्हारा काम सफल होते ही मेरा काम भी बन जायगा । फिर तुम भी तो मुझे सहायता करोगे ?"

दोनों प्रसन्न हो कर वहा से बाजार में आ गए और सध्या के समय कामदेव के मन्दिर में जा कर छुप गए । थोडी देर में केसरा भी गाजे-बाजे के साथ वहाँ आई । नियम के अनुसार उसकी सखियाँ मन्दिर के बाहर ही रुक गई और वह अकेली पूजा का थाल ले कर मन्दिर में आई । उसने द्वार बन्द कर दिये और देव को नमस्कार करती हुई बोली;-

"देव ! यह मेरे साथ कैसा अन्याय करते हो ? आप तो सभी प्रेमियो के मनोरथ पूरे करने वाले हो, फिर मैं ही निराश क्यों रहूँ ? मैने आपका क्या अपराध किया ? यदि आप मुझ पर अप्रसन्न ही हैं, तो मैं अपनी खुद की बलि आपके चरणो में चढ़ाती हू ।इससे प्रसन्न हो कर मुझे अगले भव मे वसतदेव की अर्धांगना बनाना ।"

इतना कह कर वह गले मे पाश डालने लगी । यह देख कर छुपे हुए वसतदेव और कामपाल बाहर निकले ।केसरा यह देख कर चौंकी और स्तब्ध रह गई । किन्तु क्षणभर के बाद ही वह हर्षातिरक से उत्फुल्ल हो गई ।उसने अपना वेश उतार कर कामपाल को दिया ।कामपाल केसरा का वेश पहन कर बाहर निकला औ पालकी मे जा बैठा ।वसतदेव पुरुषवेशी केसरा के साथ वहाँ से निकल कर एक ओर चल दिया ।

कामपाल मौन युक्त आ कर लग्नमडप में बैठ गया ।प्रियकरा ने कहा -"बहिन केसरा ! अब चिन्ता छोड़ कर भगवान् अनगदेव का ध्यान करती रहो, जिससे सुखमय जीवन व्यतीत हो ।"

केसरा के विवाह में उसके मामा की पुत्री 'मदिरा' भी आई हुई थी ।वह केसरा के प्रेम सम्बन्ध की बात सुन चुकी थी ।उसने केसरा-वेशी कामपाल के कान में कहा;-

"बहिन ! तेरा मनोरथ सफल नहीं हुआ । इसका मुझे दु ख है । मैं भी हतभागिनी हूँ । मेरा प्रिय भी मेरे मन में स्नेहामृत का सिचन कर के ऐसा गया कि फिर देखा ही नहीं । भाग्य की बात है ।"

कामपाल ने देखा – यह तो वही मदिरा है कि जिसके वियोग मे वह भटक रहा था। उसने सकेत कर के मदिरा को एकान्त में बुलाया । वे दोनो प्रच्छन्न द्वार से निकल कर चले गये और वसतदेव और केसरा के साथ दूसरे नगर में रहने लगे ।

"राजन् ! वसतदेव और कामपाल – ये दोनो पूर्व-भव के स्नेह से तुम्हें पाँच वस्तुएँ भेंट करते हैं । ये वस्तुएँ तुम प्रियजनों के साथ भोगने मे समर्थ बनोगे । इतने दिन तुम प्रियजन को नहीं जानते थे, इसलिए उन वस्तुओं का भोग नहीं कर सके ।"

प्रभु की वाणी सुन कर राजा को और उन सम्बन्धियो को जाति-स्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ । राजा भगवान् को वन्दना कर के पूर्वभव के उन सम्बन्धियों के साथ राजभवन में आया । भगवान् अन्यत्र विहार कर गए ।

भगवान् का निर्वाण

केवलज्ञान उत्पन्न होने के बाद भगवान् २४९९९ वर्ष तक विचरते रहे । निर्वाण समय निकट आने पर प्रभु सम्मेदशिखर पर्वत पर पधारे और ९०० मुनियों के साथ अनशन किया । एक मास के अन्त में ज्येष्ठ-कृष्णा १२ को भरणी नक्षत्र में उन मुनियो के साथ भगवान् मोक्ष पधारे । भगवान् का कुल आयुष्य एक लाख वर्ष का था । इसमें से कुमार अवस्था, माडलिकराजा, चक्रवर्तीपन और व्रतपर्याय में पच्चीस-पच्चीस हजार वर्ष व्यतीत हुए । श्रीधर्मनाथ जिनेश्वर के बाद पौन पल्योपम कम तीन सागरोपम बीतने पर भ शातिनाथजी हुए ।

भगवान् शातिनाथजी के चक्रायुध आदि ९० गणधर हुए + । ६२००० साधु ६१६०० साध्वियाँ, ८०० चौदह पूर्वधर, ३००० अवधिज्ञानी, ४००० मन पर्यवज्ञानी, ४३०० केवलज्ञानी, ६००० वैक्रेय लब्धिवाले, २४०० वादी विजयी, २९०००० श्रावक और ३९३००० श्राविकाएँ थीं ।

सोलहवें तीर्थंकर

भगवान्

।। शांतिनाथजी का चरित्र सम्पूर्ण ।।

+ ग्रन्थकार ३६ गणधर होना लिखते हैं, किन्तु समवायाग सूत्र में ९० लिखे हैं ।

१७ कुन्थुनाथजी

इस जम्बूद्वीप के पूर्व-विदेह के आवर्त्त विजय मे खड्गी नामक नगरी में सिंहावह राजा राज करता था । वह उत्तम गुणा से सम्पन्न, धर्मधुरन्धर, धर्मिया का आधार, न्याय का रक्षक, पापमर्दक और समृद्धियो का सर्जक था । उसका प्रभाव इन्द्र के समान था । वह धर्म-भावना से युक्त हो ससार व्यवहार चलाता था । कालान्तर में श्री सवराचार्य के उपदेश से प्रभावित हो कर उसने श्रमण दीक्षा स्वीकार कर ली और उत्तम आराधना से तीर्थंकर नामकर्म को निकाचित कर लिया । काल के अवसर उत्तम भावों में मृत्यु पा कर सर्वार्थसिद्ध महाविमान मे अहमिन्द्र हुआ ।

जम्बूद्वीप के इस भरत-क्षेत्र मे हस्तिनापुर नाम का महानगर था । महाराजा शूरसेन वहाँ के प्रभावशाली नरेश थे । वे धर्मात्मा, उच्च मर्यादा के धारक, न्याय और नीति के पालक, पोषक और रक्षक थे । 'श्रीदेवी' उनकी महारानी थी । वह भी कुल, शील, सौन्दर्य एव औदार्यादि उत्तम गुणो से सुशोभित थी । महाराजा और महारानी का जीवन सुखपूर्वक व्यतीत हो रहा था ।

सभी देवलोको में उत्तमोत्तम सर्वार्थसिद्ध नामक महाविमान का तेतीस सागरोपम का आयुष्य पूर्ण कर के सिंहावह मुनिराज का जीव, श्रावण मास के कृष्ण पक्ष की नौमी को, कृतिका नक्षत्र मे महारानी श्रीदेवी के गर्भ में उत्पन्न हुआ । महारानी ने चौदह महास्वप्न देखे । गर्भकाल पूर्ण होने पर वैशाख-कृष्णा चतुर्दशी को कृतिका नक्षत्र के योग मे, उच्च ग्रहा की स्थिति में पुत्र का जन्म हुआ । इन्द्रादि देवों ने और छप्पन कुमारिका आदि देविया ने जन्मोत्सव किया ।

गर्भ क समय माता ने कुन्थु नाम का रत्न-सचय देखा, इसलिए पुत्र का नाम 'कुन्थुनाथ' दिया। यौवनवय प्राप्त होने पर अनेक राजकन्याओं के साथ कुमार का विवाह किया गया। जन्म से २३७५० वर्ष तक राजकुमार रहे । उसके बाद महाराजा ने अपना राज्यभार राजकुमार कुन्थुनाथ को दिया २३७५० वर्ष तक कुन्थुनाथजी माडलिक राजा रहे । उसके बाद आयुधशाला में चक्ररत्न प्रकट हुआ । आप भी पूर्व के चक्रवर्तियों के समान दिग्विजय कर के विधिपूर्वक चक्रवर्ती सम्राट हुए । दिग्विजय में छह सौ वर्ष का काल लगा । आपने २३७५० वर्ष तक चक्रवर्ती पद का भोग किया । इसके बाद वर्षीदान दे कर वैशाख-कृष्णा पचमी का दिन के अन्तिम प्रहर में कृतिका नक्षत्र के योग में एक हजार राजाओं के साथ दीक्षित हुए। दीक्षा लेने के बाद लगभग सोलह वर्ष छद्मस्थ अवस्था में रहे । आप विहार करते हुए पुन हस्तिनापुर के सहस्राम्र वन उद्यान में पधारे

और तिलक वृक्ष के नीचे बेले के तपयुक्त ध्यान करने लगे । घातीकर्म जर्जर हो चुके थे । ध्यान की धारा वेगवती हुई और धर्मध्यान से आगे बढ कर शुक्लध्यान मे प्रवेश कर गई । जर्जर बने हुए घातीकर्मों की जड़ें, शुक्लध्यान के महाप्रवाह से हिलने लगी । मोह का महा विषवृक्ष डगमगाने लगा । महर्षि के महान् आत्मबल से शुक्ल-ध्यान की महाधारा ने बाढ का रूप ले लिया । अब बिचारा मोह महावृक्ष कहा तक टिक सकता था ? आत्मा के अनन्त बल के आगे उस जड की क्या हस्ति थी ? उखड गयी उसकी जड और फिक गया मुर्दे की तरह एक ओर । मोह महावृक्ष के नष्ट होते ही ज्ञानावरणादि तीन घातीकर्म भी उखड गए । चैत्र मास की शुक्ला तृतीया का दिन था और कृतिका नक्षत्र का योग था । प्रभु सर्वज्ञ-सर्वदर्शी हो गए । केवलज्ञान महोत्सव हुआ । तीर्थ की स्थापना हुई । प्रभुने अपनी प्रथम धर्मदेशना में फरमाया,-

धर्मदेशना - मनःशुद्धि

"यह ससाररूपी समुद्र, चौरासी लाख योनिरूप जलभँवरियो ❂ से महान् भयकर है । भवसागर को तिरने के लिए मन शुद्धि रूपी सुदृढ जहाज ही समर्थ है । मन शुद्धि मोक्ष मार्ग को बताने वाली ऐसी दीप-शिखा है, जो कभी नहीं बुझती । जहाँ मन शुद्धि है, वहाँ अप्राप्त गुण भी अपने-आप प्राप्त हो जाते हैं और प्राप्त गुण स्थिर रहते हैं । इसलिए बुद्धिमान् मनुष्यो को चाहिए कि अपने मन को, सदैव शुद्ध रखे । जो लोग मन को शुद्ध किये बिना ही मुक्ति के लिए तपस्या करते हैं, वे सफल नहीं होते । जिस प्रकार जहाज छोड कर, भुजबल से ही महासमुद्र को पार करना अशक्य है उसी प्रकार मन शुद्धि के बिना मुक्ति पाना सर्वथा अशक्य है । जिस प्रकार अन्धे के लिए दर्पण व्यर्थ है, उसी प्रकार मन को दोष-रहित किये बिना तपस्वियो की तपस्या व्यर्थ हो जाती है । जोरदार वबडर (चक्राकार वायु) राह चलते प्राणियों को उड़ा कर दूसरी ओर फेंक देती है, उसी प्रकार मोक्ष के ध्येय से किया हुआ तप भी, चपलचित्त तपस्वी को ध्येय के विपरीत ले जाता है अर्थात् सिद्धगति मे नहीं ले जा कर दूसरी गति में ले जाता है'।

मन रूपी निशाचर, निरकुश एव निःशक हो कर तीनो लोक के प्राणियों को ससार के अत्यन्त गहरे गड्ढे में डाल देता है । मन का अवरोध किये बिना ही जो मनुष्य, योग पर श्रद्धा रखता है, तो उसकी श्रद्धा उस पगु की तरह व्यर्थ एव हास्यास्पद है जो अपने पाँवों से अटवी लाघ कर, नगर-प्रवेश करना चाहता है ।

❂ पानी का चक्राकार फिरना जिसमें पड कर जहाज भी डूब-टूट कर नष्ट हो जाते हैं ।

मन का निरोध करने से सभी कर्म का निरोध (सवर) हो जाता है और मन का निरोध नहीं करने वाले के सभी कर्म बहुत बडी मात्रा मे आते रहते हैं । यह मन रूपी बन्दर बडा ही लम्पट है । यह एक स्थान पर स्थिर नहीं रहता और विश्वभर में भटकता ही रहता है । जिन्हें मुक्ति प्राप्त करने की इच्छा है, उन्हें चाहिए कि मन रूपी मर्कट को यत्नपूर्वक अपने अधिकार में रखे और दोषों को दूर कर मन को शुद्ध बना ले । बिना मन-शुद्धि के तप, श्रुत, यम और नियमों का आचरण कर के कायाक्लेश उठाना-काया का दण्डित करना व्यर्थ है। मन की शुद्धि के द्वारा राग-द्वेष को जीतना चाहिए, जिससे भावो की मलिनता दूर होती है और स्वरूप में स्थिरता आती है ।

'केवलज्ञान के बाद' २३७३४ वर्ष तक प्रभु, तीर्थंकरपने विचर कर भव्य जीवा का उपकार करते रहे । निर्वाण का समय निकट आने पर प्रभु एक हजार मुनिवरों के साथ सम्मेदशिखर पर्वत पर पधारे और एक हजार मुनिवरों के साथ अनशन किया । वैशाख-कृष्णा प्रतिपदा को कृतिका नक्षत्र के योग में, एक मास के अनशन से सभी मुनियों के साथ मोक्ष पधारे । भगवान् का कुल आयु ९५००० वर्ष का था । भ श्री शांतिनाथजी के निर्वाण के बाद अर्ध पल्योपम काल व्यतीत होने पर भ कुन्थुनाथजी मोक्ष पधारे ।

प्रभु के स्वयभू आदि सैंतीस ❀ गणधर हुए । ६०००० साधु, ६०६०० साध्वियाँ, ६७० चौदह पूर्वधर, २५०० अवधिज्ञानी, ३३४० मन.पर्यवज्ञानी, ३२०० केवलज्ञानी, ५१०० वैक्रिय-लब्धिवाले, २००० वाद-लब्धिवाले, १७९००० श्रावक और ३८१००० श्राविकाएँ हुई ।

सतरहवें तीर्थंकर

भगवान्

।। कुन्थुनाथजी का चरित्र सम्पूर्ण ।।

❀ ग्रन्थकार ३५ गणधर होना लिखते हैं, परन्तु समवायाग में ३७ लिखे हैं ।

भ. अरनाथ स्वामी

जम्बूद्वीप के पूर्व-विदेह में 'वत्स' नाम का विजय है । उसमें सुसीमा नाम की नगरी थी । 'धनपति' नरेश वहाँ के शासक थे । वे दयालु, नम्र और शात स्वभाव वाले थे । उनके राज्य मे सर्वत्र शान्ति और सुख व्याप्त थे । उन उदार हृदय नरेश के मन मन्दिर में जिनधर्म का निवास था । नरेश ने ससार से विरक्त हो कर सवर नाम के सयती के समीप प्रव्रज्या स्वीकार कर ली । साधना करते हुए उन्होने तीर्थंकरनाम कर्म को निकाचित कर लिया और समाधिभाव मे काल कर के सर्वोपरि ग्रैवेयक में अहमिन्द्र के रूप में उत्पन्न हुए ।

जम्बूद्वीप के भरत-क्षेत्र में हस्तिनापुर नाम का नगर था । वहाँ के नगर निवासी भी समृद्ध और राजसी ठाठ से युक्त थे । राजाधिराज 'सुदर्शन' उस नगर के अधिपति थे । 'महादेवी' उनकी पटरानी थी । वह महिलाओ के उत्तमोत्तम गुणों और लक्षणों से युक्त थी ।

मुनिराज श्री धनपतिजी का जीव ऊपर के ग्रैवेयक का आयु पूर्ण कर के फाल्गुन शुक्ला द्वितीया को रेवती नक्षत्र में च्यव कर, राजमहिषी महादेवी की कुक्षि मे उत्पन्न हुआ । महारानी ने चौदह महास्वप्न देखे । गर्भकाल पूर्ण होने पर सुकुमार पुत्र का जन्म हुआ । जन्मोत्सव आदि सभी कार्य तीर्थंकर जन्म के अनुसार हुए । माता ने स्वप्न में चक्र के आरे देखे थे, इसलिए पुत्र का नाम 'अर' रखा गया । यौवनवय प्राप्त होने पर अनेक राजकुमारियो के साथ विवाह किया । जन्म से २१००० वर्ष व्यतीत होने पर, महाराज सुदर्शनजी ने सारा राज्यभार कुमार अरनाथ को दे दिया । २१००० वर्ष तक आप माडलिक राजा के पद पर रहे । उसके बाद चक्ररत्न की प्राप्ति हुई और छह खड पर विजय प्राप्त करने में ४०० वर्ष लगे। इसके बाद आप २०६०० वर्ष तक चक्रवर्ती सम्राट के रूप में राज करते रहे । इसके याद वर्षीदान दे कर और अपने पुत्र अरविन्द को राज्य का भार सौंप कर मार्गशीर्ष-शुक्ला एकादशी को रेवती नक्षत्र में दिन के अन्तिम प्रहर में, एक हजार राजाओ के साथ, बेले के तप से प्रव्रजित हुए । तीन वर्ष तक आप छद्मस्थ विचरते रहे । फिर उसी नगर के सहस्राम्रवन में, आम्रवृक्ष के नीचे ध्यान धर के खडे रहे। कार्तिक-शुक्ला द्वादशी को रेवती नक्षत्र में प्रभु को केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त हुआ । समवसरण की रचना हुई । प्रभु ने अपने प्रथम धर्मोपदेश मे कहा;-

धर्मदेशना - राग-द्वेष-त्याग

"ससार में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों में एक मोक्ष पुरुषार्थ ही ऐसा है कि जिसमें सुख से लबालब भरा हुआ सागर हिलोरें ले रहा है । उसमें एकान्त सुख ही सुख है दु ख का

****
एक सूक्ष्म अश भी नहीं है । यह मोक्ष पुरुषार्थ ध्यान की साधना से सिद्ध होता है, किन्तु ध्यान की साधना तभी हो सकती है, जब कि मन अनुकूल हो । मन की अनुकूलता के बिना ध्यान नहीं हो सकता। जो योगी पुरुष हैं, वे तो मन को आत्मा के अधिकार में रखते हैं, किन्तु रागादि शत्रु ऐसे हैं, जो मन को अपनी ओर खींच कर पुद्गलाधीन कर देते हैं । यदि सावधानीपूर्वक मन का निग्रह कर के शुभ परिणति में लगाया हो, तो भी किंचित् निमित्त पा कर, रागादि शत्रु पिशाच की तरह बारम्बार छल करते हुए अपना अधिकार जमाने का प्रयत्न करते हैं । राग-द्वेष रूपी अन्धकार से अन्धे बने हुए जीव को अज्ञान, अधोगति में ले जा कर नरक रूपी खड्डे मे गिरा देता है । द्रव्यादि मे प्रीति और रति (आसक्ति) राग है और अप्रीति और अरति (अरुचि-घृणा) द्वेष है । यह राग और द्वेष ही सभी प्राणिया के लिए दृढ बन्धन रूप है । यही सभी प्रकार के दु खो के मूल है । ससार में यदि राग-द्वेष नहीं हो, तो सुख में कोई विस्मय नहीं होता और दु ख में कोई कृपण नहीं होता था सभी जीव मुक्ति प्राप्त कर लेते। राग के अभाव में द्वेष और द्वेष के अभाव में राग रहता ही नहीं । इन दोनों में से एक का त्याग कर दिया जाय, तो दोनो का त्याग हो जाता है । कामादि दोष, राग के परिवार में हैं और मिथ्याभिमान आदि द्वेष का परिवार है । मोह, राग और द्वेष का पिता, बीज नायक अथवा परमेश्वर है । यह मोह, रागादि से भिन्न नहीं है । इसलिए समस्त दोषों का पितामह (दादा) मोह ही है । इससे सब को सावधान ही रहना चाहिए । ससार मे राग-द्वेष और मोह - ये तीनों दोष ही हैं । इनके सिवाय और कोई दोष नहीं है । ये त्रिदोष ही ससार समुद्र में परिभ्रमण करने के कारण हैं । जीव का स्वभाव तो स्फटिक रत्न के समान स्वच्छ एव उज्ज्वल है, किन्तु इन तीनों दोषो के कारण ही जीव के विविध रूप हुए हैं । -

अहा ! इस विश्व के आध्यात्मिक राज्य में कैसी अराजकता फैल रही है । राग-द्वेष और मोह रूपी भयकर डाकू, जीवों के ज्ञान रूपी सर्वस्व तथा स्वरूप-स्थिता रूप महान् सम्पत्ति को दिन-दहाड़े, सबके सामने लूट लेते हैं । जो जीव निगोद में हैं और जो शीघ्र ही मुक्ति प्राप्त करने वाले हैं उन सब पर मोहराज की निर्दय एव लुटारु सेना टूट पडती है । क्या मोहराज को मुक्ति के साथ शत्रुता है, या मुमुक्षु के साथ वैर है, कि जिससे वह जीव का मुक्ति के साथ होते हुए सम्बन्ध में बाधक बन रहा है?

आत्मार्थी मुनिवरों को न तो सिंह का भय है, न व्याघ्र, सर्प, चोर, अग्नि और जल का ही । वे रागादि त्रिदोष से ही भयभीत हैं, क्योंकि ये इस भव और पर भव में दु खी करने वाले हैं । ससार से पार होने का महासकट वाला मार्ग, महायोगियों ने ही अपनाया है। इस मार्ग के दोनों ओर राग-द्वेष रूपी व्याघ्र और सिंह खड़े हैं । आत्मार्थी मुनिवरों को चाहिए कि प्रमाद रहित और समभाव सहित हो कर मार्ग पर चले और राग-द्वेष रूपी शत्रु को जीते ।"

कुभ आदि ३३ गणधर हुए । सघ की स्थापना हुई । प्रभु ग्रामानुग्राम विहार करने लगे ।

वीरभद्र का वृत्तांत

भ अरनाथ स्वामी ग्रामानुग्राम विचरते हुए 'पद्मिमनीखड' नाम के नगर के बाहर पधारे। समवसरण में एक वामन जैसा ठिगना दिखाई देने वाला पुरुष आया और धर्मोपदेश सुनने लगा । देशना के बाद सागरदत्त नाम के एक सेठ ने पूछा – "भगवन् ! मैं अत्यन्त दु खी हूँ । मेरी पुत्री प्रियदर्शना, रूप यौवन, कला और चतुराई मे परम कुशल है । उसके योग्य वर नहीं मिल रहा था । मैं और मेरी पत्नी बडे चिन्तित थे । एक दिन मैं बाजार जा रहा था । मुझे ताम्रलिप्ति नगरी के सेठ ऋषभदत्त मिले। साधर्मीपन के नाते वे मेरे पूर्व-परिचित एव मित्र थे । एकदिन मैं उन्हें अपने घर लाया । वे मेरी पुत्री को घुर-घुर के देखने लगे । उन्होंने मुझ से पूछा – 'यह किसकी पुत्री है ?' मैने कहा – 'मेरी है ' उन्होने कहा – 'मेरा पुत्र वीरभद्र जवान है । रूप, कला, विद्या, नीति एव साहस आदि गुणो में वह अजोड है । कामदेव के समान रूपवान् है । मैं उसके योग्य कन्या खोज रहा हूँ । किन्तु उसके योग्य कन्या मुझे आज तक नहीं मिली । आपकी पुत्री मुझे उसके सर्वथा योग्य लगती है । यदि आप स्वीकार करें, तो यह सम्बन्ध अच्छा और सुखदायक रहेगा ।'

मैं भी योग्य वर की तलाश में ही था । मैने उनकी बात स्वीकार कर ली और कालान्तर में शुभ मुहूर्त में प्रियदर्शना का लग्न वीरभद्र के साथ हो गया । उनका जीवन सुखपूर्वक बीत रहा था । कुछ दिन पूर्व मैने सुना कि – 'वीरभद्र, प्रियदर्शना को सोती हुई छोड कर कहीं चला गया है ।' मैं इस दु ख से दु खी हूँ । अभी यह वामन उसका समाचार लाया, किन्तु यह स्पष्ट कुछ नहीं कहता है । हे प्रभो ! कृपा कर के उसका वृत्तान्त बताने की कृपा करें ।

"सेठ ! तुम्हारे जामाता वीरभद्र को उस रात विचार हुआ कि – 'मैंने इतनी कला और निपुणता प्राप्त की । किन्तु उसका कोई उपयोग नहीं हो रहा है । यहाँ मेरे पिता आदि के सामने अपना पराक्रम प्रकट करने का अवसर ही नहीं मिलता । इसलिए यहाँ से विदेश चला जाना अच्छा है । विदेश में अपनी विद्या और योग्यता को व्यवहार मे लाने का अच्छा अवसर मिलेगा ।' इस प्रकार विचार कर और प्रियदर्शना को नींद मे सोई हुई छोड कर वह निकल गया और चलता-चलता रत्नपुर नगर म पहुँचा। बाजार में घूमते हुए वह शख नाम के सेठ की दुकान पर पहुँचा । सेठ ने वीरभद्र का चेहरा देख कर समझ लिया कि यह कोई विदेशी है और सुलक्षणा वाला है । सेठ ने प्रसन्नता से वीरभद्र को बुला कर अपने पास बिठाया और परिचय पूछा । वीरभद्र ने कहा –'मैं ताम्रलिप्ति नगरी से अपने घर से रुष्ट हो कर चला आया हूँ ।' सेठ ने कहा – "इस प्रकार चुपके से घर छोड कर निकल जाना उचित तो नहीं है, किन्तु तुम यहाँ आ गये हो तो प्रसनन्ता से मेरे घर रहो । मेर भी कोई पुत्र नहीं है । तुम इस विपुल सम्पत्ति के मेरे बाद स्वामी होने के योग्य हो ।"

वीरभद्र ने कहा – "महाभाग ! मैं अपने घर से निकला, तो यह नये पिता का घर मेरे लिए तैयार मिला । आप तो मेरे धर्म-पिता हो गए ।"

वीरभद्र, सेठ के घर रहने लगा । वह अपनी योग्यता, कला और विज्ञान की कुशलता से थोड़े ही दिनों में, नगरजनों में आदर पात्र हो गया । सेठ के एक पुत्री थी, जिसका नाम 'विनयवती' था । नगर के राजा रत्नाकर की पुत्री का नाम 'अनगसुन्दरी' था । वह स्वभाव से ही पुरुष-द्वेषिनी थी । विनयवती उसके पास जाती रहती थी । एक दिन वीरभद्र ने विनयवती से पूछा – "बहिन ! तुम अन्त पुर में क्यों जाती रहती हो ?"

–"राजकुमारी मेरी सखी है । उसके आग्रह से मैं उसके पास जाती हूँ ।"

–"मैं भी राजकुमारी को देखने के लिए तुम्हारे साथ चलना चाहता हूँ ।

–"मैं स्त्री-वेश में आऊँ और तू मुझे अपनी सखी को बतावे, तो क्या हर्ज है ? मैं एक बार उसे देखना चाहता हूँ ।"

विनयवती मान गई और वीरभद्र को अपना बढ़िया वेश एव गहने पहना कर साथ ले गई । विनयवती ने राजकुमारी से वीरभद्र का परिचय कराया और कहा कि यह मेरी बहिन वीरमती है । अनगसुन्दरी ने एक पटिये पर एक हस का चित्र बनाया था । किन्तु हसी (माया) का चित्र जैसा चाहिये वैसा नहीं बना । उसका उद्देश्य विरह-पीड़ित हसी बनाने का था, परन्तु उसमें उसके विरह-पीड़ित होने का भाव बराबर नहीं आ पाया था । वीरभद्र ने उसे चित्र को सुधार कर उसमें उसके भाव को पूर्ण रूप से बताया । आँखों में आंसू, म्लान वदन, गरदन झुकी हुई और पख शिथिल । इस प्रकार उसकी विरह-पीड़ित अवस्था स्पष्ट हो रही थी । अनगसुन्दरी को यह चित्र बहुत पसन्द आया । उसने वीरमती से पूछा – "तुम्हे चित्रकला मे निपुणता प्राप्त है । इसके सिवाय और कौनसी कला में तुम पारगत हो ?" वीरमती ने कहा –"मेरी कला का परिचय आपको धीरे-धीरे होता रहेगा ।"

वीरभद्र स्त्री-वेश में दूसरे दिन भी विनयवती के साथ राजकुमारी के पास गया । उस दिन राजकुमारी वीणा बजा रही थी । किन्तु वीणा का स्वर बराबर नहीं निकल रहा था । वीरभद्र ने कहा –'इस वीणा में मनुष्य का बाल अटक गया है । इसलिए इसका स्वर बिगड़ रहा है ।' राजकुमारी आश्चर्य करने लगी । उसने पूछा – 'तुमने कैसे जाना कि इसमें बाल फँस गया है ?' – 'इसका स्वर ही बतला रहा है ।' वीरमती बने हुए वीरभद्र ने वीणा खोल कर उसमें फँसा हुआ बाल निकाल कर बताया । अब वीणा निर्दोष स्वर निकाल रही थी । राजकुमारी को वीरमती की कला-प्रवीणता पर आश्चर्य हुआ। उसने वीरमती से वीणा बजाने का आग्रह किया । वीरभद्र, वीणा वादन में प्रवीण था । उसने गन्धर्वराज के समान सारणी से श्रुतिओं को स्फुट करने वाले स्वरों तथा धातु और व्यजन को स्पष्ट करने वाले

तान उत्पन्न किये । वाद्य के सभी प्रकार के उत्तम वादन से उत्पन्न राग-रस मे राजकुमारी अनगसुन्दरी और अन्य सुनने वाली महिलाएँ स्तब्ध रह गई और परम सतोष को प्राप्त हुई । उनके हर्ष का उभार आ गया । राजकुमारी ने सोचा –"ऐसी परम निपुण सखी, भाग्य से ही मिलती है । यह मानवी नहीं देवी है । इसका सदा का साथ, मेरे जीवन को आनन्दित एव सफल कर देगा ।"

वीरभद्र ने इसी प्रकार अपनी अन्य कलाओ का भी परिचय दे कर राजकुमारी के हृदय को अपनी ओर पूर्ण रूप से आकर्षित कर लिया । वीरभद्र को भी अनुभव हो गया कि अनगसुन्दरी और उस पर पूर्ण रूप से मुग्ध है । उसने एक दिन सेठ से कहा – "पिताश्री ! मैं रोज बहिन के साथ राजकुमारी के पास स्त्री-वेश में, उसकी बहिन बन कर जाता रहा हूँ । किन्तु इससे आपको किसी प्रकार का भय नहीं रखना चाहिए । मैं ऐसा ही कार्य करूँगा कि जिससे आपकी प्रतिष्ठा बढे । यदि राजा अपनी कन्या का लग्न मेरे साथ करने के विषय में आपसे कहे, तो पहले तो आप मना कर दें, किन्तु जब राजा अति आग्रह कर, तो स्वीकार कर लें ।" सेठ ने वीरभद्र की बात स्वीकार कर ली । उसे वीरभद्र पर विश्वास था । उसकी योग्यता पर सेठ भी प्रसन्न थे ।

नगरभर में फैली हुई वीरभद्र की प्रशसा, राजा के कानों पर पहुँची । उसकी प्रशसा सुन कर वह भी आकर्षित हुआ । मन्त्रियो और अधिकारियों से राजा वीरभद्र का विशेष परिचय करना चाहने लगा। इधर अवसर देख कर एक दिन वीरभद्र ने पूछा –

"महाभागे ! आप सुयोग्य एव भाग्यशालिनी हैं । आपके लिए उत्तमोत्तम भोग्यसामग्री प्रस्तुत है । फिर आप भोग से विमुख क्यों है ?"

– "सखी ! मैं भोग से विमुख नहीं हूँ । किन्तु कोई योग्य वर मिले, तभी तो जीवन सुखमय हो सकता है, अन्यथा सारा जीवन दु ख क्लेश एव कटुता से गुजरता है । जिस प्रकार रत्न अकेला रहे वह अच्छा है, परन्तु काँच के साथ लगा कर अगूठी में रहना उचित नहीं है । इसी प्रकार युवती को एकाकी जीवन बीताना अच्छा, पर कुलहीन, कलाहीन और दुर्गुणी वर के साथ रह कर विडबित होना अच्छा नहीं है । यदि योग्य वर मिले, तो फिर कहना ही क्या है ?"

– "हा, यह तो ठीक बात है । किन्तु आपको कैसा वर चाहिए । वर में कितनी योग्यता चाहती है आप ?" वीरभद्र ने पूछा ।

– "मैं कैसा बताऊँ ? सर्वगुण सम्पन्न । सब तुम्हारे जैसा जिसे पा कर मैं सतुष्ट हो जाऊँ "

– "मेरे जैसा ? क्या आप मुझे सर्व गुण-सम्पन्न एव पूर्ण योग्य मानती हैं ?"

– " अरे वीरमती ! यदि तू पुरुष होती, तो मैं तुझ ही को पति वरण करती । परन्तु अब मैं तुझे अपने साथ ही रखना चाहती हूँ ।"

-"राजकुमारीजी ! यदि आपकी यही इच्छा है, तो मैं आपके लिए पुरुष बन जाऊँ । फिर तो आप प्रसन्न होंगी न ?" - वीरभद्र ने हँसते हुए कहा ।

-"चल हट ! वेश बदलने से ही कोई पुरुष हो सकता है ?" राजकुमारी ने हँसते हुए कहा।

-"अरे, आप क्या समझती हैं मुझे ? मैं वह कला जानती हूँ कि जिस के प्रयोग से सदा के लिए पुरुष बन जाऊँ पूर्ण पुरुष ।"

-"हँसी मत कर ! जन्म से स्त्री हुई, तो अब पुरुष कैसे बन सकती है ?"

-"मैं आपके लिए अपना जीवन पूर्णरूप से अभी परिवर्तित कर सकती हूँ - यहीं।

अनगसुन्दरी को आश्चर्य हुआ । वह सोच रही थी कि रूप परिवर्तन कर के स्त्री, पुरुष का वेश तो धारण कर सकती है, किन्तु वह स्वय पूर्णरूप से पुरुष कैसे बन सकती है ? उसे विश्वास नहीं हो रहा था । राजकुमारी को असमजस में पडे देख कर वीरभद्र ने कहा -

"महाभागे ! अविश्वास क्यों करती हो । मैं अभी पुरुष बन कर तुम्हें दिखा देता हूँ। आवश्यकता मात्र पुरुष के कपडो की है । यह शरीर तो जन्म से ही पुरुष है । मैं पुरुष रूप ही जन्मा और पुरुष रूप में ही पहिचाना जाता हूँ । मेरा नाम 'वीरमती' नहीं, 'वीरभद्र' है । मैं विनयवती की बहिन नहीं, भाई हूँ । तुम्हें देखने के लिए मैने स्त्रीवेश धारण किया है ।"

वीरभद्र की बात सुन कर राजकुमारी अत्यत हर्षित हुई । वीरभद्र ने कहा - "अब मैं तुम्हारे पास नहीं आऊँगा । अब तुम महाराज से कहला कर अपना वैवाहिक सम्बन्ध जुडे, वैसा प्रयत्न करना ।"

राजकुमारी ने वीरभद्र को प्रसन्नता पूर्वक बिदा किया । इसके बाद राजकुमारी ने अपनी सखी के द्वारा, अपनी माता के पास (सखी के परामर्श के रूप में) सन्देश भेजा ।

महारानीजी ने भी महाराज से वीरभद्र की प्रशसा सुनी थी । जब राजकुमारी की सखी का भी वैसी ही विचार जाना और उसमें राजकुमारी की इच्छा का सकेत मिला, तो महारानी ने महाराज को बुला कर कहा । महाराज ने सेठ को बुला कर सम्बन्ध जोड लिया और धूमधाम से वीरभद्र के लग्न, राजकुमारी अनगसुन्दरी के साथ हो गये । वीरभद्र ने राजकुमारी को जैनधर्म का स्वरूप समझा कर जिनोपासिका बना ली । कालान्तर में वीरभद्र, पत्नी सहित अपने घर आने के लिए रवाना हुआ । समुद्र मार्ग से चलते हुए महावायु के प्रकोप से वाहन टूट गया और सभी यात्री समुद्र के जल में डूबने-उतराने लगे । कई डूब भी गये। अनगसुन्दरी के हाथ में जहाज का टूटा हुआ पटिया आ गया । वह पटिये के सहारे तैरती हुई किनारे लग गई । वह भूखी प्यासी और थकी हुई मूर्च्छित अवस्था में किनारे पर पड़ी थी । समुद्र के निकट किसी तापस का आश्रम था । घूमते हुए तापस कुमार को किनारे पर पड़ी

हुई अनगसुन्दरी दिखाई दी । उसने उसे सावचेत की और अपने आश्रम पर ले आया । आश्रम के कुलपति ने अनगसुन्दरी को सान्तवना दी और पुत्री के समान तपस्विनियों के साथ रहने की व्यवस्था कर दी। थोडे ही दिनों में अनगसुन्दरी स्वस्थ हो गई । उसके आकर्षक रूप एव लावण्य को देख कर, कुलपति ने विचार किया कि –'इस युवती का आश्रम में रहना हितकर नहीं होगा । आश्रम के तपस्वियों की समाधि को स्थिर रखने के लिए, इस सुन्दरी को यहाँ से हटाना आवश्यक है ।' उसने अनगसुन्दरी को बुला कर कहा,-

''वत्से ! यहाँ से थोडी ही दूर पर 'पद्मिनीखड' नगर है । वहाँ बहुत-से धनवान् लोग रहते हैं। उस नगर का सम्बन्ध भारत के दूर-दूर के प्रातो से है । वहाँ रहने से तुझे तेरे पति का समागम अवश्य होगा । इसलिए तुम वहाँ जाओ ।''

अनगसुन्दरी एक वृद्ध तापस के साथ पद्मिनीखड नगर के निकट आई । तापस उसे नगर के बाहर छोड कर चला गया । वह नगर में प्रवेश करने के लिए आगे बढी, तो उसे स्थडिलभूमि जाती हुई साध्वियाँ दिखाई दी। अनगसुन्दरी ने सोचा –'ये साध्वियाँ तो वैसी ही है, जैसी मेरे पति ने मुझे बताई थी ।' वह साध्वियों के निकट आई । उसने प्रवर्तिनी महासती सुव्रताजी आदि को नमस्कार किया और उनके साथ उपाश्रय मे पहुँची । वहाँ तुम्हारी पुत्री प्रियदर्शना ने उसे देखी । अनगसुन्दरी ने सुव्रताजी और प्रियदर्शना को अपना वृत्तात सुनाया । उसकी कथा सुन कर प्रियदर्शना ने कहा –

''सखी ! तेरे पति वीरभद्र की वय और कला आदि की सभी विशेषताएँ मेरे पति वीरभद्र से बराबर मिलती हैं । किन्तु मात्र वर्ण में अन्तर है । तेरे पति का वर्ण श्याम है । और मेरे पति का गौर वर्ण है । बस, यही अन्तर है, शेष सभी बातें मिलती हैं ।''

सुव्रताजी ने कहा-'प्रियदर्शना! यह तुम्हारी धर्म-बहिन है । इसको धर्म साधना में साथ दो '

उधर वीरभद्र भी समुद्र में लहरों के साथ बहता हुआ एक पटिये को पकड कर अथडाता रहा। इस प्रकार बहते हुए, उसे रतिवल्लभ नाम के विद्याधर ने देखा और समुद्र से निकाल कर अपने आवास में ले गया । उस विद्याधर के पुत्र नहीं था, केवल एक पुत्री ही थी । उसका नाम रत्नप्रभा था । वीरभद्र को अनगसुन्दरी की चिन्ता सता रही थी । उसने विद्याधर को अपना वृत्तात सुनाया । विद्याधर ने 'आभोगिनी' विद्या के बल से जान कर कहा – ''अनगसुन्दरी तुम्हारी पूर्व पत्नी प्रियदर्शना के साथ पद्मिनीखड में, सुव्रताजी के उपाश्रय में रह कर धर्म-क्रिया कर रही है ।'' यह सुन कर वीरभद्र प्रसन्न हुआ । विद्याधर ने वीरभद्र को उपयुक्त वर जान कर अपनी पुत्री रत्नप्रभा का पाणिग्रहण कराया । जहाँ वीरभद्र, 'बुद्धदास' के नाम से प्रसिद्ध हुआ । कुछ काल वहाँ रहने के बाद दक्षिण-भरत देखने के बहाने, रत्नप्रभा को साथ ले कर, आकाश मार्ग से पद्मिनीखड नगर में आया । रत्नप्रभा को उपाश्रय के बाहर

बिठा दिया और बोला – "मैं अभी देहचिन्ता से मुक्त हो कर आता हू । तुम यही बैठना ।"

वीरभद्र वहाँ से चल कर एक गली में छुप गया और चुपके से देखने लगा । बड़ी देर तक प्रतीक्षा करने पर भी जब वीरभद्र नहीं आया, तो रत्नप्रभा घबडा गई । ज्यो-ज्या समय बीतता गया त्यों-त्यों उसकी धीरज कम होती गई और अनिष्ट की आशका ने उसे रुला दिया । उसका रुदन सुन कर एक साध्वी बाहर आई और उसे सान्त्वना दे कर उपाश्रय के भीतर ले गई । रत्नप्रभा उपाश्रय में गई, तब तक वीरभद्र उसे गुप्त रह कर देखता रहा। फिर वह निश्चिंत हो कर चला गया और अपना वामन रूप बना कर जादूगरी करता हुआ नगर में घूमने लगा । उसकी कला ने नगरभर को मोह लिया । वहाँ के नरेश ईशानचन्द्र भी उसकी कला पर मुग्ध हो गया ।

उपाश्रय मे पहुँचने के बाद अनगसुन्दरी और प्रियदर्शना ने रत्नप्रभा को देखा । उसका वृत्तात सुनने के बाद उन्होंने रत्नप्रभा से उसके पति का वण आदि पूछा । रत्नप्रभा ने कहा – "वे सिहलद्वीप के निवासी गौर वर्ण समस्त कलाओं म पारगत और कामदेव के समान रूप वाले मेरे पति हैं । उनका नाम 'बुद्धदासजी' हैं ।" यह सुन कर प्रियदर्शना बोली –"नाम और सिहलद्वीप निवास के अतिरिक्त अन्य सभी बातें मेरे पति से पूर्ण रूप से मिलती हैं ।" अनगसुन्दरी ने भी कहा – "मेरे पति के साथ भी नाम और वर्ण के अतिरिक्त सभी विशेषताएँ मिलती है ।" अब रत्नप्रभा भी उन दोनों के साथ सगी तीन बहिनों जैसी रहने लगी । वामन बना हुआ वीरभद्र प्रतिदिन उपाश्रय म आ कर अपनी तीनों पत्नियों को देख जाता था । उन तीनों को साथ हिलमिल कर रहते देख कर वह प्रसन्न होता था ।

एक बार राजा के सामने किसी सभासद ने कहा – "नगर के किसी उपाश्रय में तीन अपूर्व सुन्दरी युवतियाँ आई हुई हैं । वे तीनों पवित्र हैं । वे किसी पुरुष से नहीं बोलती । यदि कोई उनसे बाले तो भी वे पुरुष से नहीं बोलती ।" यह सुन कर वामन बने हुए वीरभद्र ने कहा-"मैं उनम से एक-एक को अपने से बोला सकता हूँ ।" वह बड़े-बडे अधिकारियो और मुख्य नागरिकों के साथ उपाश्रय में आया । उसने एक मुख्य अधिकारी को पहले ही कर दिया कि "उपाश्रय में बैठने के बाद मुझ 'कोई कथा कहने' के लिए कहना ।" उपाश्रय में प्रवेश कर के प्रवर्तिनी महासती और अन्य सतियों को वन्दना की और उपाश्रय के द्वार के निकट बैठ गया । वामन को देखने के लिए साध्वीजी के साथ तीनों महिलाएँ भी आ गई । वामन ने कहा – "मैं थोड़ी देर के लिए बैठता हू, फिर राजेन्द्र के पास जान का समय होने पर मैं चला जाऊँगा ।" यह सुन कर साथिया में से एक ने कहा – "इतने में कोई आश्चर्यकारक कथा ही सुना दो ।" वामन ने कहा – "सुनी हुई कथा कहूँ, या बीती हुई हकीकत कहू ?" उत्तर मिला – "बीती हुई ही सुना दो ।" अब वामन कहने लगा –

"ताम्रलिप्ति नाम की नगर में ऋषभदत्त सेठ रहते हैं । वे एक बार व्यापारार्थ पद्मिनीखड में आये।

उन्होंने सागरदत्त सेठ की सुपुत्री प्रियदर्शना के साथ अपने पुत्र वीरभद्र के लग्न कर दिये । वीरभद्र, प्रिदर्शना के साथ सुख पूर्वक रहने लगा । एक दिन प्रियदर्शना कपट-निद्रा में सोई हुई थी । वीरभद्र उसे जगाने लगा, तब प्रियदर्शना ने कहा,-

"मुझे मत सताइये । मेरे सिर मे पीडा हो रही है ।"

- "कैसी पीडा हो रही है - मीठी या कडवी ?"

- "मीठी । कडवी हो मेरे वैरी को ।"

- "अच्छा, तो मीठे दर्द की दवा तो मैं खूब जानता हूँ ।"

"उसी रात प्रियदर्शना को नींद आ जाने के याद वह उसे छोडकर चला गया ।" इतनी बात कह कर वामन उठ खडा कहने लगा - अब मेरे दरबार में जाने का समय हो गया ।" प्रियदर्शना ने वामन से पूछा - "महानुभाव ! फिर वीरभद्र कहाँ गये ?"

- "मैं अपने कुल गौरव एव शील की रक्षा के लिए स्त्रियो से यात नहीं करता ।"

- "कुलीन व्यक्ति का प्रथम गुण दाक्षिण्यता है । आप दाक्षिण्यता से ही मुझे बताइए।"

"अभी तो समय हो चुका है । अव मैं कल बतलाऊँगा ।" इतना कह कर वह चला गया । दूसरे दिन उसने आगे की वात इस प्रकार कही,-

"वीरभद्र मन्त्रगुटिका से श्यामवर्ण वाला बन कर देशाटन करता हुआ सिहलद्वीप पहुँचा ।" इस प्रकार वह अनगसुन्दरी सम्बन्धी वृत्तात, समुद्री सकट तक कह कर रुक गया । अनगसुन्दरी ने आग्रह पूर्वक पूछा - "भद्र ! अब वीरभद्र कहाँ है ?" "अव मेरे दरबार मे जाने का समय हो गया है । शेष बात कल कहूँगा ।" - इतना कह कर चला गया । तीसर दिन उसने विद्याधर द्वारा बचाये जाने और रत्नप्रभा के साथ उपाश्रय तक आने की बात कही । रत्नप्रभा ने पूछा - "अब बुद्धदास कहा है ?" वामन ने कहा - "शेष बात कल कही जायेगी," और चला गया । तीना महिलाओं को विश्वास हो गया कि हमारा पति एक ही है ।"

महर्षि ने इतनी कथा कहने के बाद सागर सेठ से कहा - "यह वामन की तुम्हारा जामाता है और यही उन तीनो स्त्रिया का पति है । अभी यह कला-प्रदर्शन की इच्छा से वामन बना हुआ है " सागर सेठ महात्मा को वन्दना कर के वामन के साथ उपाश्रय मे आये । उन्होंने साध्वियों को वन्दना करने के याद तीनो स्त्रियों से कहा - "तुम तीना का पति यह वामन ही है ।" एकान्त में जा कर वामन ने अपना रूप बदला । पहले वह श्याम वर्ण हो कर आया । अनगसुन्दरी ने उसे पहिचान लिया । उसके बाद वह अपने मूल गौरवर्ण में आ गया । सेठ ने पूछा- "तुमने इतना प्रपच क्यो किया ?" वीरभद्र ने कहा - "मैं तो सैर-सपाटे और कला-प्रदर्शन के लिए ही घर से चला था ।"

दूसरे दिन भगवान् अरनाथ स्वामी ने वीरभद्र के पूर्वभव का वृतात कहते हुए बताया कि - "मैं पूर्व के तीसरे भव में पूर्व-विदेह में राज्य का त्याग कर दीक्षित हो कर विचर रहा था । चार मास के तप का पारणा मैंने रत्नपुर के सेठ जिनदास के यहाँ किया था । जिनदास आयु पूर्ण कर ब्रह्म देवलोक में गया । वहाँ से च्यव कर मनुष्य-भव में समृद्धिवान् श्रावक हुआ । वहाँ धर्म की आराधना करके अच्युत देवलोक में गया और वहाँ से च्यव कर वीरभद्र हुआ है । पुण्यानुबन्धी-पुण्य का यह फल है ।" भगवान् विहार कर गए । वीरभद्र ने चिरकाल तक भोग जीवन व्यतीत किया और सयम पालकर स्वर्ग मे गया ।

भगवान् अरनाथ स्वामी के कुभ आदि ३३ गणधर, ५०००० साधु, ६०००० साध्वियाँ, ६१० चौदह पूर्वधर, २६०० अवधिज्ञानी, २५५१ मन पर्यायज्ञानी, २८०० केवलज्ञानी, ७३०० वैक्रिय लब्धि वाले, १६०० वाद लब्धि वाले, १८४००० श्रावक और ३७२००० श्राविकाएँ हुई।

भगवान् अरनाथ स्वामी २०९९७ वर्ष केवलज्ञानी तीर्थंकरपने विचरे । निर्वाण समय निकट जान कर एक हजार मुनियो के साथ सम्मेदशिखर पर्वत पर पधारे और अनशन किया । एक मास के पश्चात् मार्गशीर्ष शुक्ला दशमी को रेवती नक्षत्र में मोक्ष प्राप्त हुए ।

भगवान् अरनाथ स्वामी २१००० वर्ष कुमार अवस्था मे, इतने ही माडलिक राजा, इतने ही वर्ष चक्रवर्ती सम्राट और इतने ही वर्ष व्रत-पर्याय में रहे । कुल आयु ८४००० वर्ष का था । इन्द्रादि देवो ने भगवान् का निवार्ण-महोत्सव किया ।

अठारहवें तीर्थंकर

भगवान्

।। अरनाथजी का चरित्र सम्पूर्ण ।।

छठे वासुदेव-बलदेव

भगवान् अरनाथ के तीर्थ में छठे वासुदेव, बलदेव और प्रतिवासुदेव हुए । उनका चरित्र इस प्रकार है ।

विजयपुर नाम के नगर में सुदर्शन नाम का राजा था । उसने दमधर नाम के मुनिराज से धर्मोपदेश सुन कर दीक्षा ग्रहण करली और चारित्र तथा तप की आराधना कर के सहस्रार नाम के देवलोक में देव हुआ ।

इस भरत क्षेत्र में पोतनपुर नाम का नगर था । प्रियमित्र नाम का राजा वहाँ राज करता था । उस राजा की अत्यत सुन्दरी एव प्रिय रानी का, सुकेतु नाम के दूसरे बलवान् राजा ने हरण कर लिया था। इस असह्य आघात से प्रियमित्र राजा अत्यत दु खी हुआ । ससार की भयानक स्थिति का विचार कर वह विरक्त हो गया और सयमी बन कर कठोर तप करने लगा । वह चारित्र और तप की आराधना तो करता था किन्तु उसके हृदय मे सुकेतु के प्रति वैर का काँटा खटक रहा था । जब उसे वह याद आता, तो वह द्वेष पूर्ण स्थिति मे कुछ समय सोचता ही रहता । उसने अपने शरीर की उपेक्षा कर के कठोर साधना अपना ली, किन्तु साथ ही आत्मा की भी उपेक्षा कर दी और वैरभाव की तीव्रता मे यह निश्चय कर लिया;- "मैं इस समय तो भौतिक साधनों से हीन हूँ । किन्तु इस कठोर साधना के फलस्वरूप आगामी भव मे विपुल एव अमोघ साधनों का स्वामी बन कर, इस सुकेतु क सर्वनाश का कारण बनू* । इस प्रकार सकल्प कर के मन मे एक गाठ बाँधली और जीवन पर्यन्त इस वैर को गाठ को बनाये रखा । साधना उनकी चलती रही । किन्तु अध्यवसायों में रही हुई अशुद्धि ने उस साधना को मैली बना दिया । वे जीवन की स्थिति पूर्ण कर माहेन्द्र नाम चौथे देवलोक में देव हुए ।

वैताढ्यगिरि पर अरिजय नगर में मेघनाद नाम का विद्याधर राजा था । सुभूम चक्रवर्ती ने उसे विद्याधर की दोनो श्रेणियो का राज्य दिया था । वह सुभूम चक्रवर्ती की रानी पद्मश्री का पिता था । प्रियमित्र की रानी का हरण करने वाला सुकेतु राजा भवभ्रमण करता हुआ मेघनाद के वश म 'बलि' नाम का प्रतिवासुदेव हुआ । वह तीन खण्ड पृथ्वी का अधिपति था ।

इस जम्बूद्वीप के दक्षिण भरतार्द्ध में चक्रपुर नाम का नगर था । वहाँ महाशिर नाम का महाप्रतापी राजा राज करता था । वह बुद्धि कला और प्रतिभा में उस समय के अन्य राजाओ में सर्वोपरि था । उस राजा के 'वैजयती' और 'लक्ष्मीवती' नाम की दो रानियाँ थी । वे रूप गुण और अन्य विशेषताओं

---

* पाठक सोच सकते हैं कि निदान करने वाले आगामी भव की अनुकूलता का ही निदान क्या करते हैं ? इसी भव का क्यों नहीं करते ? उत्तर है - यदि इसी भव में वैर लेना चाहे तो उन्हें साधुता से पतित हो कर लोकनिन्दित होना पड़े । वे सोचते हैं कि हमने आजीवन सयमी रहने की प्रतिज्ञा ली । अतएव प्रतिज्ञा का भग हम नहीं कर सकते । अन्यथा तेजोलेश्या आदि शक्ति प्राप्त कर, व इसी भव में बदला ले सकते थे ।

से विभूषित थी । मुनिराज सुदर्शनजी का जीव, सहस्रार देवलोक से च्यव कर महारानी वैजयती के गर्भ म आया । महारानी ने चार महास्वप्न देखे । गर्भकाल पूर्ण होने पर एक सुन्दर पुत्र को जन्म दिया। योग्य वय में राज कुमार 'आनन्द' विद्या, कला एव न्याय-नीति में पारगत हुआ ।

प्रियमित्र मुनि का जीव चौथे माहेन्द्र स्वर्ग से च्यव कर महारानी लक्ष्मीवती की कुक्षि में उत्पन्न हुआ । महारानी ने सात महास्वप्न देखे । जन्म होने पर पुत्र का नाम 'पुरुषपुडरीक' दिया गया । वह भी विद्या और कला आदि में प्रवीण हो गया । आनन्द और पुरुषपुडरीक में घनिष्ठ स्नेह था । दोनों अतिशय योद्धा और महान् शक्तिशाली थे । राजेन्द्रपुर के राजा उपेन्द्रसेन की अनुपम सुन्दरी कन्या राजकुमारी पद्मावती का विवाह राजकुमार पुरुषपुण्डरीक के साथ हुआ । त्रिखण्डाधिपति महाराजा बलि के पुण्य का ठतार प्रारभ हो कर पापोदय प्रकट होने वाला था । उसने पद्मावती के अनुपम रूप की प्रशसा सुनी और उसे प्राप्त करने के लिए वह चढ आया । बलि को अनीतिपूर्वक आक्रमण करने के लिए आता हुआ जान कर राजकुमार आनन्द और पुरुषपुण्डरीक भी उसके सामने चढ आये । इन दोनों बन्धुओ के पुण्य का उदयकाल था । देवो ने राजकुमार आनन्द को हल आदि तथा पुरुषपुण्डरीक को शारग धनुष आदि शस्त्र अर्पण किये । दोनों ओर की सेनाओं में युद्ध छिड गया । घमासान युद्ध में बलि की सेना ने भीषण प्रहार कर के शत्रु-सेना के छक्के छुडा दिए । अपनी सेना को हताश हो कर मरती-कटती और भागती हुई देख कर दोनों वीर योद्धा अपने शस्त्र ले कर आगे आये । राजकुमार पुरुषपुण्डरीक ने पाचजन्य शख का नाद किया । उस महानाद के भीषण स्वर ने बलि की सेना के साहस को नष्ट कर दिया और भय भर दिया । आगे के सैनिक पीछे खिसकने लगे । पुरुषपुडरीक ने इसके बाद शारग धनुप का टकार दिया । टकार सुनते ही बलि की सेना भाग गई । अपनी सेना को रण क्षेत्र छोड़ कर भगती हुई देख कर, बलि स्वय रणक्षेत्र में आया और भीषण बाण-वर्षा करने लगा । उधर बलि की बाण-वर्षा से अपना बचाव करते हुए राजकुमार पुरुषपुण्डरीक भी बलि पर बाणों की मार चला रहे थे । अपने बाणो और विशिष्ट अस्त्रो का उचित प्रभाव नहीं देख कर बलि ने चक्रधारण किया और उसे घुमा कर जोर से अपने शत्रु पर फेंक मारा । चक्र के प्रहार को राजकुमार सह नहीं सके और नीचे गिर कर मूर्च्छित होगए । थोड़ी ही देर में सावधान हो कर उन्होने उसी चक्र को उठाया और बलि से -"ले अब सम्भाल अपने इस चक्र को" - कहते हुए उन्होंने फेंका । बलि का पुण्य एव आयुष्य समाप्त था । चक्र के प्रहार से उस का सिर कट गया और वह मर कर नरक में गया । प्रतिवासुदेव पर विजय पा कर पुरुषपुण्डरीक वासुदेव और ज्येष्ठ-भ्राता आनन्द बलदेव हो गए । उन्होंने दिग्विजय के लिए प्रयाण किया । पुरुषपुडरीक अपने पेंसठ हजार वर्ष के आयुष्य तक राज्य-ऋद्धि और भोग-विलास में गृद्ध हो कर और निदान का फल भोग कर, मृत्यु पा छठी नरक का महा दु ख भोगने के लिए चले गए ।

अपने छोटे भाई की मृत्यु से आनन्द बलदेव को बडा धक्का लगा । वे ससार का त्याग कर पूर्ण सयमी बन गए और चारित्र का पूर्ण शुद्धता के साथ पालन करते हुए मोक्ष पधार गए ।

सुभूम चक्रवर्ती

भगवान् अरनाथ स्वामी के तीर्थ में ही 'सुभूम' नाम के आठवे चक्रवर्ती हुए । उनका चरित्र इस प्रकार है -

इस भरतक्षेत्र मे एक विशाल नगर था । भूपाल नाम का राजा वहाँ राज करता था । वह महापराक्रमी था । किन्तु एक बार अनेक शत्रु राजाओ ने मिल कर एक साथ उस पर आक्रमण कर के उसे हरा दिया। अपनी पराजय से खिन्न हो कर भूपाल विरक्त हो गया और 'सभूति' मुनिराज के पास निर्ग्रन्थ प्रव्रज्या ग्रहण कर ली । सयम के साथ उग्र तप करते हुए वे विचरने लगे । कालान्तर में उनके मन म भोग-लालसा उत्पन्न हुई । मोह की दबी और मुरझाई हुई विष-लता भी बडी विषैली होती है । इसे थोडा सा भी अनुकूल निमित्त मिला कि क्षीण प्राय दिखाई देने वाली लता पुन हरीभरी हो कर अपना प्रभाव बताने लगती है । माह को नष्ट करने के लिए तत्पर बने हुए राजर्षि पुन मोह के चक्कर मे पड गए और निदान कर लिया कि "मेरी उच्च साधना के फलस्वरुप,आगामी भव में मैं काम भोग की सर्वोत्तम एव प्रचुर सामग्री का भोक्ता बनूँ ।" इस प्रकार अपनी साधना स (-जो चिन्तामणि रत्न से भी महान् फल देने वाली थी) किपाक फल के समान दु खदायी विषफल प्राप्त कर लिया । वे मृत्यु पा कर महाशुक्र नाम के आठवें स्वर्ग मे देव हुए ।

भरत क्षेत्र के वसतपुर नगर में अपने वश का उच्छेद करने वाला एक 'अग्निक' नाम का लडका था । एक बार वह विदेश गया । वह अकेला भटकता हुआ तापसो के आश्रम मे चला गया । आश्रम के वृद्ध कुलपति ने उसे अपने पुत्र के समान रखा और उसे तापस बनाया । वह 'जमदग्नि' के नाम से प्रख्यात हुआ । उग्र तप करते हुए वह स्वय अपने दु सह तेज से विशेष विख्यात हुआ ।

परशुराम की कथा

वैश्वानर नाम का देव पूर्वभव मे श्रावक था और धन्वन्तरी नाम का देव तापस भक्त था । दोना देवा मे परस्पर वाद छिड गया । वैश्वानर कहता था कि 'आहत् धर्म यथार्थ एव सत्य है' और धन्वन्तरी कहता था 'तापस धर्म उत्तम है ।' दोनों ने परीक्षा करने का निश्चय किया । वैश्वानर ने कहा - 'तू किसी नवदीक्षित निग्रन्थ की भी परीक्षा करगा, तो वह सच्चा उतरेगा । किन्तु तेर किसी प्रोढ साधक की परीक्षा ली जायगी तो वह टिक नहीं सकेगा ।' पहले दाना दव निग्रन्थ की परीक्षा करने आय । मिथिलानगरी का पद्मरथ राजा भाव-यति था । वह प्रव्रज्या ग्रहण करने के उद्देश्य स मिथिलानगरी से पादविहार कर चम्पानगरी में, भ वासुपूज्य स्वामी के पास जा रहा था । दोना देव उसके पास आय और उसके सामने भोजन और पानी के पात्र रख कर भोजन करने का निवेदन किया । यद्यपि पद्मरथ भूख और प्यास से पीडित था, तथापि अकल्पनीय होने क कारण भाजन और पानी ग्रहण नहीं किया। देवों ने मार्ग में ककरो को इतने तीक्ष्ण बना दिये कि मार्ग चलना कठिन हो गया और मुनि क कोमल

पाँवों में से रक्त बहने लगा किन्तु वे विचलित नहीं हुए । थोडी दूर चलने पर उन्हे एक सिद्धपुत्र + का रूप धारण किया हुआ देव सामने आ कर कहने लगा - "हे महाभाग ! अभी तो तुम्हारा जीवन बहुत लम्बा है और खाने पीने, भोग भोगने और ससार सुख का आस्वादन करने के दिन है । अभी से योग लेन की क्या आवश्यकता हुई ? जब भोग से तृप्त हो जाओ और इन्द्रियाँ निर्बल हो जाय तब साधु बनना । भरपूर युवावस्था मे साधु बन कर, प्राप्त मनुष्य-भव को व्यर्थ गवाना बुद्धिमानी नहीं है ।" भावमुनि पद्मरथजी ने कहा-- "भाई !जीवन का क्या भरोसा ? साधना में विलम्ब करना बुद्धिमानी नहीं है । यदि जीवन लम्बा हुआ तो धर्म-साधना बहुत होगी । यह तो विशेष लाभ की बात है । कल के भरोसे निश्चिंत रहना तो मूर्खता है ।"

देवों ने उसकी दृढता देख ली । अब वे किसी तापस की परीक्षा करने के लिए चले । चलते-चलते वे दोनो उस जमदग्नि तपस्वी के आश्रम में आये ।

दोनों देव जमदग्नि के पास आये । वह विशाल वट वृक्ष के नीचे बैठा था । उसकी बढी हुई जटाएँ भूमि को स्पर्श कर रही थी । वह ध्यानारूढ था । दोनो देवों ने चिडिया क जोड़ का रूप बनाया और जमदग्नि की दाढी के झुरमुट म बैठ गए । चीडे ने चिडिया से कहा -

"प्रिये ! मैं हिमालय की ओर जाऊँगा ।"

"फिर कब लौटेगा" - चिडिया ने पूछा ।" बहुत जल्दी" - चीडे ने कहा -

"यदि तू वहीं किसी सुन्दर चिड़िया में लुब्ध हो कर मुझे भूल जाय तो"- चिडिया ने आशका व्यक्त की ।

"नहीं, इस साधारण शपथ पर मैं तुझे नहीं छोडती । यदि तू यह शपथ ले कि "मैं काम कर के वापिस नहीं लौटू और वहीं किसी चिडिया में फस जाऊँ तो, मुझे इस तपस्वी का पाप लगे ।" इस शपथ पर मैं तुझे छोड सकती हूँ" - चिडिया ने अपनी शर्त रखी और चीड़े ने स्वीकार करली ।

यह बात जमदग्नि सुन रहा था । जब उसने चिडिया की शर्त सुनी तो क्रोधित हो गया और दोनों पक्षिया को हाथों में पकड कर पूछा,-

"बोल मैने कौनसा पाप किया ? मैं चिरकाल से ऐसा कठोर तप कर रहा हूँ और कभी कोई पाप नहीं किया, फिर भी तुम मुझे गो-घातक से भी महापापी बतला रहे हो ? बताओं मैंने कब और कौनसा महापाप किया ?"

चिड़िया ने कहा;- "ऋषिश्वर ! क्रोध क्यों करते हैं, क्या आप इस श्रुति को नहीं जानते - "अपुत्रस्य गतिर्नास्ति, स्वर्गो नैव च नैव च," जब आप अपुत्र हैं, तो आपकी सद्गति कैसे होगी और आपकी यह तपस्या किस काम आएगी ? बिना गृहस्थ-धर्म का पालन किये बिना पत्नी और पुत्र को तृप्त कर, पितृ ऋण का भार उतारे और बिना गृहस्थ धर्म सञ्चालक उत्तराधिकारी छोडे यह

+ सयम से गिरा हुआ - पडवाई।

व्यर्थ का पाप प्रपञ्च क्यो किया ? जो अवस्था गृहस्थ-धर्मपालन करने की थी, उसे नष्ट कर के और कर्त्तव्य-भ्रष्ट हो कर आपने पाप नहीं किया क्या ? जरा शाति से विचार कर देखिये ।"

तपस्वी विचार में पड गया । उसने सोचा "बात तो ठीक कहता है - यह पक्षी । धर्म-शास्त्र में लिखा है कि पुत्र-विहीन मनुष्य की सद्‌गति नहीं होती । मैं इस सिद्धात को तो भूल ही गया । इस भूल से मेरा इतने वर्षों का जप, तप, ध्यान और साधना व्यर्थ गई। बिना स्त्री और पुत्र के मेरा उद्धार नहीं हो सकता ।"

इस प्रकार जमदग्नि को विचलित हुआ जान कर धनवन्तरी देव आर्हत् हो गया और दोनों देव अदृश्य हो गए ।

मिथ्या विचारों से भ्रमित जमदग्नि ने अपना आश्रम छोड दिया और 'नैमिक कोष्टक' नगर मे आया । वहाँ के राजा जितशत्रु के बहुत-सी कन्याएँ थी । उनमें से एक कन्या की याचना करने के लिए जमदग्नि राजा के पास आये । राजा ने उनका सत्कार किया और आने का प्रयोजन पूछा । जमदग्नि ने कहा - " मैं आप से एक कन्या की याचना करने आया हूँ ।" राजा उसकी शक्ति से डरता था । उसने कहा - "मेरे सौ कन्या हैं । इनमे से जो आपके साथ आना चाहे, उसे आप ले सकते हैं ।" जमदग्नि अत पुर में गए और राजकुमारियो से कहा - "तुम मे से कोई एक मेरी धर्मपत्नी हो जाओ ।" राजकुमारियों ने यह बात सुन कर तिरस्कार पूर्वक कहा,- "अरे ओ जोगडे ! भीख माँग कर पेट भरता है, जटाधारी ऋषि बना हुआ है, तुझे राजकुमारी पत्नी बनाने का मनोरथ करते लज्जा नहीं आती ?" इस प्रकार सभी ने उससे घृणा की और उसकी इस अनहोनी बात पर 'थू थू' कर के मुँह बिगाडने लगी । जमदग्नि इस अपमान से क्रोधित हो गया और अपनी शक्ति से उन सब को कुबडी बना दिया । उस समय एक छोटी कन्या रेणु धूल के ढेर के साथ खेल रही थी । जमदग्नि ने उसे पुकारा - "रेणुका ! बच्ची ने जमदग्नि की ओर देखा । उसने एक बिजोरे का फल दिखाते हुए कहा - "ले, रेणुका ! यह लेना है ?" बालिका ने फल लेने के लिए हाथ बढाया । उसके बढे हुए हाथ को स्वीकृति मान कर उसे उठा लिया । राजा ने उस बालिका को गाय आदि के साथ विधिपूर्वक दे दी । सतुष्ट हुए जमदग्नि ने सभी राजकुमारिया को स्वस्थ किया । रणुका को जमदग्नि अपने आश्रम में लाया और यत्नपूर्वक उसका पालन-पोषण करने लगा । कालान्तर मे रेणुका यौवन वय को प्राप्त हुई और जमदग्नि ने उसे पत्नीरूप मे स्वीकार की । ऋतुकाल होने पर जमदग्नि ने रेणुका से कहा - "मैं तेरे लिए एक ऐसे चरु (हवन के लिए पकाया हुआ अन्न) की साधना करूँगा कि जिससे तेरे गर्भ से ऐसा पुत्र उत्पन्न हो, जो सर्वश्रेष्ठ ब्राह्मण हो ।" इस पर से रेणुका ने कहा -"हस्तिनापुर के महाराज अनतवीर्य की रानी मेरी बहिन है । उसके लिए भी आप ऐसा चरु साधें कि जिससे उसके गर्भ से एक क्षत्रियोत्तम

पुत्र का जन्म हो।" जमदग्नि ने दोनो चरु की साधना की और दाना चरु रेणुका को दे दिये। रेणुका के मन में विचार उत्पन्न हुआ - 'मैं तो वनवासिनी हुई। किन्तु मेरा पुत्र भी यदि ऐसा ही वनवासी ब्राह्मण हा, तो इससे क्या लाभ होगा। यदि मेरा पुत्र क्षत्रियशिरोमणि हो, तो मैं धन्यभागा हो जाऊँगा।" उसने क्षत्रिय चरु खा लिया और ब्राह्मण चरु अपनी बहिन को दे दिया। दोनों के एक-एक पुत्र हुआ। रेणुका के पुत्र का नाम 'राम' और उसकी बहिन के पुत्र का नाम 'कृतवीर्य' हुआ।

एक बार एक विद्याधर आकाश मार्ग से जा रहा था। वह माग में ही अतिसार रोग से आक्रान्त हो गया और अपनी आकाशगामिनी विद्या भूल गया। वह उस आश्रम के पास उतरा - जहाँ जमदग्नि, रेणुका और राम रहते थे। राम ने उस विद्याधर की सेवा की और नीरोग बनाया। सेवा स प्रसन्न हो कर विद्याधर ने राम को परशु विद्या प्रदान की। राम ने उस विद्या को सिद्ध कर ली और परशु (फरसा - कुल्हाडी जैसा शस्त्र) ग्रहण करने लगा। इससे उसका नाम 'परशुराम' प्रसिद्ध हो गया।

कालान्तर में रेणुका अपनी बहिन को मिलने के लिए हस्तिनापुर गई। महाराज अनन्तवीर्य रेणुका को देख मोहित हो गए और उसके साथ कामक्रीडा करने लगे। इस व्यभिचार से रेणुका के एक पुत्र का जन्म हुआ। और उस जारज पुत्र के साथ वह आश्रम म पहुँची। जमदग्नि ने तो उसे स्वीकार कर लिया, किन्तु परशुराम को माता का कुकर्म सहन नहीं हुआ। उसने अपने फरसे से रणुका और उसके पुत्र को मार डाला। यह समाचार अनन्तवीर्य ने सुना तो वह क्रोधित हो कर परशुराम पर चढ आया और जमदग्नि के आश्रम को नष्ट कर दिया। तापसो को मार पीट कर उनकी गाये आदि ले कर लौट गया। जब परशुराम ने तापसो की दुर्दशा का हाल सुना तो अत्यन्त क्रुद्ध हो गया और फरसा लेकर राजा के पीछे पडा। परशुराम, अपन विद्या-सिद्ध फरसे से अनन्तवीर्य की सेना को काटने लगा। राजा सहित सेना मारी गई। अनन्तवीर्य क मरने के बाद उसके पुत्र कृतवीर्य का राज्याभिषेक हुआ। कृतवीर्य अपनी रानी तारा के साथ भोग भागता हुआ सुखपूर्वक काल बिताने लगा।

भूपाल मुनि का जीव, महाशक्र देवलोक से च्यव कर महारानी तारा के गर्भ में आया। महारानी ने चौदह महास्वप्न देखे।

कृतवीर्य ने अपनी माता से पिता की मृत्यु का हाल सुना, तो पितृघातक से वैर लेने पर उद्यत होगया। वह सेना ले कर जमदग्नि के आश्रम में आया और जमदग्नि को मार डाला। जब परशुराम ने सुना, तो वह हस्तिनापुर आया और कृतवीर्य को मार कर स्वय हस्तिनापुर का राजा बन गया। परशुराम की क्रूरता से भयभीत हो कर महारानी तारा निकल भागी और वन में जा कर एक तापस के आश्रम में पहुँची। कुलपति ने परिस्थिति का विचार कर तारा को भूमिगृह में रखी। वहाँ उसके पुत्र का जन्म हुआ। भूमिगृह म जन्म होने के कारण बालक का नाम 'सुभूम' रखा।

क्रोध मूर्ति के समान परशुराम ने क्षत्रियो का सहार करना प्रारभ किया । एक बार वह विनाशमूर्ति उस आश्रम में पहुँची औॅर क्षत्रिय को खोजने लगी । तापसो ने कहा - "हम तपस्या करने वाले क्षत्रिय हैं ।" परशुराम ने सात बार पृथ्वी को क्षत्रिया से रहित कर दी और मारे हुए क्षत्रिय योद्धाआ की दाढाअ से थाल भर कर प्रदर्शन के लिए रख दिया ।

एक बार परशुराम ने किसी भविष्यवेत्ता से पूछा - "मेरी मृत्यु किस निमित्त से होगी ?" उत्तर मिला - "जिस पुरुष के प्रताप से ये दाढाएँ क्षीर रूप में परिणत हो जायगी और जो इस सिहासन पर बैठ कर उस खीर को पी जायगा, वही तुम्हारी मृत्यु का कारण बनेगा ।" यह सुन कर परशुराम ने एक दानशाला स्थापित की और उसके सामने एक उच्चासन पर दाढाओ से परिपूर्ण वह थाल रखवाया और उस पर पहरा लगा दिया ।

सुभूम वढ़ते-बढते युवावस्था मे आया ।

वैताढ्य पर्वत पर रहने वाले विद्याधर मेघनाद ने किसी भविष्यवेत्ता से पूछा - "मेरी पुत्री पद्मश्री का पति कौन होगा ?" भविष्यवेत्ता ने सुभूम को बताया । मघनाद, पुत्री को ले कर सुभूम के पास आया और उसके साथ पुत्री के लग्न कर के स्वय उसकी सहायता के लिए उसके पास रह गया ।

एक बार सुभूम ने अपनी माता से पूछा - "क्या पृथ्वी इतनी ही बडी है जहाँ हम रहते हैं ?" माता ने कहा - "पुत्र ! पृथ्वी तो असख्य योजन लम्बी व चौडी है । इस पर हस्तिनापुर नगर है, जिस पर तुम्हारे पिता राज करते थे । किन्तु दुष्ट परशुराम ने उन्हे मार डाला और खुद राजा बन गया । उस समय तुम गर्भ मं थे । मैं तुम्ह ले कर यहा चली आई और गुप्त रूप से तुम्हारा पालन किया ।" यह सुनते ही सुभूम का क्रोध भडका वह उसी समय हस्तिनापुर के लिए चल दिया । उसका श्वशुर मेघनाद भी साथ हो गया । वह हस्तिनापुर की दानशाला मे आया । उसके आते ही थाल मे रही हुई दाढे गल कर क्षीर रूप म हो गई । सुभूम उस क्षीर को पी गया । यह देख कर वहाँ रहे हुए रक्षक ब्राह्मण युद्ध करने को तत्पर हो गए । मेघनाद ने उस सब को मार डाला । यह सुन कर परशुराम दौड़ा आया और सुभूम पर अपना फरसा फैंका । किन्तु उसका निशाना चूक गया। परशुराम के पुण्य समाप्त हो गए थे और सुभूम के पुण्य का उदय हो रहा था । सुभूम ने वह क्षीर की खाली थाली परशुराम पर फैंकी । थाली ने चक्र के समान परशुराम का सिर काट डाला । परशुराम के मरने पर सुभूम राज्याधिपति हो गया । उसने इक्कीस बार पृथ्वी को ब्राह्म-विहीन कर डाली और छह खड को साध कर चक्रवर्ती सम्राट हो गया । उसने मेघनाद को वैताढ्य पर्वत की दोनों श्रेणिया का राज्य दिया ।

भोगगृद्धा और हिंसादि महारभ तथा रौद्रध्यान की तीव्रता युक्त अपनी साठ हजार वर्ष की आयु पूर्ण कर सुभूम नाम का आठवाँ चक्रवर्ती सातवीं नरक में गया ।

दत्त वासुदेव चरित्र

भगवान् श्री अरनाथ स्वामी के तीर्थ में 'दत्त' नाम का सातवाँ वासुदेव, 'नन्दन बलदेव और प्रह्लाद' प्रतिवासुदेव हुआ ।

जम्बूद्वीप के पूर्व-विदेह मे सुसीमा नाम की नगरी थी । वसुधर नाम के नरेश वहाँ के अधिपति थे । उन्होंने सुधर्म अनगार के समीप दीक्षा ली और चारित्र का पालन कर पाँचवें देवलोक में देव हुए।

जम्बूद्वीप के दक्षिण भरतार्द्ध में शीलपुर नगर था । मन्दरधीर राजा राज करते थे । उसके ललितमित्र नाम का गुणवान् ज्येष्ठ पुत्र था । राजा के खल नाम के मन्त्री ने बडे राजकुमार की निन्दा कर के राजा का अप्रसन्न कर दिया और छोटे पुत्र को युवराज बना दिया । इससे अप्रसन्न हो कर ललितमित्र ने घोषसेन मुनिजी के पास दीक्षा ग्रहण कर ली। उग्र तप करते हुए उसने निदान कर लिया कि - "मैं आगामी भव में दुष्ट खल मन्त्री का वध करने वाला बनू ।" निदान-शल्य सहित काल कर के वह प्रथम देवलोक में ऋद्धि सम्पन्न देव हुआ । खल मन्त्री चिरकाल तक ससार में परिभ्रमण करता हुआ जम्बूद्वीप के वैताढ्य पर्वत की उत्तर श्रेणी के तिलकपुर नगर में विद्याधरो का अधिपति 'प्रह्लाद' नाम का प्रतिवासुदेव हुआ।

जम्बूद्वीप के दक्षिण भरत में वाराणसी नगरी थी । अग्निसिंह नाम का इक्ष्वाकुवशी राजा था। उसके रूप एव सौन्दर्य से भरपूर जयती और शेषवती नाम की दो रानियाँ थी । वसुधर मुनि का जीव, पाँचवें स्वर्ग से च्यव कर चार महास्वप्न के साथ महारानी जयती के गर्भ में आया । जन्म होने पर पुत्र का नाम 'नन्दन' दिया । ललितमित्र का जीव, महारानी शेषवती के गर्भ में सात महास्वप्न के साथ आया । जन्म होने पर पुत्र का नाम 'दत्त' रखा। दोनो भाई युवावस्था में समानवय के मित्र के समान लगते थे । वे महापराक्रमी योद्धा थे ।

प्रतिवासुदेव प्रह्लाद को समाचार मिले कि - अग्निसिंह राजा के पास ऐरावत के समान उत्तम हाथी है । उसने हाथी की माँग की, किन्तु राजकुमारों ने उस माग को अस्वीकार कर दी । प्रह्लाद क्रोधित हो कर युद्ध के लिए चढ़ आया और अन्त में उसी के चक्र से मारा गया । उसके समस्त राज्य पर राजकुमार दत्त ने अधिकार कर लिया और वासुदेव पद पर प्रतिष्ठित हुआ । राजकुमार नन्द बलदेव हुए । राज्य एव भोग में गृद्ध एव दुर्ध्यान म लीन रहते हुए दत्त वासुदेव अपनी ५६००० वर्ष की आयु पूर्ण कर के पाँचवीं नरक में गए। नन्दन बलदेव ससार से विरक्त हो कर दीक्षित हो गए और चारित्र की आराधना कर मोक्ष प्राप्त हुए ।

भ० मल्लिनाथ जी

जम्बूद्वीप के अपर-विदेह के सलिलावती विजय मे वीतशोका नाम की नगरी थी ।'बल' नाम के महाराजा वहाँ राज करते थे । वे बडे पराक्रमी और योद्धा थे । उसके 'धारणी' नाम की महारानी थी ।'महाबल' उनका राजकुमार था । वह भी पूर्ण पराक्रमी था । उसका कमलश्री आदि पाँचसौ राजकुमारियो के साथ विवाह हुआ था । राजकुमार महाबल के – अचल, धरण, पूरण वसु, वैश्रमण और अभिचन्द्र नामम के छह राजा बालमित्र थे । एक बार उस नगरी के बाहर इन्द्रकुब्ज उद्यान में कुछ मुनि आ कर ठहरे । महाराज बल ने धर्मोपदेश सुना और युवराज महाबल को राज्यभार दे कर प्रव्रजित हो गए । तप-सयम की विशुद्धता पूर्वक आराधना करते हुए महाराजा ने मुक्ति प्राप्त की ।

महाबल नरेश कमलश्री महारानी से बलभद्र नाम का पुत्र हुआ ।यौवनवय प्राप्त होने पर राजकुमार बलभद्र को युवराज पद पर प्रतिष्ठित किया और आप अपने छह मित्र राजाओं के साथ जिनधर्म का श्रवण करने लगे । महाराजा महाबलजी ने वैराग्य में सराबोर हो कर एक बार अपने मित्रा से कहा,-

"मित्रो ! मैं तो ससार से उद्विग्न हुआ हूँ और शीघ्र ही निर्ग्रन्थ-प्रव्रज्या लेना चाहता हूँ । तुम्हारी क्या इच्छा है ?"

– "मित्र ! जिस प्रकार अपन सब सासारिक सुख-भोग मे साथ रहे, उसी प्रकार त्याग-मार्ग में भी साथ रहेगे । हमारी योग-साधना भी साथ ही होगी । हम एक दूसरे से भिन्न नहीं रह सकते । हम मुक्ति में भी साथ ही पहुँचेंगे ।"

महाबल नरेश ने युवराज बलभद्र को राज्याधिकार दिया ।इसी प्रकार अन्य राजाओं ने भी अपने कुमारा को राज्य दिया ।इसके बाद महाबल नरेश अपने छह मित्रराजाओं के साथ महात्मा वरधर्म मुनिजी के पास दीक्षित हुए ।

महाबल मुनि का मायाचार

प्रव्रजित होने के बाद सातों मुनिराजो ने यह प्रतिज्ञा की कि – "हम सातों ही एक ही प्रकार की तपस्या करते रहेंगे । किसी एक की इच्छा जो तप करने की होगी वही तप हम सब करेंगे ।" इस प्रकार निश्चय कर के सभी साधना में प्रवृत्त हो गए । साधना करते हुए महाबल मुनिराज के मन में विचार उत्पन्न हुआ –

"मैं ससार मे सबसे ऊँचा था । मेरे मित्र-राजाओ में मेरा दर्जा ऊँचा रहा और यहाँ भी ये मेरा विशेष आदर करते हैं । अब यदि मैं तपस्या भी सब के समान ही करूँगा, तो आगे पर समान कक्षा

मिलेगी । इसलिए मुझे इन छहा मुनिया से विशेष, तप करना चाहिए जिससे स्वर्ग में भी मैं इनसे ऊँचे पद पर रहूँ ।''

इस प्रकार विचार कर वे गुप्त रूप से अपना तप बढाने लगे । जब पारण का समय आता और अन्य मुनि पारणा ला कर श्री महाबल मुनिराज को पारणा करने का कहते तो वे मायापूर्वक करते - ''आज तो मुझे भूख ही नहीं है, आज मेरे मस्तक मे पीडा हो रही है । आज मेरे पेट में दर्द है'' - इत्यादि बहाने बना कर पारणा नहीं करते और तपस्या बढा लेते । इस प्रकार मायाचार से वे अपने छहों मित्र मुनिवरो को ठगते । इस मायाचार से उन्होने 'स्त्रीवेद' का बन्ध कर लिया । इस माया के अतिरिक्त उनकी साधना उच्च प्रकार की थी । उच्च परिणाम, उग्रतप एव अरिहत आदि २० पदों की आराधना करते हुए उन्होंने तीर्थंकर नाम कर्म का निकाचित बन्ध भी कर लिया उनकी सयम और तप की आराधना बढती ही गई । अन्त समय निकट जान कर सातों ही मुनिवरो ने अनशन किया । उनका सथारा दो मास तक चला और अप्रमत्त अवस्था में ही आयु पूर्ण कर 'जयत' * नाम के तीसरे अनुत्तर विमान में अहमिन्द्रपने उत्पन्न हुए । उन सब की आयु बत्तीस सागरोपम प्रमाण हुई ।

तीर्थंकर जन्म

इस जम्बूद्वीप के दक्षिण भरतार्द्ध में 'मिथिला' नामकी प्रसिद्ध नगरी थी । वह धन-धान्यादि उत्तमताओ से समृद्ध थी । महाराजा कुभ वहाँ के पराक्रमी शासक थे । वे उत्तम कुल-शील एव राज-तेज से शोभायमान थे । रूप, लावण्य, सद्गुण एव उत्तम महिलाओं की सभी प्रकार की विशेषताओं से विभूषित महारानी प्रभावती, महाराजा कुभ की अर्द्धांगना थी ।

महात्मा महाबलजी का जीव, जयत नामक अनुत्तर विमान से च्यव कर, फाल्गुनशुक्ला चतुर्थी को अश्विनी नक्षत्र से चन्द्रमा का योग होने पर, महारानी प्रभावती के गर्भ में आया । महारानी ने चौदह महास्वप्न देखे । गर्भ के तीसरे महीने बाद महारानी को दोहद (विशेष इच्छा) उत्पन्न हुआ कि 'पाँच वर्ण के सुन्दर एव सुगन्धित पुष्पों से सजी हुई शय्या का उपभोग करूँ और उत्तम श्रीदामगड (गुच्छे) को सूँघती हुई सुखपूर्वक रहूँ ।' महादेवी के इस दोहद को निकट रहे हुए बाणव्यतर देवों ने जाना और तद्नुसार पूरा किया । गर्भकाल पूर्ण होने पर मार्गशीर्ष-शुक्ला ११ को अश्विनी नक्षत्र मे चन्द्रमा का योग होने पर और उच्च स्थान पर रहे हुए ग्रहो के समय, आधी रात में सभी शुभ लक्षणों से युक्त उन्नीसवें तीर्थंकर पद को प्राप्त होने वाली पुत्री को जन्म दिया ।

सभी तीर्थंकर पुरुष ही होते हैं । स्त्री-शरीर से कोई जीव तीर्थंकर नहीं होता । यह नियम है । किन्तु उन्नीसवें तीर्थंकर का स्त्री-शरीर से जन्म लेना एक आश्चर्यजनक घटना है । श्री महाबल मुनि

* आचार्य श्री हेमचन्द्रजी ने 'त्रिशष्टिशलाका पुरुष चरित्र' में 'वैजयन्त' नामक दूसरा अनुत्तर विमान बतलाया। किन्तु ज्ञातासूत्र में 'जयन्त' ही लिखा है ।

ने सयम की साधना करते हुए भी माया कषाय का उतनी तन्मयता से सेवन किया कि जो सज्वलन से निकल कर अन्तानुबन्धी की सीमा में पहुँच गया और उस समय स्त्री-वेद का बन्ध कर लिया । फिर साधना की उग्रता में तीर्थंकर नाम-कर्म का बन्ध भी कर लिया । इस प्रकार बाँधा हुआ कर्म उदय में आया और स्त्री-पर्याय में उत्पन्न होना पडा ।

दिक्कुमारियों देवीदेवताओ और इन्द्रों ने जन्मोत्सव किया । माल्य की शय्या पर शयन करने के दोहद के कारण पुत्री का नाम 'मल्लि' दिया गया । आपका रूप अनुपम अलौकिक एव सर्वश्रेष्ठ था । यौवनावस्था मे आपका शरीर अत्यन्त एव उत्कृष्ट शोभायमान हो रहा था ।

निमित्त निर्माण

आप देवलोक से ही अवधिज्ञान ले कर आये थे । आपने उस अवधिज्ञान से अपने पूर्व-भव के मित्रो को देखा और भविष्य का विचार कर के अपने सेवकों को आज्ञा दी कि - "अशोक वाटिका में एक भव्य मोहनगृह का निर्माण करो । वह अनेक खभों से युक्त हो । उसके मध्यभाग मे छह कमरे हों । प्रत्येक कमरे मे एक जालगृह (जाली लगा हुआ बैठक का छोटा कमरा) हो और उसमें एक उत्तम सिहासन रखा हो । यह मोहनघर अत्यत रमणीय एव मनोहर बनाओ ।"

राजकुमारी मल्लि की आज्ञा होते ही काम प्रारम्भ हो गया और थोडे ही दिनों मे उनकी इच्छानुसार भव्य मोहनघर तैयार हो गया । उसके बाद राजकुमारी ने ठीक अपने ही अनुरूप और अपने ही समान रूप-लावण्यादि उत्तमताओं से युक्त एक पोली स्वर्ण प्रतिमा बनवाई और एक पीठिका पर स्थापित करवा दी । उस प्रतिमा के मस्तक पर एक छिद्र बनवा कर कमलाकार ढक्कन लगवा दिया । वह प्रतिमा इस कौशल से बनवाई थी कि देखने वाला व्यक्ति उसे प्रतिमा नहीं समझ कर साक्षात् प्रसन्नवदना राजकुमारी ही समझे ।

प्रतिमा बनवाने के बाद भगवती मल्लिकुमारी, जो उत्तम भोजन करती, उसका एक ग्रास उस प्रतिमा के मस्तक पर रहे हुए छिद्र में डाल कर ढक्कन लगा देती । इस प्रकार ये प्रतिदिन करती रहती। वह सडाघ दिनोदिन तीव्रतम होती गई । इस प्रकार यह निमित्त तैयार होने लगा । मातापितादि इस क्रिया को देख कर विचार करते -'यह राजदुलारी अपनी उत्तमोत्तम प्रतिमा में भोजन डाल कर क्यो सड़ा रही है ?' फिर वे सोचते - 'अवश्य इसमें कुछ-न-कुछ रहस्य है । हमारी बेटी ऐसी नहीं, जो व्यर्थ ही ऐसा काम करे । यह अलौलिक आत्मा है । इसम अवश्य ही कोई उत्तम उद्देश्य है । इसके द्वारा भविष्य में कोई उलझी हुई गुत्थी सुलझने वाली है । यथा समय इसका परिणाम सामने आ जायेगा ।" इस प्रकार सोच कर वे सतोष कर लेते ।

पूर्वभव के मित्रों का आकर्षण

(१) महात्मा महाबलजी के साथी 'अचल' अनगार का जीव, अनुत्तर विमान से च्यव कर इसी भरत क्षेत्र में कौशल देश के साकेतपुर नगर के शासक के पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ और 'प्रतिबुद्धि' नाम का इक्ष्वाकुवशीय नरेश हुआ । महाराज प्रतिबुद्धि के पद्मावती महारानी थी और सुबुद्धि नाम का प्रखर बुद्धिशाली मन्त्री था ।

साकेतपुर नगर के बाहर नागदेव का मदिर था । महारानी पद्मावती, नागदेव का उत्सव कर रही थी । प्रतिबुद्ध नरेश के साथ महारानी उस उत्सव मे गई । राजाज्ञा से वहाँ राजकुटुम्ब के लिए एक 'पुष्प-मण्डप' तय्यार किया गया । वह इस प्रकार कलापूर्ण ढग से सुन्दर बनाया गया था कि देखने वालों को उसकी सुन्दरता अपूर्व लगे । उस 'कुसुमगृह' में विविध प्रकार के सुन्दर पुष्पों से बनाया हुआ एक मनोहर गेंद (अथवा मृद्गर) रक्खा गया था जब प्रतिबुद्ध नरेश पुष्प-मण्डप में आये और विविध पुष्पासे बने हुए उस मनोहर श्रीदामगड को देखा, तो चकित रह गये । इस प्रकार का उत्तम और कलापूर्ण श्रीदामगड उन्हाने पहले कभी नहीं देखा था । उनकी दृष्टि उसी पर स्थिर हो गई । उन्होंने अपने महामात्य 'सुबुद्धि' से पूछा - 'दवप्रिय ! तुम मरे आदेश से अनेक राज्यों म गये और अनेक उत्सवों म शरीक हुए । तुमने अन्य किसी स्थान पर इस प्रकार का उत्तम श्रीदामगड देखा है ?'' सुबुद्धि न कहा - '' स्वामिन् ! आपकी आज्ञा से एक बार मैं मिथिला गया था । उस समय वहाँ राजकन्या मल्लि की वर्ष गाँठ मनाई जा रही थी । वहाँ मैंने जो श्रीदामगड देखा, वह अपूर्व था । आपका यह श्रीदामगड तो उसके लाखवें अश में भा नहीं आता ।'' महामात्य की यह बात सुन कर राजा ने पूछा - 'देवप्रिय ! जिस राजकुमारी का श्रीदामगड इतना उत्तम है, तो वह स्वय कैसी है ?'' ''स्वामिन् ! राजकुमारी मल्लि, विश्वभर में अपूर्व एव अनुपम सुन्दरी है । उसकी सुन्दरता की बराबरी विश्व की कोई भी सुन्दरी नहीं कर सकती ।'' महामात्य के शब्दों ने प्रतिबुद्ध के मोह को जाग्रत कर दिया । उसका पूर्व स्नेह जाग्रत हुआ । उसने अपने दूत को राजकन्या मल्लि की याचना करने के हेतु मिथिला नरेश के पास भेजा । उसने दूत को इतना अधिकार दे दिया था कि 'यदि मल्लि के बदले राज्य भी देना पडे तो दे दे ।' इस प्रकार पूर्वभव का प्रथम मित्र आकर्षित हुआ ।

अरहन्नक श्रावक की दृढता

(२) महात्मा धरणजी के अवतरण और आकर्षण की कथा इस प्रकार है । अगदेश की चम्पानगरी में 'चन्द्रच्छाया' राजा राज करता था । वहाँ अरहन्नक आदि अनेक व्यापारी रहते थे । वे सभी सम्मिलित रूप से नौका द्वारा विदेशों मे व्यापार करते थे । अरहन्नक श्रमणोपासक, जीव अजीव आदि तत्त्वों का ज्ञाता और निर्ग्रन्थ-प्रवचन का रसिक था । उसकी रग-रग में जिनधर्म के प्रतिपूर्ण अनुराग बसा हुआ

था । किसी समय वे व्यापारी जहाज में माल भर कर विदेश जाने के लिए रवाना हुए । जब उनका जहाज सैकडो याजन चला गया, तब वहाँ एक उपद्रव खडा हुआ । अकाल मे गर्जना, विद्युत् चमत्कार आदि कुलक्षणों के बाद वहाँ एक काले वर्ण वाला भयकर पिशाच प्रकट हुआ । उसका शरीर बहुत लम्बा था । उसके अगोपाग डरावने थे । उसकी देह पर सर्पादि भयकर जन्तु लिपटे हुए थे । उसका भयानक रूप देख कर जहाज के यात्री, मारे भय के धूजने लगे और एक दूसरे से चिपटने लगे । वे अपनी रक्षा के लिए इन्द्र, स्कन्ध, रुद्र वैश्रमण नाग, भूत, यक्षादि को मनाने लगे । उनमें एक मात्र अरहन्नक श्रमणोपासक ही ऐसा था – जो उस पिशाच से बिलकुल नहीं डरा किन्तु सावधान हो कर मृत्यु सुधारने की तय्यारी शुरु कर दी । उसने अरिहत भगवान् को नमस्कार कर के सागारी अनशन कर लिया और ध्यान लगा कर बैठ गया । वह ताल जैसा लम्बा पिशाच अरहन्नक श्रावक के पास आया और उसे सम्बोधते हुए बोला – "अरहन्नक । मैं आज इस जहाज का ऊँचा आकाश मे ले जाऊँगा और वहाँ से ओधा कर दूँगा, जिससे तुम सभी यात्री समुद्र में डूब कर अकाल मे ही मौत के शिकार बन जाओगे और आर्त्तध्यान करते हुए दुर्गति में जाओगे । इस महा सकट से बचने का केवल एक ही रास्ता है और वह यह है कि 'तू अपने धर्म अपने व्रत और अपनी प्रतिज्ञा छोड दे ।" महानुभाव अरहन्नक समझ गया कि 'यह कोई दुष्टमति देव है ।' उसने अपने मन से ही उत्तर दिया कि – "मैं श्रमणोपासक हूँ । चाहे पृथ्वी ही उलट जाय, सागर रसातल में चला जाय या मेरा यह शरीर छिन्न-भिन्न कर दिया जाय, मैं धर्म से भिन्न नहीं हो सकता – मुझे से धर्म नहीं छोडा जा सकता । तू तेरी इच्छा हो सो कर ।" इसप्रकार मन स ही उत्तर दे कर वह ध्यानस्थ हो गया । पिशाच ने उसी प्रकार दूसरी और तीसरी बार कहा किन्तु अरहन्नक ने उधर ध्यान ही नहीं दिया । अपने प्रश्न का उत्तर नहीं पा कर पिशाच क्रुद्ध हुआ और जहाज को उठा कर अन्तरिक्ष म ले गया । आकाश में अपनी उगलियों पर जहाज रखे हुए पिशाच ने फिर वही प्रश्न किया किन्तु वह वन्दनीय [illegible]ोपासक सर्वथा अचल रहा । देव ने समझ लिया कि अरहन्नक पूण दृढ एव अचल है । यह कदापि चलित नहीं हो सकता। उसने धीरे-धीरे जहाज को नीचे उतारा और समुद्र पर रख दिया । पिशाच का रूप त्याग कर देव अपने असली रूप में आ कर अरहन्नक श्रावक के पैरो में पड़ा और कहा कि – "देवप्रिय ! तुम धन्य हो। देवाधिपति इन्द्र ने तुम्हारी धर्म दृढता की प्रशसा की थी । किन्तु मुझे उस पर विश्वास नहीं हुआ । अब मैने प्रत्यक्ष देख लिया है वास्तव में आप दृढ-धर्मी हैं । मैं आपस अपने अपराध की क्षमा माँगता हूँ ।" इस प्रकार प्रशसा कर और दो जोडी दिव्य कुण्डल दे कर देव चला गया ।

कालान्तर मे व्यापारियों का वह सार्थ, मिथिला आया और कुभराजा को दिव्य कुण्डल सहित मूल्यवान् नजराना (भेंट) किया । मिथिलेश ने वे दिव्य कुण्डल, राजकुमारी मल्लि को उसी समय दिये और अरहन्नकादि व्यापारियों का सम्मान किया तथा उनके व्यापार पर का कर माफ कर दिया। वहाँ बेचने योग्य वस्तुएँ बेच कर और नया माल खरीद कर व व्यापारी लौट कर चम्पानगरी में आये

और "चन्द्रछाया" नरेश को दूसरे दिव्य कुण्डल की जोडी सहित नजराना किया । अगदेशाधिपति ने अरहन्नकादि से पूछा - "आप कई देशों में घुम आये । कहीं कोई ऐसी वस्तु देखी कि जो अन्यत्र नहीं हो और आश्चर्यकारी हो ?" अरहन्नक ने कहा - "स्वामिन् ! हमने मिथिला नगरी में राजकुमारी मल्लि को देखा है । वास्तव में वह त्रिलोक-सुन्दरी है । वैसा रूप, विश्व की किसी भी सुन्दरी म नहीं है ।" व्यापारियों के निमित्त से चन्द्रछाया का मोह जाग्रत हुआ और उसने भी अपना दूत, मल्लिकुमारी की याचना के लिए मिथिला भजा ।

(३) भगवान् मल्लिनाथ के पूर्वभव के मित्र महात्मा पूरणजी, जयन्त नाम के अनुत्तर विमान से च्यव कर, कुणालदेश की सावत्थी नगरी मे, 'रूपी' नाम के कुणालाधिपति नरेश हुए । उनक 'सुबाहु' नाम की सुन्दरी नवयौवना पुत्री थी । एक बार राजकुमारी सुबाहु के चातुर्मासिक स्नान का उत्सव मनाया गया । शहर के मध्य मे एक भव्य पुष्प-मडप तय्यार किया और उसके मध्य में एक पुष्प निर्मित श्रीदामगण्ड (गेंद या मुद्गर) रखा गया । उत्सव बड ही आडम्बरपूर्वक मनाया गया । राजा बडे भारी जुलूस से, अन्त पुर व राजकुमारी के साथ उस भव्य मण्डप म आया और राजकुमारी का स्नानोत्सव किया । राजा की दृष्टि में वह उत्सव बहुत ही महत्त्वपूर्ण एव अपूर्व था उसने अपने वर्षधर-अन्त पुर रक्षक से पूछा - 'देवप्रिय ! तुम मेरी आज्ञा से अनेक देशों और राजधानियों में गये और अनेक उत्सव देख, किन्तु जैसा स्नानोत्सव यहाँ हो रहा है, वैसा अन्यत्र कहीं तुम्हारे देखने में आया ?' वर्षधर ने कहा - "स्वामिन् ! एक बार मैं आपकी आज्ञा से मिथिला गया था । वहाँ विदेह राजकुमारी मल्लि का स्नानोत्सव मैने दखा था । वह उत्सव इतना भव्य और उत्कृष्ट था कि जिसके आगे आपका यह उत्सव बिलकुल फीका और निस्तेज लगता है ।" बस, राजा क स्नेह को जाग्रत करने का निमित्त मिल गया । उसने भी अपना दूत मिथिलाधिपति के पास, मल्लि की याचना के लिए भेजा ।

(४) अरहन्नक श्रमणोपासक ने जो दिव्य कुण्डल जाडी, मिथिलेश को भेंट की थी और जिसे भगवती मल्लि कुमारी धारण करती थी उस कुण्डल की सधी टूट गई । स्वर्णकारो ने उस जोड़ने का बहुत प्रयत्न किया किन्तु वह जुड़ नहीं सकी । क्योंकि वह देव-निर्मित कुण्डल था । उसको जोड़ने की शक्ति मनुष्य मे कहाँ ? उन्होंने महाराजा से निवेदन किया- 'यदि आज्ञा हो तो हम इस कुण्डल जैसे ही दूसरे कुण्डल बना सकते हैं किन्तु इसे जोडने की शक्ति हमम नहीं है । हमने बहुत परिश्रम किया, किन्तु यह हम से नहीं जुड़ सका ।" नरेन्द्र कुपित हुए । उन्होंने क्रोधपूर्वक कहा - "तुम कैसे कलाकार हो ! तुम से एक कुण्डल की सधी भी नहीं जुड़ सकी । इस प्रकार के कलाविहीन लाग हमारे देश के लिए कलक रूप हैं । जाओ निकलो - इस राज्य से । तुम्हारे जैसे ढागियों की (जो कलाविहीन हो कर भी अपने को उत्कृष्ट कलाकार बताते हैं) यहाँ जरूरत नहीं है । हमारा देश छोड़ कर निकल जाओ ।" स्वर्णकारों को देश निकाला हो गया । वे अपने-अपने कुटुम्ब और सार-सामान ले कर और विदेह देश छोड कर काशी देश की वाराणसी नगरी म आय । उस समय वहाँ 'शख' नाम

का नरेश राज करता था । वह सम्पूर्ण काशी देश का अधिपति था । ये शख नरेश, महामुनि महाबलजी के अनुगामी 'वसु' नाम के महात्मा थे और अनुत्तर विमान से च्यव कर आये थे । स्वर्णकारो का सघ, बहुमूल्य भेंट ले कर काशी नरेश की सेवा मे उपस्थित हुआ । उन्होने भेट समर्पित कर के निवेदन किया-

"स्वामिन् ! हमे विदेह देश से निकाला गया । हम आपकी शरण में आये हैं । हमे आश्रय प्रदान कीजिए ।"

"विदेहराज ने तुम्हे देश निकाला क्यो दिया" -राजेन्द्र न पूछा ।

"नराधिपति । विदेहराजकुमारी मल्लि के कुडला की सधी टूट गई थी । हम उस सधी को जोड नहीं सके । इसलिए कुपित हो कर मिथिलेश ने हमें देश निकाला दिया ।"

"स्वामिन् ! हम कलाकार हैं । अपनी कला में निष्णात हैं । किन्तु वह कुडल जोडी ही अलौकिक थी । उसका निर्माण मनुष्य द्वारा नहीं हुआ था । उसकी सधी को मिला देना किसी भी मनुष्य के लिए असभव है । फिर हम उसे कैसे जोड सकते थे ? बस यही हमारा अपराध था" - स्वर्णकार सघ के प्रमुख ने कहा ।

"ऐसी अपूर्व कुडल की जोडी है वह ? अच्छा यह बताओ कि उन दिव्य कुडलो को धारण करने वाली विदेहराज-कन्या कैसी है" - राजा का प्रश्न ।

"स्वामिन् ! विदेहराज-कन्या मल्लिकुमारी के रूप, लावण्य और यौवन का हम क्या वर्णन करें। वह तो अलौकिक सुन्दरी है । उसके समान सौन्दर्य इस सृष्टि पर दूसरा हो ही नहीं सकता । उसकी बराबरी तो देव-कन्याएँ भी नहीं कर सकती" - स्वर्णकारों ने कहा।

राजा का मोह भडका । स्वर्णकारो को विदा करने के बाद राजा ने अपने दूत को बुला कर मल्लिकुमारी की याचना के लिए, मिथिला नरेश के पास भेजा ।

(५) भगवती मल्लिकुमारी के एक छोटा भाई था, जिसका नाम "मल्लिदिन्न" था । उसने एक चित्रशाला (रगशाला-विलास-भवन) बनवाया । कलाकारों ने उसमें अनेक प्रकार के विलासजन्य सुन्दर चित्र बनाये । एक चित्रकार को चित्रकारी की लब्धि प्राप्त थी । उस लब्धि के प्रभाव से उसमें ऐसी शक्ति उत्पन्न हुई थी कि किसी के शरीर का जरासा भी हिस्सा देख लेता तो वह उसके सारे शरीर का यथातथ्य चित्र बना सकता था । उसने एक बार मल्लिकुमारी का पाँव का अगूठा पर्दे की जाली में से देख लिया था । उस पर से मल्लिकुमारी का पूरा रूप उसके ध्यान में आ गया । उसने सोचा कि ऐसी अपूर्व सुन्दरी का चित्र बनाने से राजकुमार बहुत प्रसन्न होगे । इस प्रकार मिथ्या अनुमान लगा कर उसने राजकुमारी मल्लि का चित्र बना दिया । जब चित्रशाला पूर्ण रूप से तैयार हो गई, तो मल्लिदिन्न युवराज अपनी रानियो के साथ उसे देखने को आया । उसकी धात्री -माता भी साथ ही थी । वह हावभाव और विलास पूर्ण चित्र देखता हुआ जब मल्लिकुमारी के चित्र के पास आया और उस पर उसकी दृष्टि पडी, तो एक बारगी वह पीछे हट गया । उसे आश्चर्य हुआ कि "पूज्य बहिन यहाँ क्यों आई ?" युवराज

को विस्मयपूर्वक पीछे हटता हुआ देख कर धायमाता ने पूछा - 'पुत्र ! पीछे क्या हटे ?' युवराज ने कहा - माता ! यह लज्जा की बात है कि मेरे देव और गुरु के समान पूज्या ज्येष्ठ भगिनी यहाँ उपस्थित है ।' धात्री ने कहा - 'पुत्र ! तुम भ्रम म हो, यहाँ मल्लिकुमारी नहीं है । यह तो उनका चित्र है ।' मल्लिदिन्नकुमार सावधान हुआ, उसे विश्वास हो गया कि वास्तव में यह चित्र ही है । अब वह चित्रकारों पर क्रुद्ध हुआ । उसने कहा - 'ऐसा कौन नीच चित्रकार है, जिसने मेरे विलास-भवन में मेरी देव-गुरु तुल्य पूजनीय बहिन का चित्र बनाया ।' उसने क्रोध में ही उस चित्रकार के वध की आज्ञा दे दी। युवराज की कठोर आज्ञा सुन कर सभी चित्रकार उपस्थित हुए और उस चित्रकार के प्राणों की याचना करने लगे । राजकुमार ने उसके वध के बदले उसका अगूठा कटवा कर देश निकाला दे दिया । देश-निकाला पाया हुआ, वह अगुष्ठ विहीन चित्रकार कुरु जनपद के हस्तिनापुर नगर में आया और विदेह राजकुमारी मल्लि का साक्षात् सदृश चित्र बना कर वहाँ के 'अदीनशत्रु' राजा को भेंट किया और निवेदन किया -

"स्वामिन् ! मैं चित्रकार हूँ । मुझे चित्रकारी की ऐसी विद्या प्राप्त है कि किसी भी वस्तु का कोई भी हिस्सा देख लू तो उसका पूरा - साक्षात्-सदृश्य रूप बना दूँ । इसी चित्र के कारण विदेह के युवराज ने मेरा अगूठा कटवा कर मुझे निर्वासित किया है । अब मुझे आप अपनी छत्र-छाया म शरण दीजिए ।" महाराज अदीनशत्रु भी, राजकुमारी मल्लि के पूर्वभव के मित्र, मुनिराज वैश्रमणजी थे और विजय नाम के अनुत्तर विमान की कुछ कम ३२ सागरोपम प्रमाण आयुष्य पूर्ण कर के आये थे । राजकुमारी मल्लि के उस चित्र ने राजा को आकर्षित किया और उसने भी अपना दूत मिथिला की ओर भेजा ।

चोक्खा का पराभव

(६) मिथिला म एक 'चोक्खा' नाम की परिव्राजिका थी । वह चारा वेद और अनेक शास्त्रा में पडिता थी । दान, तीर्थाभिषेक और शुचि मूल धर्म का प्रचार करती हुई विचरती थी । एक बार वह अपनी शिष्याओं के साथ विदेह-राजकन्या के पास आई और भूमि पर पानी छिडक कर उस पर अपना आसन बिछा कर बैठ गई । परिव्राजिका ने अपने दानादि धर्म का उपदेश दिया । भगवती मल्लिकुमारी ने परिव्राजिका से पूछा -

"तुम्हारे धर्म का मूल क्या है ?"

"हमारे धर्म का मूल शुचि है । शौच मूल धर्म का पालन करने से जीव स्वर्ग में जाता है" - परिव्राजिका ने कहा ।

"चोक्खे ! रक्त रजित वस्त्र को यदि रक्त से ही धोया जाय तो उसकी शुद्धि नहीं होती, उसी प्रकार प्राणातिपातादि अठारह पाप करने स आत्मा के कर्म-बन्धन नहीं छूटते । तुम्हारा मार्ग आत्मा की शुद्धि का नहीं किन्तु बन्ध का है । तुम्हार ऐस प्रचार से कोई लाभ नहीं होता ।"

इस प्रकार भगवती मल्लिकुमारी के प्रभावशाली एव अर्थ-गाभीर्य वचनो से चोक्खा निरुत्तर हो कर प्रभावहीन बन गई । उसका चेहरा उतर गया । उसकी ऐसी दशा देख कर राजकन्या की दासियाँ, चोक्खा का उपहास करने लगी । चोक्खा अपने इस अपमान को सहन नहीं कर सकी । उसके मन में राजकुमारी के प्रति वैरभाव उत्पन्न हो गया । वह वहाँ से निकल कर पाचाल देश के कपिलपुर नगर में आई वहाँ जितशत्रु राजा राज करता था । वह पाचाल जनपद का अधिपति था । जितशत्रु नरेश भी भगवती मल्लिकुमारी के पूर्वभव के मित्र थे । उनका नाम अभिचन्द्र मुनि था । वे भी अनुत्तर-विमान से च्यव कर आये थे । चोक्खा वहाँ अपने धर्म का प्रचार करने लगी । एकदा राजा, अपनी एक हजार रानियों के साथ अन्त पुर में था, तब चोक्खा परिव्राजिका वहाँ पहुँची । राजा और रानियों ने उसका आदर-सत्कार किया । धर्मोपदेश के पश्चात् राजा ने चोक्खा से पूछा - "आप अनेक राजाओ के अन्त पुर मे जाती हैं, किन्तु मेरे अन्त पुर की रानियो के समान रूप सौन्दर्य आपने और कहीं देखा है ?" राजा की बात सुन कर चोक्खा हँसी और बोली -

"राजन् ! तुम कूप-मड्डुक के समान हो । जिस प्रकार कूएँ में रहा हुआ मेंढक अपने कूएँ को ही सबसे बडा मान कर समुद्र की बडाई नहीं जानता, उसी प्रकार तुम अपनी रानियो मे ही ससार का समस्त सौन्दर्य देखते हो । किन्तु तुम्हे मालूम नहीं है कि मिथिलेशनन्दिनी राजकुमारी मल्लि के सौन्दर्य के सामने तुम्हारी सभी रानियाँ फीकी हैं । ये उसकी दासी के तुल्य भी नहीं हैं । वह त्रिलोक-सुन्दरी है । कोई देवी भी उसके रूप की समानता नहीं कर सकती ।"

चोक्खा राजा के मोह को भडका कर चली गई । राजा ने शीघ्र ही दूत को बुलाया और मिथिला भेजा ।

छहो दूत मिथिला पहुँचे और विनयपूर्वक मल्लिकुमारी की याचना की । किन्तु मिथिलेश ने सब की माँग ठुकराते हुए उन दूतो से कहा -

"तुम्हारे राजा नादान हैं, मूर्ख हैं । वे नहीं समझते कि हम पामर प्राणी किस अलौकिक आत्मा पर अपना मन बिगाड रहे हैं । जो महान् आत्मा, इन्द्रों से भी पूज्य है, उसके प्रति उन राजाओ का मोहभाव धिक्कार के योग्य है । तुम जाओ और अपने स्वामियों से कहो कि वे अपना दु साहस छोड दें ।"

युद्ध और अवरोध

इतना कहकर दूतो का अपमानपूर्वक निकाल दिया । वे दूत अपनी-अपनी राजधानी पहुँच कर अपने स्वामियो को मिथिलेश का उत्तर सुनाया । दूतों की बात सुन कर छहो राजा क्रोधित हुए और एक-दूसरे से दूत द्वारा परामर्श कर के मिथिलेश से युद्ध करने को तत्पर हो गये । छहों राजाओ की विशाल सेनाए विदेह देश की ओर बढी । उधर विदेहाधिपति भी शत्रु-सैन्य का आगमन सुन कर अपनी सेना के साथ अपने देश की सीमा पर आ धमके । भीषण युद्ध हुआ । इस युद्ध म छहो राजा एक

ओर थे । उनकी शक्ति भी विशाल थी और कुभराजा अकेले थे । मिथिलेश की हार हुई⊗ । उन्होंने विदेह का मोर्चा छोड दिया और मिथिला नगरी में आ कर उसके किले के द्वार बन्द करवा दिये । छहों राजाओ ने मिथिला के बाहर घेरा डाल दिया ।

मित्रों को प्रतिबोध

कुभ राजा छहो राजाओ से बचाव के उपाय ढूँढने लगे । उन्हें कोई उपाय नहीं सूझ रहा था। वे इसी चिन्ता में बैठे थे कि भगवती मल्लिकुमारी ने आ कर पिता की चरण वदना की । राजा चितातुर थे । उन्होंने कुमारी का आदर नहीं किया । पूछने पर राजेन्द्र ने कहा - "पुत्री ! तेरे ही कारण यह सकट उत्पन्न हुआ है । इस संकट से बचने का मुझे कोई उपाय दिखाई नहीं देता । मैं इसी चिन्ता में बैठा हूँ ।"

पिता की बात सुन कर राजकुमारी ने कहा -

"तात ! आप चिन्ता नहीं करें और छहों राजाओं को भिन्न-भिन्न दूत के द्वारा कहलाइये कि "हम अपनी कन्या आपको देंगे । आप चुपचाप रात के समय यहा आ जाव ।" इस प्रकार छहों राजाओं को गर्भ-गृह में पृथक्-पृथक् रखिये और मिथिला के द्वार बन्द ही रख कर उस पर कड़ा पहरा रख दीजिए । इसके बाद मैं सब सम्हाल लूँगी ।"

मिथिलेश को यह सलाह अच्छी लगी । उन्होंने सोचा होगा - "राजकुमारी कितनी चतुर है । इस प्रकार सहज ही में छहों शत्रुओं को अधिकार मे कर लिया जायगा । फिर तो सकट टला ही समझो ।" उन्होने शीघ्र ही प्रबन्ध किया । छहों नृपति कुभ नरेश का सन्देश पा कर बहुत प्रसन्न हुए और समझे कि "हम ही राजकन्या मिलेगी ।" वे पसन्नता पूर्वक चले आये ★ ।

प्रात काल छहा राजाओं ने अपने-अपने कमरों में से जालघर में स्थापित की हुई राजकन्या की स्वर्णमयी प्रतिमा देखी । उन्हें विश्वास हो गया कि 'यही राजकन्या है ।' वे उसके सौन्दर्य पर मोहित हो गए और एकटक देखते रहे । इधर मल्लिकुमारी वस्त्राभूषण से सज्ज हो कर अपनी दासियों और अन्त पुर - रक्षका के साथ जालघर में आई और प्रच्छन्न रह कर मूर्ति के मस्तक का ढक्कन खोला। फिर क्या था, उसमें से घिरी हुई महान् असह्य दुर्गन्ध एकदम बाहर निकली और सारे भवन को भर दिया । वे मदान्ध राजा उस दुर्गन्ध को सहन नहीं कर सके और अपनी नाक बन्द कर ली । उसकी यह दशा देख कर भगवती मल्लिकुमारी ने उनसे पूछा -

---

⊗ ज्ञातासूत्र में युद्ध होने का उल्लेख है किन्तु 'त्रिषष्ठि-शलाका पुरुष चरित्र' में केवल मिथिला नगरी को घेरा डालने का ही उल्लेख है ।

★ इससे यह स्पष्ट होता है कि उस समय शत्रु की बात पर भी विश्वास किया जाता था । व्यवहार में झूठ ने इतना स्थान नहीं बना लिया था - जितना वर्तमान में है । आज सत्य-प्रियता बहुत घट गई है।

"अहो विषयान्ध प्रेमियो ! थोडी देर के पहले तो आप सब एकटक मेरी प्रतिमा को देख रहे थे । अब नाक बन्द कर के घृणा कर रहे हो ?"

-"हमें आपका सौन्दर्य तो प्रिय है, किन्तु इस असह्य दुर्गन्ध को हम सहन नहीं कर सकते । इससे बचने के लिए हमने अपनी नासिका बन्द की है । हम घबरा रहे हैं"- छहों राजाओ ने कहा।

"हे मोहाभिभूत नरेशों" - भगवती मल्लिकुमारी ने उन मोहान्ध राजाआ को सम्बोधित करते हुए, उनके मोह के नशे को उतारने के उद्देश्य से कहा - "यह प्रतिमा मेरे ही रग रूप जैसी है, फिर भी यह स्वर्ण निर्मित्त है - हाड, मास और रक्तादि इसमे नहीं है । मैने इसमें उसी सुस्वादु और उत्तम भोजन के निवाले डाले हैं जिन्हें मैं खाती थी । जब उत्तम स्वर्णमयी प्रतिमा मे आहार का ऐसा अशुभतर परिणाम होता है तो हाड मास, रक्त वात, पित्त, कफ और विष्ठादि अशुभ पुद्गलो वाले सडन, पडन और विध्वशनशील, इस देह का क्या परिणाम हो सकता है ?"

"महानुभावो ! सोचो, समझो और कामभोग की आसक्ति को छाडो । ये भोग तुम्हे अच्छे लगते हैं, किन्तु इनका परिणाम महान् भयानक होता है । भोग, रोग, शोक और दुर्गति का देने वाला तथा जन्ममरण बढाने वाला हाता है ।"

"आत्म बन्धुओ ! अज्ञान का छोडो और विचार करो । अपन सभी पूर्वभव के साथी हैं । इस भव से पूर्व तीसरे भव में, हम सब अपर महाविदेह के 'सलीलावती विजय' मे 'महाबल' आदि सात बाल मित्र थे । बचपन से साथ ही रहे थे । हम सभी ने साथ ही ससार छोड कर सयम स्वीकार किया था । किन्तु मैं मायापूर्वक तप बढाती रही । इस मायाचारिता के कारण मैने स्त्री नाम-कर्म का बन्ध किया । वहा से हम सभी आयुष्य पूर्ण कर के जयत विमान में उत्पन्न हुए । हम सब ने वहाँ अपने मन से ही आपस म सकेत किया था कि "मनुष्य होने पर एक दूसरे को प्रतिबोध देंगे । बन्धुओ ! याद करो, अपनी स्मृति को एकाग्रता पूर्वक पिछले भव की ओर लगाआ । तुम्हे सब प्रत्यक्ष दिखाई देगा ।"

- वे सभी एक भवावतारी हलुकर्मी एव सकेत मात्र से समझने वाले थे । भगवती मल्लिकुमारी का उद्बोध, उन सब के हृदय मे पैठ गया । सब ने शुभ परिणाम से उपयोग लगाया । कमजोर आवरण खिसक गये और जातिस्मरण ज्ञान प्रकट हो गया । उन सब राजाओ ने अपने पूर्वभव और पारस्परिक सम्बन्ध देख । गर्भगृह का द्वार खुल गया । छहों नरेन्द्र, द्रव्य अरिहत भगवान् मल्लिनाथ के समीप उपस्थित हुए - पूर्वभव के सातो मित्र मिले । भगवान् मल्लिनाथ ने अपन मित्रों से कहा ।

"मैं तो ससार का त्याग करना चाहती हूँ । तुम्हारी क्या इच्छा है ?"

-"हम भी आपके साथ ही ससार छोडेंगे । अब ससार म रह कर हम क्या करेंगे । हमे भी ससार में कोइ रुचि नहीं है जिस प्रकार पिछले तीसरे भव में आप हमारे नेता थे उसी प्रकार अब भी हमारे नेता ही रहेंगे" - सभी मित्रों ने कहा ।

-"अच्छा तो पहले अपने पुत्रा को राज्य पर स्थापित करो फिर यहाँ आओ । अपन सब एक साथ ही दीक्षित हागे "- अरिहत ने कहा ।

छहो राजा, कुभराजा के पास आये और उनके चरणों में झुके । कुभराजा ने सभी का आदर-सत्कार कर के विदा किया ।

वर्षीदान

लोकान्तिक देवों का आसन कम्पायमान हुआ और उन्होने अपने ज्ञान में देखा कि अर्हन्त मल्लिनाथ के निष्क्रमण का समय निकट आ गया है । वे भगवान् के पास आये और परम विनीत एव मृदु शब्दों में निवेदन किया -

"बुज्झाहि भगव ! लोगणाहा, पवत्तेहि धम्मतित्थं ।
जीवाण हियसुहणिस्सेयस कर भविस्सई ।"

-"भगवन् ! बूझो । हे लोकनाथ ! जीवो के हित-सुख और मुक्ति-दायक धर्मतीर्थ का प्रवर्त्तन करो ।"

इस प्रकार दो-तीन बार निवेदन कर के और भगवान् को प्रणाम कर के लौट गये ।

अरिहत मल्लिनाथ भगवान् ने निश्चय किया कि 'मैं एक वर्ष बाद ससार का त्याग कर दूँगा ' भगवान् का अभिप्राय जान कर प्रथम स्वर्ग के अधिपति देवेन्द्र शक्र ने 'वर्षीदान' की व्यवस्था करवाई। अर्हन्त भगवान्, नित्य प्रात काल एक करोड़ आठ लाख सोने के सिक्का का दान करने लगे । उधर मिथिलेश ने भी दानशाला चालू कर दी, जिसमें याचकों को सम्मानपूर्वक आहारादि का दान दिया जाने लगा । इस प्रकार एक वर्ष में तीन अरब अठासी करोड़ अस्सी लाख सोने के सिक्कों का दान किया।

भगवान् ने मातापिता के सामने अपने महाभिनिष्क्रमण की इच्छा व्यक्त की । मातापिता तो जानते ही थे । उन्होंने सहर्ष आज्ञा प्रदान कर दी और महोत्सव प्रारभ किया । भगवान् के महाभिनिष्क्रमण महोत्सव में देवेन्द्र भी उपस्थित हुए । भव्य महोत्सव मनाया गया । भगवान् की शिविका को उठाने मे बलेन्द्र चमरेन्द्र शक्रेन्द्र और ईशानेन्द्र ने भी योग दिया।

भगवान् ने पौष ↑ शुक्ला एकादशी को अश्विनी नक्षत्र में दिन के पूर्व-भाग में तेले के तप सहित स्वय पच-मुष्टि लोच किया और सिद्धों को नमस्कार कर के स्वय सामायिक चारित्र ग्रहण किया । आपके साथ ३०० स्त्रियो, ३०० पुरुषो और ८ राजकुमारों ने दीक्षा ली । भगवान् को उसी समय 'विपुलमति मन पर्यवज्ञान' उत्पन्न हो गया और उसी दिन शाम को उन्हें केवलज्ञान एव केवलदर्शन भी प्राप्त हो गया ❀ । ये द्रव्य-तीर्थंकर से भाव-तीर्थंकर हो गये । इसके बाद भगवान् ने अपनी प्रथम धर्मदेशना इस प्रकार चालू की -

---

❀ आवश्यक भाष्य गा. २६१ और टीका में छद्मस्थकाल अहोरात्रि' का लिखा । जैन सिद्धात बोल सग्रह भा. ६ पृ १८५ में भी ऐसा ही है । यह ज्ञातासूत्र से विपरीत है ।

↑ त्रि. श पु. च. और आवश्यक में मार्गशीर्ष शु ११ का उल्लेख है और 'जैन सिद्धात बोल सग्रह भाग ६ में भी ऐसा ही है । किन्तु यह सूत्रानुसार नहीं है ।

धर्मदेशना - समता

भगवान् ने केवलज्ञान प्राप्त करने के बाद अपन प्रथम उपदेश में 'समता' का महत्त्व बतलाते हुए फरमाया कि -

"यह ससार अपने-आप में अपार होते हुए भी जिस प्रकार पूर्णिमा के दिन समुद्र बढता है, उसी प्रकार रागादि से विशेष बढता रहता है। इस वृद्धि का मूल कारण है- समता का अभाव। जहाँ समता है, वहाँ ससार की वृद्धि नहीं है। जा प्राणी उत्तरोत्तर आनन्द को उत्पन्न करने वाले समता रूपी जल में स्नान करता है, उसके राग-द्वेष रूप मल तत्काल धुल जाते हैं। प्राणी, जिन कर्मों को कोटि जन्म तक तीव्र तप का आचरण कर के भी नष्ट नहीं कर सकता, उन कर्मों को समता का अवलम्बन ले कर के आधे क्षण में ही नष्ट कर देता है। जीव और कर्म - ये दोनो आपस में मिल कर एकमेक हो गए हैं। इन्हे ज्ञान के द्वारा जान कर आत्मनिश्चय करने वाला साधु पुरुष, सामायिक रूपी सलाई से पृथक्-पृथक् कर देता है। योगी पुरुष सामायिक रूपी किरण से रागादि अन्धकार का विनाश कर के अपने परमात्म स्वरूप का दर्शन करते हैं।

जिन प्राणियों में स्वार्थ के कारण नित्य वैर - जाति वैर होता है, वे प्राणी भी समता के सागर ऐसे महान् सत पुरुष के प्रभाव से परस्पर स्नेह से रहते हैं।

समता उसी विशिष्ट आत्मा मे निवास करती है, जा सचेतन या अचेतन - ऐसी किसी भी वस्तु में इष्ट अनिष्ट-अच्छे-बुरे का विचार कर के मोहित नहीं हाता। कोई अपनी भुजाओ पर गोशीर्ष चन्दन का लेप करे या तलवार से काट डाले, तो भी जिसकी मनोवृत्ति में भेद उत्पन्न नहीं होता उसी पुरुष में अनुपम समता के दर्शन होते हैं। स्तुति करने वाले, प्रशसा करने वाले अथवा प्रीति रखने वाले पर और क्रोधान्ध, तिरस्कार करने वाले या गालियाँ देने वाले पर जिस महानुभाव का चित्त समान रूप से रहता है, उस पुरुष मे ही समता का निवास रहता है।

जिसने मात्र समता का ही अवलम्बन किया है, उसको किसी प्रकार के होम, जप और दान की आवश्यकता नहीं रहती। उसको समता से ही परम निर्वृत्ति=मोक्ष प्राप्ति हो जाती है।

अहा ! समता का कितना अमूल्य लाभ ! बिना प्रयत्न ही शान्ति के ऐसे महान् लाभ को छोड कर प्रयत्न-साध्य और क्लेशदायक ऐसे रागादि की उपासना क्यों करनी चाहिए ? बिना प्रयत्न के सहज प्राप्त ऐसी मनोहर सुखकारी समता ही धारण करनी चाहिए। स्वर्ग और मोक्ष तो परोक्ष होने के कारण गुप्त है, किन्तु समता का सुख तो स्वसवेद्य=खुद के अनुभव का होने से प्रत्यक्ष है। यह किसी से छुपाया नहीं जा सकता।

कवियों के कहने से रूढ बने हुए अमृत पर मोहित होने की आवश्यकता ही क्या है ? जिसका रस खुद के अनुभव में आ सकता है, ऐसे समता रूपी अमृत का ही निरन्तर पान करना चाहिए। जो आत्मार्थी मुनिजन खाद्य लेह्य, चुष्य और पेय-इन चार प्रकार क रस स विमुख हैं, वे समता रूपी अमृत-

रस को बारबार पीते रहते हैं । उनके कंठ में कोई सर्प डाल दे और कोई मन्दार वृक्ष (एक उत्तम सुगन्धित वृक्ष) की माला पहिना दे, तो भी उनके मन में हर्ष-शोक अथवा प्रीति-अप्रीति नहीं होती । वे ही वास्तव में समता रूपी सुन्दरी के शक्तिशाली पति-स्वामी हैं ।

समता न तो गूढ (समझ में नहीं आने योग्य) है, न किसी से हटाई जा सकती है और इसकी प्राप्ति भी कठिन नहीं है । चाहे अज्ञानी (विशेष ज्ञान रहित) हो, या बुद्धिमान् हो, यह समतारूपी औषधि दोनों को संसार रूपी रोग से मुक्त करने वाली है ।

अत्यन्त शांत रहने वाले योगियों में भी एक क्रूर कर्म ऐसा रहा हुआ है कि जो समतारूपी शस्त्र से रागादि दोषों के कुल का नाश कर देता है । समता का परम प्रभाव तो यही है कि इसके द्वारा पापीजन भी आधे क्षण मे शाश्वत पद को प्राप्त कर लेते हैं ।

जिसके सद्भाव से ज्ञान, दर्शन और चारित्र ये तीनो रत्न सफल होते हैं और जिसकी अनुपस्थिति में ज्ञानादि तीनो रत्न निष्फल हो जाते हैं, ऐसे महाक्रमी समता गुण से सदा कल्याण ही कल्याण है । जब उपसर्ग आ गये हो, अथवा मृत्यु प्राप्त हो रही हो, तब तत्काल करने योग्य श्रेष्ठ उपाय एक मात्र समता ही है । इससे बढ कर दूसरा कोई उपाय नहीं है ।

जिन्हें राग-द्वेष को जीतना है, उन्हें एक समता को ही धारण करना चाहिए, जो मोक्ष रूपी वृक्ष का बीज है और अनुपम सुख देने वाली है ।''

छहों राजा भी भगवान् के पास दीक्षित हुए और भगवान् के मातापिता ने देशविरति स्वीकार की।

भगवान् के भिषक् आदि २८ गणधर हुए । ४०००० साधु, ५५००० साध्वियाँ, ६०० चौदह पूर्वधर ❖ २००० अवधिज्ञानी ८०० मन पर्यवज्ञानी ३२०० केवलज्ञानी, ३५०० वैक्रिय लब्धिधारी १४०० वाद लब्धि वाले, २००० अनुत्तरोपपातिक १८४००० श्रावक और ३६५००० श्राविकाएँ थी ।

भगवान् ५४९०० वर्ष तक तीर्थंकर नाम कम के उदयानुसार विचर कर धर्मोपदेश देते रहे ।

फिर निर्वाण समय निकट जान कर ५०० साधु और ५०० साध्वियों से साथ सम्मेदशिखर पर्वत पर चढ कर अनशन किया । एक मास के बाद चैत्र-शुक्ला ४ * भरणी नक्षत्र में मोक्ष पधारे । आपकी कुल आयु ५५००० वर्ष की थी ।

।। उन्नीसवे तीर्थंकर भगवान् मल्लिनाथजी का चरित्र सम्पूर्ण ।।

प्रथम भाग समाप्त

❖ त्रि. श. पु. च. में संख्या भेद इस प्रकार है - ६६८ चौदह पूर्वधर, २२०० अवधिज्ञानी १७५० मन पर्यवज्ञानी, २२०० केवलज्ञानी २९०० वैक्रिय लब्धि वाले १४०० वादलब्धि वाले १८३००० श्रावक और ३७०००० श्राविकाएँ थी ।

* त्रि. श. पु. च. और 'जैन सिद्धांत बोल संग्रह भा. ६ के अनुसार फाल्गुन शु. १२ ।

परिशिष्ट

तीर्थंकर भगवंतों का विवरण

तीर्थंकर नाम	नगर	पिता	माता	च्यवनतिथि	जन्म-तिथि
ऋषभदेवजी	इक्ष्वाकु भूमि	नाभि	मरुदेवा	आषाढ कृ १४	चैत्र कृ ८
अजितनाथ जी	अयोध्या	जितशत्रु	विजया	वैशाख शु १३	माघ शु ८
सभवनाथजी	श्रावस्ती	जितारी	सेना	फाल्गुन शु ८	मार्गशीर्ष शु १४
अभिनदनजी	अयोध्या	सवर	सिद्धार्था	वैशाख शु ४	माघ शु २
सुमतिनाथ जी	अयोध्या	मेघ	मगला	श्रावण शु २	वैखाख शु ८
पद्मप्रभ जी	कौशाबी	धर	सुसीमा	माघ कृ ६	कार्तिक कृ १२
सुपार्श्वनाथ जी	वाराणसी	प्रतिष्ठ	पृथ्वी	भाद्रपद कृ ८	ज्येष्ठ शु १२
चन्द्रप्रभ जी	चन्द्रपुरी	महासेन	लक्ष्मणा	चैत्र कृ ५	पौष कृ १२
सुविधिनाथ जी	काकन्दी	सुग्रीव	रामा	फाल्गुन कृ ९	मार्गशीर्ष कृ ५
शीतलनाथजी	भद्दिलपुर	दृढरथ	नन्दा	वैशाख कृ ६	माघ कृ १२
श्रेयासनाथजी	सिंहपुर	विष्णु	विष्णु	ज्येष्ठ कृ ६	फाल्गुन कृ १२
वासुपूज्यजी	चम्पा	वासुपूज्य	जया	ज्येष्ठ शु ९	फाल्गुन कृ १४
विमलनाथजी	कपिलपुर	कृतवर्मा	श्यामा	वैशाख शु १२	माघ शु ३
अनतनाथजी	अयोध्या	सिंहसेन	सुयशा	श्रावण कृ ७	वैशाख कृ १३
धर्मनाथजी	रत्नपुर	भानु	सुव्रता	वैशाख शु ७	माघ शु ३
शान्तिनाथजी	गजपुर	विश्वसेन	अचिरा	भाद्रपद कृ ७	ज्येष्ठ कृ १३
कुन्थुनाथजी	गजपुर	शूर	श्री	श्रावण कृ ९	वैशाख कृ १४
अरनाथजी	गजपुर	सुदर्शन	देवी	फाल्गुन शु २	मार्गशीर्ष शु १०
मल्लिनाथजी	मिथिला	कुभ	प्रभावती	फाल्गुन शु ४	मार्गशीर्ष शु ११
मुनिसुव्रतजी	राजगृही	सुमित्र	पद्मावती	श्रावण शु १५	ज्येष्ठ कृ ९
नमिनाथजी	मिथिला	विजयसेन	वप्रा	आश्विन शु १५	श्रावण कृ ८
अरिष्टनेमिजी	सोरियपुर	समुद्रविजय	शिवा	कार्तिक कृ १२	श्रावण शु ५
पार्श्वनाथजी	वाराणसी	अश्वसेन	वामा	चैत्र कृ ४	पौष कृ १०
महावीर स्वामी	कुण्डलपुर	सिद्धार्थ	त्रिशला	आश्विन कृ १३	चैत्र शु १३

****

तीर्थंकर नाम	कुमार अवस्था	राज्य काल	दीक्षा तिथि	दीक्षा तप
ऋषभदेवजी	२० लाख पूर्व	६३ लाख पूर्व	चैत्र कृ ८	वेला
अजितनाथजी	१८ लाख पूर्व	५३ लाख पूर्व १ पूर्वांग	माघ शु ९	येला
सभवनाथजी	१५ लाख पूर्व	४४ लाख पूर्व ४ पूर्वांग	मार्गशीर्ष शु १५	येला
अभिनदनजी	१२५०००० पूर्व	३६५०००० पूर्व ८ पूर्वांग	माघ शु १२	येला
सुमतिनाथजी	१०००००० पूर्व	२९ लाख पूर्व १२ पूर्वांग	वैशाख कृ ९	०
पद्मप्रभ जी	७॥ लाख पूर्व	२१५०००० पूर्व १६ पूर्वांग	कार्तिक कृ १३	येला
सुपार्श्वनाथजी	५ लाख पूर्व	१४ लाख पूर्व २० पूर्वांग	ज्येष्ठ शु १३	येला
चन्द्रप्रभ जी	२॥ लाख पूर्व	६५०००० पूर्व २४ पूर्वांग	पौष कृ १३	येला
सुविधिनाथजी	५००००पूर्व	५०००० पूर्व २८ पूर्वांग	मार्गशीर्ष कृ ६	येला
शीतलनाथजी	२५००० पूर्व	५०००० पूर्व	माघ कृ १२	येला
श्रेयासनाथजी	२१ लाख वर्ष	४२ लाख वर्ष	फाल्गुन कृ १३	उपवास
वासुपूज्यजी	१८ लाख वर्ष	०	फाल्गुन कृ ३०	येला
यिमलनाथजी	१५ लाख वर्ष	३० लाख वर्ष	माघ शु ४	येला
अनतनाथजी	७॥ लाख वर्ष	१५०००००	वैशाख कृ १४	येला
धर्मनाथजी	२॥ लाख वर्ष	५०००००	माघ शु १३	येला
शातिनाथजी	२५००० वर्ष	५००००	ज्येष्ठ कृ १४	येला
कुन्थुनाथजी	२३७५०वर्ष	४७५००	वैशाख कृ ५	येला
अरनाथजी	२१००० वर्ष	४२०००	मार्गशीर्ष शु ११	येला
मल्लिनाथजी	१०० वर्ष	०	पौष शु ११×	तेला
मुनिसुव्रतजी	७५०० वर्ष	१५०००	फाल्गुन शु १%	येला
नमिनाथजी	२५०० वर्ष	५०००	आषाढ़ कृ ९ +	येला
अरिष्टनेमिजी	३०० वर्ष	०	श्रावण शु ६	येला
पार्श्वनाथजी	३० वर्ष	०	पौष कृ ११	तेला
महावीर स्वामीजी	३० वर्ष	०	मार्गशीर्ष कृ १०	येला

× ग्रन्थ में मार्गशीर्ष कृ. ११ लिखा है ।

% ग्रन्थ में कृ ८ और ज्येष्ठ शु १२ भी लिखा है ।

+ ग्रन्थ में श्रावण कृ • लिखा है ।

तीर्थंकर नाम	छद्मस्थ काल	केवलज्ञान तिथि	गणधर ⊙	साधु
ऋषभदेवजी	१००० वर्ष	फाल्गुन कृ ११	८४	८४०००
अजितनाथजी	१२ वर्ष	पौष शु ११	९०	१०००००
सभवनाथ जी	१४ वर्ष	कार्तिक कृ ५	१०२	२०००००
अभिनदनजी	१८ वर्ष	पौष शु १४	११६	३०००००
सुमतिनाथजी	२० वर्ष	चैत्र शु ११	१००	३२००००
पद्मप्रभ जी	६ मास	चैत्र शु १५	१०७	३३००००
सुपार्श्वनाथजी	९ मास	फाल्गुन कृ ६	९५	३०००००
चन्द्रप्रभ जी	६ मास %	फाल्गुन कृ ७	९३	२५००००
सुविधिनाथजी	४ मास	कार्तिक शु ३	८६	२०००००
शीतलनाथजी	३ मास	पौष कृ १४	८१	१०००००
श्रेयासनाथजी	२ मास	माघ कृ ३०	६६	८४०००
वासुपूज्यजी	१ मास	माघ शु २	६२	७२०००
विमलनाथजी	२ मास	पौष शु ६	५६	६८०००
अनतनाथजी	३ वर्ष	वैशाख कृ १४	५०	६६०००
धर्मनाथजी	२ वर्ष	पौष शु १५	४३	६४०००
शातिनाथजी	१ वर्ष	पौष शु ९	९०	६२०००
कुन्थुनाथजी	१६ वर्ष	चैत्र शु ३	३५	६००००
अरनाथजी	३ वर्ष	कार्तिक शु १२	३३	५००००
मल्लिनाथजी	एक प्रहर *	पौष शु १२	२८	४००००
मुनिसुव्रतजी	११ मास	फाल्गुन कृ १२	१८	३००००
नमिनाथजी	९ मास	मार्गशीर्ष शु ११	१७	२००००
अरिष्टनेमिजी	५४ दिन	आश्विन कृ ३०	१८	१८०००
पार्श्वनाथजी	८३दिन	चैत्र कृ ४	८	१६०००
महावीरस्वामी	बारह वर्ष साडे छह मास	वैशाख शु १०	११	१४०००

⊙ तीर्थंकर भगवंतों के गणधरों की संख्या में सूत्रों और ग्रन्थों में अन्तर रहा हुआ है । जिन तीर्थंकर भगवंतों के गणधर महात्माओं की सख्या में अन्तर है, वे इस प्रकार हैं । ग्रन्थों में भगवान् अजितनाथजी के ९५, सुविधिनाथ जी के ८८, श्रेयांसनाथजी के ७२, वासुपून्यजी के ६६ विमलनाथजी के ५७, शांतिनाथजी के ३६, अरिष्टनेमिजी के ११ और पार्श्वनाथजी के १० लिखे हैं ।

% ग्रन्थ में ३ महीना है । * ग्रन्थ में एक दिन-रात लिखा है ।

तीर्थंकर नाम	साध्वी	श्रावक	श्राविका	केवली
ऋषभदेवजी	३०००००	३०५०००	५५४०००	२००००
अजितनाथजी	३३००००	२९८०००	५४५०००	२००००
संभवनाथजी	३३६०००	२९३०००	६३६०००	१५०००
अभिनंदनजी	६३००००	२८८०००	५२७०००	१४०००
सुमतिनाथजी	५३००००	२८१०००	५१६०००	१३०००
पद्मप्रभ जी	४२००००	२७६०००	५०५०००	१२०००
सुपार्श्वनाथजी	४३००००	२५७०००	४९३०००	११०००
चन्द्रप्रभ जी	३८००००	२५००००	४९१०००	१००००
सुविधिनाथजी	१२००००	२२९०००	४७१०००	७५००
शीतलनाथजी	१००००६	२८९०००	४५८०००	७०००
श्रेयांशनाथजी	१०३०००	२७९०००	४४८०००	६५००
वासुपूज्यजी	१०००००	२१५०००	४३६०००	६०००
विमलनाथजी	१००८००	२०८०००	४२४०००	५५००
अनंतनाथजी	६२०००	२०६०००	४१४०००	५०००
धर्मनाथजी	६२४००	२०४०००	४१३०००	४५००
शान्तिनाथजी	८९०००*	२९००००	३९३०००	४३००
कुन्थुनाथजी	६०६००	१७९०००	३८१०००	३२३२
अरनाथजी	६००००	१८४०००	३७२०००	२८००
मल्लिनाथजी	५५०००	१८४०००❁	३६५०००Ⓐ	३२००卐
मुनिसुव्रतजी	५००००	१७२०००	३५००००	१८००
नमिनाथजी	४१०००	१७००००	३४८०००	१६००
अरिष्टनेमिजी	४००००	१६९०००	३३६०००	१५००
पार्श्वनाथजी	३८०००	१६४०००	३२७००० ✿	१०००
महावीर स्वामीजी	३६०००	१५९०००	३१८०००	७००

* ग्रन्थमें ६१६०० है। ❁ ग्रन्थ में १८३००० है। Ⓐ ग्रन्थ में ३७०००० है।
卐 ग्रन्थ में २२०० है। ✿ ग्रन्थ में ३३९००० है।

तीर्थंकर नाम	मन पर्यय-ज्ञानी	अवधि-ज्ञानी	पूर्वधर	वादलब्धि वाले	वैक्रिय-लब्धिवाले
ऋषभदेवजी	१२६५०	९०००	४७५०	१२६५०	२०६००
अजितनाथजी	१२५००	९४००	३२७०	१२४००	२०४००
सभवनाथजी	१२१५०	९६००	२१५०	१२०००	१९८००
अभिनदनजी	११६५०	९८००	१५००	११०००	१९०००
सुमतिनाथजी	१०४५०	११०००	२४००	१०६५०	१८४००
पद्मप्रभ जी	१०३००	१००००	२३००	९६००	१६८००
सुपार्श्वनाथजी	९१५०	९०००	२०३०	८४००	१५३००
चन्द्रप्रभ जी	८०००	८०००	२०००	७६००	१४०००
सुविधिनाथजी	७५००	८४००	१५००	६०००	१३०००
शीतलनाथजी	७५००	७२००	१४००	५८००	१२०००
श्रेयासनाथजी	६०००	६०००	१३००	५०००	११०००
वासुपूज्यजी	६०००	५६००	१२००	४७००	१००००
विमलनाथजी	५५००	४८००	११००	३२००	९०००
अनतनाथजी	५०००	४३००	१०००	३२००	८०००
धर्मनाथजी	४५००	३६००	९००	२८००	७०००
शातिनाथजी	४०००	३०००	९३०	२४००	६०००
कुन्थुनाथजी	३३४०	२५००	६७०	२०००	५१००
अरनाथजी	२५५१	२६००	६१०	१६००	७३००
मल्लिनाथजी	८००+	२०००*	६००×	१४००	३५००卐
मुनिसुव्रतजी	१५००	१८००	५००	१२००	२०००
नमिनाथजी	१२६०	१६००	४५०	१०००	५०००
अरिष्टनेमिजी	१०००	८००	४००	८००	१५००
पार्श्वनाथजी	७५०	१४००	३५०	६००	११००
महावीर स्वामीजी	५००	१३००	३००	४००	७००

+ ग्रन्थ में १७५० है । * ग्रन्थ में २२०० है । × ग्रन्थ ५६८ है । 卐 ग्रन्थ म २००० है ।

तीर्थकर नाम	मन पर्यय-ज्ञानी	अवधि-ज्ञानी	पूर्वधर	वादलब्धि वाले	वैक्रिय-लब्धिवाले
ऋषभदेवजी	१२६५०	९०००	४७५०	१२६५०	२०६००
अजितनाथजी	१२५००	९४००	३२७०	१२४००	२०४००
सभवनाथजी	१२१५०	९६००	२१५०	१२०००	१९८००
अभिनदनजी	११६५०	९८००	१५००	११०००	१९०००
सुमतिनाथजी	१०४५०	११०००	२४००	१०६५०	१८४००
पद्मप्रभ जी	१०३००	१००००	२३००	९६००	१६८००
सुपार्श्वनाथजी	९१५०	९०००	२०३०	८४००	१५३००
चन्द्रप्रभ जी	८०००	८०००	२०००	७६००	१४०००
सुविधिनाथजी	७५००	८४००	१५००	६०००	१३०००
शीतलनाथजी	७५००	७२००	१४००	५८००	१२०००
श्रेयासनाथजी	६०००	६०००	१३००	५०००	११०००
वासुपूज्यजी	६०००	५४००	१२००	४७००	१००००
विमलनाथजी	५५००	४८००	११००	३२००	९०००
अनतनाथजी	५०००	४३००	१०००	३२००	८०००
धर्मनाथजी	४५००	३६००	९००	२८००	७०००
शातिनाथजी	४०००	३०००	९३०	२४००	६०००
कुन्थुनाथजी	३३४०	२५००	६७०	२०००	५१००
अरनाथजी	२५५१	२६००	६१०	१६००	७३००
मल्लिनाथजी	८००+	२०००*	६००x	१४००	३५००卐
मुनिसुव्रतजी	१५००	१८००	५००	१२००	२०००
नमिनाथजी	१२६०	१६००	४५०	१०००	५०००
अरिष्टनेमिजी	१०००	८००	४००	८००	१५००
पार्श्वनाथजी	७५०	१४००	३५०	६००	११००
महावीर स्वामीजी	५००	१३००	३००	४००	७००

+ ग्रन्थ में १७५० है। * ग्रन्थ में २२०० है। x ग्रन्थ ५६८ है। 卐 ग्रन्थ में २१०० है।

तीर्थंकर नाम	चारित्र पर्याय	कुल आयु	निर्वाण तिथि
ऋषभदेवजी	एक लाख पूर्व	८४ लाख पूर्व	माघ कृ १३
अजितनाथजी	एक पूर्वांग कम एक लाख पूर्व	७२ लाख पूर्व	चैत्र शु ५
सभवनाथजी	चार पूर्वांग कम एक लाख पूर्व	६० लाख पूर्व	चैत्र शु ५
अभिनदनजी	आठ पूर्वांग कम एक लाख पूर्व	५० लाख पूर्व	वैशाख शु ८
सुमतिनाथजी	१२ पूर्वांग कम एक लाख पूर्व	४० लाख पूर्व	चैत्र शु ९
पद्मप्रभ जी	१६ पूर्वांग कम एक लाख पूर्व	३० लाख पूर्व	मार्ग० कृ ११
सुपार्श्वनाथजी	२० पूर्वांग कम एक लाख पूर्व	२० लाख पूर्व	फाल्गुन कृ ७
चन्द्रप्रभ जी	२४ पूर्वांग कम एक लाख पूर्व	१० लाख पूर्व	भाद्र० कृ ७
सुविधिनाथजी	२८ पूर्वांग कम एक लाख पूर्व	२ लाख पूर्व	भाद्र० शु ९
शीतलनाथजी	२५००० पूर्व	१ लाख पूर्व	वैशाख कृ २
श्रेयासनाथजी	२१००००० वर्ष	८४ लाख वर्ष	श्रावण कृ ३
वासुपूज्यजी	५४००००० वर्ष	७२ लाख वर्ष	आषाढ शु १४
विमलनाथजी	१५००००० वर्ष	६० लाख पूर्व	आषाढ कृ ७
अनतनाथजी	७५०००० वर्ष	३० लाख वर्ष	चैत्र शु ५
धर्मनाथजी	२५०००० वर्ष	१० लाख वर्ष	ज्येष्ठ शु ५
शातिनाथजी	२५००० वर्ष	१ लाख वर्ष	ज्येष्ठ कृ १३
कुन्थुनाथजी	२३७५० वर्ष	९५००० वर्ष	वैशाख कृ १
अरनाथजी	२१००० वर्ष	८४००० वर्ष	मार्ग० शु १०
मल्लिनाथजी	५४९०० वर्ष	५५००० वर्ष	चैत्र शु ४
मुनिसुव्रतजी	७५०० वर्ष	३०००० वर्ष	ज्येष्ठ कृ ९
नमिनाथजी	२५०० वप	१०००० वर्ष	वैशाख कृ १०
अरिष्टनेमिजी	७०० वर्ष	१००० वर्ष	आषाढ शु ८
पार्श्वनाथजी	७० वर्ष	१०० वर्ष	श्रावण शु ८
महावीर स्वामीजी	४२ वर्ष	७२ वर्ष	कार्तिक कृ ३०

तीर्थकर नाम	निर्वाण साथी	नर्वाण तप	अन्तरकाल
ऋषभदेवजी	१००००	६ उपवास	०
अजितनाथजी	१०००	मासखमण	पचास लाख करोड सागर
सभवनाथजी	१०००	मासखमण	तीस लाख करोड सागर
अभिनदनजी	१०००	मासखमण	दस लाख करोड सागर
सुमतिनाथजी	१०००	मासखमण	नौ लाख करोड सागर
पद्मप्रभ जी	३०८	मासखमण	नब्बे हजार करोड सागर
सुपार्श्वनाथजी	५००	मासखमण	नौ हजार करोड़ सागर
चद्रप्रभ जी	१०००	मासखमण	नौ सौ करोड सागर
सुविधिनाथजी	१०००	मासखमण	नब्वे करोड सागर
शीतलनाथजी	१०००	मासखमण	नौ करोड सागर
श्रेयासनाथजी	१०००	मासखमण	एक करोड सागर में छासठ लाख छब्बीस हजार एक सौ सागर कम।
वासुपूज्यजी	६००	मासखमण	चौवन सागर
विमलनाथजी	६०००	मासखमण	तीस सागर
अनतनाथजी	७०००	मासखमण	नौ सागर
धर्मनाथजी	८००	मासखमण	चार सागर
शातिनाथजी	९००	मासखमण	तीन सागर मे पौन पल्योपम कम
कुन्थुनाथजी	१०००	मासखमण	अर्द्ध पल्योपम
अरनाथजी	१०००	मासखमण	पाव पल्योपम में एक हजार करोड वर्ष कम
मल्लिनाथजी	१००० *	मासखमण	एक हजार करोड वर्ष
मुनिसुव्रतजी	१०००	मासखमण	५४००००० वर्ष
नमिनाथजी	१०००	मासखमण	६००००० वर्ष
अरिष्टनेमिजी	५३६	मासखमण	५००००० वर्ष
पार्श्वनाथजी	३३	मासखमण	८३७५० वर्ष
महावीर स्वामी	नहीं	बेला	२५० वर्ष

* ज्ञाता मे ५०० साध्वियों और ५०० साधु के साथ मुक्ति होना लिखा है ग्रथ में ५०० है। उसमें साध्वियों की सख्या नहीं लिखी होगी।

तीर्थंकरों के नक्षत्र

तीर्थंकर नाम	गर्भ	जन्म	दीक्षा	केवल	निर्वाण
ऋषभदेवजी	उत्तराषाढ़ा	उत्तराषाढ़ा	उत्तराषाढा	उत्तराषाढा	अभिजित
अजितनाथजी	रोहिणी	रोहिणी	रोहिणी	रोहिणी	मृगशिर्ष
संभवनाथजी	मृगशिर्ष	मृगशिर्ष	मृगशिर्ष	मृगशिर्ष	आर्द्रा
अभिनंदनजी	पुनर्वसु	पुष्य	मृगशिर्ष *	अभिजित	पुष्य
सुमतिनाथ जी	मघा	मघा	मघा	मघा	पुनर्वसु
पद्मप्रभ जी	चित्रा	चित्रा	चित्रा	चित्रा	चित्रा
सुपार्श्वनाथ जी ×	विशाखा	विशाखा	विशाखा	विशाखा	अनुराधा
चन्द्रप्रभ जी	अनुराधा	अनुराधा	अनुराधा	अनुराधा	ज्येष्ठा 卐
सुविधिनाथ जी	मूल	मूल	मूल	मूल	मूल
शीतलनाथजी	पूर्वाषाढ़ा	पूर्वाषाढ़ा	पूर्वाषाढ़ा	पूर्वाषाढा	पूर्वाषाढ़ा
श्रेयांसनाथजी	श्रवण	श्रवण	श्रवण	श्रवण	धनिष्ठा
वासुपूज्यजी	शतभिषा	शतभिषा	शतभिषा	शतभिषा	उत्तराभाद्रपद
विमलनाथजी	उत्तराभाद्रपद	उत्तराभाद्रपद	उत्तराभाद्रपद	उत्तराभाद्रपद	रेवती ÷
अनंतनाथजी	रेवती	रेवती	रेवती	रेवती	रेवती
धर्मनाथजी	पुष्य	पुष्य	पुष्य	पुष्य	पुष्य
शांतिनाथजी	भरणी	भरणी	भरणी	भरणी	भरणी
कुंथुनाथजी	कृतिका	कृतिका	कृतिका	कृतिका	कृतिका
अरनाथजी	रेवती	रेवती	रेवती	रेवती	रेवती
मल्लिनाथजी	अश्विनी	अश्विनी	अश्विनी	अश्विनी	भरणी
मुनिसुव्रतजी	श्रवण	श्रवण	श्रवण	श्रवण	श्रवण
नमिनाथजी	अश्विनी	अश्विनी	अश्विनी	अश्विनी	अश्विनी
अरिष्टनेमिजी	चित्रा	चित्रा	चित्रा	चित्रा	चित्रा
पार्श्वनाथजी	विशाखा	विशाखा	विशाखा	विशाखा	विशाखा
महावीर स्वामी	उत्तराफा०	उत्तराफा०	उत्तराफा०	उत्तराफा०	स्वाति

* अभिजित भी लिखा है। 卐 त्रि. श. पु. च. में सुपार्श्वनाथ का गर्भ और दीक्षा अनुराधा में जन्म और केवल विशाखा में तथा निर्वाण मूल में लिखा है। × श्रवण भी लिखा है। ÷ पुष्य भी लिखा है।

संघ के प्रकाशन

क्रं.	नाम	मूल्य
१	अंगपविट्ठसुत्ताणि भाग १	१४-००
२	अंगपविट्ठसुत्ताणि भाग २	२५-००
३	अगपविट्ठसुत्ताणि भाग ३	१२-००
४	अंगपविट्ठसुत्ताणि संयुक्त	६०-००
५	अनगपविट्ठसुत्ताणि भाग १	३५-००
६	अनंगपविट्ठसुत्ताणि भाग २	४०-००
७	अनगपविट्ठसुत्ताणि संयुक्त	८०-००
८	अंतगडदसा सूत्र	८-००
९	अनुत्तरोववाइय सूत्र	३-५०
१०	आचारांग सूत्र भाग १	२५-००
११	आयारो	८-००
१२	आवश्यक सूत्र (सार्थ)	५-००
१३	उत्तरज्झयणाणि (गुटका)	६-००
१४	उत्तराध्ययन सूत्र	३०-००
१५	उपासक दशाग सूत्र	१५-००
१६	उववाइय सुत्त	२०-००
१७	दसवेयालिय सुत्त (गुटका)	३-००
१८	दशवैकालिक सूत्र	१०-००
१९	णंदी सुत्तं	३-००
२०	नन्दी सूत्र	२०-००
२१	प्रश्नव्याकरण सूत्र	२५-००
२२-२८	भगवती सूत्र भाग १-७	३००-००
२९	समवायाग सूत्र	२५-००
३०	सुखविपाक सूत्र	१-००
३१	सूयगडो	६-००
३२	सूयगडाग सूत्र भाग १	२०-००
३३	सूयगडाग सूत्र भाग २	२०-००
३४	मोक्ष मार्ग ग्रन्थ भाग १	३०-००
३५	मोक्ष मार्ग ग्रन्थ भाग २	३०-००
३६-३८	तीर्थंकरचरित्र भा० १,२,३	१३५-००
३९	तीर्थंकर पद पाप्ति के उपाय	५-००
४०	सम्यक्त्व विमर्श	१०-००
४१	आत्म साधना सग्रह	२०-००
४२	आत्म शुद्धि का मूल तत्त्वत्रयी	१५-००
४३	नव तत्त्वो का स्वरूप	१३-००
४४	सामण्ण सड्ढि धम्मो	१-००
४५	अगार-धर्म	१०-००
४६-४८	समर्थ समाधान भाग १,२,३	३०-००
४९	तत्त्व-पृच्छा	५-००
५०	तेतली-पुत्र	३०-००
५१	शिविर व्याख्यान	१०-००
५२	जैन स्वाध्याय माला	१२-००
५३	स्वाध्याय सुधा	५-००
५४	आनुपूर्वी	०-५०
५५	भक्तामर स्तोत्र	१-५०
५६	जैन स्तुति	६-००
५७	मगल प्रभातिका	१-२५
५८	सिद्ध स्तुति	३-००
५९	संसार तरणिका	४-००
६०	आलोचना पचक	२-००

क्रं	नाम	मूल्य	क्रं.	नाम	मूल्य
६१	विनयचन्द चौबीसी	०-७५	७८	लघु-दण्डक	१-००
६२	भवनाशिनी भावना	०-६०	७९	महा-दण्डक	१-००
६३	स्तवन तरंगिणी	५-००	८०	तेतीस-बोल	१-००
६४	सुधर्म स्तवन संग्रह भाग १	१५-००	८१	गुणस्थान स्वरूप	१-००
६५	सुधर्म स्तवन संग्रह भाग २	१५-००	८२	गति-आगति	१-००
६६	सुधर्म चरित्र संग्रह	१०-००	८३	कर्म-प्रकृति	१-००
६७	सामायिक सूत्र	१-००	८४	समिति-गुप्ति	१-००
६८	सार्थ सामायिक सूत्र	२-००	८५	समकित के ६७ बोल	१-००
६९	प्रतिक्रमण सूत्र	२-००	८६	२५ बोल	२-००
७०	जैन सिद्धान्त परिचय	२-००	८७	नव-तत्त्व	६-००
७१	जैन सिद्धान्त प्रवेशिका	२-००	८८	जैन सिद्धान्त थोक संग्रह भाग १	५-००
७२	जैन सिद्धान्त प्रथमा	२-००	८९	जैन सिद्धान्त थोक संग्रह भाग २	५-००
७३	जैन सिद्धान्त कोविद	३-००	९०	जैन सिद्धान्त थोक संग्रह संयुक्त	१०-००
७४	जैन सिद्धान्त प्रवीण	४-००	९१	पन्नवणा सूत्र के थोकड़े भाग १	६-००
७५	१०२ बोल का बासठिया	०-५०	९२	पन्नवणा सूत्र के थोकड़े भाग २	६-००
७६	तीर्थंकरों का लेखा	०-५०	९३	पन्नवणा सूत्र के थोकड़े भाग ३	६-००
७७	जीव-धड़ा	१-००			